बौद्ध ग्रन्थ माला — १

बौद्ध संस्कृति का इतिहास

*

लेखक

डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर

एम. ए. (संस्कृत, पालि तथा प्राचीन भारतीय, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व), साहित्याचार्य, पी-एच. डी. (सीलोन)

अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग

नागपुर विश्वविद्यालय

आलोक प्रकाशन

ना ग पु र

Buddha Granthamala-3

HISTORY OF BUDDHIST CULTURE

By

Bhagchandra Jain Bhaskar

M. A (Sanskrit, Pali, Ancient Indian History and Culture and Archaeology)
Sahityācharya, Ph. D. (Ceylon)
Head of the Department of Pali and Prakrit
NAGPUR UNIVERSITY.

ALOK PRAKASHAN
NAGPUR

मराठी साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित

एवं भारतीय इतिहास के चिन्तक

डॉ० वि० भि० कोलते

कुलगुरु

नागपुर विश्वविद्यालय

को

उपस्थापना

बौद्ध संस्कृति भारतीय संस्कृति का अभेद्य अंग है। श्रमण संस्कृति का अंगभूत होकर उसने अपने उत्पत्ति काल से ही मानव की आध्यात्मिक चिन्तन शक्ति को ज्ञान और तर्क की भूमिका पर खड़े होकर विकसित किया है। श्रद्धा के सजग प्रहरी के रूप में निष्पक्ष विचार और अन्तःस्पर्शी तर्क का होना व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। आत्म तत्व की साधना भी ज्ञान और तर्क के बिना संभव नहीं। चारित्र की स्थिति इसके उपरान्त ही आती है। कालान्तर में दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समन्वित रूप स्वतत्त्व के विकास में मूलकारण सिद्ध होता है। बौद्धधर्म अपने मूल रूप में इसी भूमिका पर खड़ा हुआ था।

बौद्ध संस्कृति का इतिहास एक अत्यन्त समृद्ध क्षेत्र है। उसे सुधारवादी आन्दोलन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र की परिस्खलित अवस्था को सुचिन्तित ढंग से सुव्यवस्थित करना बौद्ध धर्म का मूल कर्तव्य था। उस पर वैदिक संस्कृति की अपेक्षा जैन संस्कृति का प्रभाव बहुत अधिक है, ऐसी मेरी धारणा है। वस्तुतः ऐसी कोई विशेष बात नहीं दिखाई देती जो तत्कालीन जैनधर्म में न रही हो। कथन - प्रकार में अथवा शब्दावली में अन्तर अवश्य हुआ है जो स्वाभाविक भी है। इस दृष्टि से जैनधर्म और बौद्धधर्म का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना अभी शेष है।

भारत के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि बौद्ध धर्म अपनी मातृभूमि से भी बाहर जाकर दिग् - दिगन्त तक विश्व की आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करने में सर्वाधिक सक्षम हुआ है। इतनी अधिक सफलता भारत के किसी भी अन्य धर्म को नहीं मिल सकी। इसमें जो भी कारण हैं, उनमें उसका व्यावहारिक दृष्टिकोण अधिक प्रबल है। यह पक्ष बौद्धधर्म के लिए एक चुम्बकीय शक्ति के रूप में सिद्ध हुआ है।

'बौद्ध संस्कृति का इतिहास' नामक यह पुस्तक बौद्ध धर्म की सर्वांगीण स्थिति को प्रस्तुत करने में किसी अंश तक सफल हो सकेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। इसके लिखने में मेरे समक्ष छात्र-समुदाय विशेष रूप से रहा है। उसी के उपयोग की दृष्टि से इसे तैयार किया गया है। यदि मैं अपने उद्देश्य में किसी भी सीमा तक सफल सिद्ध हुआ तो संतोष की बात होगी।

इस पुस्तक के लिखने में मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त मैंने आचार्य नरेन्द्रदेव, भरत सिंह उपाध्याय, बलदेव उपाध्याय, गोविन्द चन्द्र पाण्डे, राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों के ग्रन्थों का विशेष उपयोग किया है। तदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। साथ ही अन्य सहयोगी बन्धुओं के प्रति भी आभार प्रदर्शित करता हूँ जिनके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग से यह पुस्तक पूरी हो सकी।

अन्त में श्री पूज्या प्रातः स्मरणीय मातेश्वरी तुलसा देवी जैन के प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता व्यक्त करूँ जिन्होंने अपने तन-मन-धन से सर्वस्व निछावर कर मुझे इस योग्य बनाया। साथ ही अपनी पत्नी पुष्पलता जैन, एम० ए० का भी आभारी हूँ जिसने पुस्तक की तैयारी में विविध प्रकार का हार्दिक सहयोग और अनुकूल परिवेश दिया।

प्रस्तुत पुस्तक का मुद्रण पृ० २०४ तक विद्या मुद्रण स्थली में और शेष भाग मानव मन्दिर मुद्रणालय में हुआ है। तदर्थ मैं दोनों प्रेस वालों का भी आभारी हूँ।

अहिंसावतरण,
वाराणसी
२८ मई, १९७२

—भागचन्द्र भास्कर

अध्याय १

भगवान बुद्ध और बौद्धधर्म का आविर्भाव

१—श्रमण संस्कृति और बौद्ध धर्म

भारतीय संस्कृति मूलतः दो संस्कृतियों का समन्वित रूप है - एक वैदिक संस्कृति और दूसरी श्रमण संस्कृति। वैदिक संस्कृति ब्राह्मण् की पृष्ठभूमि से उद्भूत हुई है जबकि श्रमण संस्कृति सम शब्द के विविध रूपों अथवा अर्थों पर आधारित है। प्रथम में परतन्त्रता, ईश्वरावलम्बन और क्रियाकाण्ड की प्रवृत्ति देखी जाती है जबकि द्वितीय संस्कृति स्वातंत्र्य, स्वावलम्बन और आत्मा की सर्वोच्च शक्ति पर विश्वास करती है।

श्रमण शब्द श्रम धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है उद्योग करना, परिश्रम करना। पालि-प्राकृत भाषा में इसी शब्द को समण कहा गया है जो शम् (शान्ति) अथवा सम् (समानता) धातु से निर्मित है। अतः श्रमण संस्कृति श्रम, शम और सम के मूल सिद्धान्तों पर आधारित परम्परा है। वहां ईश्वर मार्ग-द्रष्टा है, सृष्टिकर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं। अतः उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम व सत्कर्मों से ईश्वर स्वयं बन सकता है। वह ईश्वर के प्रसाद पर निर्भर नहीं, बल्कि उसके स्वयं का पुरुषार्थ उसे चरम स्थिति पर पहुंचा देता है। उसकी मूल साधना है आत्मचिन्तन अथवा भेदविज्ञान। चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, सभी को आत्मचिन्तन एवं मुक्ति प्राप्त करने का समान अधिकार है। कोई भी व्यक्ति मात्र गोत्र अथवा धनसे श्रेष्ठ नहीं, उसकी श्रेष्ठता तो उसके उत्तम कर्म, विद्या, धर्म व शील से है।[1] आत्मा अथवा चित्त स्वरूपतः निर्मल और निर्विकार है। हमारे कर्म उसके मूल स्वरूप को आवृत कर लेते हैं। आत्मा के इस विकार भाव को दूर करने के लिए शुद्ध भाव पूर्वक अहिंसात्मक साधना अपेक्षित है। इस प्रकार समानता और अहिंसा श्रमण संस्कृति की मूलभूत विशेषतायें हैं। भगवान बुद्ध इसी संस्कृति के पोषक थे।

---

१. कम्मं विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति न गोत्तेन धनेन वा॥ विसुद्धिमग्ग

श्रमण संस्कृति का उद्भव और उसकी प्राचीनता एक विवादास्पद विषय है। इस सन्दर्भ में यहां अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। पर यह निश्चित है कि श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति से बाद की नहीं। मोहिंजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन में प्राप्त कुछ यौगिक मुद्राएँ, वैदिक साहित्य के व्रात्य तथा वातरशना मुनिगण, वेदों व पुराणों के ऋषभदेव तथा पालि साहित्य में प्राप्त लगभग चौबीसों जैन तीर्थङ्करों के नामोल्लेख यह कहने को बाध्य करते हैं कि श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति की अपेक्षा प्राचीनतर नहीं तो समकालीन तो अवश्य है।

व्यक्ति की तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं, (१) भौतिक वादी प्रवृत्ति, (२) समानता और पुरुषार्थवादी प्रवृत्ति, एवं (३) किसी को सर्व सत्तावान् मान कर स्वयं को उसका दास मानने की प्रवृत्ति। प्रथम प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व चार्वाक् दर्शन करता है, द्वितीय का श्रमण दर्शन, और तृतीय प्रवृत्ति का परिचय वैदिक दर्शन से मिलता है। अतएव ये तीनों संस्कृतियाँ अपने आप में स्वतन्त्र और मौलिक हैं, समकालीन भी। क्षत्रियविरोध आदि जैसे तर्क श्रमण संस्कृति के उद्भावक नहीं माने जा सकते। यह अधिक सम्भव है कि किसी कारणवश श्रमण संस्कृति का कुछ ह्रास हो गया हो और अपनी मूल स्थिति में पहुंचने के लिए वैदिक संस्कृति से समागत जातिवाद आदि जैसे कठोर दोषों का आश्रय लेकर क्षत्रिय वर्ग उसके विरोध में उठ खड़ा हुआ हो।[२]

पालि साहित्यमें श्रमणों के चार प्रकार बताये गये हैं—मग्गजिन, मग्गदेसिन, मग्गजीविन और मग्गदूसिन।[३] इनमें पारस्परिक मतभेद उत्पन्न होने के फलस्वरूप अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए जिन्हें बुद्ध ने दिट्ठि संज्ञा दी।[४] इन सभी विवादों का संकलन बासठ प्रकार की मिथ्या दृष्टियों (मिच्छादिट्ठि) में किया गया है। जैन साहित्य में इन्हीं दृष्टियों को विस्तार से ३६३ श्रेणियों में विभक्तकर समझाने का प्रयत्न किया गया है।[५] ठाणाङ्ग में श्रमणों के पांच भेद निर्दिष्ट हैं—निगण्ठ (जैन), सक्क (बौद्ध), तावस गेरुय और परिव्राजक।[६] सुत्तनिपात में इनके तीन भेद मिलते हैं—तित्थिय, आजीविक और निगण्ठ। इन्हें वादसील कहा गया है।[७] वर्तमान में इन

---

२. विशेष देखिये, मेरा प्रबन्ध "जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर" अध्याय प्रथम।
३. सुत्तनिपात, १.५.२
४. वही, ४.१२
५. सूत्रकृताङ्ग १.१.११
६. ठाणांग, पृ. ६४६
७. सुत्तनिपात, २.१४.६

[illegible] मिलती है।

२—बुद्ध के समकालीन तीर्थङ्कर

बुद्धकालीन धार्मिक स्थिति की जानकारी के लिए त्रिपिटक में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। ब्रह्मजालसुत्त में तत्कालीन प्रचलित प्रायः सभी श्रमण ब्राह्मण सिद्धान्तों और सम्प्रदायों को 'द्वासट्ठि मिच्छादिट्ठिगतानि" के अन्तर्गत आकलन कर दिया गया है। इन सम्प्रदायोंमें मुख्य सम्प्रदाय, बौद्ध सम्प्रदाय के अतिरिक्त, ये—पूरणकस्सप, मक्खलि गोसाल, अजितकेसकम्बलि, पकुधकच्चायन, सञ्जयबेलट्ठिपुत्त तथा निगण्ठनातपुत्त। त्रिपिटक में इन सभी आचार्यों को सङ्घी चेव गणी च, गणाचरियो च, ञातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू चिरपब्बजितो, अद्धगतो, वयोअनुप्पत्तो "कहा गया है। इस उल्लेख से ऐसा आभास होता है कि बुद्ध इन तीर्थङ्करोंमें सबसे कम अवस्था वाले थे। सामञ्ञफलसुत्त में उक्त सभी तीर्थङ्करों के सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है परन्तु समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संकलयिता का उन सिद्धान्तों का समुचित ज्ञान नहीं था।[8] संक्षेप में हम उनका वर्णन देखेंगे जिससे यह कथन और स्पष्ट हो जायगा।

क—पूरण कस्सप

इस तीर्थंकर के अनुसार हिंसा, परस्त्री गमन, चोरी आदि दुष्कर्मों में कोई पाप नहीं। इसलिए इसका मत अक्रियावाद की श्रेणी में आता है।[9] बरुआ ने इसे 'अधिच्चसमुप्पन्निकवाद' कहा है।[10] सूयगडाङ्ग के टीकाकार आचार्य शीलाङ्क इस मत को सांख्यमत के समकक्ष रखते हैं।[11] नलिनाक्षदत्तने भी यही स्वीकारा है।[12] सच तो यह है कि यह दर्शन कुछ ऐसा वैचित्र्य लिये हुए हैं कि उन्हें

---

८. विस्तार से देखिये, मेरा प्रबन्ध "जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर," प्रथम अध्याय,

९. दीघनिकाय, भाग १. पृ.५२

१०. प्री बुद्धिस्टिक फिलासफी, पृ. २७९

११. सूत्रकृताङ्ग, १. १३ टीका.

१२. अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, भाग १ पृ. ३५

प्राचीन भारतीय दर्शनों के साथ संगत नहीं किया जा सकता। संयुत्त एवं अंगुत्तर निकाय में पूरणकस्सप को 'अहेतुवादिन्' कहा गया है।[१३] यह अहेतुवाद सामञ्ञफलसुत्त में मक्खलि गोसाल के साथ संयोजित किया गया है।

बुद्धघोष ने पूरण की जीवनी का कुछ अंश उद्धृत किया है। उन्होंने लिखा है कि किसी दास के घर इसने अपने जन्मसे सौ की संख्या को पूरा किया। अतः स्खलन होने पर भी उसे दण्डित नहीं किया जाता। फिर भी वह किसी कारण से असन्तुष्ट हो गया और वस्त्रादि त्यागकर नग्न विचरण करने लगा।[१४] धम्मपद अट्ठकथा के अनुसार भगवान बुद्ध का प्रभाव असह्य हो जाने से पूरण ने नदी में डूबकर प्राणान्त कर लिया था।[१५]

ख—मक्खलि गोसाल

जैन साहित्य के अनुसार मक्खलि मूलतः पार्श्वनाथ और महावीर का अनुयायी था। मतभेद होने पर उसने अपना पृथक् संघ स्थापित कर लिया।[१६] सामञ्ञफलसुत्त के अनुसार वह बिना हेतु और प्रत्यय के सभी सत्वों की शुद्धि मानता था। इसलिए उसके सिद्धान्त की गणना नियतिवाद में कर दी गई। मज्झिमनिकाय[१७] में इसे "अहेतुकदिट्ठि" अथवा "अकिरियादिट्ठि" तथा दर्शनसार में "अज्ञानवाद" के नाम से अभिहित किया है। शीलांक ने "अक्रियावाद" के भेद-प्रभेदो मे इसकी गणना की है।

बुद्ध गोसाल को अत्यन्त खतरनाक समझते रहे।[१८] 'मक्खलि' नामकरण के सन्दर्भमें बुद्धघोष ने एक घटनाका उल्लेख किया है। उन्होने लिखा है कि मक्खलि एक दास था। उसके मालिक ने एक तेल भरा बर्तन देकर कहा "गिर नहीं जाना" (मा खलि) फिर भी असावधानता वश वह गिर गया। फलतः उसका नाम 'मक्खलि' हो गया। गोशाला में जन्म होने के कारण उसे गोसाल कहा

---

१३. संयुत्त. भाग ३. पृ. ६९; अंगुत्तर. भाग ५. पृ. १२६
१४. दीघ. अट्ठ. भा. १. पृ. १४२
१५. और भी देखिये, दिव्यावदान, प्रातिहार्यसूत्र
१६. भाव संग्रह, १७६-१७९.
१७. भा. १. पृ. ५१३. मिलिन्दपञ्ह, पृ. ४-५
१८. अंगुत्तर. भा. १.पृ.२८९

जाता रहा।[१९] उसे पाणिनि ने मस्करिन् और उवासगदसाओ ने 'मक्खलि-पुत्त' कहा है।

गोशाल के अनुयायी आजीविक अथवा आजीवक कहलाते थे। उनका नियति-वाद प्रारब्ध कर्मों पर निर्भर था। पुरुषार्थ की वहाँ अपेक्षा नहीं थी। पतञ्जलि ने उन्हीं को लक्ष्यकर लिखा है—मा कृत मा कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसी······ मस्करी परिव्राजकः। इसके सिद्धान्तों के उल्लेख त्रिपिटक व जैन साहित्य में मिलते हैं। इस सम्प्रदाय का अस्तित्व लगभग १२वीं शती तक रहा है। बाद में सम्भवतः दिगम्बर जैनों में अन्तर्भूत हो गया।

ग—अजितकेसकंबलि

अजितकेसकम्बलि शुद्ध भौतिकवादी था। वह पुण्य, पाप, इहलोक, पर-लोक, माता-पिता आदि किसी को भी नहीं मानता था। प्राणि चार महाभूतों से मिलकर बना है। काल कवलित होने पर वे महाभूत विलीन हो जाते हैं। मृत्यु के बाद कोई नहीं रहता। इसलिए उसके मत को 'जड़वाद' अथवा 'उच्छेदवाद' की संज्ञा दी गई है।[२०]

अजित के दर्शन की तुलना चार्वाक् से की जा सकती है। ब्रह्मजालसुत्त तथा सूयगडाग(१.११)में इसकी गणना "तं जीवं तं सरीरं" (तज्जीवतच्छरीराकारक-वादी) के रूप मे की गई है। चार्वाक् मात्र प्रत्यक्षवादी थे। उन्हें "लोकायत" और 'आन्वीक्षिकी' भी कहा गया है। अभी तक इस सम्प्रदाय का कोई मूल ग्रन्थ नही मिला। मात्र वैदिक, जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त उसके सिद्धान्तों से हम परिचित हो पाते है।

घ—पकुधकच्चायन

इसके अनुसार सात तत्व—पृथ्वी, अप, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन अकृत, अनिर्मित, अवध्य और कूटस्थ हैं।[२१] अतएव इसे "अकृततावाद" कहा गया है। शीलांकाचार्य ने इसकी भी गणना "अक्रियावाद" में की है। ब्रह्मजालसुत्त भी इसे 'अक्रियावाद' अथवा 'उच्छेदवाद' कहता है। बुद्धघोष ने पकुध को उष्णजल का ही उपयोग करने वाला बताया है।[२२]

---

१९. दीघनट्ठ. भा. १.पृ. १६६

२०. दीघ. भाग १. पृ. ५५.

२१. दीघ. भा. १. पृ. ५६

२२. दीघ. अठ. भा. १.पृ.१४४

क—निगण्ठ नातपुत्त

सामञ्ञफलसुत्त में निगण्ठ नातपुत्तको "चातुयामसंवरसंवुतो" कहा है। वे चार संवर थे—सब्बवारिवारितो, सब्बवारियुत्तो, सब्बवारिधुतो और सब्बवारिफुटो।[२३] त्रिपिटक तथा जैनागमों के पर्यवेक्षण से यह उद्धरण गलत सिद्ध हो जाता है। चातुयामसंवर के पुरस्कर्ता पार्श्वनाथ थे, महावीर नहीं। महावीर (निगण्ठनातपुत्त) ने तो उसमें एक और याम जोड़कर पञ्चयामों का निर्माण किया था। फिर भी इस उल्लेख का मूल्य कम नहीं है। पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध करने में यह एक अकाट्य प्रमाण है। ठाणांग में उनके द्वारा निर्दिष्ट चातुर्याम इस प्रकार है—[२४]

१. सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं (प्राणातिपात से बिलकुल दूर रहना)
२. सव्वातो मुसावायाओ वेरमणं (मृषावाद से पूर्णतः दूर रहना),
३. सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं (चौर्य से पूर्णतः दूर रहना) और
४. सव्वातो बहिद्धादाणाओ वेरमणं (परिग्रह से पूर्णतः दूर रहना)

भगवान् बुद्ध इन चातुर्यामों से प्रभावित रहे हैं। त्रिपिटक में वप्प निर्ग्रन्थ श्रावक के उल्लेख से स्पष्ट है कि चातुर्याम धर्म शाक्य देश तक प्रचलित हो चुका था। अलारकालाम तथा उद्रकरामपुत्र की शिक्षाओं से असन्तुष्ट होने के बाद बुद्ध राजगृह पहुँचे। वहाँ उन्हें निग्रन्थ श्रमणों का चातुर्याम धर्म अधिक अनुकूल दिखाई दिया। उनके द्वारा खोजे गये अष्टाङ्गिक मार्ग का समावेश चातुर्यामधर्म में हो जाता है।[२५] दीघनिकाय से भी यह स्पष्ट हो जाता है। वहाँ कहा गया है कि प्राणिवध, चौर्य, मृषावाद, पंचभोग सेवन ये चारों भोग निकृष्ट हैं। शाक्य भिक्षुओं पर इनका आरोपण नहीं किया जा सकता।[२६] इन चारों भोगों का त्याग पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म पर आधारित है।

जैनागमों में भी ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो चातुर्याम का समर्थन करते हैं। पार्श्वनाथ के अनुयायियों को वहां 'पासावच्चिज्ज' कहा गया है।[२७] आचारांग में

---

२३. दी. भा. १. पृ ५०
२४. सू. २६६
२५. कौशाम्बी, पार्श्वनाथ चातुर्याम, पृ. २४
२६. इमे चत्तारो सुखल्लिकानुयोगे अनुयुत्ता समणा सक्यपुत्तिया विहरन्ती' ति। ते वो 'माहेवं' तिस्सु वचनीया। पासादिकसुत्त, पृ. १३१
२७. सूत्र. २-७, भगवती. १-९, ठाणांग, ९,

भगवान् महावीर के माता-पिता भी उन्हीं अनुयायियों में से थे।[२८] उत्तराध्ययन का केशी-गौतम संवाद तो प्रसिद्ध ही है।[२९]

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के बीच लगभग २५० वर्ष का अन्तर था। इस बीच जैन संघ में आचार शैथिल्य घर कर गया। भगवान् महावीर ने इसके मूल कारण पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया और पाया कि भगवान् पार्श्वनाथ ने बहिर्द्धा के अन्तर्गत परिग्रह और स्त्रीसेवन इन दोनों का अन्तर्भाव कर दिया है। महावीर ने उन दोनों को पृथक्कर व्रतों में और भी स्पष्टता ला दी। इस प्रकार महावीर के अनुसार पञ्चयाम हो गये।[३०]

भ. पार्श्वनाथ के चातुर्याम और भ. महावीरके पंचयाम से त्रिपिटक भी अपरिचित नहीं रहा। भ. बुद्ध के प्रश्नों के उत्तर में असिबन्धकपुत्तगामणि ने कहा कि निगण्ठनातपुत्त चार प्रकार के पापों की निन्दा करते हैं—पाणं अतिपातेति (प्राणिवध), अदिन्नं आदियति (चौर्य), कामेसु मिच्छाचरति (मैथुन) और मुसा भणति (मृषावाद)[३१]। यहाँ ये चार प्रकार भूल से महावीरके कह दिये गये है। वस्तुत: हैं ये पार्श्वनाथ के। महावीर के अनुसार पापाश्रव के पाँच कारण ये है।[३२]

१. पाणातिपाति होति। २. आदिन्नादायी होति, ३. अब्रह्मचारी होति, ४. मुसावादी होति, और ५. सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठायी होति।

यहाँ गणना के अनुसार पाँच कारण ठीक हैं, परन्तु क्रमहीनता के अतिरिक्त परिग्रह का स्पष्ट उल्लेख नही हो सका। परिग्रह के स्थान पर सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठान को स्थान दे दिया गया। इस उल्लेख से इतना तो स्पष्ट है ही कि बुद्ध चातुर्याम और पञ्चयाम इन दोनो प्रकार के धर्मों से परिचित थे। संभव है यह सब महावीर द्वारा किये गये परिवर्तन के आसपास से सम्बद्ध हो और अधिक परिचय न होने के कारण यह भूल हुई हो। अथवा यह भी संभव है कि चूँकि जैन मद्य मांसादिक सेवन का अत्यन्त विरोध करते हैं इसलिए वही बात संगायन करते समय स्मृति-पथ में बनी रही हो।

---

२८. महावीरस्स अम्मा पियरो पासावच्चिज्जा, आचा. २, १५-१५
२९. उत्तरा. २३वां अध्ययन.
३०. समवायांग, ५,२
३१. संयुत्त, भाग ४. पृ. ३१७-८
३२. अंगुत्तर, भाग ३. पृ. २७६—७

जैनधर्म पालि साहित्य का अत्यन्त ऋणी है। त्रिपिटक में निगण्ठनातपुत्त के अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख आता है जो जैनधर्म की तत्कालीन स्थिति का परिचय कराते हैं।[३३]

च—संजय वेलट्ठिपुत्त

यह तीर्थङ्कर अज्ञानवाद अथवा अनिश्चिततावाद का प्रवर्तक था। इसके अनुसार परलोक, अयोनिज प्राणी, शुभाशुभ कर्मों के फल आदि के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर संजय के अनुसार अस्ति, नास्ति अस्ति-नास्ति, एवं अवक्तव्य के रूप में दिया जा सकता है।[३४]

कहा जाता है, सारिपुत्त और मोग्गल्लान बौद्धधर्म में दीक्षित होने के पूर्व संजय के शिष्य थे।[३५] मोग्गल्लान और संजय को जैन सहित्य मे जैन मुनि बताया गया है।[३६] कुछेक विद्वानों ने जैन सिद्धान्त के स्याद्वाद का मूलाधार संजय के अज्ञानवाद को माना है, पर यह उनकी भूल है। संजय के सिद्धान्त में अनिश्चितता बनी रहती है जबकि स्याद्वाद एक निश्चित दृष्टिकोण को उपस्थित करता है। जैनों ने इसीलिए उसके सिद्धान्त की कटु आलोचना की है।[३७] संजय के चतुष्कोटिविनिर्मुक्तता के सिद्धान्त के पूर्व भी जैनो में स्याद्वाद के बीज दिखाई देते हैं।[३८] ब्रह्मजालसुत्त में संजय के सिद्धान्तको 'अमराविक्खेपवाद' कहा गया है।

अन्यमतमतांतर

उक्त छः शास्ताओं के अतिरिक्त कुछ छोटे-मोटे शास्ता और भी थे जो अपने मतों का प्रवर्तन समाज मे कर रहे थे। ब्रह्मजालसुत्त के ६२ दार्शनिक मत इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इन्हे भी गम्भीर, दुर्ज्ञेय आदि कहा गया है। ये मत इस प्रकार हैं—१. आदि सम्बन्धी १८मत (पुब्बन्तानुदिट्ठि अट्ठारसहि वत्थूहि)

---

३३. विशेष विवरण के लिए देखिये, लेखक का प्रबन्ध—
जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर।

३४. दी. भाग १. पृ. ५१

३५. विनय. भा. १. पृ.४२, १७१; थेरगाथा, १७. २.

३६. अमितगति श्रावकाचार, ६

३७. अष्टसहस्री, पृ. १२६.

३८. देखिये, लेखक का लेख रुडीमेन्ट्स आफ अनेकान्तवाद इन पालि लिटरेचर, नागपुर युनिवर्सिटी जरनल, १९६८

१. सस्सतवाद — ४)
२. एकच्च सस्सतवाद — ४)
३. अन्तानन्तवाद — ४) १८
४. अमराविक्खेपवाद — ४)
५. अधिच्चसमुप्पन्नवाद — २)

२. अन्तसम्बन्धी ४४ मत (अपरन्तानुदिट्ठि चतुचत्तारीसायवत्थूहि)

१. उद्धमाघातनिका सञ्ञीवादा — १६)
२. उद्धमाघातनिका असञ्ञीवादा — ८)
३. उद्धमाघातनिका नेवसञ्ञीनासञ्ञीवादा — ८) ४४ + १८ = ६२
४. उच्छेदवाद — ७)
५. दिट्ठधम्मनिब्बानवाद — ५)

सूत्रकृतांग मे बुद्धकालीन मतमतान्तरों की संख्या ३६३ बतायी गई है। इनके अतिरिक्त यक्ष, भूत, प्रेत पशु आदिकी पूजा भी की जाती थी। परिव्राजक भी एक पृथक् अथवा सामान्य सम्प्रदाय था। और भी अनेक सम्प्रदाय थे, पर वे उत्तरकाल मे लुप्तप्राय हो चुके। ३६३ मत इस प्रकार है।

असियसयं किरियाणं अक्किरियाणं च होई चुलसीती।
अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा॥ सू. नि. १. १२. ११९.

१. क्रियावाद्—यह दर्शन जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा मोक्ष, पुण्य और पाप ये नव पदार्थ मानता है। ये पदार्थ स्वतः और परतः के भेद से दो प्रकार के हैं। पुनः सभी पदार्थ नित्य और अनित्य होते हैं ९ × २ = १८ × २ = ३६। ये छत्तीस पदार्थ काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा के भेदसे ५ प्रकार के हैं—३६ × ५ = १८०. इस प्रकार कुल भेद ९ × २ × २ × ५—१८० हुए।

२. अक्रियावाद्—इस दर्शन के अनुसार पुण्य और पाप का कोई स्थान नही। अतः कुल सात पदार्थ हुए। इनके दो भेद हैं स्वतः और परतः। पुनः काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा ये ६ भेद हैं। इस प्रकार अक्रियावाद के कुल ७ × २ × ६ = ८४ भेद हुए

कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मतश्चतुरशीतिः।
नास्तिकवादिगणमते न सन्ति भावा स्वपरसंस्थाः॥

सू. १. १२. १५. वृ. पृ. २०६।२

३. अज्ञानवाद—इस दर्शन में नव पदार्थ स्वीकृत हैं। ये नवों पदार्थ सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य सदसदवक्तव्य के भेद से ७ प्रकार के हैं। इनके अतिरिक्त, १—सती भावोत्पत्ति को वेत्ति किंवाऽनया ज्ञातया २. असती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वानया ज्ञातया ?, ३—सदसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति किं वाऽनया ज्ञातया? ४. अवक्तव्या भावोत्पत्तिः को वेत्ति किं वाऽनया ज्ञातया ? भेद भी हैं। इस प्रकार ९ × ७ × ४—६७ भेद अज्ञानवाद के हैं।

अज्ञानकवादिमतं नव जीवादीन् सदादिसप्तविधान्।
भावोत्पत्तिः सदसद्द्वेधा अवाच्या च को वेत्ति॥

सू-१. १२. १-५-वृ.पृ.२०९।१

४. वैनयिकवाद—इस दर्शन में विनयसे ही मुक्ति मिलती है। यह विनय आठ व्यक्तियों में की जाती है—सुर, नृपति, यति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता और पिता। उनकी मन, वचन, काय और दान के भेद से चार-चार प्रकार की विनय होती है। अतः वैनयिकवाद के ८ × ४—३२ प्रकार हुए।

वैनयिकमतं विनयश्चेतोवाक्कायदानतः कार्यः।
सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु सदा॥ वही, वृ-२१०।१

३—बुद्ध का जीवन-वृत्तांत

बुद्ध का मूल व्यक्तित्व एक ऐतिहासिक महापुरुष का व्यक्तित्व था। उनके जीवन काल में किसी ने भी उनकी जीवन घटनाओं का आलेखन नहीं किया। पालि त्रिपिटक में जो भी घटनायें संकलित हुई हैं वे सुव्यवस्थित नहीं। अतएव बुद्ध का प्रामाणिक जीवनवृत्तान्त पाना सहज नहीं। उत्तर काल में उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर लोकोत्तर व्यक्तित्व की सील जड़ दी गई और इस तरह रही-सही ऐतिहासिकता धूमिल काली चादर से आच्छादित हो गई। इसलिए बुद्ध की जीवन घटनाओं को सावधानता पूर्वक ग्रहण करना आवश्यक है।

बुद्ध के जीवन—वृत्तान्त के उपादान पालि त्रिपिटक में खोजे जा सकते हैं। इस दृष्टिसे दीघ.निकाय के महापरिनिब्बाण और तेविज्ज सुत्त मज्झिम निकाय के बोधिराज कुमार, सेल और रट्ठपाल सुत्त, संयुत्त निकाय के धम्मचक्कपवत्तन, चुन्द और जरा सुत्त, अंगुत्तर निकाय का पजापति पब्बज्जासुत्त, खुद्दक निकाय में सुत्तनिपात, धम्मपद, थेर-थेरी गाथा, निदान आदि, विनयपिटक में चुल्लवग्ग और महावग्ग तथा अनुपिटक में महावंस

अधिक महत्वपूर्ण है। यद्यपि अलौकिक तत्व पालि त्रिपिटक में भी दिखाई देने लगते हैं, पर उन पर लिखी गई अट्ठकथाओं में वे तत्व और भी स्पष्ट हो जाते हैं। इसके बावजूद घटनाओं को क्रमबद्ध बनाने में उनका योगदान कम नहीं है। इसके अतिरिक्त उत्तर काल में बुद्ध जीवनी पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। इस दृष्टि से महावस्तु, ललित विस्तार, अभिनिष्क्रमणसूत्र, जातकट्ठकथा, बुद्धचरित तथा जिन चरित मुख्य हैं। इन ग्रन्थों में ऐतिहासिक तत्व का स्थान कल्पना तत्व ने ले लिया। पालि त्रिपिटक में महाभिनिष्क्रमण के पूर्व का जीवन-वृत्तान्त न के बराबर ही मिलता है। यही कारण है कि बाद के ग्रन्थों में इस सन्दर्भ में मतैक्य नहीं दिखाता। यहां हम भ. बुद्ध का संक्षिप्त जीवन प्रस्तुत कर रहे हैं। अध्याय के अन्त में परिशिष्ट के रूप में कुछ विशेष रूप से दिया गया है।

जन्म और यौवन

बुद्ध के जन्म और परिनिर्वाण के विषय में परम्परायें एकमत नहीं। इन परम्पराओं को साधारणतः दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वह श्रेणी जिस में विद्वान बुद्ध का परिनिर्वाण ४८७ ई० पू० से लेकर ४७७ ई० पू० रखते हैं। चूंकि बुद्ध का परिनिर्वाण ८० वर्ष की अवस्था में हुआ था, इसलिए उक्त परम्पराओं के अनुसार उनका जन्म ५६७ ई० पू० से ५५७ ई० पू० के बीच होना चाहिए। दूसरी श्रेणी में श्रीलंका की परम्परा आती है जिसके अनुसार बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४ ई० पू० और जन्म ६२४ ई० पू० में हुआ। श्रीलंका की परम्परा अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक है।[39]

बुद्ध का यह जन्म शाक्य गणतन्त्र कपिलवस्तु (वर्तमान तिलौरा कोट) के निकट लुम्बनी वन में हुआ। यहां अशोक सम्राट का एक अभिलेख भी पाया जाता है जिसमें उत्कीर्ण है—हिद बुधे जाते साक्यमुनीति हिद भगवा जातेति। बुद्ध के पिता क्षत्रिय राजवंशी एवं गौतम[39] गोत्री शुद्धोदन[40] थे और माता का नाम था माया अथवा महामाया जो कोलिय वंश की राजकुमारी थी।[41] बुद्ध का नाम गौतम अथवा सिद्धार्थ रखा गया— समणो खलु भो गोतमो सक्यकुल पब्बजितो। सिद्धार्थ जन्मतः महापुरुष लक्षणों से लाञ्छित थे। इन लाञ्छनों

---

३९. सुत्तनिपात, ३१-१८-१८-

४०. महा वग्ग (विनय) सुत्त. ३.१.१८-२० पृ. ८६. शुद्धोदन के शुक्लोदन, शाक्योदन धोतोदन और अमितोदन इन ४ सहोदरों के भी नाम मिलते हैं (मज्झिम. चूलदुक्खक्खन्ध सुत्त अट्ठकथा) यहां तथागत के एक भाई का भी नाम मिलता है—नन्द।

४१. दीघ. भा. २, पृ.८ (ना०).

को देखकर ज्योतिषियों ने कह दिया था—इमेहि लक्खणेहि समन्नागतो अगार अज्झावसमानो राजा होति चक्कवत्ती, पब्बजमानो बुद्धो।[४२] सात दिन के बाद माया कालकवलित हो गई और पालन-पोषण का समूचा भार माता की बहन महाप्रजापति गौतमी ने ग्रहण किया।

सिद्धार्थ की शिक्षा-दीक्षा के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती। ललितविस्तर में उनके गुरु का नाम विश्वामित्र दिया है। बालक ने उनसे पूछा कि ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुस्कर सारी, अङ्गलिपि आदि ६४ प्रकार की लिपियों में मुझे आप कौन-सी लिपि सिखायेंगे? विश्वामित्र विस्मित हुए बालक की बात सुनकर और कहा कि वे उसे सर्व लोकपरायण बनाने का प्रयत्न करेंगे।[४३] तब बोधिसत्व ने १० हजार बालकों के साथ पढ़ना प्रारम्भ किया।[४४]

१. अ = अनित्य शब्द, २. आ = आत्मपरहित शब्द, ३. इ = इन्द्रिय वैपुल्य शब्द, ४. ई = ईति बहुल शब्द, ५. उ = उपद्रव बहुल शब्द, ६. ऊ = ऊन सत्त्व जगत शब्द, ७. ए = एषणासमुत्थान शब्द, ८. ऐ = ऐर्य पथ श्रेयान् शब्द, ९. ओ = ओघोत्तर शब्द, १०. औ = ११. अं = अमोघोत्पत्ति शब्द, १२. अः = अस्तंगमन शब्द, १३. क = कर्म विपाकावतरण शब्द, १४. ख = खसम सर्वधर्म शब्द, १५. ग = गम्भीरधर्मप्रतीत्यसमुत्पादावतारणशब्द, १६. घ = घनपटला विद्या मोहान्धकारविधमनशब्द, १७. ङ = अङ्ग विशुद्धि शब्द, १८. च = चतुरार्य सत्य पथ शब्द, १९. छ = छन्द राग प्रहाण शब्द, २०. ज = जरामरणसमतिक्रमणशब्द, २१. झ = झषध्वजबलनिग्रहण शब्द,

---

४२. सुत्त. ३.७;
४३. ललित विस्तर, पृ. ८८
४४. ललित विस्तर, पृ. ८९

२२. ञ = ज्ञापन शब्द, २३. ट = पटोपच्छेदन शब्द, २४. ठ = ठपनीय प्रश्न शब्द, २५. ड = डमरमारनिग्रह शब्द, २६. ढ = मीढविषयशब्द, २७. ण = रेणुक्लेशशब्द, २८. त = तथातासंभेदकशब्द, २९. थ = थामबलवेगवैशारद्य शब्द, ३०. द = दानदमसंयमसौरभ्य- ३१. ध = सप्तविधधन शब्द, ३२. न = नाम रूप परिज्ञान शब्द, ३३. प = परमार्थ शब्द, ३४. फ = फलप्राप्तिसाक्षात्क्रिया शब्द, ३५. ब = बन्धनमोक्षशब्द, ३६. भ = भवति भवशब्द, ३७. म = मद-मानोपशमनशब्द, ३८. य = यथावद्धर्मप्रतिवेधशब्द, ३९. र = रत्य-रतिपरमार्थ रति शब्द, ४०. व = वरयान शब्द, ४१. श = शमथविप-श्यना शब्द, ४२. ष = षडायतन निग्रहषडभिज्ञज्ञानावाप्ति शब्द, ४३. स = सर्वज्ञज्ञानाभिसंबोधन शब्द, ४४. ह = हतक्लेशविराग शब्द, ४५. क्ष = क्षणपर्यन्ताभिलाप्यसर्वधर्मशब्द ।

काल देवल आदि ऋषियों की भविष्य वाणियों से प्रेरित होकर शुद्धोदन ने गौतम का ध्यान विषयोपभोग की ओर केन्द्रित करने का प्रयत्न किया। दण्डपाणि की पुत्री यशोधरा (गोपा या भद्रकत्या भी कहा गया है) का स्वयंवर हुआ जिसमें गौतमने १६ वर्ष की अवस्था में देवदत्त आदि अन्य शाक्य युवकों को सरलता से पराजित कर उसका पाणिग्रहण किया। प्रतियोगिता के विषय थे—१ गज अव उत्क्षेपण, (२) लिपि ज्ञान, (३) गणित (४) धनुष चालन, (५) मल्लयुद्ध (६) ललित कलायें, (७) काव्य निर्माण, (८) शास्त्रज्ञान।[45]

यशोधरा के साथ इन्द्रियसुख भोगते हुए गौतम अपना काल यापन करने लगे।। यशोधरा राहुल - माता भी बन गई। इस सब के बावजूद गौतम का मन विषय भोगों मे नहीं लग सका। वे आध्यात्मिक सुख का चिन्तन करने लगे। राहुल को उन्होंने बन्धन माना। यह सुनकर जराजीर्ण, व्याधि-ग्रस्त, मृत और प्रव्रजित व्यक्तियोंको शुद्धोदन ने गौतम से दूर रखनेका प्रयत्न किया।[46] आचार्य

---

४५. उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का विकास' पृ० ३६

४६. जातकट्ठकथा, निदान कथा, पृ. ७२

कोसम्बी ने इन अवस्थाओं को अपर्याप्त माना, महाभिनिष्क्रमण के लिए।[47] उनका समर्थन भरतसिंह उपाध्याय[48] और गोविन्दचन्द्र पांडे[49] ने भी किया है। पर यह समाधान नहीं। वस्तुतः यह तो चिन्तन का परिणाम है। कौन जाने, व्यक्ति का मन कब किस विषय पर चिन्तन करना प्रारंभ कर दे। यही चिन्तन वैराग्य का कारण बन जाता है। बिजली का चमकना, उल्का का गिरना, बबूलों का तिरोहित होना आदि कारण ऐसे ही हैं जिन पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चिन्तन किया गया और वे गृहनिष्क्रमण के कारण बन बैठे। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन मनीषियों ने ये कारण कभी देखे ही नहीं थे। देखे अवश्य थे, पर उस तरह का विचार उन पर नहीं किया गया था। अस्तु, महाभिनिष्क्रमण के कुछ अन्य कारणों का भी निर्देश मिलता है— (१) परस्पर विरोध में शस्त्र धारण (२) गृह प्रपञ्च तथा (३) संसार की असारता।[50]

गौतम को विषयासक्त बनाये रखने के लिए शुद्धोदन का प्रबन्ध अपनी चरम उन्नति पर था। सुन्दरियों की संख्या अहर्निश बढ़ने लगी। एक दिन कृष्णा गौतमी ने उनके सौन्दर्य को देखकर प्रसन्नता पूर्वक कहा—

> निब्बुता नून सा माता, निब्बुतो नून सो पिता।
> निब्बुता नून सा नारी यस्स यं ईदिसो पति॥[51]

गौतम ने इस पद्य में निब्बुत' शब्द का अर्थ आत्मशान्ति लिया। उन्हें एक नया मार्ग दर्शन हुआ। गणिकाओं के सौन्दर्य में उन्हे दुर्गन्ध आने लगी। प्रसाद में पहुँचकर चिदानन्दलीन हो गये। अन्तः कपाट आत्म चिन्तन से धीरे-धीरे खुलने लगे। उन्होंने अन्तिम बार राहुल और यशोधरा की ओर देखा। छन्दक से अपना प्रिय अश्व मंगाया और प्रस्थान किया वन की ओर। गौतम की आयु उस समय २९ वर्ष की थी। अनोमा नदी के किनारे पहुँचकर उन्होंने राजवेष छोड़ा और प्रव्रजित होकर राजगृह की ओर चल पड़े। यह घटना ललित विस्तर, बुद्ध चरित आदि ग्रन्थो मे काव्यात्मक ढंग से वर्णित है। अरियपरियेसनसुत्त, महासच्चक सुत्त, और बोधिराजकुमार सुत्त में भी इस गृहत्याग की घटना का वर्णन निम्न शब्दों में दिया है—

---

४७. भगवान् बुद्ध, पृ. १०६,

४८. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १, पृ. २५८,

४९. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ, ४५,

५०. भगवान बुद्ध, पृ, १११, : सुत्तनिपात, ४, १,२०,

५१ जातकट्ठकथा (निदान कथा), पृ० ७५,

आहार आदि छोड़कर उग्र तपश्चर्या की। हठयोग और उपवास किया। अचेलक (नग्न) रहते हुए देह दमन किया। इस तरह महाभिनिष्क्रमण के बाद बोधि-प्राप्ति के लिए तत्कालीन प्रचलित प्रायः सभी पन्थों में वे दीक्षित हुए और छः वर्ष तक उनका अभ्यास करते रहे। अन्त में बोधिसत्व को इन उग्र तपस्याओं से असन्तोष ही हाथ लगा। और तपस्या छोड़कर आहार ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। यह देख कौण्डिन्य आदि पांच ब्राह्मण परिव्राजकों ने बुद्ध को पथभ्रष्ट मानकर उनका साथ छोड़ दिया।

बोधिसत्व यथावत् समाधि में लवलीन रहे। एक दिन सेनानिग्राम के कृषक कन्या सुजाता ने उन्हें वैसाख पूर्णिमा के पुनीत प्रभात काल में पायस दान देकर अमरत्व पाया। सुजाता के लिए यद्यपि यह दान एक बलि कर्म का अंग था पर गौतम के लिए तो उसने जीवन दान का काम किया। उसी दिन सायंकाल में श्रोत्रिय नामक घसियारे ने उन्हें आठ मुट्ठी तृण दान दिया। इसके बाद गौतम सम्यक्सम्बोधि प्राप्त करने के दृढ़ संकल्प को लेकर बोधिवृक्ष (पीपल वृक्ष) के नीचे आसीन हो गये। बौद्ध ग्रन्थो मे इस स्थान को बज्रासन कहा है।[५६]

समाधि काल मे बोधिसत्व को मार से घोर संघर्ष करना पड़ा। इस संघर्ष का उल्लेख उत्तर कालीन पालि साहित्य और बौद्ध संस्कृत साहित्य मे मिलता है। प्राचीनतम सन्दर्भों में अलभ्य होने के कारण यह विषय संशय-ग्रस्त हो गया। थामस ने इस घटना को मात्र कथात्मक विकास का (mytho ogical development) परिणाम माना[५७]। ओल्डन बर्ग[५८] और सेनार्ट ने[५९] भी उसके विचारों का समर्थन किया। रिज डेविड्स के अनुसार यह आध्यात्मिक व्यापार का बाह्य इतिवृत्त के रूप मे चित्रण है। (a subjective experience under the form of objective reality)।[६०]

वास्तविक बात यह है कि यह मार संघर्ष मानसिक द्वन्द्वों का प्रतीक है। संसार क्लेश से दूर होने के लिए सांसारिक वासनाओं से आसक्ति छोड़ना अत्यावश्यक है। मानसिक संघर्ष का जन्म इसी अवस्था में होता है। पालि साहित्य में

---

५६. बौद्धधर्म और बिहार, पृ. ५१
५७. दी लाइफ आफ दी बुद्ध, पृ. ७४
५८. बुद्ध, पृ. १०१, १०७
५९. दी लाइफ आफ दी बुद्ध, पृ. २३०
६०. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ४८

मार कहीं मृत्यु (मच्चु)[६२] और कहीं सांसारिक प्रलोभनों[६१] (कामों) के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। सुत्तनिपात (१, ५, ९६८) का मच्चुराज तथा नमुचि का मारबन्धन (३७) भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। बहुत संभव है कि मारधर्षण का कथात्मक विकास इसी विचारधारा पर आधारित रहा हो। जैन साहित्य में भी इस प्रकार के उल्लेख कम नहीं हैं।

जिस दिन सुजाता का पायस-दान मिला उसी वैसाखी-पूर्णिमा के दिन गौतम ने मार (सांसारिक वासनाओं) को पराजित कर अनुत्तरबोधिज्ञान प्राप्त किया (महावस्तु, पृ.२७०)। रात्रि के प्रथम याम में पूर्वजन्म ज्ञान, मध्यम याम में दिव्य चक्षु और अन्तिम याम में प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान लाभ किया। अब बोधिसत्त्व गौतम तथागत बुद्ध बन गये और संसार परिभ्रमण से सर्वदा के लिए मुक्त हो गये। यही उनकी सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता थी। यह सवितर्क, सविचार से प्रादुर्भूत प्रीति सुख रूप प्रथम ध्यान तथा वितर्क, प्रीति, और सुख के क्रमिक निरोध से प्राप्त द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान का परिणाम था (महा० पृ. ३६०-१०, ललित. २०[६३])। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद इसी बोधि-वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध एक सप्ताह भर मोक्ष-सुख का आनन्द लेते रहे।[६४] और इस समय वे प्रतीत्य समुत्पाद की अनुलोम-विलोम धारापर विचार-मन्थन करते रहे। सम्बोधि के बाद बुद्धघोष के अनुसार भगवान् ने सर्वप्रथम निम्नलिखित उद्गार व्यक्त किये—

> अनेक जाति संसारं संधाविस्सं अनिब्बिसं।
> गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं।
> गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
> सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं,
> विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा॥[६५]

---

६१. संयुत्त, भा. १. पृ. १५६ सुत्तनिपात, ३.२.८.

६२. हिस्ट्री आफ फिलासिफी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, भ. १. पृ. १८६.
ओरीजन्स आफ बुद्धिज्म, पृ. ३८२. ललितविस्तर, मारधर्षणपरिवर्त : महावस्तु, पृ. ३६३-४.

६३. वेरंजक ब्राह्मणसुत्त (अंगुत्तर. ८.१.२.१)

६४. तेन खो समयेन बुद्धो भगवा बोधिरुक्खमूले सत्ताहं एकपल्लङ्केन निसीदि, विमुत्तिसुखं पटिसंवेदी, महावग्ग (महाखन्धक १.१.१.) विनय के अनुसार यह समय चार सप्ताह का रहा। कहीं सात सप्ताह का भी उल्लेख आता है। ललित-विस्तर (पृ. २६९) में इस समाधि का नाम प्रीत्याहारव्यूह दिया है।

६५. धम्मपद, ११.८.९

महावग्ग और उदान में ये उद्‌गार इस प्रकार हैं—

"यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा, आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स।
अथस्स कङ्खा वपयन्ति सब्बा, यतो पजानाति सहेतुधम्मं॥

ललितविस्तर (पृ. २५३) में कुछ और ही वचन इस प्रसंग में उल्लिखित हैं-

छिन्नवर्त्मोपशान्तरजाः शुष्का आस्रवा न पुनः स्रवन्ति।
छिन्ने वर्त्मनि वर्तत दुःखस्यैषोऽन्त उच्यते॥[६६]

सम्बोधि-प्राप्ति के बाद भगवान् के मन में "इस दुरनुबोध धर्म को समझने में संसारी जीव समर्थ होंगे" इस विषय में सन्देह उत्पन्न हो गया—

किच्छेन मे अधिगतं हं लं दानि पकासितुं।
रागदोसपरेतेहि नायं धम्मो सुसम्बुधो॥
पटिसोतगामिं निपुणं गम्भीरं दुद्दसं अणुं।
रागरत्ता न दक्खन्ति तमोखन्धेन आवटा॥[६७]

ब्रह्मा ने भ. बुद्ध की इस विचारधारा को समझ लिया। उसने संसारी जीवों का पक्ष लिया और कहा कि आप धर्मप्रचार कीजिए, समझने वाले अवश्य मिलेंगे (ललित. पृ. २८६)।

उट्ठेहि वीर विजितसंगाम सत्थवाह अनण विचर लोके।
देसेतु भगवा धम्मं, अञ्ञातारो भविस्सन्ती ति॥[६८]

ब्रह्मयाचना के प्रतिफलस्वरूप बुद्ध ने अखिल लोक पर एक दृष्टि डाली और पाया कि जैसे तालाब में कुछ कमल जल के अन्तर्गत रहते हैं, कुछ समोदक रहते हैं और कुछ अनुपलिप्त रहते हैं उसी प्रकार संसार में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणी हैं और वे परलोक से भयभीत हैं।[६९] जीवों की इस स्थिति को

---

६६. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास पृ. ५२

६७. महावग्ग १.१.५; यहाँ सम्बोधि के अनन्तर तपुस्स और भल्लिक के उपासक बनने का उल्लेख है और बाद में ब्रह्मयाचना का। परन्तु मज्झिमनिकाय में यह उल्लेख नहीं। मात्र ब्रह्मयाचना का वर्णन वहाँ उपलब्ध है।

६८. ललितविस्तर, २८६–२९०.

६९. ललित विस्तर (पृ० २९२) में ये तीनों प्रकार के कमल निम्नलिखित तीन प्रकार के संसारियों की ओर इङ्गित करते हैं-मिथ्यात्व नियतराशि, अनियतराशि और सम्यक्त्व नियतराशि। इनकी तुलना जैनधर्म में वर्णित जीवों के तीन प्रकारों से की जा सकती है—दूरानभव्य, अभव्य और भव्य।

देखकर बुद्ध ने धर्म देशना की स्वीकृति दी और कहा—

अपारुता तेसं अमतस्स द्वारा ये सोतवन्तो पमुञ्चन्तु सद्धं ।
विहिंससञ्ञी पगुणं न भासिं धम्मं पणीतं मनुजेसु ब्रह्मे ॥

महावग्ग के इस अध्याय पर विद्वानों में मतैक्य नहीं । श्रीमती रिस डेविड्स ने इसे आध्यात्मिक विकास का प्रेरक माना ।[70] नलिनाक्षदत्त ने अतर्क्य निर्वाण के विषय में मौन धारण व मात्र मार्गदेशना का सूचक कहा ।[71] गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने इसे महायान का आध्यात्मिक जन्म स्वीकारा ।[72] इन सबके अतिरिक्त यदि इसे सांसारिक प्राणियों की चेतना और बालक का अवबोध प्राप्त करने की मनःस्थिति का सूचक मान लिया जाय तो कहीं अधिक युक्ति-संगत है । क्योंकि प्राणियों की प्रकृति भिन्न-भिन्न हुआ करती है और इसी भिन्नता को स्थूलतः यहाँ तीन वर्गों में विभाजित कर दिया गया है । इसी के आधार पर भ. ने अपनी देशना दी है ।

४. प्रथम धर्म देशना

धर्मोपदेश करने का निश्चय करने के बाद प्रथम धर्मदेशना किसे दी जाय, इस सन्दर्भ में बुद्ध ने आलारकालाम और उद्दकरामपुत्त का स्मरण किया परन्तु इस समय तक वे काल कवलित हो चुके थे (ललित पृ. २९५) । उनके बाद उन्हें पञ्चवर्गीय भिक्षुओं का ध्यान आया जो उस समय ऋषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ में) ठहरे हुए थे । बुद्ध उनसे मिलने ऋषिपत्तन चल पड़े । मार्ग में उपक आजीविक मिला । उसने बुद्ध से कुछ प्रश्न किये जिन प्रश्नों का उत्तर भगवान् ने इस प्रकार दिया—

सब्बाभिभू लोकविदूहमस्मि सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो ।
सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं ॥ १ ॥
न मे आचरियो अत्थि सदिसो मे न विज्जति ।
सदेवकस्मिं नत्थि मे पटिपुग्गलो इति ॥ २ ॥[73]

इसके बाद पञ्चवर्गीय भिक्षुओं से वाराणसी में भ. की भेंट हुई । एक लम्बे विवाद के उपरान्त वे भिक्षु किसी तरह विश्वस्त हुए और उन्होंने धर्मदेशना ग्रहण की । इसी को धर्मचक्रप्रवर्तन कहा गया है । इसका उल्लेख भारहुत, सारनाथ

ललित पृ. २९३.
७०. ओरिजिनल गास्पिल इन बुद्धिज्म, पृ० १६
७१. अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, भाग १, पृ० १०७.
७२. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ०५३
७३. महावग्ग, १, १, ६.

और नागार्जुनीकोंडा के शिलालेखों में से हुआ है।[74]

५. संघनिर्माण - पञ्चवर्गीय भिक्षुओं ने बुद्धदेशनासे अर्हत्व प्राप्त कर लिया। यहीं से बौद्ध भिक्षु संघ का निर्माण प्रारम्भ हुआ। वाराणसी में यश नामक श्रेष्ठि-पुत्र भी अपने ५४ मित्रों के साथ बौद्ध भिक्षु बन गया। बुद्ध ने इन सभी भिक्षुओं को धर्मप्रचार के लिए भिन्न-भिन्न दिशाओं में भेजा और स्वयं उरुवेला की ओर गये। मार्ग में उन्होंने तीस भद्रवर्गीय कुमारों को दीक्षित किया। उरुवेला में पहुँचकर अपने प्रातिहार्य के बल पर उरुवेला काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप को पराजित किया। फलतः अपने शिष्यों के साथ उन्होंने बुद्ध का शिष्यत्व ग्रहण किया। तदनन्तर राजगृह में बिम्बिसार को उपदेश दिया। उसने भिक्षु-संघ को वेणुवन भेंट किया। तदनन्तर कपिलवस्तु गये और वहां अन्य शाक्यों के साथ राहुल कुमार को भी प्रव्रजित किया। कपिल-वस्तु से बुद्ध पुनः राजगृह आये। यहां पर श्रमण संजय के संघ में सारिपुत्र और मौद्गल्यायन थे जिन्होंने बौद्ध भिक्षु अश्वजित से गौतम के उपदेशों का सार सुनकर धर्म परिवर्तन कर लिया। ये दोनों बाद में अग्रश्रावक कहलाये। उपदेशमयी गाथा यह थी—

ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेसं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमनो॥[75]

क्रमशः संघ बढ़ता गया। अनुरुद्ध, भद्दिय, उपालि, आनन्द आदि जैसे कर्मठ व्यक्तित्व भी इस संघ में प्रविष्ट हुए। महिलाओं को भी आनन्द की कृपा से भिक्षु-संघ में प्रवेश मिल गया। बुद्ध की अन्तिम अवस्था तक संघपर्याप्त समृद्ध हो चुका था। उनके सिद्धान्तों ने जनमानस के सन्तप्त हृदयों में अनुपम शान्तिस्रोत प्रवाहित कर दिया था। भगवान् बुद्ध की महाकरुणा का यह फल था। नियमित रूप से दिन को पांच भागों में विभक्त कर उन्होंने धर्मप्रचार किया।[76] गांवों—गांवों में जाकर एक नये धार्मिक और दार्शनिक अन्दोलन का सूत्रपात किया। इस आन्दोलन को अधिकाधिक जनता के समीप लाने के लिए बुद्ध ने भिक्षुओं

---

७४. अर्ली बुद्धिज्म, पृ. ८. परवर्ती बौद्धधर्म के अनुसार बुद्ध ने तीन धर्म-चक्रप्रवर्तन किये थे। प्रथम सारनाथ में, द्वितीय गृध्रकूटपर्वत पर, और तृतीय धान्यकटक में। तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन बौद्ध तन्त्रवाद के उद्गम के रूप में था।

७५. महावग्ग, १.४.२; EI, IX, p. 291ff

७६. पंचविधानि बुद्धकिच्चानि पुरेभत्तकिच्चं, पच्छाभत्तकिच्चं, पुरिमयामकिच्चं, मज्झिमयामकिच्चं, पच्छिमयामकिच्चं, सुमंगलविलासिनी।

को सम्बोधित करते हुए कहा—भिक्षुओ ! जितने भी मानुष और दिव्य बन्धन हैं, मैं उन सभी से विमुक्त हूँ। तुम भी सभी दिव्य और मानुष बंधनों से विमुक्त हो जाओ। भिक्षुओ ! बहुजन, हितार्थ बहुजन सुखार्थ, लोक पर अनुकम्पा करने के लिए, हित के लिए, सुख के लिए, विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। भिक्षुओ ! आदि में कल्याण कारक, मध्य में कल्याण कारक, अन्त में कल्याण कारक इस धर्म का उपदेश करो। अर्थ सहित, व्यञ्जन सहित, केवल परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।"[७७]

धर्मप्रचार के सन्दर्भ में महाप्रजापती गौतमी ने संघ में मातृगाम (स्त्रियों) के प्रवेश का प्रश्न उपस्थित किया। प्रथमतः भगवान् सहमत नहीं हुए। परन्तु आनन्द की तर्कात्मक वाणी के फलस्वरूप उन्हें अपने विचार परिवर्तित करने पड़े। अनेक महिलाओं को उपसम्पदा प्राप्त हुई। भिक्षुणियों में खेमा, पराचारा, सोणा, गौतमी, उत्पलवर्णा मुख्य थीं। बुद्ध के अनुगामियों में गृहस्थ पुरुष और महिला वर्ग भी था। इस प्रकार उनके संघ के चार आयाम हुए—भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिकायें।

६. वर्षावास—

महात्मा बुद्ध २९ वर्ष की अवस्था में सन्यासी हुए और लगभग ६ वर्ष के बाद बोधि प्राप्त की।[७८] ८० वर्ष की अवस्था में उनका परिनिर्वाण हुआ। इस बीच उनके वर्षावास और विहारस्थल निम्न प्रकार से रहे—

१. वाराणसी, ऋषिपत्तन (वर्षावास),
२. गया, राजगृह (वर्षावास),
३. राजगृह (वर्षावास),
४. कपिलवस्तु, राजगृह (वर्षावास),
५. वैशाली, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली (वर्षावास),
६. राजगृह, मंकुलपर्वत (वर्षावास),
७. त्रायस्त्रिंश लोक (वर्षावास),
८. श्रावस्ती, राजगृह, वैशाली, सुंसुमारगिरि-भग्गर (वर्षावास),
९. कौशाम्बी (वर्षावास),
१०. पारिलेय्यक वन (वर्षावास),

---

७७. संयुत्त. ४. १. ४.

७८. महावस्तु, भा. २, पृ. ४०८

११. श्रावस्ती, नाला-नालन्दा (वर्षावास),

१२. कुरु-कल्माषदम्य, मथुरा, वेरञ्ज (वर्षावास),

१३. प्रयाग, काशी, वैशाली, चालियपर्वत (वर्षावास),

१४. वैशाली, श्रावस्ती, साकेत, आपण श्रावस्ती (वर्षावास),

१५. कुशीनारा, कोसल, कपिलवस्तु, राजगृह, चम्पा,
कपिलवस्तु (वर्षावास),

१६. अलवी-कानपुर (वर्षावास),

१७. कौशाम्बी, राजगृह (वर्षावास),

१८-१९. चालिय पर्वत,

२०. चम्पा, सुम्हदेश (हजारीबाग जिला), राजगृह (वर्षावास),

२१. वैशाली, राजगृह, श्रावस्ती (वर्षावास),

२२–४५ वर्षावास श्रावस्ती में हुए। इस बीच बुद्ध कोसल, कुरु, राजगृह, नालन्दा, सामगाम (शाक्यदेश), पावा, वैशाली, कुसीनारा आदि स्थानों पर विहार करते रहे।

४६. वैशाली (वर्षावास)। यह वर्षावास युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। २९ वर्ष की अवस्था में बुद्ध ने महाभिनिष्क्रमण किया, ३५ वर्ष की अवस्था में उन्हें बोधिलाभ हुआ और ८० वर्ष की अवस्था में वर्षावास से पूर्व वैशाखी पूर्णिमा को उनका परिनिर्वाण हुआ। इसलिए अंगुत्तर निकाय (२.४५) का यह कथन कि बुद्ध का ४६वाँ वर्षावास वैशाली में हुआ, भ्रांतिपूर्ण प्रतीत होता है।

७—परिनिर्वाण

भगवान् बुद्ध लगभग ८० वर्ष की अवस्था तक धर्म प्रचारार्थ विहार करते रहे। महापरिनिब्बान सुत्त के अनुसार परिनिर्वाण के समय बुद्ध वैशाली के समीप वेलुवग्राम में वर्षावास कर रहे थे। उस समय वे अत्यन्त रोगग्रस्त हो गये। आनन्द चिन्तातुर हुए। वेलुवग्राम से बुद्ध किसी प्रकार पावा पहुँचे। वहाँ चुन्द कम्मारपुत्त (स्वर्णकार) के घर 'सुकर मद्दव' (शूकर का माँस) के खाने से उन्हें मरणान्तक वेदना हुई। रक्तातिसार से वे पीड़ित हो गये। फिर भी उन्होंने कुशीनगर की ओर प्रस्थान किया। बीच में ही हिरण्यवती नदी पारकर शालवन में पहुँचते ही वे और अधिक अस्वस्थ हो गये। यह उनका अन्तिम समय था। आनन्द ने समय का उपयोग कर धर्म की भावी रीति-नीति के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न पूछे जिनका समाधान भगवान् ने अपने सुलझे हुए ढंग से किया।

भगवान् के अन्तिम शब्द थे—

अलं आवुसो, मा सोचित्थ, मा परिदेवित्थ। ननु एतं आवुसो भगवता पटिकच्चेव अक्खातं सब्बेहि' व पियेहि मनापेहि नानाभावो विनाभावो अञ्ञथा-भावो, तं कुते'त्थ लब्भा ? यं तं जातं भूतं संखतं पलोकधम्मं तं वत मा पलुज्जी ति नेतं ठानं विज्जति। देवता आवुसो उज्झायन्ती ति। कथंभूता पन भन्ते आयस्मा अनुरुद्धो देवता मनसिकरोती ति ? सन्ता'वुसो आनन्द देवता आकासे पठवि-सञ्ञिनियो केसे पकिरिय कन्दन्ति—अतिखिप्पं भगवा परिनिब्बुतो...अन्तरहितो ति। या पन देवता वीतरागा ता सता सम्पजाना अधिवासेन्ति—अनिच्चा संखारा, तं कुते'त्थ लब्भा ति।[79]

इसके बाद भगवान् बुद्ध ने ध्यान की क्रमिक अवस्थाओं की अनुभूति लेते हुए "वयधम्मा संखारा अप्पमादेन सम्पादेथ" कह कर परिनिर्वाण में प्रवेश किया।

८. परिनिर्वाण काल—भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि आज भी विवादग्रस्त बनी हुई है। इस सन्दर्भ में विद्वानों में साधारणतः दो परम्-परायें हैं—

१. एक परम्परा वह है जो ४८७–४७७ ई० पू० बुद्ध का परिनिर्वाण मानती है। और

२. द्वितीय परम्परा वह है जो ५४३–५४४ ई०पू० को बुद्ध का परिनिर्वाण काल मानने का आग्रह करती है।

प्रथम परम्परा—बुद्ध के परिनिर्वाण को ४८७–४७७ ई०पू० के बीच ठहराने वाली प्रथम परम्परा को मानने वालों में कारपेन्टियर[80], मेक्समूलर[81] और जनरल ए०कनिंघम[82] मुख्य हैं जो ओल्डनबर्ग[83] ने ४८१ ई.पू. और स्मिथ[84] ने

---

७९. महापरिनिब्बाणसुत्त

८०. IA, १९१४, पृ.१२६

८१. इन्ट्रोडक्शन टू दी धम्मपद, SBE पृ. X ii–X vii.

८२. बुक आफ इण्डियन एराज, पृ. ३४

८३. विनय पिटक, SBE. भाग XIII, पृ.२२

८४. दे बुद्धिज्म, ii, पृ.६३

४७६ ई०पू०, कर्नने ४८८ ई० पू० और मुनि नथमल[८५]ने ५०२ई०पू० इस घटना को घटित बताया है। सिल्वेन लेवी[८६] ने चीनी लेखों के आधार पर ४८३ ई० बताया है। इसके सिद्धान्त के पोषक विद्वानों ने चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण ३२१ ई०पू० स्वीकार किया है। प्रथम परम्परा में अन्य मतों की अपेक्षा यह मत अधिक मान्य प्रतीत होता है।

द्वितीय परम्परा—इस परम्परा में सिंहल और बर्मा की परम्परा आती है जो बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४–५४३ ई०पू० में हुआ मानती हैं। इसके अतिरिक्त उत्तर भारतीय परम्परायें कुछ और ही हैं। कनिंघम ने लिखा है कि ह्वेनसांग (६३०–६४५ A.D.) के समय उत्तर भारत मे बुद्ध के परिनिर्वाण के विषय में अनेक परम्परायें थीं। इन परम्पराओं में २५०, ३५०, ५५०, ६५० और ८५० ई०पू० में बुद्ध का परिनिर्वाण मानने वाली परम्परायें मुख्य हैं।[८७] फाह्यान भी ७७०–७१९ ई. पू. मानता है। ऐसी कुछ और भी परम्परायें हैं जो ६५६–६३३ ई.पू. तथा ११५९ ई० अथवा ११८० ई० को बुद्ध का परिनिर्वाण काल ठहराती हैं।

इन परम्पराओं मे सिंहल और बर्मा की परम्परा को छोड़कर अन्य कोई भी परम्परा विश्वसनीय नहीं है। महावंस के अनुसार पराक्रमबाहु प्रथम भ. बुद्ध के परिनिर्वाण के १६६६ वर्ष बाद राज्याभिषिक्त हुआ है। सिंहल परम्परा पराक्रमबाहु प्रथम का राज्याभिषेक काल ११५३ ई० मानती है। अतएव बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४ ई.पू. (१६९७–११५३) होना चाहिए।[८८] इस परम्परा का समर्थन दक्षिण भारतीय शिलालेखों से भी होता है। अनुराधापुर मे प्राप्त शिलालेख भी इस परम्परा का समर्थन करता है।[८९]

यह भी यहाँ उल्लेखनीय है कि विक्रमसिंह[९०] व सेनारत्ने[९१] जैसे कुछ

---

८५. भगवान महावीर और बुद्ध की समसामयिकता, अनेकान्त, १९६३
८६. JAS. १९००, पृ.११६
८७. ह्वेनसांग, , ३३५
८८. गायगर, महावंस भूमिका पृ.XXIX
८९. UCR. भाग १८, नं० ३–४ पृ.१३१
९०. एपिग्राफिया जेलनिका भाग१, पृ.७९–८०, १२२–१२४, १५५–१५७
९१. डेट आफ बुद्धाज् डेथ एण्ड सीलोन क्रोनोलाजी, JRAS. भाग २३, नं० ६७, १९१४, पृ. १४३

विद्वानों ने ४८३ ई. पू. को ही सिंहल परम्परा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इनके तर्कों का उत्तर Hultzsch ने भलीभांति दे दिया है।[६२] जायसवाल ने भ. महावीर के प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम को भ. बुद्ध मानकर उनका परिनिर्वाण ५४४ ई.पू. में बताया है।[६३] यह स्पष्टतः उनकी भूल है। इन्द्रभूति-गौतम गणधर और महात्मा गौतमबुद्ध दोनों व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् हैं।

उक्त दोनों परम्पराओं में सिंहल और बर्मा की परम्परा पर विश्वास अधिक ठहरता है। त्रिपिटक व जैनागमों में आये हुए उल्लेखों के आधार पर भी बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४–५४३ ई.पू. निश्चित किया जा सकता है। और चूंकि वे अस्सी वर्ष की अवस्था तक (असीतिको मे वयो वत्तति) धर्मोपदेश करते रहे इसलिए उनका जन्म ६२४–६२३ ई. पू. मानना अधिक युक्ति संगत है।

भ. महावीर का परिनिर्वाण भी विवादग्रस्त है। पर अब अधिकांश विद्वान् इस घटना का काल ५२७ ई. पू. मानने को सहमत हो गये हैं। इस प्रकार महावीर बुद्ध से लगभग १६ वर्ष बाद परिनिर्वृत्त हुए। इस सन्दर्भ में त्रिपिटक में महावीर के निर्वाण का उल्लेख या तो प्रक्षिप्त होना चाहिए अथवा उसे गोशाल का निर्वाण-प्रसंग माना जाना चाहिए। मुनि नगराज जी का मत है कि बुद्ध का परिनिर्वाण ५०२ ई. पू. होना चाहिए[६४]। पर उसे युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। उन्होंने सम्बद्ध उल्लेखों का जो भी विश्लेषण किया है वह बिलकुल समीचीन नहीं कहा जा सकता। अभी उस पर और भी चिन्तन आवश्यक है।

---

६२. वही, पृ. २५३

६३. JA. भाग, ११ पृ. २७६

६४. आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन, पृ. ४७–१२८

परिवर्त - १

सम्प्रदाय, साहित्य और आचार्य

प्रथम संगीति

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरान्त उनके प्रधान शिष्यों के समक्ष यह समस्या उठ खड़ी हुई कि बौद्धधर्म किस प्रकार जीवित रखा जाय। आनन्द के पूछने पर भी बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी किसी को नहीं बनाया। उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए 'धम्मदायाद' होने की इच्छा अवश्य व्यक्त की थी। बुद्ध के न होने पर इस 'धम्म' की व्याख्या अपने अपने अनुकूल न होने लगे, यह शंका पैदा हो गई थी। "अलं आवुसो! मा सोचित्थ! मा परिदेवित्थ! सुमुत्ता मयं तेन महा समणेन! उपद्दुता च होम। इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पतीति। इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम तं करिस्साम"। यं न इच्छिस्साम तं न करिस्साम।"[1] जैसे कथन सुभद्र जैसे स्वच्छन्दतावादी भिक्षुओं द्वारा व्यक्त किये जाने लगे थे। इस स्थिति का परिज्ञान कर धर्म और विनय के संगायन के लिए एक संगीति बुलाने का निश्चय हुआ।

राजगृह से अधिक उपयुक्त स्थान और क्या हो सकता था। वैशाख पूर्णिमा को बुद्ध-परिनिर्वाण हुआ था. उसके बाद चतुर्थ माह में अर्थात् श्रावण माह में ५०० भिक्षु वैभार गिरि पर स्थित सप्तपर्णी गुफा में एकत्रित हुए।[2] आनन्द उसी समय अर्हत् अवस्था प्राप्त कर संगीति में सम्मिलित हुए और सुत्तपिटक के मुख्य संगायक बने। गवांपति और पुराण की घटनाओं—मत-भेदों से यह अधिक सम्भावित है कि इस संगीति के निर्णय एकमत से नहीं हुए होंगे। संघभेद का प्रारम्भिक सूत्र यही से प्रारम्भ हो जाता है।

प्रथम संगीति का उल्लेख चुल्लवग्ग, दीपवंस, महावंस, सुमंगलविलासिनी, महाबोधिवंस, महावस्तु, मञ्जुश्रीमूलकल्प, तारानाथ का बौद्धधर्म का इतिहास, तथा चीनी संस्कृत ग्रन्थों—महीशासक, धर्मगुप्त, महासांघिक, सर्वास्तिवादिन्, काश्यपसंगीतिसूत्र, अशोकावदान, महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, परिनिर्वाणसूत्र और ह्वेनसांग के रिकार्ड—में मिलता है।

---

१. महापरिनिब्बाणसुत्त, दी. २. ३.

२. महावंस, २-२

जहाँ तक इस संगीति की प्राचीनता का प्रश्न है सर्वप्रथम १८८७ में रूसी विद्वान् मिनयेफ (Minayeff) ने तत्सम्बन्धी प्रमाणों का परीक्षण कर इस घटना को ऐतिहासिक घटना के रूप में स्वीकार किया।[1] ओल्डेनबर्ग ने १८९८ में इसका खण्डन किया और कहा कि प्रथम संगीति मात्र कल्पनाजन्य है क्योंकि महापरिनिब्बाणसुत्त में सुभद्र प्रकरण का कोई उल्लेख नहीं।[2] रॉकहिल ने तिब्बती सूत्रों से प्रथम संगीति की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयत्न किया।[3] परन्तु रिज डेविड्स[4] कीथ,[5] सुकुमारदत्त[6] आदि विद्वानों ने ओल्डेनबर्ग के मत का ही समर्थन किया।

ये सभी मत सुभद्र का उल्लेख महापरिनिब्बाणसुत्त में न होने पर आधारित हैं। वस्तुतः महापरिनिब्बाणसुत्त का सम्बन्ध बुद्ध के परिनिर्वाण की घटना के वर्णन करने से है, न कि बौद्धसंघ के इतिहास का विवरण करने से। यद्यपि विनय संघ से सम्बद्ध है अतः उसका उल्लेख होना चाहिए परन्तु हम उसे आवश्यक बनाकर नहीं बैठ सकते। अन्यथा दीपवंस और तिब्बती दुल्वा में निर्दिष्ट प्रथम संगीति का वर्णन सुभद्र का उल्लेख न होने के कारण अस्वीकार्य हो जाएगा। फिनाट (Finot) ने चुल्लवग्ग के ग्यारहवें और बारहवें अध्याय को प्रक्षिप्त बताया और यह कहा कि महापरिनिब्बाणसुत्त और चुल्लवग्ग के ये दोनों अध्याय परस्पर सम्बद्ध होना चाहिए। इसके समर्थन में उन्होंने मूल सर्वास्तिवादियों के विनय 'संयुक्त वस्तु' का उल्लेख किया जहाँ परिनिर्वाण और संगीति, दोनों का उल्लेख उपलब्ध है।[7] ओबरमिलर,[8] पूसें,[9] प्रिजुलुस्की[10] और याकोबी[11] ने

---

१. दी रिसर्वेंस सर ले बौद्धिस्मे, १८८७, रसियन से फ्रेन्च में अनूदित, १९२४।

२. बुद्धिस्तिस्केस्तुदियन, ZDMG. १८९८, पृ. ६१३-६२४। प्रस्तावना (विनयपिटक), भाग १, पृ. २५-२६।

३. दी लाइफ आफ् दी बुद्ध, पृ. ७

४. दी बुद्धिस्ट सुत्तास् , प्रस्तावना, SBE. भाग ४०, पृ. १३।

५. J.p.T.S, १९०८, पृ. १-८०।

६. दी बुद्ध एण्ड फाइव आफ्टर सेन्चुरीज्-पृ. १०२

७. दत्त, एन., अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, भाग १, पृ. ३३७; IHQ Viii, पृ० २४१-६.

८. IHQ भाग, ८, पृ. ७८१-४।

९. ले माउसियन, वि. पृ. २१३, २२३; इण्डियन एण्टिक्वेरी में उसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित, १९०८।

१०. ले कौंसील द राजग्रह।

११. ZDMG. भा. ३४, सन् १८८०, पृ. १८४।

भी इसीका समर्थन किया ।

उक्त प्रमाणों के आधार पर प्रथम संगीति की ऐतिहासिकता को अस्वीकार करने का साहस हम में नहीं है । और फिर गर्वामति एवं पुराण के कथनों में बुद्धवचनों की ऐतिहासिकता स्वयंसिद्ध है ।[12]

प्रस्तुत संगीति में धम्म और विनय तथा सुमंगलविलासिनी (निदान-कथा) के अनुसार अभिधम्म का भी संगायन हुआ था, यह स्वीकार करना सम्भव नहीं । पुसें ने इस संगीति को पातिमोक्ख[13] असेम्बली कहा और नलिनाक्ष दत्त ने इसे क्षुद्रक विनय नियमों (खुद्दकानुखुद्दकानि सिक्खापदानि) को विनिश्चित करने के लिए आहूत परिषद् माना । दीपवंस और स्पष्ट वर्णन प्रस्तुत करता है । उसके अनुसार आनन्द, उपालि और कुछ अन्य शिष्यों ने इस संगीति को सम्पन्न किया और धम्म और विनय का संगायन किया । यहाँ धम्म और विनय का सम्बन्ध कुछ थोड़े से मूलसुत्तों से होना चाहिए, न कि समूचे पालि त्रिपिटक से ।

द्वितीय संगीति

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग १०० वर्ष बाद (वस्ससतपरिनिब्बुते भगवति) द्वितीय संगीति वैशाली में हुई । इसे 'सत्तसतिका' भी कहा गया है । इसके आयोजन की पृष्ठभूमि में कुछ भिक्षुओं द्वारा विनय-विपरीत आचरण-मार्ग का अभ्यास था । यश ने देखा कि तथाकथित बौद्ध भिक्षु सिंगिलोणकप्प, द्वंगुल-कप्प, गामान्तरकप्प, आवासकप्प, अनुमतिकप्प, अचिण्णकप्प, अमथितकप्प, जलोगीपान, अदसक निसिदन और जातरूपरजतग्रहण इन दस वस्तुओं को स्वीकार करने लगे हैं । यह नियमविरुद्ध आचरण संघ को दूषित कर देगा । इस प्रकार के अपने विचार व्यक्त करने पर उसे पटिसारणीयकम्म का दण्ड दिया गया । यश के प्रयत्न से रेवत थेर की अध्यक्षता में यह संगीति बुलायी गई । यहाँ भिक्षुओं में दो दल स्पष्टतः दिखाई देने लगे—एक पाचीनक जो दस-वस्तुओं के ग्रहण करने के पक्ष में थे और दूसरा पावेय्यक जो इनके विपरीत था । संगीति ने दस वस्तुओं को ग्रहण करना विनय विपरीत माना । फलस्वरूप एक पृथक् ही महासंगीति का निर्माण हो गया ।[15] विनीतदेव के अनुसार इस

---

१२. उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. ८७–८८

१३. देखिये, अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, भा. १, पृ. ३३६ ।

१४. अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, भा. १ पृ. ३३६,

१५. दीपवंस, ५-३० में महासंगीति नाम है और महावंस, पृ. ३-४ में इसे महासांघिक कहा गया है ।

संगीति का मूल कारण महादेव (१३७ बुद्धाब्द) द्वारा मान्य पाँच वस्तुएँ थीं—अर्हतों में भी राग हो सकता है, उनमें अज्ञान बने रहने की सम्भावना है, वे संशयापन्न भी हो सकते हैं, दूसरे के द्वारा वे ज्ञान प्राप्त भी कर सकते हैं और अचानक वाक् समुच्चारण से मार्ग की प्राप्ति हो सकती है। सम्भव है, ये शङ्काएँ सामान्यतः तथाकथित अर्हतों के सन्दर्भ में उठायी गई हैं[१६]।

द्वितीय संगीति का उल्लेख हमें चुल्लवग्ग—विनयपिटक दीपवंस, महावंस, समन्तपासादिका, ह्यूनसांग के पश्चिमी देशों के रिकार्ड, तिब्बती दुल्वा आदि में मिलता है। थोड़ा-बहुत अन्तर होने के बावजूद ये सभी उल्लेख चुल्लवग्ग पर आधारित हैं।

इस संगीति की ऐतिहासिकता अब निर्विवाद रूप से स्वीकृत हो चुकी है। कर्न ने पहले बुद्धिस्टिक स्टडीज में इसे कल्पनाजन्य माना पर बाद में मेन्युअल आफ बुद्धिज्म में उनका सन्देह दूर हो गया। ओल्डेनबर्ग ने इसे सर्वाधिक सत्य घटना कहा (विनय पिटक, भूमिका, पृ. २६)। इस समय तक बौद्ध संघ के पास विनय का कोई प्रारूप अवश्य रहा होगा जिसके आधार पर इस संगीति में निर्णय लिये गये।

तृतीय संगीति

बुद्ध के समय तक आते-आते बौद्धधर्म अपेक्षाकृत सरल हो गया था। अनेक भिक्षु अपने ही नाम से उपदेश देने लगे थे और मठाधीश बन गये थे। इस स्थिति में विनय नियमों में शैथिल्य आना और उपोसथ एवं पारणा न होना स्वाभाविक था। अशोक ने यह आचारगत शिथिलता दूर करने का यथासम्भव प्रयास किया। तृतीय संगीति इसी भूमिका के साथ पाटलिपुत्र में मोग्गलिपुत्ततिस्स थेर की अध्यक्षता में हुई थी। इसका उल्लेख दीपवंस, महावंस, समन्तपासादिका, तिब्बती दुल्वा और कुछ चीनी साहित्य में मिलता है। परन्तु चुल्लवग्ग और अशोक के शिलालेख इस विषय में मौन हैं।

मिनयेफ, कीथ, फ्रेन्के आदि विद्वानों ने इस संगीति की ऐतिहासिकता के विषय में सन्देह व्यक्त किया है क्योंकि चुल्लवग्ग जैसे प्राचीन ग्रन्थ में इसका उल्लेख भी नहीं। पर यह विचार अब किसी को मान्य नहीं। सम्भव है स्थविरवादी भिक्षुओं ने इसे अपनी ही संगीति मानकर उल्लेख करना आवश्यक न समझा हो। जहाँ तक अशोक के शिलालेखों में इसका उल्लेख न होने का प्रश्न है यह सही नहीं। अशोक ने संघ से कुछ भिक्षुओं के निष्कासन की बात

---

१६. पाउसन, "फाइव प्वाइंट्स आफ महादेव एण्ड दी कथावत्थु", JRAS. १९१०, पृ. ४१३-२७; वार्डर इण्डियन बु., २९९-२.

अपने शिलालेख में की है।[१७] मौग्गलिपुत्त तिस्स को अधिक महत्व देने के लिए भी संभवतः अशोक ने इस विषय में स्वयं को बाहर रखा हो। संगीति का मुख्य उद्देश्य तत्काल में प्रचलित १७ सम्प्रदायों का निराकरण और स्थविरवाद का प्रस्थापन था। मोग्गलिपुत्ततिस्स ने कथावत्थु की रचना कर यह काम पूरा किया। सम्भवत: अभिधम्मपिटक का संकलन इसी संगीति का परिणाम रहा हो। विदेशों में बौद्धधर्म के प्रचार के लिए भिक्षुओं को भेजे जाने का निश्चय करना इस संगीति की बड़ी भारी देन बौद्ध संस्कृति को सिद्ध हुई है।

अन्य संगीतियां

इन तीन संगीतियों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न समय पर कुछ और संगीतियाँ हुईं। ई०सन्१०० में चतुर्थ संगीति कनिष्क ने बुलाई थी। सिंहल परम्परानुसार भी लंका में तीन संगीतियाँ हुईं—प्रथम संगीति अरिट्ठ थेर की अध्यक्षता में देवानंपियतिस्स के काल (२४७-२०७ ई. पू.) में हुई। द्वितीय संगीति महाथेर रक्खित के तत्वावधान मे वट्टगामिनि अभय (१०१–७७ ई.पू.) के काल में हुई और तृतीय संगीति महाथेर हिक्कडुवे सिरि सुमंगल के सभापतित्व में १८६५ ई० में हुई। इसी प्रकार थाइलेण्ड और वर्मा की भी कुछ अपनी परम्परायें हैं। पञ्चम संगीति जो माण्डले (श्रीलंका) में हुई उसका विशेष महत्व इसलिए है कि स्थायित्व की दृष्टि से समूचा पालि त्रिपिटक संगमरमर पत्थर पर उकेरा गया। और छठवीं संगीति अभी १९५४ में रंगून में हुई थी। इन सभी का उद्देश्य पालि त्रिपिटक का संरक्षण करना था।

संघ प्रकार

बुद्ध ने प्राचीन परम्परानुसार अपने संघ का निर्माण किया और उसके चार भेद किये—उपासक, उपासिकायें, भिक्षु और भिक्षुणियां। यद्यपि उन्होंने विशेष ध्यान भिक्षु और भिक्षुणियों के बनाने में लगाया पर उपासकों को भी वे उद्बोधित करते हुए दिखाई देते हैं। तपस्सु और मल्लिक ऐसे ही उपासकों में अग्रण्य थे। बुद्ध मूलतः अपने धर्म को साधारण जन तक पहुँचाने के पक्ष में नहीं थे परन्तु ब्रह्मयाचना के परिणामस्वरूप वे इसके लिए तैयार हो गये। इसी प्रकार वे पांसुकूलचीवर, रुक्खमूल सेनासन, पूतिमुत्तभेसज और पिण्डियालोप भोजन जैसे नियमों के निर्माण तथा बुद्ध विहारादि को आवास रूप में स्वीकार करने

---

१७. कार्पस इन्सक्रिप्सन इण्डिकेरम, भाग १, ऑक्सफोर्ड, १९२५. पृ. १६०

के लिए तैयार नहीं थे। परन्तु ज्यों ज्यों संघ के अनुयायियों में वृद्धि होती गई, आवश्यकता तदनुरूप बढ़ती गई। फलतः वेणुवन जैसे उद्यानों को ग्रहण किया गया और शैल, विहार, प्रासाद, गुहा उद्यान आदि को निवास एवं ध्यान योग्य माना गया। इस सन्दर्भ में देवदत्त का आग्रह कठोर चर्या के निर्वाह के लिए न चल सका। आनन्द के प्रयत्नों से भिक्षुणी संघ की भी स्थापना हो गई। पर कौशाम्बी भिक्षुओं की नियमों के प्रति आपत्ति और अनास्था तथा देवदत्त की नियमों के प्रति अवहेलना संघभेद का प्रमुख कारण बनी।

सम्प्रदाय

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद हुई तृतीय संगीतिमें उनके द्वारा प्रवेदित मूल बौद्धधर्म के खोजने का प्रयत्न हुआ और जो खोजा गया-निर्धारित किया गया उसे थेरवाद की संज्ञा प्रदान कर दी गई। शेष १७ सम्प्रदायों को थेरवाद या स्थविरवाद परम्परा के विपरीत उठे हुए भ्रष्ट सम्प्रदाय मानकर उनका खण्डन किया गया। वस्तुतः यह संघभेद द्वितीय संगीति से अधिक स्पष्ट हो गया था और तृतीय संगीति तक आते-आते उनका लगभग पृथक् अस्तित्व ही सिद्ध हो गया। उनमे महासांघिक सम्प्रदाय थेरवाद के विरुद्ध उदित सम्प्रदायों में प्रधान था। कथावस्तु की अट्ठकथा और महावंस (५-४-१०) में तत्कालनी
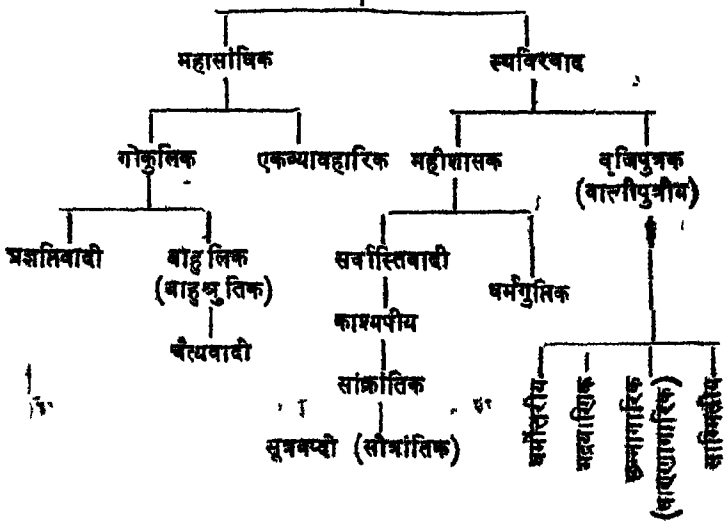
अठारह सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं[18] ।

इसके अतिरिक्त महावंस और दीपवंस में कुछ और सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है—हैमवत, राजगिरिय, सिद्धत्थक, पुब्बसेलिय, अपरसेलिय और वाजिरिय। कथावत्थु अट्ठकथा में उत्तरापथक, हेतुवादी, एवं वेतुल्लक का भी नाम आता है। निकाय संग्रह के अनुसार तृतीय संगीति के फलस्वरूप पृथक् किये गये सम्प्रदाय महासांघिक सम्प्रदाय के नेतृत्व में एक हो गये और धीरे-धीरे इन सम्प्रदायों में विभक्त हो गये। इनमें वेतुल्यक, अन्धक, और अन्य महासांघिक और जुड़ गये।

---

१८. सांकृत्यायन, राहुल, पुरातत्व निबन्धावली, पृ. ६८
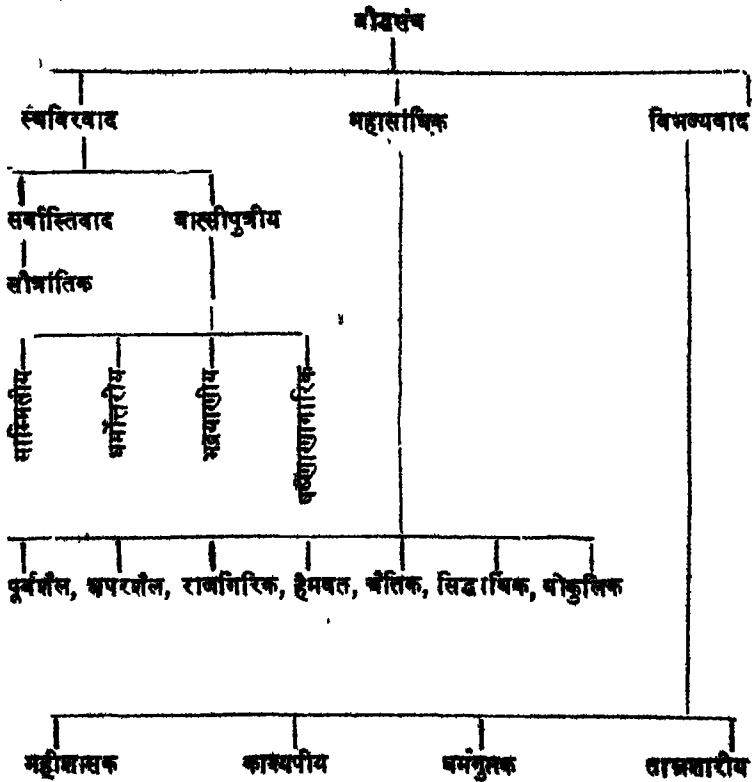
अष्टादशनिकाय[19] (वसुमित्र प्रणीत) में भी ये ही नाम हैं। मात्र अन्तर यह है कि उक्त तालिका में बाहुलिक नाम दिया है जबकि यहां लोकोत्तरवादी लिखा है। शारिपुत्रपरिपृच्छासूत्र के अनुसार बुद्ध के परिनिर्वाण से द्वितीय शताब्दी में महासांघिक सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई, एवं उनसे एकव्यावहारिक, लोकोत्तरवादी, कौक्कुलिक, बहुश्रुतिक एवं प्रज्ञप्तिवादी सम्प्रदाय निकले। निर्वाण से तृतीय शताब्दी में वात्सीपुत्रीय एवं सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय उदित हुए। वात्सीपुत्रीयों से धर्मोत्तरक, भद्रयानिक, सम्मतीय, एवं षण्णागरिक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। सर्वास्तिवाद से महीशासक, धर्मगुप्तक एवं सुवर्षक निकाय निकले। स्थविरों से ही काश्यपीय एवं सूत्रवादी उत्पन्न हुए। संक्रान्तिकों की उत्पत्ति स्थविरवाद के क्रोड से ही निर्वाण की चतुर्थ शताब्दी में हुई।[20]

भव्य की द्वितीय सूची में महासांघिक सम्प्रदाय की उत्तरकालीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

भव्य की प्रथम सूची काश्मीरक सर्वास्तिवादियों की परम्परा को और तृतीय सूची, सम्मतीय परम्परा को सूचित करती है। इन तीनों सूचियों में पर्याप्त मतभेद दिखाई देते हैं। महाव्युत्पत्ति में एक अन्य प्रकार का ही विभाजन मिलता है—[21]

दीपवंस-महावंस के अनुसार मूलनिकाय थेरवाद से महासांघिक की उत्पत्ति हुई। महासांघिक से एकव्यावहारिक, गोकुलिक, प्रज्ञप्तिवादिन्, बाहुलिक, और चैत्यवादी हुए, और थेरवाद से महिंसासक, वात्सीपुत्रीय (वज्जिपुत्तक), सर्वास्तिवादी, काश्यपीय, सांक्रांति, सौत्रांतिक, धम्मगुत्तिक, धर्मोत्तरीय, छन्नागारिक, भद्रयानिक और सम्मितीय निकायों की उत्पत्ति हुई।

---

१९. राहुल सांकृत्यायन, अभिधर्मकोश, भूमिका, पृ.१, विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, भूमिका, पृ-१-२. बौद्धधर्म तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १ पृ. ५१,

२०. पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास; पृ. १७७

२१. महाव्युत्पत्ति (वेसिल्यव द्वारा सम्पादित) पृ. २३४- बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ-१८०
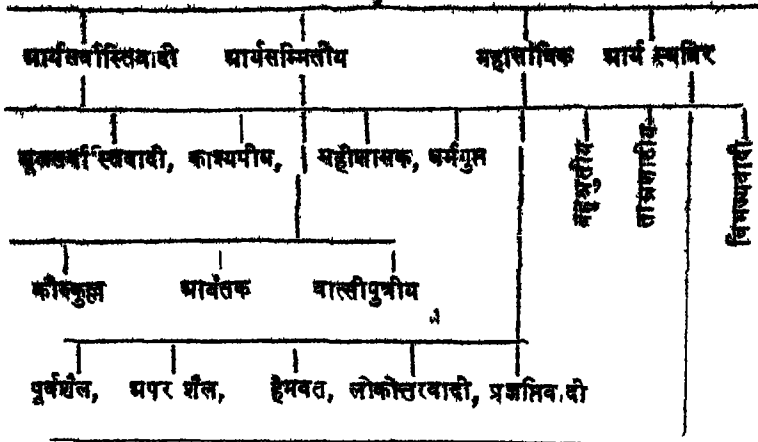
विनीतदेव ने संघ—सम्प्रदायभेद के सन्दर्भ में सर्वास्तिवादी परम्परा का उल्लेख किया है—[22]

बौद्ध संघ

आर्य महासांघिक	सर्वास्तिवादी	स्थविरवादी	सम्मितीय
पूर्वशैल,	मूल सर्वास्तिवादी	जेतवनीय	कौरकुल्लक
अपरशैल,	काश्यपीय	अभयगिरिवासी	अवन्तक
हैमवत	महीशासक	महाविहारवासी	वात्सीपुत्रीय
लोकोत्तरवादी,	धर्मगुप्तक		
प्रज्ञप्तिवादी	बहुश्रुतीय		
	ताम्रशाटीय		
	विभज्यवादी		
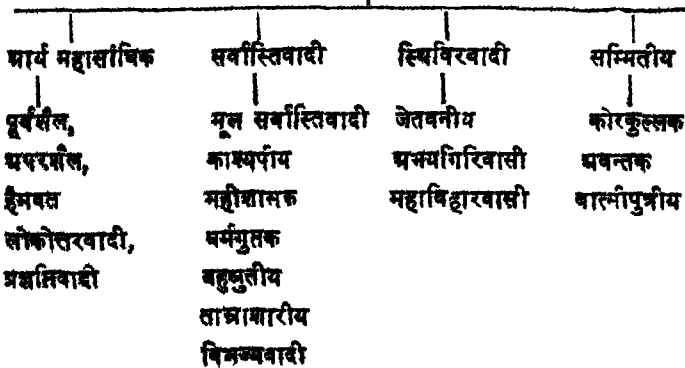
डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने बौद्ध निकायों की वंशावली को का[illegible] का निर्देशन करते हुए उपसंहार किया है। साधारणतः उनका उपसंहार सर्वसंमत माना जा सकता है। वह इस प्रकार है—[23]

२२, वाले, पृ. २० २३, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. १८८,

इस प्रकार बौद्ध संघ के प्रमुख निकाय चार थे—महासांघिक, वात्सीपुत्रीय, स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी। शिलालेखों में थेरवाद (विभज्यवाद), महीशासक, सर्वास्तिवाद, काश्यपीय, सौत्रान्तिक, धर्मोत्तरीय, भद्रयानिक, वात्सीपुत्रीय, सम्मतीय, हैमवत, महासांघिक, बहुश्रुतीय, चैत्यवाद, राजगिरीय,
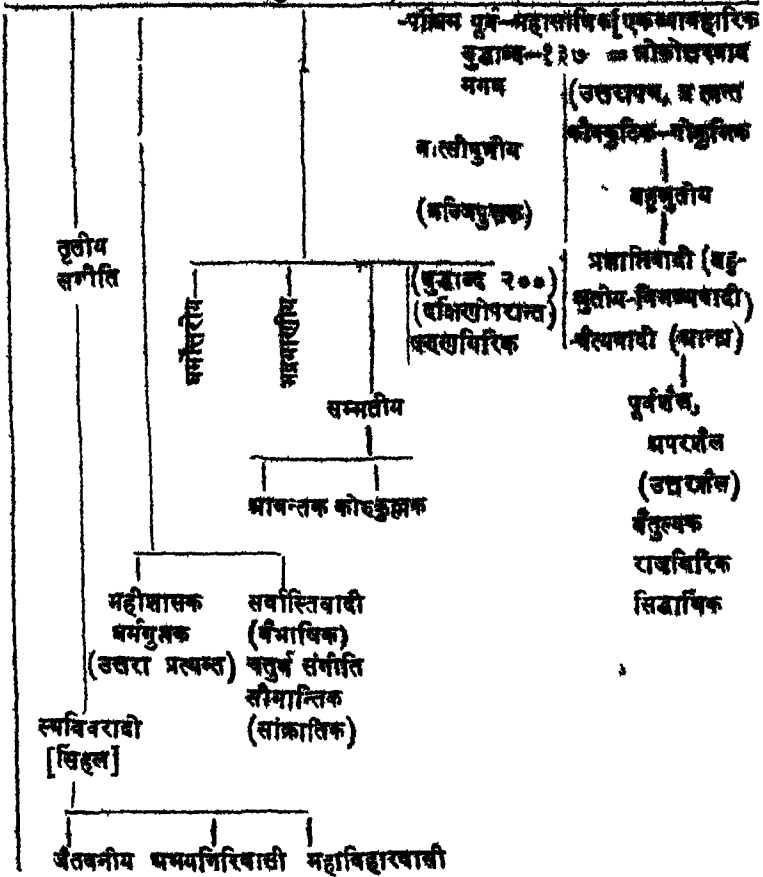
सिद्धत्थक, पूर्वशैल और अपरशैल निकायों का उल्लेख आता है। इनमें स्थविरवाद और महासंघ निकाय अधिक महत्वपूर्ण है[२४]।

स्थविरवाद—बौद्धधर्म का यह मूल सम्प्रदाय है। बुद्धपरिनिर्वाण के लगभग २०० वर्ष बाद इस सम्प्रदाय से पुद्गलवादी वज्जिपुत्तक (वात्सीपुत्रीय) नाम की शाखा स्थापित हुई जिससे कालान्तर में धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, षण्णागरिक एवं सम्मितीय नामक अन्य प्रशाखाओं ने जन्म लिया। इनमें सम्मितीय प्रशाखा अधिक विश्रुत हुई। इस सम्प्रदाय के मुख्य केन्द्र कौशाम्बी, मथुरा एवं अवन्ती थे।

महासंघ—स्थविरवाद से सर्वप्रथम पृथक् होने वाला यह सम्प्रदाय माना जाता है। वैशाली संगीति के फलस्वरूप इसका जन्म हुआ। वैशाली और पाटलिपुत्र में इसके प्रारम्भिक केन्द्र थे। बाद में आन्ध्र मे इसका पल्लवन हुआ। कालान्तर में इस सम्प्रदाय से कौक्कुटिक, चैत्यवादी आदि सम्प्रदाय खड़े हुए। चैत्यवादियो से पूर्वशैल, अपरशैल, वैतुल्यक राजगिरिक और सिद्धार्थिक शाखायें जन्मीं। चैत्य के सन्दर्भ में मतभेद इस विभाजन का कारण रहा होगा। महासंघ को एक व्यावहारिक अथवा लोकोत्तरवाद भी कहते है। बुद्ध की लोकोत्तरता बोधिसत्व की कल्पना और धर्मदेव के अनुसार अर्हन्तु का स्वरूप महासंघ के प्रधान सिद्धांत है। त्रिपिटक के अतिरिक्त संयुक्तपिटक और धारिणीपिटक को भी ये सम्प्रदाय मानते हैं। महावस्तु इनका प्रधान ग्रन्थ है। यही सम्प्रदाय महायान का जन्मदाता है। मगध और आन्ध्र इसके विशेष महत्वपूर्ण केन्द्र रहे है।

वात्सीपुत्रीय—स्थविरवाद का यह तृतीय मुख्य सम्प्रदाय था जो बुद्ध परिनर्वाण के लगभग दो सौ वर्ष बाद आविर्भूत हुआ। बाद मे इसी से सम्मितीय निकले। और सम्मितीयों म से आवन्तक और कुरुकुल्लक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय से ही धर्मोत्तरीय भद्रयाणीय और षण्णागरिक परम्पराओं का उद्भव हुआ। कथावस्तु में इन सब सम्प्रदायों के दार्शनिक मतभेद मिलते हैं।

सर्वास्तिवाद—स्थविरवाद की यह चतुर्थ शाखा थी जिसकी उत्पत्ति वात्सीपुत्रीयों के बाद हुई। परम्परानुसार कनिष्क के काल में सर्वास्तिवादियों की संगीति हुई थी जिसमे अभिधर्म महाविभाषा का प्रणयन किया गया। विभाषा के अनुयायी ही वैभाषिक कहलाये। कालान्तर मे वैभाषिक भी दो भेदों में विभक्त हो गये—काश्मीर वैभाषिक और पाश्चात्य वैभाषिक। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय अभिधर्म पिटक को विशेष रूप से मानता था।

---

२४. प्राची, भवय मिश्र, अर्ली बुद्धिज्म, पृ. ८८

सुत्तपिटक को मानने वाला सम्प्रदाय सौत्रान्तिक कहलाया। प्राचीन शास्त्रों में हीनयानी सम्प्रदायों में वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदायों की ही चर्चा आती है। काश्मीर और मथुरा के वैभाषिकों में भेद प्रदर्शित करने के लिए काश्मीरी वैभाषिकों को मूल सर्वास्तिवादी भी कहा गया।

महायान

महासांघिक सम्प्रदाय से संक्रमित होता हुआ बौद्धधर्म महायान की सीमा तक पहुँचा। भगवान् बुद्ध के रूपान्तरित भौतिक काय को महासांघिकों ने विशुद्ध माना और उनके अस्तित्व को लोकोत्तर स्वीकार किया। भक्ति के प्रवाह के साथ-साथ बुद्ध की अलौकिकता, महापुरुषलक्षणों की विविध रूपता बुद्ध संख्या, प्रतिमा लक्षण, बोधिसत्त्व की माहात्म्य वृद्धि, पारमिता, प्राप्ति त्रिकाय सिद्धान्त, लौकिक धर्मों में प्रज्ञप्तिमात्रत्व आदि तत्त्वों में विकास होने लगा। संकीर्णता के दायरे से हटकर महायान ने सर्वाधिक विस्तृत दृष्टिकोण अपनाया। फलतः वे स्वयं महायानी कहलाने लगे और दूसरे को हीनयानी नाम दे दिया। गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने महायान के इतिहास को तीनयुगों में निर्धारित किया है—(१) बीजकाल—तथागत की सम्बोधि से वैतुल्यकों तक, (२) सूत्रकाल—ई०पू० प्रथम शताब्दी से ई० तृतीय शताब्दी तक, और (३) शास्त्रकाल—नागार्जुन से परवर्ती।[२५]

महायान की दो शाखायें हुईं—माध्यमिक (शून्यवाद) और योगाचार (विज्ञानवाद)। माध्यमिक शाखा के पुरस्कर्ता हैं शून्यवादी आचार्य नागार्जुन और योगाचार के प्रवर्तक हैं आचार्य मैत्रेयनाथ। वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग के द्वारा संस्थापित तार्किक योगाचार शाखा ने भी इसके विकास में पर्याप्त योगदान दिया।

तान्त्रिक महायान—

कालान्तर में प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर ही बौद्ध धर्म में और भी विकास हुआ। आटानाटीयसुत्त का अवलम्बन कर तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। महासांघिकों में ही धारणीपिटक की कल्पना ने और धान्यकटक में तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन की मान्यता ने इन प्रवृत्तियों को आगे लाने में और भी सहायता दी। मैत्रेय और असंग की विचारधारा ने उन्हें पल्लवित किया। बौद्धधर्म की यह स्थिति चतुर्थ शती तक रही। तत्त्वरत्नावली (अद्वयवज्रसंग्रह) के अनुसार महायान की दो शाखायें हुईं—पारमितानय और मन्त्रनय। बाद में मन्त्रनय से वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान सम्प्रदायों का विकास हुआ। कुछ

२५, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ६१२,

लोग तन्त्रयान से नागार्जुन का सम्बन्ध जोड़ते हैं। गुरु-शिष्य-परम्परा से यह तान्त्रिक साधना धर्मकीर्ति तक चली आयी। अतः लगभग सातवीं शती तक यह तन्त्र-साधना अपने रूप में बनी रही। पारमिताओं की प्राप्ति के लिए मन्त्रों और धारणियों का उपयोग इस समय किया जाता था। डॉ० विनयतोष के अनुसार तन्त्रयान को बढ़ाने में आर्यदेव का भी हाथ था।[२६] डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने तान्त्रिक बौद्धधर्म से तन्त्रयान, मन्त्रयान, वज्रयान आदियानों का भी सम्बन्ध जोड़ा है। काजी दवा समदुप ने मन्त्रतन्त्र से क्रियातन्त्रयान, चर्यातन्त्रयान और योगतन्त्रयान तथा योगतन्त्रयान से महायोगतन्त्रयान, अनुत्तरयोगतन्त्रयान और अतियोगतन्त्रयानों का उद्भव बताया।[२७]

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार उत्तरवर्ती महायान बौद्धधर्म मन्त्रयान के विकास का ही परिणाम है। उन्होंने इसे मन्त्रयान काल' के नाम से अभिहित किया है। उनके अनुसार विकासक्रम इस प्रकार है—[२८]

सूत्ररूप में मन्त्र – ई० पू० ४००–१०० ई०पू०	)	
धारिणी मन्त्र – ई० पू० १००–४०० ई०	)	
यन्त्र-मन्त्र – ई० ४००–७००	)	नरम
वज्रयान– ई० ८००–१२००	)	गरम

मन्त्रयान में मन्त्रों और धारणियों के माध्यम से निर्वाण पाने का निर्धारण है। परन्तु वज्रयान में इसके अतिरिक्त यन्त्र, मांस, मद्य और मैथुन का भी परिगणन किया है। बौद्धधर्म का यह विकृत रूप अत्यन्त घिनौना सिद्ध हुआ। उसका शाश्वत उपदेश था—प्राणातिपात करना, चोरी करना, परस्त्रीसेवन करना, असत्य बोलना।[२९] वहाँ साधना के निमित्त शक्ति की आवश्यकता बतायी गई। चामत्कारिक सिद्धियों के लिए मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, आकर्षण, शक्तिक आदि कर्मों का विधान किया गया। गुह्यसमाजतन्त्र वज्रयान का प्रमुख ग्रन्थ है।

इसके बाद सहजयान और कालचक्रयान जैसे कुछ और बीभत्स सम्प्रदाय खड़े हुए। इनमें निर्वाण प्राप्ति को और भी सहज बना दिया गया। योग के नाम पर इन सम्प्रदायों में दुराचरण असीमित हो गया। भारतीय संस्कृति इस कुत्सित आचार-विचार को सहन न कर सकी और फलतः बौद्धधर्म को समाप्तप्राय हो जाना पड़ा।

---

२६. जर्नल आफ रायलएशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, १९१८ ई० भाग१. पार्ट २, पृ० १७५-१८४
२७. तान्त्रिक बौद्धसाधना और साहित्य, पृ० १०४
२८. पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १११
२९. उपाध्याय, नगेन्द्रनाथ, तान्त्रिक बौद्धसाधना और साहित्य, पृ०१११आदि।

परिवर्त ३

बौद्ध साहित्य और आचार्य

पालि साहित्य

वर्तमान बौद्ध साहित्य पालि, प्राकृत, संस्कृत, तिब्बतन, चायनीज, सिंहली, बर्मी आदि भाषाओं में उपलब्ध होता है। परन्तु भगवान् बुद्ध के प्राथमिक और प्रामाणिक उपदेश मगध प्रदेश की तात्कालिक जनभाषा मागधी में ही प्राप्त होते हैं। इसी मागधी को कालान्तर में पालि कहा जाने लगा। यही पालि भाषा प्राकृत भाषा की प्राथमिक सीढ़ी है। हिन्दी, मराठी आदि आधुनिक आर्य भाषाएं संस्कृत की अपेक्षा पालि अथवा प्राकृत भाषा के निकट अधिक हैं।

पालि साहित्य का विकास भगवान् बुद्ध के समय से लेकर आधुनिक काल तक होता आया है। इस समूचे साहित्य में पिटक साहित्य का विशेष महत्त्व है। इसका संगायन राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्र में हुई संगीतियों में श्रुति परम्परा के आधार पर किया गया था। इसी संगायन के आधार पर ई. पू. २९-१७[1] में श्रीलंका के राजा वट्टगामणि, अभय ने उसे लिपिबद्ध कराया। इस बीच निश्चित ही पिटक के मूल रूप में कुछ न कुछ परिवर्तन-परिवर्धन हुआ होगा। इसलिये कतिपय विद्वानों ने उसकी सार्वांशिक प्रामाणिकता में सन्देह व्यक्त किया है। जो भी हो, लिपिबद्ध होने के बाद तो उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ होगा।

पिटक साहित्य मूलतः थेरवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व करता[2] है। वह तीन भागों में विभक्त है—सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक। पिटक का तात्पर्य है पिटारी या परम्परा और सुत्त का तात्पर्य है सूत्र या धागा। अर्थात् सुत्तपिटक का तात्पर्य है कि जैसे सूत का गोला फेंकने पर दूसरे के हाथ में वह उलझता हुआ चला जाता है उसी प्रकार महात्मा बुद्ध का धर्मोपदेश श्रुति-परम्परा से उनके शिष्य-प्रशिष्यों के साथ चला आया है। बुद्धघोष ने भी 'पिटकं पिटकत्थविदु परियत्तिभाजनत्थतो आहु' कहकर इसी आशय की पुष्टि की है।[3] आचार्य असंग ने सुत्त का अर्थ 'सूचनात् सूत्रम्' के रूप में किया है। वह

---

१. दीपवंस, २०. २०-२१; महावंस, ३३. १००-१०१

२. तेपिटक संगहित साट्ठकथं सब्बं थेरवाद

३. पिटकं पिटकत्थविदु परियत्तिभाजनत्थतो आहु।
तेन समोधानेत्वा तयो पि विनयादयो ञेय्या ॥ अट्ठसालिनी, पृ०१८.

व्याख्या भी बुद्धघोष के कथन का समर्थन करती है। संस्कृत में 'सूत्र' शब्द से तात्पर्य संक्षिप्त कथन से है। परन्तु यह व्याख्या सुत्तपिटक के सन्दर्भ में उपयुक्त नहीं। क्योंकि वहाँ कथन का विस्तार भी मिलता है और उसकी पुनरुक्ति भी। यहाँ 'सुत्त' का अर्थ 'सूक्त' अर्थात् 'अच्छी तरह से कहा गया' ग्रहण किया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।

सुत्तपिटक का विषय भगवान् के उपदेशों का संग्रह करना मात्र है। यहाँ भगवान् कहीं स्वयं उपदेश देते हैं, कहीं सारिपुत्र, मौद्गल्यायन या आनन्द जैसे वरिष्ठ शिष्यों को उपदेश देने का आदेश देते है और कहीं उपदिष्ट विषय का अनुमोदन करते हैं। इस प्रकार बुद्धत्व प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक के ४५ वर्षों के भ्रमणकाल की जीवनचर्या का चित्रण सुत्तपिटक में मिलता है। इसी सन्दर्भ मे तत्कालीन भारतीय संस्कृति का विवरण भी उपस्थित किया गया है।

सुत्तपिटक सुत्तों में विभक्त है। इसमें गद्य और पद्य दोनो मिलते है। इसलिये इस पालि साहित्य का चम्पू काव्य कहा जा सकता है। प्रायः प्रत्येक सुत्त यह स्पष्ट करता जाता है कि उपदेश कहाँ और किसके द्वारा किया गया है। उपदेश समाप्त होने के बाद श्रोता अथवा प्रश्नकर्ता अपने कृतज्ञतापूर्ण उद्गार व्यक्त करता है और साथ ही भगवान् बुद्ध की शरण में और उनके धर्म तथा संघ की शरण में जाने का भी संकल्प करता है।

भगवान् बुद्ध परम मनोवैज्ञानिक थे। वे उपदेश देने के प्रसंग में अपने श्रोता अथवा शिष्य की शक्ति का अवश्य ध्यान रखते थे। सुत्तपिटक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध सबसे पहले दान, शील व सदाचार सम्बन्धी उपदेश देते थे और उसके बाद ही उपमा, उदाहरणपूर्वक चतुरार्यसत्य, प्रतीत्य-समुत्पाद व आत्मा आदि जैसे गम्भीर विषयों का विवेचन करते, बुद्धेतर मतावलम्बी से संलाप करते समय पहले उसके सिद्धान्त को प्रस्तुत करते, बाद में उसकी समालोचना करते और फिर श्रोता की अभ्यर्थना पर उसे धर्मोपदेश देते। यह उनका उपदेश कौशल्य था।

इस प्रकार सुत्तपिटक में जहां पुनरुक्ति, संवाद और उपमायें मिलती है वहाँ संख्यात्मक परिगणन, इतिहास व संस्कृति तथा नाटकीय गतिशीलता का भी प्रयोग दिखाई देता है।

सुत्तपिटक पाँच भागों में विभक्त है—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्त-निकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय। सर्वास्तिवादी सुत्तपिटक में निकाय

के स्थान पर आगम शब्द का प्रयोग मिलता है। दीघनिकाय तीन भागों में विभक्त है—सीलक्खन्ध, महावग्ग और पाथेय या पाठिकवग्ग। इन तीनों भागों में कुल मिलाकर ३४ सुत्त हैं। दीघनिकाय में अपेक्षाकृत लम्बे सुत्तों का चयन किया गया है परन्तु वहां कालक्रम का ध्यान नहीं रखा गया। सीलक्खन्ध में शील, समाधि और प्रज्ञा सम्बन्धी उपदेश हैं। महावग्ग और पथिकवग्ग में भगवान् बुद्ध की जीवनचर्या तथा उनके सिद्धान्तों का विश्लेषण है।

दीघनिकाय का ब्रह्मजालसुत्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसमें बुद्धकालीन बासठ प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इन सिद्धान्तों को वहां मिच्छादिट्ठि की संज्ञा दी गई है। जैनागमों में प्रायः इन्हीं सिद्धान्तों की संख्या ३६३ बताई गई है। इसी सुत्त में प्रसङ्गवश तात्कालिक सामाजिक जीवन का भी सुन्दर चित्रण किया गया है। जीवनयापन के साधन, आमोद-प्रमोद के प्रकार, सौन्दर्य सामग्री, युद्ध के प्रकार आदि विषयों का अच्छा वर्णन मिलता है। सामञ्ञफलसुत्त में बुद्धकालीन छह तीर्थंकरों के अनुसार पाप-पुण्य का रूप प्रस्तुत किया गया है। ये छह तीर्थंकर हैं- पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, अजितकेस कम्बलि, पकुधकच्चायन, निगण्ठनातपुत्त और संजय-बेलट्ठिपुत्त। अम्बट्ठसुत्त में जातिवाद के विरुद्ध भगवान् ने मन्तव्य रखा है। वहां कहा गया है कि जातिवाद, गोत्रवाद, मानववाद और आवाह विवाह के बन्धन छोड़कर ही अनुपम विद्या और आचरण की सम्पदा का साक्षात्कार किया जाता है।

> खत्तियो सेट्ठो जनेतस्मि ये गोत्तपटिसारिनो।
> विज्जाचरणसम्पन्नो सो सेट्ठो देवमानुसे॥

सोणदंड और कूटदन्त आदि सुत्तों में ब्राह्मण वर्ग के आचार-विचार की आलोचना की गई है। सीहनाद, पाटिक, महापरिनिब्बाण, संगीति आदि सुत्तों में निगण्ठ नातपुत्त के सिद्धान्तों की पर्यालोचना मिलती है। पोट्ठपाद, केवट्ट आदि सुत्त पञ्चस्कन्ध के विवेचन की दृष्टि से और महापरिनिब्बाण, महापदान आदि सुत्त भगवान् बुद्ध की जीवन घटनाओं की दृष्टि से उपयोगी हैं। महा-गोविन्दसुत्त राजनैतिक भूगोल की दिशा में अधिक महत्वपूर्ण है।

मज्झिम निकाय में मध्यम आकार के सुत्त संग्रहीत हैं। यह निकाय सांस्कृतिक सामग्री से भरपूर है। बौद्ध सिद्धान्तों की दृष्टि से तो इसे महापंडित राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में "बुद्धवचनामृत" कहा जा सकता है। इस निकाय में १५ वग्ग हैं, जिनमें कुल मिलाकर १५२ सुत्त हैं। इनमें वैदिक व जैन सिद्धान्तों की पर्यालोचना करते हुए बौद्ध सिद्धान्तों को अधिकाधिक स्पष्ट करने

का प्रयास किया गया है। इन्हीं प्रसङ्गों में भौगोलिक, ऐतिहासिक व सांस्कृतिक सामग्री भी प्रस्तुत की गई है।

संयुत्त निकाय में छोटे-बड़े सभी प्रकार के सुत्तों का संकलन है। ये ५ वर्गों में विभक्त हैं—सगाथवग्ग, निदानवग्ग, खन्धवग्ग, सळायतनवग्ग और महावग्ग। इनमें कुल ५६ संयुत्त हैं। यहाँ कोसलराज प्रसेनजित् का मगधराज अजातशत्रु के साथ युद्ध, विवाह व भेंट आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त लिच्छवि, कोलिय आदि राजाओं के भी प्रसङ्ग मिलते हैं। वैशाली, राजगृह, साकेत, चम्पा आदि नगरों तथा मगध, कोसल, काशी आदि प्रदेशों का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है।

अंगुत्तर निकाय संख्यात्मक शैली में संकलित है। इसमें ११ निपात हैं और १६९ वग्ग हैं। हर निपात किसी एक ही संख्या विशेष से सम्बन्धित रहता है। जैसे एकक या दुकनिपात में उन्हीं वस्तुओं का विवेचन किया जायगा जो एक या दो संख्या से ही सम्बन्धित होगी। सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से तो यह निकाय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शैली की दृष्टि से इस निकाय की तुलना जैनों के ठाणांग नामक आगम से की जा सकती है।

खुद्दक निकाय छोटे-छोटे ग्रन्थों की सामुदायिक संज्ञा है। भाषा, शैली और विषय की दृष्टि से यहाँ विविधरूपता दिखाई देती है। इस निकाय में बुद्धघोष के अनुसार १५ ग्रन्थ सम्मिलित हैं—खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इति-वुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसंभिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस और चरयापिटक। सुमङ्गलविलासिनी की निदानकथा में बुद्धघोष ने एक अन्य परम्परा का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार खुद्दकनिकाय अभिधम्मपिटक के अन्तर्गत माना गया है। इस प्रकार और पारस्परिक विरोधी परम्पराएँ मिलती है जिनमे कुछ परम्पराएँ खुद्दक-निकाय के कतिपय अंशों को प्रामाणिक नहीं मानतीं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि खुद्दकनिकाय प्रथम चार निकायों के बाद का संग्रह है। भाषा, शैली और भावों की दृष्टि से भी वह बाद का ही सिद्ध होता है। विवेकवाद की अपेक्षा यहाँ काव्यात्मक तत्व अधिक हैं।

खुद्दकनिकाय के कुछ ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जैसे धम्मपद नैतिक उपदेशों का इतना सुन्दर संग्रह है कि उसे बौद्धों की गीता कहकर पुकारा गया है। शायद इसीलिये प्रत्येक बौद्ध भिक्षु को इसे कण्ठस्थ करना अनिवार्य बताया गया है। थेर गाथा एवं थेरीगाथा क्रमशः बौद्धकालीन भिक्षु एवं भिक्षुणियों के जीवन की अनुभूतियों के पद्यबद्ध संस्मरण हैं। जातक भगवान् बुद्ध की बोधिसत्व अवस्था सम्बन्धी कथाओं का संकलन है।

इस प्रकार सुत्तपिटक पालि साहित्य का एक महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक ग्रन्थ है जिसमें बुद्धकालीन धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक और भाषावैज्ञानिक अगाध सामग्री बिखरी पड़ी हुई है। इसके ग्रन्थों का अभी तक हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद तो अवश्य हुआ है परन्तु विशेष अध्ययन की दृष्टि से अभी भी ये अछूते से ही हैं। यदि सांस्कृतिक परिवेश में इनका अध्ययन गम्भीरतापूर्वक किया जाय तो निःसन्देह उस क्षेत्र में कुछ नये मानदण्ड उपस्थित किये जा सकते हैं।

विनय पिटक

सुत्तपिटक के समान ही विनयपिटक प्रथम-द्वितीय संगीतियों का परिणाम है। बौद्ध भिक्षुओं के लिए यह एक संविधान है। महाकारुणिक ने इसे निर्वाण साक्षात्कार के लिए एकायन मार्ग माना है। इसे धम्म और विनय का एक समन्वित रूप कहा जा सकता है। प्रारम्भ में विनय की अधिक आवश्यकता प्रतीत नहीं की गई। परन्तु संघ का जैसे-जैसे विकास हुआ, स्वच्छन्दवादी भिक्षुओं के आचरण को संयमित करने के लिए विनय का यथारीति निर्धारण किया जाने लगा। सरभंग पूर्वकाल में सरकण्डों की कुटी निर्मित कर रहता था पर गौतम द्वारा नियमों का विधान किये जाने पर उसने यह काम बन्द कर दिया।[४] विनय के विकास का यह साक्षात् उदाहरण है। बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद तो यही विनय भिक्षु वर्ग को दायाद बन गया।

विनय पिटक का अभिधेय भिक्षु-भिक्षुणियों के नैतिक और आचारगत विधाओं की संरचना करना है। प्रव्रज्या, प्रोषध, वर्षावास, प्रवारणा, उपोसथ, भोजन, चीवर, उपसम्पदा, विहारनिर्माण, प्रशासन, आदि विषयों पर प्रामाणिक विवेचन यहाँ उपलब्ध होता है।

विनयपिटक को तीन भागों में विभक्त किया गया है—सुत्तविभंग (पाराजिक और पाचित्तिय), खन्धक (महावग्ग और चुल्लवग्ग), और परिवार। सुत्तविभंग में अपराध और उनके प्रायश्चित्त-प्रकारों का वर्णन है। अपराधों की संख्या २२७ बतायी गई है—चार पाराजिक, (मैथुन, चोरी, आत्महत्या और लाभेच्छा), तेरह संघादिसेस (वीर्यनाश, स्त्री का स्पर्श-वार्तालाप; आकर्षण-विवाह करना, विहारनिर्माण, संघभेदादि), दो अनियतधम्म, तीसनिस्सग्गिय पाचित्तिय धम्म (अपराध की स्वीकृति पूर्वक प्रायश्चित्त और वस्तु-परित्याग), बानबे पाचि-

---

४. न मट्टं कप्पते मज्झं सरे हत्थेहि छिन्दितुं।
सिक्खापदा नो पञ्ञत्ता, गोतमेन यसस्सिना॥ थेरगाथा, ४८८-९३.

सिय धम्म (प्रायश्चित्त), चार पटिदेसनिय धम्म (प्रतिदेसना), पचहत्तर सेखिय-धम्म (बाह्यशिष्टाचार) और सात अधिकरणसमथधम्म (संघगत विवाद शान्ति के उपाय)।

खन्धक के महावग्ग में बुद्ध की यात्रा, शिष्यउपाध्याय के कर्तव्य, उपसम्पदा, प्रव्रज्या, उपोसथ, वर्षावास, प्रवारणा, भैषज्य, स्वेदकर्म, आहार, चीवर, उपानह आदि का वर्णन है और चुल्लवग्ग तर्जनीयकर्म, नियस्सकर्म, प्रव्राजनीयकर्म, प्र तसारणीयकर्म, उत्क्षेपणीयकर्म, पारिवासिक कर्म, शुक्रत्यागदण्ड, विनय, वस्त्र, बाह्यालंकार, विहार, आवास, प्रशासन, प्रातिमोक्ष और प्रथम-द्वितीय संगीति का मनोज्ञ विवेचन प्रस्तुत करता है।

परिवार विनयपिटक का अन्तिम भाग है जिसे इन्डेक्स कहा जा सकता है। १६ परिच्छेदों में सम्पूर्ण विनय पिटक की सामग्री समास रूप में संकलित करनेका यहाँ सफल प्रयास दिखाई देता है। भाषा और शैली से इसे प्रक्षिप्त माना जाना चाहिए। प्रथम परिच्छेद में लिखित "विनयं दीपे पकासेतु पिटकं तम्बपण्णिया" से भी यह स्पष्ट है कि परिवार का लेखन श्रीलङ्का में उत्तरकाल में हुआ होगा।

उक्त समूचे विनय से यह स्पष्ट है कि भगवान् का उद्देश्य भिक्षु को एक आदर्श साधक बनाना था और उस साधक की साधना मानवीय तत्त्व की प्रतिष्ठा में जुटी हुई थी। बुद्ध को यह भी परिज्ञान था कि समयानुसार परिस्थितियों में परिवर्तन आएगा और भिक्खुवर्ग को उनसे संघर्ष कर जीवन-पथ का निर्माण करना पड़ेगा। शायद इसीलिए उन्होंने साधक को 'क्षुद्रानुक्षुद्र' नियम छोड़ देने का भी आदेश दे दिया था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि भिक्षु असंयमित जीवन व्यतीत करे। उसका मानसिक और व्यावहारिक संयम तो सदैव जागृत रहना ही चाहिए। साधु की मर्यादा उसका आभूषण है।

विनयपिटक मात्र विनय का संग्रह नहीं। उसमें तत्कालीन भारतीय संस्कृति के अनेक मनोरंजन पहलू भी उपलब्ध होते हैं। विनय के विकास के साथ-साथ साधु-जीवन की विकृत स्थिति का परिचय तो मिलता ही है साथ ही इसमें बौद्धेतर सम्प्रदायों के विनय नियम, आभूषण, कंघा, कघी, दर्पण, वस्त्र, विहार निर्माण, विविध रंग, उपानह आदि का भी सुन्दर वर्णन दिया गया है। इस प्रकार विनय पिटक जहाँ बौद्ध संस्कृति का उद्घाटन करता है वहाँ वह तत्सम्बन्धित भारतीय संस्कृति के अनेक अध्यायों को भी प्रस्तुत करता चलता है।

अभिधम्मपिटक

अभिधम्मपिटक बौद्धपिटक का तृतीय मणि है जो जनसाधारण के लिए नहीं किन्तु एक विशिष्ट बुद्धिवादी वर्ग के लिए संग्राह्य है। परम्परानुसार अभिधम्म

के प्रमुख श्राता सारिपुत्र थे। शायद इसीलिए उन्हें प्रधान शिष्य के रूप में भी स्वीकार किया गया है। धर्म और विनय का संगायन तो प्रथम-द्वितीय संगीति में हो चुका था परन्तु अभिधम्म तृतीय संगीति का ही परिणाम है, यह सुनिश्चित है। अतः इसका रचनाकाल अशोक के समय से लेकर २९ ई०पू० में वट्टगामणि के समय तक निर्धारित किया जाना चाहिए। बुद्धघोष ने निदान कथा में अभिधम्म की परम्परा का उल्लेख किया है।[५]

अभिधम्म सात ग्रन्थों का समुदाय है—धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपुञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। मिलिन्दपञ्ह में भी यही वर्गीकरण मिलता है। डॉ० लाहा के अनुसार इनका कालक्रम इस प्रकार होना चाहिए—पुग्गलपञ्ञत्ति, विभंग, धम्मसंगणि, धातुकथा, यमक, पट्ठान और कथावत्थु। पर डॉ० भरत सिंह उपाध्याय इसमें कुछ परिवर्तन करने के पक्ष में हैं। वे धम्मसंगणि को विभंग के पूर्व निर्मित ग्रन्थ मानते हैं।[६] यह तर्कसंगत भी लगता है। चूँकि विभंग का विस्तृत विवेचन धम्मसंगणि में मिलता है। अतः उसे पूर्ववर्ती ग्रन्थ ही माना जाना चाहिए।

पुग्गलपञ्ञत्ति मे पुद्गल अर्थात् व्यक्ति के विषय में विविध रूप से प्रज्ञप्ति प्रस्तुत की गई है। एक से लेकर दस प्रकार तक के व्यक्तियों का वर्गीकरण किया गया है। यह वर्णन अंगुत्तर निकाय से सम्बद्ध-सा प्रतीत होता है अतः पुग्गलपञ्ञत्ति का सम्बन्ध अभिधम्म पिटक-से अधिक दिखाई नहीं देता।

विभंग में धर्मों का विभाजन खन्ध आदि अठारह विशेष आधारों पर आधारित है—खन्ध, आयतन, धातु, सच्च, इन्द्रिय, पच्चयाकार, सतिपट्ठान, सम्मप्पधान, इद्धिपाद, बोज्झंग, मग्ग, झान, अप्पमञ्ञा, सिक्खापद, पटिसम्भिदा, ञाण, खुद्दकवत्थु और धम्महदय। प्रायः इन सभी विभागों का प्रस्तुतीकरण सुत्तपिटक अभिधम्म और पञ्हपुच्छक (प्रश्नात्मक) शैली के आधार पर किया गया है।

धम्मसंगणि अभिधम्मपिटक का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ कहा जा सकता है। उसमें भौतिक और मानसिक जगत् का सुन्दर विश्लेषण सन्निहित है। यह विश्लेषण तिकों और दुकों के १२२ वर्गों में वर्गीकृत है। यहाँ मूलतः चित्त के ८९ प्रकारों को कुशल, अकुशल और अव्याकृत इन तीन प्रकारों में गुम्फित किया है। शैली नैतिक और मनोवैज्ञानिक है। पारिभाषिक शब्दों का आधिक्य हो जाने के कारण यह गणनात्मक पद्धति एक साधारण विद्यार्थी को हृदय-

---

५. हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, भाग १, पृ०२६

६. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ३८१

ग्राह्य अवश्य नहीं ही पाती पर भावों अथवा कर्मों का जो सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है वह मनोहारी अवश्य है। मातृकायें इसकी देन हैं।

धातुकथा विभंग का विसरलीकरण है। उसमें विभंग के स्कन्ध, आयतन और धातु इन तीन विभंगों को लेकर ११४ धर्मों का विवेचन किया गया है— ५ स्कन्ध, १२ आयतन १८ धातुएं, ४ सत्य, २२ इन्द्रियां, प्रतीत्य समुत्पाद, ४ स्मृति प्रस्थान, ४ सम्यक् प्रधान, ४ ऋद्धिपाद, ४ ध्यान, ४ अपरिमाण, ५ इन्द्रिय, ५ बल, ७ बोध्यंग, ८ अष्टाङ्गिकमार्ग के अंग—स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, चित्त, अधिमोक्ष और मनस्कार। ये धर्म किस विभंग में संगहित, असंगहित, सम्प्रयुक्त, विप्रयुक्त आदि रूप से गर्भित हैं। इसका विवरण १४ अध्यायों में किया गया है। शैली प्रश्नात्मक है।

यमक अभिधम्म पिटक का एक पारिभाषिक शब्दकोश है। जैसा शब्द से स्पष्ट है, इस ग्रन्थ मे प्रश्नों को युगल रूप से प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ—क्या समस्त कुशल धर्म कुशल मूल हैं? क्या समस्त कुशल-मूल कुशल-धर्म हैं? इस प्रकार के प्रश्नों को १० अध्यायों में नियोजित किया गया है—मूल, गन्ध, आयतन, धातु, सच्च, संसार, अनुसय, चित्त, धम्म इन्द्रिय और यमक। ये अध्याय प्रायः तीन बातों पर विचार करते हैं—पवत्ति पवत्ति और परिञ्ञा। यह भी प्रश्नात्मक शैली में रखा गया है।

पट्ठान अभिधम्म पिटक का दुर्बोध ग्रन्थ है। बौद्धदर्शन का मूल सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद इसका विवेच्य विषय है। पट्ठान शायद प्रत्यय के अर्थ में यहां प्रयुक्त हुआ है। ये प्रत्यय २४ हैं—हेतु, आरंभण, अधिपति, अनन्तर, समनन्तर, सहजात, अञ्ञमञ्ञ, निस्सय, उपनिस्सय, पुरेजात, पच्छाजात, असेवन, कम्म, विपाक, आहार, इन्द्रिय, ध्यान, मग्ग, सम्पयुक्त, विप्पयुक्त, अत्थि, नत्थि, विगत और अविगत। बृहदाकार होने के कारण इसे महाप्रकरण भी कहा गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है।

कथावत्थु—अशोक के संरक्षण में और मोग्गलिपुत्त तिस्स स्थविर के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में हुई तृतीय संगीति का परिणाम है। इसमें तत्कालीन प्रचलित बौद्धधर्म के अठारह सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का विवेचन मिलता है। भद्रयानिक, महीशासक, वात्सीपुत्रीय, सर्वास्तिवादी, सम्मितिय, वज्जिपुत्तक, महासांघिक, गोकुलिक, अन्धक, अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थिक वैपुल्य, उत्तरापथक और हेतुवादियों के सिद्धान्तों को यहाँ पूर्वपक्ष के रूप में रखकर स्थविरवादी दृष्टिकोण से उनपर विचार किया गया है। कथावत्थु के मूलभाग में इन सम्प्रदायों का नामोल्लेख नहीं मिलता। इस कमी की पूर्ति उसकी अट्ठकथा ने कर दी है। बाईस अध्यायों में विभक्त २१६ मतवादों के

आधार पर डा० भरतसिंह उपाध्याय ने बौद्धधर्म के ऐतिहासिक विकास को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार यह क्रमिक विकास इस प्रकार हो सकता है—वज्जिपुत्तक, महिंसासक, महासांघिक, गोकुलिक, सब्बत्थि-वादी, सम्मितिय, भद्दयानिक, कस्सपिक, हेतुवादी, उत्तरापथक, अन्धक, पुब्ब-सेलिय, अपरसेलिय, राजगिरिक, सिद्धत्थिक, वेतुल्यक, महाशून्यतावादी और वेतुल्यक।[७]

त्रिपिटक का विकास—

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवेदित उपदेशों के सकलन का प्रथम प्रयास राजगृह की प्रथम संगीति में किया गया था। संभव है, इसमें मूलभूत सिद्धान्तों पर किसी तरह भिक्षु एकमत हो गये हैं। परन्तु बुद्ध-परिनिर्वाण के लगभग १०० वर्ष बाद संघभेद स्पष्ट हो गया। द्वितीय संगीति में सुत्तपिटक और विनयपिटक का संगायन हुआ होगा। अभिधम्मपिटक तो निश्चित ही अशोक के काल का है। कुछ भाग उसके पश्चात् भी प्रक्षिप्तांश रूप मे यदि जोड़ दिया गया हो तो कोई असम्भव नहीं। सिंहली परम्परा के अनुसार वज्जिपुत्तको ने द्वितीय संगीति मे अभिधम्मपिटक के साथ-साथ पटिसंभिदा, निद्देस, पञ्चमनिकाय का कुछ अंश और परिवार को अमान्य घोषित कर दिया था।[८] यह तथ्य है कि ये सभी ग्रन्थ उत्तरकालीन हैं। अशोक के शिलालेखों में भी पिटक के कुछ भागों का उल्लेख मिलता है। भाब्रू अभिलेख मे सात धम्मपलियायों की गणना उपलब्ध होती है—विनय समुकसे, अलियवसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसुत्त, उपतिसपसने और लाघुलोवाद। सांची और भरहुत के अभिलेखों में भिक्षुओं के विशेषण के रूप में सुत्तन्तिक, पेटकी, धम्मकथिक, पञ्चनेकायिक, भाणक आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। भरहुत स्तूप में वितु, मिग, हंस, बिडल आदि जातक कथाओं के नाम भी मिलते है। ये सभी भाग पिटक में किसी न किसी रूप मे संकलित है। अतः यह कहा जा सकता है कि लगभग ई०पू० तृतीय शताब्दी में सुत्तपिटक और विनय पिटक के कुछ अंश स्थिर हो चुके होंगे और अभिधम्म पिटक निर्माण-पथ पर रहा होगा। ई० पू० प्रथम सदी में तो समूचा त्रिपिटक सिंहल मे वट्टगामणि के शासन-काल में लिपिबद्ध हो चुका था। परम्परानुसार कुछ अट्ठकथायें भी तबतक संकलित हो चुकी थी। अतः यह कहा जा सकता है कि इस समय तक त्रिपिटक उसी रूप मे लिपिबद्ध हुआ था जिस रूप में आज उपलब्ध है। यद्यपि कुछ परस्पर-विरोधी और कालक्रम-

---

७. ज्ञानातिलोक; गाइड थ्रू दि अभिधम्मपिटक, पृ. ३८,
८. कीथ, ए०बी०, बुद्धिस्ट फिलॉसॉफी, पृ० २३

विरहित प्रसंग यहाँ दिखाई देते हैं पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि समूचा त्रिपिटक ही व्यर्थ है। यह सम्भव है कि ई०पू० प्रथम शती तक उसमें परिवर्तन-परिवर्धन होते रहे हों, जो स्वाभाविक है। पर एक बार लिपिबद्ध होने के बाद उसमें परिवर्तन का अवकाश नहीं मिलता। अतः जो त्रिपिटक आज हमारे पास है वह अधिकांश रूप में ई०पू० प्रथम सदी का तो निश्चित ही है।

यह समूचा त्रिपिटक थेरवाद परम्परा में नव अङ्गों में भी विभाजित था—सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुतधम्म और वेदल्ल[९]। थेरगाथा में एक अन्य प्रकार से भी पिटक के विभाजन का संकेत किया गया है। वहाँ बताया गया है कि आनन्द ने ८२००० हजार उपदेश भगवान बुद्ध से सीखे और दो हजार उपदेश संघ से सीखे।[१०] सम्भव है, यह गणना भ. बुद्ध के समस्त उपदेशों की संख्या की ओर इङ्गित करती हो।

त्रिपिटक के विकास के सन्दर्भ में अनेक विद्वानों ने अपने अभिमत प्रस्थापित किये हैं। उनमें डॉ० बिमलाचरण ला का मत उल्लेखनीय है। उन्होंने त्रिपिटक को निम्नलिखित कालक्रम में व्यवस्थित किया है।[११]

१. प्रथम युग — ४८३ ई पू० से ३८३ ई०पू०
२. द्वितीय युग — ३८३ ई०पू० से २६५ ई०पू०
३. तृतीय युग — २६५ ई०पू० से २३० ई०पू०
४. चतुर्थ युग — २३० ई०पू० से ८० ई०पू०
५. पञ्चम युग — ८० ई०पू० से २० ई०पू०

यह कालक्रम त्रिपिटक के लिपिबद्ध होने तक के साहित्य का है। डॉ० रायज डेविड्स ने यह विकास इस प्रकार दिखाया है—[१२]

१. समस्त त्रिपिटक में समान रूप से पाये जाने वाले बुद्धवचन
२. त्रिपिटक के दो-तीन ग्रन्थों में ही पाये जाने वाले बुद्धवचन
३. सील, पारायण, अट्ठकवग्ग, पातिमोक्ख
४. दीघ, मज्झिम, अङ्गुत्तर और संयुत्त निकाय,
५. सुत्तनिपात, थेरगाथा, थेरीगाथा, उदान, खुद्दकपाठ,

---

९. मज्झिमनिकाय, अलगद्दूपम सुत्तन्त, मिलिन्दपञ्ह, बहिरकथा; दीपवंस ४.१५।
१०. थेरगाथा, ८७.३-१०२७।
११. हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, भाग १, पृ० १२-१३
१२. बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० १२०-२

६. सुत्तविभंग, खन्धक
७. जातक, धम्मपद
८. निद्देस, इतिवुत्तक, पटिसम्भिदा
९. पेतवत्थु, विमानवत्थु, अपदान, चरियापिटक, बुद्धवंस
१०. अभिधम्मपिटक के ग्रंथ जिनमें पुग्गलपञ्ञत्ति प्रथम और कथावत्थु अन्तिम हैं।

डॉ० विमलाचरण ला ने इस कालक्रम को कुछ परिवर्तित कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है[1]—

१. समस्त त्रिपिटक में समान रूप से पाये जानेवाले बुद्धवचन
२. दो-तीन ग्रंथों में ही पाये जानेवाले बुद्धवचन
३. सील, पारायण, अट्ठकवग्ग, सिक्खापद
४. दीघनिकाय (प्रथमस्कन्ध), मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय पातिमोक्ख जिसमें १५२ नियम हैं।
५. दीघनिकाय (द्वितीय और तृतीय स्कन्ध) थेरगाथा, थेरीगाथा, ५०० जातकों का संग्रह, सुत्तविभग, पटिसम्भिदामग्ग, पुग्गलपञ्ञत्ति, विभंग,
६. महावग्ग, चुल्लवग्ग, पातिमोक्ख, (२२७ नियमों का पूर्ण होना) विमानवत्थु, पेतवत्थु, धम्मपद, कथावत्थु
७. चुल्लनिद्देस, महानिद्देस, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, धातुकथा, यमक, पट्ठान
८. बुद्धवंस, चरियापिटक, अपदान
९. परिवार-पाठ
१०. खुद्दकपाठ

उपर्युक्त दोनों विद्वानों द्वारा निर्धारित कालक्रम सम्पूर्णतः समीचीन अथवा असमीचीन नहीं कहा जा सकता। तथ्य यह है कि यह विकासक्रम यदि भाषा के साथ-साथ संस्कृति और बुद्ध के वर्षावासों में दिये गये उपदेशों के आधार पर रखा जाता तो अधिक उपादेय था। ऐसा न होने के कारण ही यहाँ कुछ कमियाँ रह गई हैं। म० राहुल जी ने बुद्धचर्या में इस प्रकार का प्रयत्न किया था पर वह अधूरा ही रह गया।

त्रिपिटक का प्रभाव बौद्धेतर सम्प्रदायों के साहित्य पर भी दिखाई देता है। उदाहरणतः श्वेताम्बर जैनों द्वारा मान्य साहित्य की भाषा और शैली

१. हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, भाग १, पृ०१

पालि त्रिपिटक से मिलती जुलती है। उत्तराध्ययन (९.४४) की यह गाथा—

> मासे मासे उ जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए।
> ण सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥

धम्मपद की गाथा क्र० ७० के अत्यन्त समीप है—

> मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेथ भोजनं।
> न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोलसं॥

इसी प्रकार धम्मपद की गाथायें १०३, ४०५, ४०९ उत्तराध्ययन की गाथाओं ९.३४, २५.२२, २५.२४, में देखी जा सकती हैं। धम्मपद की अन्य गाथायें ४९, ६६, ३६२ दशवैकालिक की १.२, ४.१, १०.१२ गाथाओं में खोजी जा सकती है। इसी तरह सद्धर्मपुण्डरीक और सूत्रकृतांग का पुण्डरीक अध्ययन, अवदानसतक और विपाकसूत्र, अंगुत्तरनिकाय और ठाणाङ्ग, जातक और उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थ परस्पर सम्बद्ध अथवा प्रभावित प्रतीत होते हैं। त्रिपिटक के समान श्वेताम्बर जैन आगम भी अपने आगम को गणिपिटक कहते हैं। विनय आदि को देखते हुए यह भी असंभव नहीं कि जैनागमों से बौद्धागम प्रभावित न हुए हैं। जहाँ तक शैली का प्रश्न है, जैनागमों की अपेक्षा बौद्धागमों की शैली निःसन्देह मधुर, हृदयहारी प्रभावक और प्राचीनतर है।

अनुपिटक साहित्य

पालि त्रिपिटक के आधार पर कुछ ग्रन्थ प्रथम शती ई. पू. से लेकर ४०० ई० तक रचे गये, जिनका विशेष महत्व होने के कारण उन्हें अनुपिटक की संज्ञा दे दी गई। ऐसे ग्रन्थों में नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस और मिलिन्दपञ्ह प्रमुख माने जाते हैं। नेत्तिपकरण का आधार अभिधम्मपिटक है इसलिए वह अभिधम्म को हृदयंगम करने के लिए नेत्ति (मार्गदर्शक) कहा जा सकता है। उद्देस के अनन्तर निद्देस देने की परम्परा यहाँ भी मिलती है। पेटकोपदेस नेत्तिपकरण की शैली पर ही लिखा गया है। उसमें नेत्ति से अवशिष्ट दुरूह विषयों पर विवेचन है अतः उसे नेत्ति का पूरक ग्रन्थ कहा जा सकता है। इन दोनों ग्रन्थों के लेखक महाकच्चान माने जाते हैं। मिलिन्दपञ्ह प्रायः प्रथम शताब्दी ई. पू. की रचना कही जाती है। मेनान्डर का शासनकाल प्रायः यही था। इसमें मेनान्डर और नागसेन के बीच हुए संवाद-विवाद को संयोजित किया गया है। बुद्धघोष के अनुसार इसके लेखक भदन्त नागसेन थे, परन्तु रायज डेविड्स ने इसे माणव कृत बताया जो कल्पना-प्रसूत होना चाहिए। मिलिन्द-

ग्रन्थ के प्रथम तीन अध्याय मौलिक लगते हैं और शेष अंश अधिक प्रतीत होता है।

पिटकेतर साहित्य

(१) **अट्ठकथा साहित्य**—पिटक के अतिरिक्त अट्ठकथा, टीका, टिप्पणी, महानिद्देस और पकरण साहित्य भी मिलता है। अट्ठकथा की आवश्यकता चुल्लनिद्देस से स्पष्ट है। गन्धवंस में 'पोराणाचरिया' और 'अट्ठकथाचरिया' का उल्लेख है। बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में कुछ प्राचीन अट्ठकथाओं के नामों की ओर संकेत किया है—महा अट्ठकथा, महापच्चरिया, कुरुन्दी, अन्ध अट्ठकथा, संखेप अट्ठकथा, आगमट्ठकथा, आचरियानं समानट्ठकथा, जातकट्ठकथा प्रभृति। प्रायः सभी अट्ठकथायें मूलतः सिंहली में थीं। भिक्षुओं ने उन्हें पालि में अनुदित किया। बुद्धघोष ऐसे अनुवादकों एवं लेखकों में प्रमुख हैं। उनकी निम्नलिखित अट्ठकथायें उपलब्ध हैं—

१. समन्तपासादिका—विनयपिटक की अट्ठकथा
२. कंखावितरणी—पातिमोक्ख की अट्ठकथा
३. सुमंगलविलासिनी—दीघनिकाय की अट्ठकथा
४. पपञ्चसूदनी—मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा
५. सारत्थपकासिनी—संयुत्त निकाय की अट्ठकथा
६. मनोरथपूरणी—अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा
७. परमत्थजोतिका—खुद्दकपाठ और सुत्तनिपात की अट्ठकथा
८. अट्ठसालिनी—धम्मसंगणि की अट्ठकथा
९. सम्मोहविनोदनी—विभंग की अट्ठकथा
१०-१४. पञ्चपकरणट्ठकथा धम्मसंगणि और विभंग को छोड़कर शेष पाँच अभिधम्म-ग्रन्थों की अट्ठकथायें।
१५. जातकट्ठवण्णना—जातक की अट्ठकथा
१६. धम्मपदट्ठकथा—धम्मपद की अट्ठकथा

इनके अतिरिक्त बुद्धघोष की एक और रचना मिलती है—विसुद्धिमग्ग। स्थविरवादका कोष कहा जा सकता है। सम्भव है इसे सर्वप्रथम लिखा गया हो। उनके ग्रन्थों का अनुमानित काल-क्रम उक्त लिखित ही प्रायः मान्य होता है। बुद्धघोष मूलतः ब्राह्मण थे। इनका काल पंचम शताब्दी माना जाता है। इसी समय वे बौद्धधर्म में दीक्षित होकर श्रीलंका पहुँचे और वहाँ उक्त साहित्य सृजन किया। इनके पूर्व बुद्धदत्त हुए जिन्होंने बुद्धवंस पर

'मधुरत्थ विलासिनी' नामक अट्ठकथा लिखी। तीसरे मुख्य अट्ठकथाकार थे धम्मपाल, जिन्होंने खुद्दकनिकाय के कुछ भाग पर अट्ठकथायें लिखी थीं।

(२) **टीका साहित्य**—टीका अट्ठकथा का संक्षिप्त रूप है। शायद आनन्द ने अभिधम्ममूलटीका लिखकर टीका साहित्य का श्रीगणेश किया था। तदनन्तर उनका अनुकरण धम्मपाल ने परमत्थमञ्जूसा (विसुद्धिमग्ग की महाटीका), लीनत्थवण्णना (नेत्तिपकरण-अट्ठकथा की टीका), लीनत्थपकासिनी (प्रथम चार निकायों पर लिखी गई अट्ठकथाओं की टीका) जातकट्ठकथा टीका और मधुरत्थविलासिनी की टीका लिखकर किया। इसी काल की वजिरबुद्धि की समन्तपासादिका पर वजिरबुद्धि नाम की टीका भी मिलती है।

श्री लंका के राजा पराक्रमबाहु (११५३-११८६) पकासिनी राज्यकाल में सारिपुत्त ने सारत्थदीपिनी (समन्त.टीका) पथमसारत्थमंजूसा (सुमंगल.टीका), दुतियसारत्थमंजूसा (पपञ्च.टीका), ततिय सारत्थमंजूसा (सारत्थ . टीका), चातुत्थ सारत्थ पकासिनी (मनोरथ टीका), पथम परमत्थपकासिनी(अट्ठसा.टीका), दुतिय परमत्थपकासिनी (संमोह. टीका), ततिय परमत्थपकासिनी (पंचपक. टीका) नामक टीकायें लिखीं। इनके अतिरिक्त सारिपुत्त के शिष्यों ने भी अनेक टीकायें लिखी हैं। इन शिष्यों में संगह रक्खित, महासेन, बुद्धनाग, वचिसार और सुमंगल प्रमुख हैं। सद्धम्मजोतिपाल (१२वीं सती) ने विनयसमुत्थान- दीपनी, पातिमोक्खविसोधनी' विनयगुल्हट्ठदीपनी, सीमालंकारसंगहटीका, मातिकट्ठ- दीपनी, पट्ठानगणनानय, नामचारदीप, अभिधम्मट्ठसंगहसंखेपटीका और गन्धसार नामक टीकाओं की रचना की। १५वीं शती में वर्मा में अभिधम्मपिटक का अध्ययन अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। फलतः वहाँ पर आरियवंश की मणि- सारमंजूसा, मणिदीप एवं जातकविसोधनी, सद्धम्मपाल की नेत्तिभावनी और सद्धम्मलकार की पट्ठनदीपनी नाम की टीकायें अधिक प्रसिद्ध हुईं।

(३) **टिप्पणियां या अनुटीकायें**—टीका पर जो टीका लिखी जाती है उसे टिप्पणी अथवा अनुटीका कहते हैं। अनुटीकाओं में अभिधम्मत्थकथा पर धम्मपाल द्वारा लिखी गई अनुटीका सर्वाधिक प्राचीन है। इसके बाद सारिपुत्त ने लीनत्थपकासिनी, सारत्थपकासिनी और सारत्थमंजूसा तथा महानाम (१६ वीं शती) ने मधुसारत्थदीपनी अनुटीकाओं का निर्माण किया। १७वीं शती में वर्मा में तिलकगुरु और महाकस्सप द्वारा अनेक अनुटीकायें लिखी गईं।

(४) **पकरण**—पकरण सिद्धान्ततः किसी धर्म विशेष से सम्बद्ध नहीं होते। परन्तु पालि भाषा में निबद्ध पकरण कुछ अंश तक इसके अपवादात्मक

हैं। इन्हें संग्रह, वंस, व्याकरण, काव्य और कोश के रूप में विभक्त कर सकते हैं।

(i) संग्रह—संग्रह ग्रन्थ गद्य और पद्य दोनों में मिलते हैं। बुद्धघोष का विसुद्धिमग्ग तो थेरवाद बौद्धधर्म का कोष ही मानना चाहिए। इसमें सील, समाधि और पञ्ञा का विवेचन मूल त्रिपटक के आधार पर किया गया है। इसके बाद बुद्धदत्त के विनय, विनिच्छय, उत्तरविनिच्छय और अभिधम्मावतार, वजिरबुद्धि का विनयगन्धि, धम्मसिरी की खुद्दकसिक्खा और मूलसिक्खा अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अभिधम्म दर्शन पर भी श्रीलंका और बर्मा में अनेक संग्रह निकल चुके हैं।

(ii) वंस—वंस साहित्य दूसरे शब्दों में इतिहास साहित्य है। दीपवंस महासेन-काल (३२५–३५२ ई०) तक का श्रीलंका का इतिहास प्रस्तुत करता है। इसका लेखक अज्ञात है। महानाम का 'महावंस' (छठी सती ई०) दीपवंस पर व्याख्यात्मक ग्रन्थ है। इसका मूल रूप ३७ वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा तक ही दिखाई देता है। आगे के परिच्छेद 'चूलवंस' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उसके बाद भी प्रक्षिप्तांश उसमें जुड़ते ही गये। इनके अतिरिक्त अनागतवंस, बोधिवंस, दाढ़ावस, थूपवस, बुद्धघोसुप्पत्ति और सद्धम्मसंगह गन्धवंस, सासनवंस आदि ग्रन्थ है जिन्हें वंस साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

(iii) व्याकरण—पालि व्याकरण के तीन स्कूल हैं—कच्चायन, मोग्गलायन और सद्दनीति। गायगर के अनुसार कच्चायन बुद्धघोष के उत्तरवर्ती आचार्य हैं। उन्होंने कच्चायन व्याकरण लिखा है। मोग्गलायन का मोग्गलायन व्याकरण और मोग्गलायन पञ्जिका तथा अग्गवंस का सद्दनीति व्याकरण (१२ वीं शती) अपने अपने स्कूल का प्रतिनिधित्व करते हैं। कच्चायन व्याकरण के आधार पर विमलबुद्धि (११वीं शती) की मुखमत्तदीपनी, छपद (१२वीं शती) का न्यासप्रदीप, एवं सुत्तनिद्देस, संघरक्खित (१२वीं शती) की सम्बन्धचिन्ता, बुद्धप्रिय की रूपसिद्धि, धम्मकित्ति का बालावतार, थातोन का कच्चायनभेद आदि व्याकरणों का निर्माण हुआ है। मोग्गलान व्याकरण के पीछे पियदस्सी का पदसाधन, वनरतन मेधंकर की पयोगसिद्धि, धातुपाठ आदि व्याकरण-ग्रन्थ लिखे गये। सद्दनीति व्याकरण सम्प्रदाय में धातत्थदीपनी को छोड़कर अन्य ग्रन्थ अज्ञात हैं। इनके अतिरिक्त पगान का वच्चवाचक, मंगल का गन्धट्ठि, अरियवंस का गन्धाभरण, आदि और भी अनेक पालि व्याकरण उपलब्ध हैं।

(iv) काव्य—संस्कृत भाषा के समान पालि भाषा में भी काव्यों का निर्माण हुआ है। बुद्धरक्खित (१२वीं शती) का जिनालंकार जो बुद्ध की—

सम्बोधि प्राप्ति तक का वर्णन करता है, मेघंकर का जिनचरित, वेदेहथेर का समन्तकूटवण्णना व रसवाहिनी (१३वीं शती) तथा बुद्धपिय का पज्जमधु पालि साहित्य के प्रधान काव्य हैं। अलंकार, छन्दशास्त्र तथा पालि अभिलेख इसी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। संघरक्खित का सुबोधालंकार और उन्हीं का वुत्तोदय इसके सुन्दर उदाहरण हैं। तेलकटाहगाथा सद्धम्मोपायन, पज्जमति-दीपन, और लोकदीपस्वर भी रमणीय काव्य हैं।

(५) कोश—मोग्गलायन (१२वीं शती) का अभिधानप्पदीपिका नामक ग्रन्थ सम्भवत: प्राचीनतम पालि कोश है। इस कोश के तीन विभाग हैं—सग्ग-कण्ड, भूकण्ड और सामञ्जकण्ड। अनेकार्थक शब्दों का भी इसमें संग्रह मिलता है। अमरकोश इसका आधारभूत ग्रन्थ रहा होगा। इसके बाद में बर्मी भिक्षु सद्धम्मकित्ति ने (१५वीं शती) एकक्खरकोस की रचना की। यहाँ एकाक्ष-रात्मक शब्दों का संग्रह किया गया है।

अभी हमने पालि साहित्य की एक अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा आपके समक्ष प्रस्तुत की है। उससे इतनी तो जानकारी होती ही है कि पालि भाषा में निबद्ध साहित्य मात्र त्रिपिटक नहीं, प्रत्युत संस्कृत भाषा में रचित साहित्य जैसा उसमें वैविध्य भी उपलब्ध होता है। आज भी पालि भाषा साहित्य-सृजन से बाहर नहीं हुई। शोधकों और लेखकों के लिए इस साहित्य में प्रचुर सामग्री मिल सकती है।

मध्यकालीन आर्यभाषाओं का अध्ययन पूर्ण करने के लिए पालि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन अत्यावश्यक है। उसने न केवल आधुनिक भारतीय भाषाओं को प्रभावित किया है, प्रत्युत सिंहल, बर्मा, थाईलेन्ड, चीन, जापान, तिब्बत, मंगोलिया आदि देशों की भाषाओं के विकास मे भी उसका पर्याप्त योगदान है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन करनेवालों को इसमें दर्शन की भी विपुल सामग्री मिलती है। स्थविरवाद और अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के अतिरिक्त वैदिक और जैन दर्शनों का भी इसमें प्रसंगतः पर्याप्त विवेचन हुआ है जो उनके इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्राचीन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री के लिए तो पालि साहित्य एक अजस्र स्रोत है। अट्ठकथायें जो अभी तक समूचे रूप में नागरी लिपि में अप्रकाशित हैं, बिलकुल अछूती सी पड़ी हैं। प्राचीन इतिहास के कालक्रम को निश्चित करने में पालि साहित्य सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुआ है। जैन सांस्कृतिक इतिहास के विकास की जानकारी के लिए तो पालि साहित्य सदैव अविस्मरणीय रहेगा।[1]

---

१. इसके लिए देखिये, लेखक का ग्रन्थ "जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर"।

संस्कृत बौद्ध साहित्य

सर्वास्तिवाद—पालि साहित्य मात्र स्थविरवाद की परम्परा में उपलब्ध है परन्तु संस्कृत भाषा का उपयोग उत्तरकालीन प्रायः सभी बौद्ध सम्प्रदायों ने किया है। सर्वास्तिवाद उनमें अग्रगण्य हैं। आर्य कात्यायनीपुत्र रचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' सम्भवतः बौद्ध संस्कृत साहित्य का आद्य ग्रन्थ होगा। कनिष्क के अधिनायकत्व में वसुमित्र की अध्यक्षता में काश्मीर में ५०० भिक्षुओं की एक संगीति हुई थी जिसमें इस पर 'विभाषा' नाम की टीका लिखी गई। फलतः इसके अनुयायी वैभाषिक कहलाये। वसुमित्र ने काश्मीरी वैभाषिकों के अनुसार 'अभिधर्मकोश' लिखा। विभाषा में वसुमित्र के अतिरिक्त पार्श्व, घोषक, बुद्धदेव, धर्मत्रात, भदन्त, कुशवर्मा, घोषवर्मा, द्रव, धरदत्त, धरनन्दी, धार्मिक, सुभूति, पूर्णास, वक्कुल, वामक, श्रमदत्त, संघवसु और बुद्धरक्षित आदि आचार्यों के नाम भी मिलते है। तारानाथ के अनुसार वैभाषिक सम्प्रदाय के धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र, और बुद्धदेव प्रधान आचार्य थे। इन सभी ने संयुक्त रूप से महाविभाषा की रचना की थी।[1] धर्मत्रात का उदानवर्ग, घोषक का अभिधर्मामृत, वसुमित्र का प्रकरणपाद और धर्मश्री का अभिधर्मसार सर्वास्तिवाद के प्राचीन ग्रंथ कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त अभिधर्म पर लिखित निम्नोक्त ग्रन्थों को षट्पादशास्त्र भी कहा जाता है—(१) शारिपुत्र (महाकौष्ठिल) विरचित अभिधर्मसंगीतिपर्याय पादशास्त्र, (२) मौद्गल्यायन विरचित अभिधर्मस्कन्धपादशास्त्र, (३) स्थविर देवशर्मा-रचित अभिधर्म विज्ञानकायपादशास्त्र, (४) कात्यायनी पुत्र विरचित अभिधर्मप्रज्ञप्तिपादशास्त्र, (५) वसुमित्र विरचित अभिधर्मधातुकायपादशास्त्र, और (६) वसुमित्र द्वारा ही विरचित अभिधर्मप्रकरणपादशास्त्र। स्थविरवाद द्वारा मान्य अभिधम्म ग्रन्थों में इनकी क्रमशः इस प्रकार तुलना की जा सकती है—यमक, धम्मसंगणि, विभंग, पुग्गलपञ्ञत्ति, धातुकथा, और पट्ठान(?) कथावत्थुप्पकरण।

उक्त ग्रन्थों से स्पष्ट है कि सर्वास्तिवाद में अभिधर्म का बहुत अधिक महत्व था। सर्वास्तिवादी अभिधर्म साहित्य में वसुमित्र का 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' सर्वप्रधान माना जाता है। उक्त षट्पादशास्त्र इसी के 'पाद' कहे जाते हैं। इनका मूल विषय है—लोकुत्तरधम्म, ज्ञान, पुग्गल, अहिंसिकलौतत्व, रूप, अनात्म,

---

1. तारानाथ, पृ० ६७, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० २६३

चेतना और प्रेमणारव का विवेचन करना। स्थविरवाद और सर्वास्तिवाद के बीच अभिधर्म ही विशेष रूप से विवादग्रस्त विषय था।

सुत्तपिटक के निकाय के स्थान में सर्वास्तिवादियों ने आगम शब्द का प्रयोग किया है यहाँ भी स्थविरवाद के समान पाँचों निकाय माने गये हैं। अन्तर यह है कि स्थविरवादीय अंगुत्तर निकाय में पन्द्रह ग्रन्थ हैं जबकि सर्वास्तिवादियों ने धर्मपद, उदान, सूत्रनिपात, विमानवस्तु और बुद्धवंस को ही अपने क्षुद्रकागम की सीमा में रखा है। विनयपिटक में भी साधारणतः समानता दिखाई देती है। प्रातिमोक्ष सूत्र, सप्तधर्म, अष्टधर्म, क्षुद्रक-परिवर्त, एकोत्तरधर्म, उपालिपरिपृच्छा, भिक्षुणीविनय एवं कुशलपरिवर्त सर्वास्तिवादी विनय के प्रधान विभाग हैं। पाराजिक, प्रायश्चित्तिक एवं अवदान के रूप में भी इसका विभाजन मिलता है। सर्वास्तिवादी त्रिपिटक अपने शुद्ध रूप में उपलब्ध नहीं होता। पिशेल, रॉकहिल, पूसे, स्टेन, सेनार्ट, लूडर्स, फ्रैंक आदि विद्वानों के सहयोग से इसका कुछ भाग प्रकाशित हुआ है। अधिकांश अंग तिब्बती और चीनी भाषाओं में मिलता है। जो भी मिलता है, उसके आधार पर यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि सर्वास्तिवादियों ने थेरवादी त्रिपिटक को कुछ परिवर्तनों के साथ संस्कृत में अनुदित कर लिया था।

जैसा अभी हमने देखा, ई० की १-२ शताब्दी में सम्राट् कनिष्क ने सर्वास्तिवाद को प्रश्रय दिया। इसी समय सर्वास्तिवादियों की एक संगीति भी हुई जिसमें उन्होंने अभिधर्म महाविभाषा की रचना की। इसके अनुयायी वैभाषिक कहलाये। इन वैभाषिकों के दो सम्प्रदाय थे—काश्मीर वैभाषिक और पाश्चात्य वैभाषिक। वैभाषिक के अतिरिक्त एक और शाखा का जन्म हुआ जिसे सौत्रान्तिक कहा गया। सूत्रागम (सुत्तपिटक) को मानने के कारण इस सम्प्रदाय को सौत्रान्तिक माना गया (ये सूत्र प्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिकाः, अभिधर्म कोश)।

सर्वास्तिवाद से उद्भूत सौत्रान्तिक के समान एक संक्रान्तिवाद का भी उदय हुआ जो स्कन्धों का संक्रमण जन्म-जन्मान्तर तक माना करता था। सौत्रान्तिक मत के प्रवर्तकों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं। वसुमित्र आनन्द को, भव्य और तिब्बती परम्परा उत्तर को तथा श्वांगच्वांग कुमारलब्ध को सौत्रान्तिक शाखा का प्रवर्तक मानते हैं। कुमारलब्ध के दो शिष्य थे—श्रीलब्ध और हरिवर्मा। श्रीलब्ध का विभाषाशास्त्र अद्यावधि अनुपलब्ध है। हरिवर्मा का सत्यसिद्धिशास्त्र सर्वधर्मशून्यता का पोषक है। धर्मत्रात और बुद्धदेव भी इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हुए हैं। वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोश' पर

'स्फुटार्था' नामक टीका के लेखक यशोमित्र की भी सौत्रान्तिक आचार्यों में गणना की जाती है।

वैभाषिक सम्प्रदाय में, जैसा हम पीछे देख चुके हैं, अभिधर्मविभाषाशास्त्र के अतिरिक्त वसुबन्धु का अभिधर्मकोश बहुत लोकप्रिय हुआ। बाण की कादम्बरी इस लोकप्रियता की साक्षी देती है—शुकैरपि शाक्यशासन कुशलैः कोश समुपदिशद्‌भिः। द्वितीय बुद्ध कहे जाने वाले वसुबन्धु का समय निर्विवाद नहीं। तकाकुसु उन्हें पंचम शताब्दी का मानते हैं और फाउवाल्नर के अनुसार वे चतुर्थ शताब्दी में हुए। इस विवाद को दूर करने के लिए वसुबन्धु नाम के दो आचार्यों की बात सामने आई। पर यह ठीक नहीं।

वसुबन्धु का जन्म पुरुषपुर (पेशावर) में हुआ था। उन्होंने 'सांख्यसप्तति' के खण्डन में 'परमार्थ सप्तति' की रचना की। इसके अतिरिक्त अभिधर्म कोश उनको अमर बनाने वाला अनुपमेय ग्रन्थ है। इसमें आठ कोशों में समाहित ६०० कारिकाओं में धातु, इन्द्रिय, लोकधातु, कर्म, अनुशय, आर्यपुद्गल, ज्ञान एवं ध्यान पर विवेचन किया गया है। वसुबन्धु द्वारा लिखित ग्रन्थ में तर्कशास्त्र और वादविधि का भी नाम लिया जाता है। वसुबन्धु के अतिरिक्त मनोरथ और संघभद्र भी इसी काल में हुए हैं। संघभद्र के 'अभिधर्म न्यायानुसार' और 'अभिधर्म समय प्रदीपिका' नाम के दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनमें वैभाषिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है।

सर्वास्तिवाद के उक्त दोनों सम्प्रदाय के आचार्यों में संक्रमण होता रहा। अतः कौन किस शाखा का अनुयायी है, यह कहना कठिन हो जाता है। अश्वघोष, आर्यशूर, दिङ्नाग आदि आचार्यों के विषय में यही समस्या है। सर्वास्तिवाद के प्रधान आचार्य के रूप में राहुलभद्र को भी माना जाता है। उनकी भाषा संस्कृत थी। उनके चिह्न उत्पल, पद्म, मणि और पर्ण थे। उनके नाम प्रायः मति, श्री, प्रभा, कीर्ति और भद्र में समाप्त होते थे। उनकी संघाटी में वैशिष्ट्य का उल्लेख मिलता है। उनके वस्त्र काले अथवा गाढ़े लाल रंग के होते थे। इ-त्सिंग के अनुसार उनकी संघाटी का निचला भाग एक सीधी रेखा में कटा होता था। वे भिक्षा को सीधे हाथ में ले लेते थे।[1]

इनके अतिरिक्त महासांघिक, लोकोत्तरवाद, एकव्यावहारिक, कौक्कुटिक, बहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवाद, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय वैतुल्यक तथा वात्सीपुत्रीय,

---

१. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. २६७

सम्मतीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय एवं षण्णागरिक शाखाओं का साहित्य भी मिलता है, पर बहुत कम। कथावत्थु आदि कतिपय प्राचीन ग्रन्थों में उनके सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष के रूप में अवश्य प्रस्तुत किया गया है।

उक्त सम्प्रदायों में लोकोत्तरवादियों का एक अनुपमेय ग्रन्थ मिलता है—महावस्तु। इसमें बुद्ध के जीवन को लोकोत्तरात्मक रूप देने का यथाशक्य प्रयत्न किया गया है। लोकोत्तरवादी महासांघिकों का यह विनय-ग्रन्थ माना जाता है। इसके अनुसार बुद्ध प्रकृतिचर्या, प्रणिधानचर्या, अनुलोमचर्या और अनिवर्तनचर्या के अनुकरण से बुद्धत्व-प्राप्ति करते हैं। मिश्र संस्कृत में लिखित इस ग्रन्थ का समय-निर्धारण कठिन है। इसके प्राचीन अंश ई. पू. लगभग द्वितीय शताब्दी के जान पड़ते हैं और हूण आदियों के उल्लेख से इसके कुछ भाग लगभग चतुर्थ शताब्दी के लगते हैं। प्राचीन भारतीय दर्शन और संस्कृति की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। प्राकृत का प्रभाव अधिक होने से इसका भाषावैज्ञानिक महत्त्व भी कम नहीं। हीनयान और महायान के बीच सेतु के रूप में भी महावस्तु का अध्ययन अपेक्षित है।

इस काल में पिटक-परम्परा में मतभेद हो गया था। सर्वास्तिवादी वैभाषिक अभिधर्म पिटक को मानते थे। कौक्कुटिक भी सूत्रपिटक और विनयपिटक की देशना को उपाय मात्र स्वीकार करते थे। वेहासांघिक परम्परागत त्रिपिटक के अतिरिक्त बोधिसत्त्वपिटक और संयुक्तपिटक को भी अङ्गीकार करते थे। धर्मगुप्तकों ने उक्त पाँच पिटकों के साथ ही धारणीपिटक और मन्त्रपिटक को और जोड़ दिया था। पूर्वशैलीय और अपरशैलीय सम्प्रदायों की प्रज्ञापारमिता प्राकृत भाषा में निबद्ध थी। हीनयानी संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के और भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जो निश्चित ही एक अमूल्य निधि के रूप में स्वीकार्य हैं।

महायान का साहित्य

बौद्धधर्म के इतिहास से यह स्पष्ट है कि महायान का जन्म व्यक्ति की स्वाभाविक प्रक्रिया से निष्पन्न हुआ है। भाषाविज्ञान की तरह आध्यात्मिक चिन्तन में भी सरलीकरण की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। भगवान बुद्ध के कुम्बकीय व्यक्तित्व को एक ओर लोकोत्तर बनाने का उपक्रम प्रारम्भ हुआ तो दूसरी ओर उनके प्रति व्यक्त श्रद्धा और भक्ति के माध्यम से निर्वाण प्राप्ति को अत्यन्त सुगम बना दिया। फलतः जनसाधारण और अधिक आकृष्ट होने लगा। इसी बीच विदेशी आक्रमण हुए और भारतीय संस्कृति से उनका परिचय हुआ। बौद्धधर्म के इस नवीन रूप ने उन्हें आकर्षित किया। परिणामस्वरूप तथा-कथित महायान बौद्धधर्म भारतीय सीमा का अतिक्रमण कर देशान्तरों में संक्रमित हो गया। वहां भी पहुंचकर उसने तत्तद्देशीय संस्कृति को आत्मसात करने का यथाशक्य प्रयत्न किया। यही कारण है कि महायान का विस्तार सम्प्रदाय और साहित्य के रूप में वहीं अधिक हुआ।

हीनयान और महायान शब्दों के पीछे जुगुप्सा का भाव भले ही भरा हो पर अपनी कतिपय विशिष्टताओं के कारण महायान अधिक लोकप्रिय धर्म बना इसमें कोई सन्देह नहीं। उसकी उदारता और सहजता उसे यहां तक ले आयी कि एक समय सन्देह व्यक्त किया जाने लगा कि यह धर्म वास्तविक बौद्धधर्म है या नहीं। वस्तुतः बौद्धधर्म के मूल रूप में ही यह निर्देश है कि बुद्ध ने प्रथमतः यह अनुभव किया कि उनके अनुकूल धर्म को साधारण जन समुदाय ग्रहण नहीं कर पायेगा पर ब्रह्मयाचना के फलस्वरूप उन्होंने 'आशयानुशय' अथवा 'उपदेश कौशल' के आधार पर शिष्यों की योग्यतानुसार उन्हें अपना चिन्तन दिया। महायान का जन्म भी शायद यहीं से प्रारम्भ होता है। कालान्तर में वह विकृत रूप में भी हमारे समक्ष उपस्थित हुआ। इसका तात्पर्य यह नहीं कि महायान का सम्बन्ध मूल बौद्धधर्म से बिलकुल नहीं और हीनयान ही एक-मात्र यथार्थ बुद्ध प्रवेदित धर्म है। तथ्य यह है कि हीनयान विकास का प्राथमिक रूप है और महायान उन्हीं सोपानों पर चरण बिखेरता हुआ आगे आने वाला विकसित रूप है। इस प्रकार विकासात्मक सीढ़ी से उसे पहचाना जाना चाहिए।

महायानी संस्कृत साहित्य का क्षेत्र विविध और विस्तृत है। अतः क्रमिक अध्ययन की दृष्टि से उसे हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) सूत्र ग्रन्थ, (२) अवदान साहित्य और (३) दार्शनिक साहित्य।

(१) सूत्र ग्रन्थ[1]—महायानी सूत्र-साहित्य की परम्परा बहुत लम्बी है। नान्जियो की सूची में सूत्र काण्ड (सूत्रपिटक) के अन्तर्गत ५४१ महायान सूत्रों का उल्लेख मिलता है। इन सूत्रों को सात प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है—(१) प्रज्ञापारमिता, (२) रत्नकूट जिसमें सुखावती व्यूह भी है, (३) महासन्निपात (चन्द्रगर्भ आदि), (४) अवतंसक, (५) परिनिर्वाण, (६) विविध अनुदित सूत्र—सद्धर्मपुण्डरीक आदि और (७) सकृद् अनुदित सूत्र महावैरोचन आदि। यहां दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त से भिन्न ब्रह्मजालसूत्र और अभिधर्म पिटक के अन्तर्गत नागार्जुन आदि आचार्यों के ग्रन्थों का भी उल्लेख आता है।

शिक्षा समुच्चय में ९८ सूत्र-ग्रन्थों की सूची उपलब्ध है—अक्षयमति, अङ्गुलिमालिक, अध्याशयसंचोदन, अनन्तमुखनिर्हारधारणी, अपूर्वसमुद्गतपरिवर्त, अपरराजाववादक, अवलोकना, अवलोकितेश्वरविकुर्वणनिर्देश, आकाशगर्भ, आर्यसत्यकपरिवर्त, उग्रपरिपृच्छा, उदयनवत्सराज परिपृच्छा, उपायकौशल्य, उपालिपरिपृच्छा, कर्मावरणविशुद्धि, कामाववादक, काश्यपपरिवर्त, क्षितिगर्भ, गगनगञ्ज, गण्डव्यूह, गोचरपरिशुद्ध, चतुर्धर्मक, चन्द्रप्रदीप, चन्द्रोत्तरादारिकापरिपृच्छा, चुन्दाधारणी, जम्भलस्तोत्र, ज्ञानवतीपरिवर्त, ज्ञानवैपुल्य, तथागतकोश, तथागतगुह्य, तथागतबिम्बपरिवर्त, त्रिसमयराज, त्रिस्कन्धक, दशधर्म, दशभूमिक, दिव्यावदान, धर्म संगीति, नारायण परिपृच्छा, नियतानियतावतारमुद्रा, निर्वाण, पितापुत्रसमागम, पुष्पकूटधारणी, प्रज्ञापारमिता–अष्टसाहस्रिका, प्रव्रज्यान्तराय, प्रशान्तविनिश्चयप्रातिहार्य, प्रातिमोक्ष, बृहत्सागरनागराजपरिपृच्छा, बोधिचर्यावतार, बोधिसत्त्वपिटक, बोधिसत्त्वप्रातिमोक्ष, बुद्धपरिपृच्छा, भगवती, भद्रकल्पिक, भद्रचरीप्रणिधानराज, भिक्षुप्रकीर्णक, भैषज्यगुरुवैडूर्यप्रभ, मञ्जुश्रीबुद्धक्षेत्रगुणव्यूहालंकार, मञ्जुश्रीविक्रीडित, महाकरुणापुण्डरीक, महामेघ, महावस्तु, मारीचि, मालासिंहनाद, मैत्रेयविमोक्ष, रत्नकरण्डक, रत्नकूट, रत्नचूड, रत्नमेघ, रत्नराशि, रत्नोल्का, राजाववादक, राष्ट्रपालपरिपृच्छा, लङ्कावतार, ललितविस्तर, लोकनाथव्याकरण, लोकोत्तरपरिवर्त, वज्रच्छेदिका, वज्रध्वजपरिणामना, वाचनोपासिकाविमोक्ष, विनयपिटक, विमलकीर्ति निर्देश, वीरदत्तपरिपृच्छा, शालिस्तम्ब, शूरङ्गम,

१. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ३२९–३३२.

[illegible]सूत्र, [illegible], श्रीमालासिंहनाद, सद्धर्मपुण्डरीक, सद्धर्म-स्मृत्युपस्थान, आर्यमूलसंयुक्त, समाधिराज (चन्द्रप्रदीप), सर्वधर्म वैपुल्यसंग्रह, सर्व-धर्मप्रवृत्तिनिर्देश, सर्वबज्रधरमन्त्र, सागरमतिपरिपृच्छा, सिंहपरिपृच्छा, सुवर्ण-प्रभासोत्तम और हस्तिकक्ष्यसूत्र।

महाव्युत्पत्ति में १०५ सूत्रों के नामोद्धरण मिलते हैं जिनमें कुछेक हीनयानी ग्रन्थों को छोड़कर शेष महायानी सूत्रों से सम्बद्ध हैं। उपर्युक्त शिक्षा समुच्चय में समागत सूची में उद्धृत ग्रन्थों के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थों का और उल्लेख महाव्युत्पत्ति में मिलता है—शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पंचविंशति-साहस्रिका प्रज्ञापारमिता, सप्तशतिकाप्रज्ञा०, पंचशतिकाप्रज्ञा०, त्रिशतिकाप्रज्ञा०, घनव्यूह, सुविक्रान्तविक्रामी, रत्नकेतु, तथागतमहाकरुणानिर्देश, द्रुमकिन्नरराज-परिपृच्छा, सूर्यगर्भ, बुद्धभूमि, तथागताचिन्त्यगुह्यनिर्देश, सागरनागराजपरिपृच्छा, अजातशत्रु-कौकृत्य-विनोदन, संधिनिर्मोचन, बुद्धसंगीति, महायानप्रसादप्रभावन, महायानोपदेश, आर्यब्रह्मविशेषचिन्तापरिपृच्छा, परमार्थसंवृतिसत्यनिर्देश, मंजु-श्रीविहार, महापरिनिर्वाण, धर्मचक्र, कर्मविभंग, तथागतोत्पत्तिसंभवनिर्देश, भवसंक्रान्ति, परमार्थधर्मविजय, बोधिपक्षनिर्देश, सर्ववैदल्यसंग्रह, संघाटसूत्र, तथा-गतज्ञानमुद्रासमाधि, वज्रमेरुशिखर कूटागारधारणी, अनवतप्तनागराजपरिपृच्छा, सर्वबुद्धविषयावतारज्ञानालोकालंकार, व्यासपरिपृच्छा, सुबाहुपरिपृच्छा, महासा-हस्रप्रमर्दन, महास्मृत्युपस्थान, मैत्रीव्याकरण, धर्मविनिश्चय, महाबलसूत्र, विकुर्वा-णराजपरिपृच्छा एवं ध्वजाग्रकेयूर।

इन ग्रन्थों में विशेषत: ये नव सूत्र प्रचलित हैं—अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, गण्डव्यूह, दशभूमीश्वर, समाधिराज, लंकावतार, सद्धर्मपुण्डरीक, तथागतगुह्यक, ललितविस्तर तथा सुवर्णप्रभास। इन्हें वैपुल्यसूत्र भी कहा जाता है। इनमें सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर आदि सूत्रों में बुद्ध, बोधिसत्व, बुद्धयान आदि का माहात्म्य प्रदर्शित है और प्रज्ञापारमिता आदि सूत्रों में शून्यता तथा महाकरुणा का प्रतिपादन है। प्रज्ञापारमिता सूत्रों में अष्टसाहस्रिका प्राचीनतम सूत्र होगा। उसकी भाषा और शैली भी इस कथन का समर्थक है। यहां मात्र रूपकाय और धर्मकाय का उल्लेख मिलता है। संभोगकाय बाद में जोड़ा गया है। नागार्जुन का शून्यवाद प्रज्ञापारमिताओं पर ही आधारित है। विज्ञानवादी आचार्यों ने भी अपने सिद्धान्तों की प्रस्थापना में इनका उपयोग किया है। ये सभी सूत्र प्राय: द्वितीय से चतुर्थ सती के मध्य विरचित हैं। लंकावतार योगाचार सिद्धान्तों का समर्थक है। सद्धर्मपुण्डरीक महायान और हीनयान के बीच एक सेतु विशेष है। ललितविस्तर बुद्ध की भक्ति-मिश्रित परम्परा का पोषक है।

इन्हें 'महायान सूत्र' भी कहा गया है। पूर्वशैलीय परम्परा में प्राकृत भाषा में निबद्ध प्रज्ञापारमिता का उल्लेख है। चीनी त्रिपिटक में विभिन्न पारमिताओं का संनिवेश किया गया है। कंजूर में शतसाहस्रिका, पंचविंशति साहस्रिका अष्टादश साहस्रिका, दशसाहस्रिका, अष्टसाहस्रिका, अर्धशतिका, सप्तशतिका, पंचशतिका, वज्रच्छेदिका, अल्पाक्षरा एवं एकाक्षरी पारमिता का संग्रह है[1]।

(२) **अवदान साहित्य**—अवदान (पालि 'अपदान') का तात्पर्य है लोककथाओं के माध्यम से धार्मिक सिद्धान्तों को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य। इस विस्तृत सीमा में पारमिताओं का अभ्यास भी समाहित हो जाता है। पालि साहित्य में जो स्थान जातक कथाओं का है वही स्थान बौद्ध संस्कृत साहित्य में अवदान साहित्य का है। उनका मुख्य उद्देश्य है कर्म और उसके फल की व्याख्या करना। कथाओं का विभाजन प्रायः तीन प्रकार से मिलता है—अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न। हीनयान और महायान के सम्मिश्रित रूपों को प्रस्तुत करना अवदान साहित्य की विशेषता है।

अवदान साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सम्भवतः अवदानशतक होगा जिसका अनुवाद चीनी भाषा में २२३–२५३ ई० के मध्य हुआ। दस अध्यायों में विभक्त अवदानशतक में कुछ कथायें हीनयान से सम्बद्ध हैं और कुछ कथायें महायान की व्याख्या करती हैं। दिव्यावदान भी इसी प्रकार महत्वपूर्ण अवदान ग्रन्थ माना जाता है। भाषा, शैली और विषय की असम्बद्धता उसे उत्तरवर्ती सिद्ध करती है। वस्तुतः इसका सम्बन्ध मूल सर्वास्तिवादियों के विनयपिटक से रहा है। इनके अतिरिक्त कल्पद्रुमावदान, अशोकावदान, द्वाविंशत्यवदान, बोधिसत्वावदान, भद्रकल्पावदान, विचित्रकर्णिकावदान, अवदानकल्पलता आदि अवदान भी उपलब्ध होते हैं जिनमें अधिकांश अवदान अवदानशतक पर आधारित हैं।

बुनियो नंजियो ने कुछ महायानी विनय सूत्रों का उल्लेख किया है—बोधिचर्यानिर्देश, बोधिसत्व प्रातिमोक्षसूत्र, भिक्षुविनय, आकाशगर्भसूत्र, उपालिपरिपृच्छा, उग्रदत्तपरिपृच्छा, रत्नमेघसूत्र, और रत्नराशिसूत्र। इन सूत्रों के देखने यह स्पष्ट हो जाता है कि हीनयानी और महायानी विनय में बहुत अधिक अन्तर नहीं। महायान सिद्धान्तों का सुन्दर संग्रह नागार्जुन (?) के धर्मसंग्रह (सप्तमशती) में मिलता है। महाव्युत्पत्ति (नवीं शती) भी इसी दिशा का ग्रन्थ है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है।

---

१. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, अध्याय ८

(२) दार्शनिक साहित्य

योगाचार और विज्ञानवाद—महायान के दार्शनिक साहित्य की भूमिका में प्रज्ञापारमिता सूत्रों का अमूल्य योगदान है। संक्षेप में कहा जाय तो उन्हें हम प्रस्थापक ग्रन्थ कह सकते हैं। इन सूत्रों के अनुसार बोधिसत्व को समस्त धर्मों में नैरात्म्य अथवा धर्मशून्यता को देखना चाहिए। इस सिद्धान्त ने शून्यवाद तथा योगाचार और विज्ञानवाद की भूमिका खड़ी कर दी। इससे एक ओर जहाँ यह बात स्पष्ट होती है कि सकल धर्मों का स्वरूप शून्यतात्मक है वहाँ दूसरी ओर यह भी ध्वनित होता है कि इसमें चित्त का प्राधान्य है। प्रथम विकल्प से शून्यवाद की सिद्धि की गई और द्वितीय विकल्प से योगाचार तथा विज्ञानवाद का जन्म हुआ।

योगाचार योग और आचार शब्द का मिश्रित रूप है। शमथ और विपश्यना को प्राप्त कराने वाले मार्ग का योग कहते हैं। और उस योग के मार्ग का आचरण 'योगाचार' है[१]। और विज्ञानवाद वह है जो सकल त्रैधातुक को चित्तमात्र अथवा विज्ञानमात्र प्रदर्शित करे। इसके पूर्व सौत्रान्तिकों ने 'सूक्ष्म विज्ञान' और प्रज्ञप्तिवादियों ने 'मूल विज्ञान' की कल्पना कर ली थी। इसके बाद तिब्बती सूत्रों का योगदान है जिनका समय ई. पू. प्रथम शताब्दी से ई. तृतीय शताब्दी तक निर्धारित किया जाता है। तिब्बती जं-यं शद्-प के सिद्धान्त के अनुसार योगाचार के तीन मूल सूत्र हैं—सन्धि निर्मोचन, लंकावतार तथा घनव्यूह। सन्धिनिर्मोचन के अनुसार भगवान् बुद्ध तीन धर्म-चक्रों के प्रवर्तक थे—(१) चतुस्सत्य धर्मचक्रप्रवर्तन जो हीनयान में प्रचलित है, (२) अलक्षणत्व धर्मचक्रप्रवर्तन जिसे प्रज्ञापारमिताओं में अभिव्यक्त किया गया है, और (३) परमार्थविनिश्चय धर्मचक्रप्रवर्तन जो उक्त सूत्रों में सन्निहित है तथा योगाचार का प्रतिपादक है। तिब्बती सूत्रों के बाद शास्त्रीय युग में योगाचार विज्ञानवाद का प्रवेश हुआ जिसे मैत्रेय, असंग और वसुबन्धु आदि आचार्यों ने पुष्पित और फलित किया। इसके बाद और भी भेद-प्रभेद दिखाई देते हैं।

मैत्रेयनाथ और असंग—योगाचार-विज्ञानवाद के प्रस्थापक के रूप में मैत्रेय नाथ का स्मरण किया जाता है। श्वां च्वांग के अनुसार मैत्रेय ने योगाचारशास्त्र,

---

१. शमथविपश्यनायुगनद्धवाही मार्गो योग इति योग लक्षणम्। शमथ इति समाधिरुच्यते। विपश्यना सम्यग्दर्शन लक्षणा। यथा युगनद्धौबलीवर्दौ वह वस्तथा यो मार्गः सम्यग्दर्शनवाही स योगः। तेनाचरतीति योगाचार उच्यते। ब्रह्मसूत्र, २. २. २८ पर भाष्य।

महायान सूत्रालंकार, मध्यन्त विभंगशास्त्र आदि ग्रन्थ असंग को पूर्ति ... लिये। अतः ये रचनायें असंग के गुरु मैत्रेयनाथ की होनी चाहिए। तारान और बु-स्तोन परम्परा के अनुसार मैत्रेय ने असंग को निम्नलिखित पांच ग्र दिये—अभिसमयालंकार, सूत्रालंकार, मध्यान्तविभंग, धर्मधर्मताविभंग त महायानोत्तरतन्त्र। मैत्रेयनाथ और असंग का समय तृतीय-चतुर्थ शता माना जाता है।

मैत्रेय के ग्रन्थ प्रज्ञापारमिताओं पर आधारित हैं। अभिसमयालंकार देखने से यह लगता है कि मैत्रेय माध्यमिक मत पर भी किञ्चित् दृष्टि रखते शायद इसीलिए उसे योगाचार-माध्यमिक-स्वातन्त्रिक कहा गया है।[१] महाया सूत्रालंकार २१ अधिकारों में विभक्त है—महायानसिद्धि, शरणगमन, गो चित्तोत्पाद, प्रतिभक्ति, तत्व, प्रभाव, परिपाक, बोधि, अधिमुक्ति, धर्मपर्ये देशना, प्रतिपत्ति, अववादानुशासन, सोपायकर्म, पारमिता, पूजा-सेवा-प्रमाए बोधिपक्ष, गुण और चर्याधिकार। उत्तरतन्त्र माध्यमिक-प्रासंगिक ग्रन्थ है इसमें बुद्ध, धर्म, संघ, गोत्र, बोधि आदि का विवेचन किया गया है। असं हरिभद्र, वसुबन्धु तथा विमुक्तिसेन ने इस पर टीकायें लिखी है। अभिसम का तात्पर्य है तत्व का संदर्शन करना—साक्षात्कार करना। यही इसव योगाचारानुसार प्रतिपाद्य विषय है। इसके अतिरिक्त असंग को प्रज्ञापारमित साधना,[२], गुह्यसमाज[३], मध्यान्तानुगमशास्त्र[४] आदि ग्रन्थों का भी प्रणेता मा गया है।

असंग मैत्रेयनाथ के शिष्य थे। मूलतः वे कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणकुली परिवार के थे। पुरुषपुर उनका मूल निवासस्थान था। उनके दो सहोदर भ थे—वसुबन्धु और विरिञ्चिवत्स। ये सभी प्रारम्भ में सर्वास्तिवादी थे, बाद असंग के प्रयत्न से वे महायान में दीक्षित हो गये। कहा जाता है कि असं ने कुक्कुटपाद पर्वत पर कठोर तपस्या कर मैत्रेयनाथ का दर्शन प्राप्त किया।

---

१. ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३१, पृ. ८३, बौद्धधर्म के विकास का इतिहा पृ. ४०७.

२. साधनमाला, भाग १, पृ. ३२१

३. गुह्यसमाजतन्त्र भूमिका—डॉ० भट्टाचार्य, पृ. XXXIV

४. तुची, जी. अभिमद्वैरसाइन्स इंडिके, II JASB, भाग, २६, १९३० पृ. १२९.

और उनके पांच ग्रन्थ भी मिले थे। बाद में असंग ने अभिधर्मसमुच्चय लिखा। तत्त्वविनिश्चय, उत्तरतन्त्र और संधिनिर्मोचनसूत्रों पर टीकायें भी लिखी। असंग की ग्रन्थ रचनाओं में महायानसम्परिग्रह, अभिधर्मसमुच्चय एवं योगाचार भूमिशास्त्र योगा- चार-विज्ञ नवाद की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं। महायान संग्रह का चीनी अनुवाद बुद्ध-शान्त ने ई. ५३१ में तथा परमार्थ ने ई. ५३३ में प्रस्तुत किया था। योगाचारभूमिशास्त्र के ५ विभाग है—बहुभूमिकवस्तु, विनिश्चयसंग्रह, वस्तुसंग्रह, पर्यायसंग्रहह् तथा विवरणसंग्रह। अभिधर्म की दृष्टि से यह ग्रन्थ मननीय है।

वसुबन्धु—वसुबन्धु असंग के अनुज थे। उनका समय ई० को पंचम शताब्दी (ई० ४२०-५००) मानी जाती है। एक अन्य परम्परा उन्हें ई० ३५० का भी बताती है। समय की तरह वसुबन्धु के दीक्षा गुरु के विषय में भा मतैक्य नहीं। बुदोन, परमार्थ और ह्यांच्वांग की परम्परायें क्रमशः संघ-भद्र, बुद्धमित्र और मनोरथ को असंग का दीक्षा गुरु बताती हैं। कहा जाता है कि बुद्धमित्र को सांख्याचार्य विन्ध्यवास ने शास्त्रार्थ में पराजित किया था। इस पराजय का प्रतिकार करने के लिए असंग ने परमार्थसप्तति नामक ग्रन्थ लिखा। जैसा हम जानते है, प्रारम्भ में वसुबन्धु सौत्रान्तिक वैभाषिक मतानुयायी थे, परन्तु बाद में असंग के अनुरोध से वे महायानी परम्परा में योगाचार-विज्ञान-वाद मे दीक्षित हो गये। अभिधर्मकोष उनकी प्रथम परम्परा का ग्रन्थ है और मध्यान्त विभागसूत्रभाष्य, त्रिस्वभावनिर्देश, विज्ञप्तिमात्रताविंशतिका, त्रिंशिका पंचस्कन्ध प्रकरण, व्याख्यायुक्ति, कर्मसिद्धिप्रकरण, सद्धर्मपुण्डरीकोपदेश, वज्रच्छे-दिका, प्रज्ञापारमिताशास्त्र तथा आर्यदेव के शतशास्त्र की व्याख्या आदि ग्रन्थ द्वितीय परम्परा से सम्बद्ध हैं।

वसुबन्धु के सभी ग्रन्थ सर्वास्तिवादी सिद्धान्तों से अप्रभावित नहीं रहे। फिर भी वे विज्ञानवाद के प्रस्थापक आचार्य कहे जा सकते हैं। विज्ञप्तिमात्रता, धर्मधातु और शून्यता समानार्थक शब्द हैं। धर्मों का विज्ञान-संसर्ग अभिधर्म का विज्ञानवाद है। यह विज्ञप्तिमात्रता नित्य है। अवतंसक, लंकावतार आदि सूत्रों में विज्ञानवाद के बीज मिलते हैं जिन्हें मैत्रेय, असंग ने पुष्पित किया है पर उन्हे फलित करने का श्रेय निश्चित ही वसुबन्धु को दिया जायगा।

वसुबंधु के प्रधान शिष्य चार थे—स्थिरमति, विमुक्तसेन, गुणप्रभ तथा दिङ्नाग। स्थिरमति ने त्रिंशिकाभाष्य, मध्यान्त विभंगसूत्रभाष्य टीका, अभिधर्मकोषव्याख्या, अभिधर्मसमुच्चय, काश्यपपरिवर्त व्याख्या तथा वसुबन्धु

की अन्य रचनाओं पर व्याख्यायें लिखी हैं। स्थिरमति के शिष्यों में पूर्णवर्धन, जिनमित्र तथा शीलेन्द्रबोधि के नाम उल्लेखनीय हैं। विमुक्तिसेन की अभिसमयालंकार पर व्याख्या प्रसिद्ध है। स्थिरमति माध्यमिक और विज्ञानवाद के मध्यगामी पथिक थे।

दिङ्नाग—वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग मध्यकालीन भारतीय तर्कशास्त्र के पिता कहे जाते हैं। वे दक्षिण के कांजीपुरम् के समीपवर्ती सिंहवक्त्र ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे। उनका समय ई. ४४५ से ५७५ के बीच रखा जा सकता है। उनके प्रमुख ग्रन्थ ये हैं—अभिधर्मकोषमर्मप्रदीप, अष्टसहस्रिका-पिण्डार्थ, त्रिकाल परीक्षा, आलम्बन परीक्षा, हेतुचक्रसमर्थन, न्यायमुख, प्रमाण-समुच्चय आदि। इनमें प्रमाणसमुच्चय सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त दार्शनिक ग्रन्थ माना गया है। दिङ्नाग के योगदान को हम निम्न विशेषताओं में देख सकते है।

(१) ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का त्रिविध भेद।

(२) सभी (प्रमाणों का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष एवं अनुमान) में किया जाना।

(३) पञ्च अवयवों प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण उपनय तथा निगमन में अन्तिम दो अवयवों को निरर्थक सिद्ध करना। उन्होंने अनुमान को अधिक महत्त्व दिया।

ईश्वरसेन और **शंकरस्वामी**—दिङ्नाग के शिष्यों में ईश्वरसेन और शंकर स्वामी प्रधान शिष्य थे। शंकर स्वामी ने हेतुविद्या न्यायशास्त्र और न्याय-प्रवेशतर्कशास्त्र नामक दो ग्रन्थों की रचना की। चीनी भाषा में उनका अनुवाद भी हुआ है।

धर्मपाल—वसुबन्धु के शिष्य थे। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं —आलम्बन प्रत्यय-ध्यान शास्त्रव्याख्या, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिव्याख्या, और शतशास्त्रव्याख्या। उनका समय सप्तम शती है।

धर्मकीर्ति—बौद्धन्याय को समालोकित करने का श्रेय धर्मकीर्ति को है। उनकी अगाध विद्वत्ता और तीक्ष्ण तर्कशीलता स्पृहणीय है। उनका जन्म दक्षिणवर्ती त्रिमलय में हुआ था। पिता का नाम कोरुनन्द था।[1] वे धर्मपाल के शिष्य थे। धर्मपाल ई० ६४२ तक रहे अतः धर्मकीर्ति का समय सप्तम शताब्दी माना जाना चाहिए। डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने यह समय ई० ६२६–

---

१. सिद्धिविनिश्चय टीका, भाग १, पृ. ५४; दर्शन दिग्दर्शन, पृ. ७४१.

६८५ तक रखा है।[1] धर्मकीर्ति के प्रधान ग्रंथ हैं—प्रमाणवार्तिक (स्ववृत्ति सहित), न्यायबिंदु, प्रमाणविनिश्चय, संतानांतरसिद्धि, वादन्याय, हेतुबिन्दु, सम्बंधपरीक्षा एवं चोदना प्रकरण। इन ग्रंथों में प्रमाणवार्तिक अधिक अध्ययन का विषय बना। इस पर देवेन्द्रबुद्धि, शाक्यबुद्धि, धर्मोत्तर, आनंदवर्धन ज्ञानश्री, प्रज्ञाकरगुप्त आदि आचार्यों ने टीकायें लिखीं हैं।

धर्मकीर्ति का प्रभाव जैनाचार्य अकलंक पर अधिक पड़ा। उन्होंने धर्मकीर्ति के ग्रन्थों का उद्धरण देते हुए उनका तर्कपूर्वक खण्डन किया। उद्योतकर आदि आचार्यों की भी आलोचना के वे पात्र बने। विज्ञप्ति मात्रता को उन्होंने और भी व्यवस्थित किया। प्रमाण लक्षण में अभ्रान्त पद का सन्निवेश किया। स्वसंवेदन का समर्थन किया।[2] बौद्धदर्शन में उनका यह योगदान नितान्त मौलिक था।

प्रज्ञाकरगुप्त—आचार्य प्रज्ञाकरगुप्त का समय अष्टम शताब्दी का प्रथम चरण माना जाना चाहिए। विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द, वादिराज, वादिदेव सूरि आदि जैनाचार्यो ने प्रज्ञाकरगुप्त को उद्धृत किया है। वे धर्मकीर्ति के उत्तरवर्ती काल के समकालीन आचार्य थे। अकलंक ने भी उनके ग्रन्थों का आलोडन किया था। प्रमाणवार्तिकालङ्कार प्रज्ञाकरगुप्त का प्रधान ग्रन्थ है। विनीतदेव प्रज्ञाकरगुप्त के शिष्य माने जाते हैं। बुदोन परम्परानुसार विनीतदेव के ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—समयभेदोपरचनाचक्र, न्यायबिन्दुटीका, हेतुबिन्दुटीका, वादन्याय व्याख्या, सम्बन्धपरीक्षा टीका, आलम्बनपरीक्षा टीका और सन्तानान्तरसिद्धिटीका। यमारि (नवमी शताब्दी) की प्रमाणवार्तिकालंकारटीका भी यहां उल्लेखनीय है।

इनके अतिरिक्त कुछ आचार्य और उनके ग्रन्थ और उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ देवेन्द्रबुद्धि अथवा देवेन्द्रमति (सप्तम-अष्टम शताब्दी) की प्रमाणवार्तिकटीका, शंकरानन्द की प्रतिबन्धसिद्धि, अपोहसिद्धि, सम्बन्धपरीक्षानुसार और प्रमाणवार्तिकटीका, जिनेन्द्र बुद्धि अथवा जितेन्द्रबोधि की प्रमाणसमुच्चयटीका, कल्याणरक्षित (अष्टम–नवम शताब्दी) का अन्यापोहसिद्धि, ईश्वरभङ्गकारिका, सर्वज्ञसिद्धिकारिका, श्रुतिपरीक्षाकारिका और बाह्यार्थ सिद्धिकारिका, रविगुप्त (अष्टम शताब्दी) की प्रमाणवार्तिकवृत्ति, अर्चट (धर्माकरदत्त) (अष्टम शताब्दी प्रथम चरण) की हेतुबिन्दुटीका, क्षणभङ्गसिद्धि, और प्रमाण-

---

१. सिद्धिविनिश्चय टीका, भाग १, भूमिका पृ. २७.

२. वही, पृ. २७-८

द्वैतसिद्धि, शान्तभद्र (७२५ ई.) की *न्यायबिन्दुटीका*, दुर्वेकमिश्र की न्याय-बिन्दुटीका टिप्पण, कर्णकगोमिन् (अष्टम सदी का प्रथम चरण) की प्रमाण-वार्तिक वृत्ति, धर्मोत्तर (सप्तम सदी का अन्तिम चरण) की प्रमाण परीक्षा, अपोहप्रकरण, परलोकसिद्धि और क्षणभङ्गसिद्धि, हरिभद्र (दशम सदी) का अभिसमयालङ्कारालोक, प्रज्ञापारमिताटीका आदि। इन ग्रन्थों और उनके प्रणेताओं के योगदान ने विज्ञानवादीय शाखा को अत्यन्त समृद्ध किया है। दार्शनिक सिद्धान्तों के विकास की दृष्टि से भी ये बहुत महत्वपूर्ण हैं। जैन और जैनेतर आचार्यों पर भी इनका प्रभाव दिखाई देता है। उसका अध्ययन अपेक्षित है।

शून्यवाद अथवा माध्यमिक साहित्य

माध्यमिक सम्प्रदाय की विशेषता है कि वह हीनयान द्वारा मान्य सत् और असत् के बाद एक अनिर्वचनीय तत्व को भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार समस्त पदार्थ जगत् स्वभावतः शून्य है। जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस सिद्धान्त को बौद्ध साहित्य में पुद्गलनैरात्म्य, धर्मनैरात्म्य अथवा स्वभावशून्यता कहा जाता है। प्रज्ञापारमितासूत्रों का यही अभिधेय है। इसे बोधिसत्त्व सिद्धान्त भी कहा जाता था।

नागार्जुन—नागार्जुन शून्यवाद-माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रस्थापक और व्यवस्थापक आचार्य थे। उनका जन्म-स्थान कुमारजीव (ई० ४०५) के अनुसार विदर्भ और युआन-च्वांग के अनुसार दक्षिण कोल था। चीनी परम्परा, महामेघसूत्र और बुदोन परम्परा में नागार्जुन का जन्म क्रमशः बुद्ध परिनिर्वाण के ७००, ४०० और ४०० वर्ष बाद हुआ। आचार्य जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न थे। दाक्षिणात्य ब्राह्मण होने के कारण वे वेदों के मार्मिक अध्येता तो थे ही, साथ ही कालान्तर में बौद्धभिक्षु बनने पर उन्होंने तीन माह में ही समूचा त्रिपिटक हृदयस्थ कर लिया था। एक कुशल चिकित्सक और रसायनशास्त्रज्ञ होने के कारण बौद्धधर्म के मर्म को समझने में उन्हें द्रविड़-प्राणायाम नहीं करना पड़ा। विद्याधारी होने से उन्हें महायान सूत्र उपलब्ध हुआ। उनकी शायद यही शून्यवाद की प्रस्थापना की भूमिका होगी।

नागार्जुन का कार्यक्षेत्र दक्षिण भारत अधिक रहा है। धान्यकटक-श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंड, गुन्टुर) उनकी प्रचार-भूमि रही है। इनके समय के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं। तारानाथ के अनुसार वे कनिष्क के समकालीन थे। तिब्बती परम्परा इनका समय २१२–४८२ ई० मानती है। परन्तु उनकी

समसामयिकता यशश्री गौतमीपुत्र (१६६–१९६ ई०) के साथ अधिक युक्तिसंगत है। सातवाहन राजाओं का भी नागार्जुन के साहित्य में उल्लेख मिलता है। अतः उनका समय द्वितीय-तृतीय शताब्दी माना जा सकता है। प्रभावाधिक्य और लोकप्रियता होने के कारण ही शायद नागार्जुन का जीवनकाल विभिन्न परम्पराओं में ३०० और ६०० वर्षों तक रहा हो। समस्त परम्पराओं के देखने से यह स्पष्ट है कि नागार्जुन का जीवन महायान के 'आतिरेक्य' वैशिष्ट्य से आपूर है। तान्त्रिक आचार्यों के रूप में भी वे प्रसिद्ध हैं। सत्य है कि वे बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी आचार्य थे।

नागार्जुन एक कुशल लेखक और विद्वज्जनप्रेमी व्यक्ति थे। आर्यदेव को शिष्यत्व प्रदान करने के लिए उनकी परीक्षा का प्रकार बेजोड़ था। नागार्जुन के लगभग २० ग्रन्थों में उस व्यक्तित्व की विद्वत्ता और गहन तर्कप्रवीणता द्रष्टव्य है। चीनी अनुवाद में उनके २० ग्रन्थ सुरक्षित हैं। बुनियो नांजियो ने कुछ ग्रन्थों का उल्लेख किया है—माध्यमिक कारिका (माध्यमिक शास्त्र), दशभूमिविभाषाशास्त्र, महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, उपायकौशल्य, प्रमाणविध्वंसन, विग्रहव्यावर्तनी, चतुःस्तव, युक्तिषष्टिका, शून्यता सप्तति, प्रतीत्यसमुत्पाद हृदय, महायानविंशक और सुहृल्लेख। प्रायः इन सभी ग्रन्थों पर चीनी अनुवाद उपलब्ध होता है। ये सभी रचनायें शून्यतावाद की प्रतिष्ठापना में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है। इनमें मुख्य रचनायें है—महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, माध्यमिककारिका और विग्रहव्यावर्तनी। यहाँ संवृतिसत्य और परमार्थसत्य के आधार पर जगत को शून्यात्मक बताने का सफल प्रयत्न किया है।

नागार्जुन का नाम चौरासी सिद्धों में गिना जाता है। महा० राहुल सांकृत्यायन ने उन्हें सोलहवां सिद्ध कहा है और काञ्ची का ब्राह्मण तथा सरहपाद का शिष्य बताया है। ब्लू एनल्स में उन्हें दक्षिण में गुह्यसमाज का संस्थापक माना गया है (२, पृ. ७५३)। कुमारजीव ने चीनी भाषा में ई० ४०५ में नागार्जुन की जीवनी का अनुवाद किया है। अतएव नागार्जुन का समय इसके पूर्व ही माना जाना चाहिए। इस दृष्टि से चौरासी सिद्धों में उल्लिखित नागार्जुन कोई और ही होंगे।

आर्यदेव और उनके ग्रन्थ

आचार्य आर्यदेव शून्यवाद के अन्यतम आचार्य हैं। उनके विषय में देश देशान्तरों में अनेक परम्परायें प्रसिद्ध हैं। बुदोन परम्परा के अनुसार आर्यदेव का जन्म सिंहल में हुआ था। चन्द्रकीर्ति की भी यही मान्यता है। तत्कालीन

राजा के सान्निध्य में आर्यदेव तरुण हुए, प्रव्रजित हुए और वहीं से दक्षिण भारत में आकर नागार्जुन से दीक्षा ग्रहण की। इस प्रसंग में एक घटना उल्लेख-नीय है। कहा जाता है कि नागार्जुन ने शिष्यत्व दीक्षा देने के पूर्व आर्यदेव की परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने आर्यदेव के समक्ष आपूर जलपात्र भेजा। आर्यदेव ने उसमें सूचिका (सुई) डालकर उसे वापिस कर दिया। आपूर जलपात्र नागा-र्जुन के ज्ञानोदधि का प्रतीक है और सूचिका-भेद आर्यदेव द्वारा उसमें किये गये अवगाहन का द्योतक है। यह प्रतीकात्मक पद्धति दोनों आचार्यों के व्यक्तित्व का सदर्शन है।

इसी प्रकार एक अन्य घटना विश्रुत है। दक्षिण में आर्यदेव के समय में महेश्वर की एक रमणीक स्वर्ण-प्रतिमा थी। उसके विषय में यह जनश्रुति थी कि उसके समक्ष अभिव्यक्त कामना फलदायी होती थी। इस जनश्रुति को मात्र वञ्चक सिद्ध करने के उद्देश्य से उन्होंने उसका एक नेत्र भंग कर दिया और अहंकाराभाव की अभिव्यक्ति की दृष्टि से स्वतः अपना नेत्र भी विनष्ट कर लिया। इसी घटना से सम्बद्ध एक अन्य परम्परा भी प्रसिद्ध है। बुदोन के अनुसार आर्यदेव नालन्दा गये। वहां मातृचेट नामक माहेश्वर से शास्त्रार्थ किया और सद्धर्म की रक्षा की। श्रीपर्वत से नालन्दा जाते हुए आर्यदेव ने वृक्ष-देवता को अपना एक नेत्र समर्पित कर दिया। एक नेत्र न होने कारण उन्हें 'काणदेव' कहा जाता था।

कहा जाता है कि नेत्र-विहीन होने पर भी वे सहस्रनेत्रवान् से अधिक ज्ञानी थे। ह्वां-च्वांग के अनुसार परवर्ती बौद्धधर्म में नागार्जुन, अश्वघोष, आर्यदेव और कुमारलब्ध अथवा कुमारलात ऐसे चार प्रतिभाशील आचार्य हुए है जिन्हे "संसार को आलोकित करने वाले चार सूर्य" कहा जा सकता है। आर्यदेव निश्चित ही कुशल तार्किक और प्रतिभा सम्पन्न आचार्य थे। चतुःशतक आदि ग्रन्थों में उनकी विद्वत्ता का दर्शन होता ही है।

आर्यदेव नागार्जुन के प्रधान शिष्य थे। पीछे हम आचार्य नागार्जुन का समय चतुर्थ शताब्दी के पूर्व निश्चित कर चुके है। आर्यदेव नागार्जुन के साक्षात् शिष्य थे। अतः उनका समय भी लगभग यही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ और प्रमाण इसके पक्ष में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

१—तारानाथ, सुम्पा, ब्लू एनल्स एवं चतुरशीतिसिद्धप्रवृत्ति ने चौरासी सिद्धों का विवरण प्रस्तुत किया है। उसमें नागार्जुन को सोलहवां और आर्य-देव (कर्णरिपा) को अठारहवां सिद्ध बताया है। साधारणतः इन सिद्धों का काल ८ से १२वीं शताब्दी माना जाता है। परन्तु इस प्रकार समय का निर्धारण

सम्भव नहीं। यह अधिक सम्भव है कि परवर्ती बौद्ध साहित्य और दर्शन के विकास में जिन आचार्यों का योगदान अधिकाधिक हुआ होगा उनकी गणना सिद्धों में कर ली गई होगी। अतएव चौरासी सिद्धों की रचना एक समूचे विकास का परिणाम है, एक काल का नहीं। नागार्जुन और आर्यदेव की जीवनियों का अनुवाद कुमारजीव ने ई० ४०५ में किया है। अतएव इनका समय तृतीय शताब्दी का द्वितीय-तृतीय चरण होना चाहिए।

२—आर्यदेव के चतुःशतक को देखने से यह स्पष्ट है कि उसकी भाषा और शैली उपरोक्त काल से उत्तरवर्ती नहीं। भाषा की सरलता और सहजता ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों की विशेषता है। यह विशेषता यहां द्रष्टव्य है।

३—सांख्य, जैनादि दर्शनों की खण्डन परम्परा में आर्यदेव का योगदान भी उक्त काल के बाद का नहीं दिखाई देता है।

इन सभी कारणों से आर्यदेव को तृतीय शताब्दी का दार्शनिक माना जाना चाहिए। डॉ० लालमणि जोशी ने उनको आठवीं शताब्दी का दार्शनिक स्वीकार किया है।[1] परन्तु उक्त तर्कों के आधार पर उनका मत तर्क संगत नहीं लगता। और न ही चौरासी सिद्धों के आर्यदेव और चतुःशतक के लेखक आर्यदेव के बीच अपृथगत्व दिखाई देता है।

आर्यदेव के नाम पर अनेक ग्रन्थों का उल्लेख आया है—माध्यमिक चतुःशतिका, माध्यमिक हस्तबालप्रकरण, स्खलितप्रमथन युक्तिहेतुसिद्धि तथा ज्ञानसारसमुच्चय। डॉ० हरप्रसादशास्त्री ने नेपाल से आर्यदेव के एक अन्य ग्रन्थ की खोज की है। चूंकि इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में लेखक का नामोल्लेख नहीं है फिर भी उन्होंने उसे आर्यदेव का ग्रन्थ माना है। उनके मतानुसार, ऐसा लगता है, वे शून्यवादी आर्यदेव एवं तान्त्रिक आर्यदेव को अपृथक् मानते हैं[2]। परन्तु यह उचित नहीं। नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव को तान्त्रिक आर्यदेव से नितांत भिन्न होना चाहिए। शून्यवादी आर्यदेव के चतुःशतक, चित्तविशुद्धिप्रकरण तथा हस्तबालप्रकरण नाम के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। अन्तिम दो ग्रन्थों के विषय में मतैक्य नहीं, परन्तु हमारे मत से उनका लेखक नागार्जुन का शिष्य आर्यदेव ही होना चाहिए। चतुःशतक को बोधिसत्व योगाचारशास्त्र भी कहा गया है। जो इस बात का सूचक है कि यह ग्रन्थ बोधिसत्व सिद्धान्त और शून्यतावाद के बीच समन्वय-प्रस्थापन की मृदु भूमिका रही है।

---

१. स्टडीज इन दी बुद्धिस्ट कल्चर आफ इन्डिया, पृ० ३३६

२. बौद्धगान ओ दोहा

(१) चतुःशतक—जैसा ग्रन्थनाम से स्पष्ट है, इसमें चार सौ कारिकायें हैं जो सोलह प्रकरणों में विभाजित की गई हैं। प्रत्येक प्रकरण पच्चीस कारिकाओं का है। ग्रन्थ के दो भाग हैं। स्वमतस्थापन एवं परमतखण्डन। दोनों भागों में आठ-आठ प्रकरण संनियोजित हैं। इन प्रकरणों परचन्द्रकीर्त्ति की व्याख्या भी उपलब्ध है। व्याख्या सहित अष्टम प्रकरण से सोलहवें प्रकरण तक के भाग का सम्पादन महा० डॉ० विधुशेखर भट्टाचार्य ने द्वितीय भाग के रूप में किया था जो १९३१ में विश्व भारती से प्रकाशित हुआ था। इसके पूर्व डॉ० परशुराम वैद्य एवं महा० हरप्रसाद शास्त्री ने भी इसी ग्रन्थ पर कार्य किया था। चतुःशतक के सोलह प्रकरणों के नाम एवं विषय इस प्रकार हैं—१. नित्यग्राहप्रहाणोपाय-सन्दर्शन, २. सुखग्राहप्रहाणोपाय; ३. शुचिग्राहप्रहाणोपाय; ४. आत्मग्राह अथवा अहंकारप्रहाणोपाय; ५. बोधिसत्वचर्या; ६. क्लेशप्रहाणोपाय; ७. मनुमेष्टिसंभोग-विनिवेषप्रहोणोपाय; ८. शिष्यचर्या; ९. नित्यार्थप्रतिषेधभावनासन्दर्शन; १०. आत्म-प्रतिषेध भावना; ११. कालप्रतिषेधभावना; १२. दृष्टिप्रतिषेधभावना; १३. इन्द्रि-यार्थप्रतिषेधभावना; १४. अन्तग्राहप्रतिषेधभावना; १५. संस्कृतार्थप्रतिषेधभावना, एवं १६. गुरुशिष्यविनिश्चय भावना संदर्शन। उत्तर भाग पर धर्मपाल ने भी व्याख्या लखी थी। उसके अनुसार चतुःशतक के विषय को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—धर्मशासन एवं विग्रहशतक। धर्मदास ने प्रत्येक कारिका के साथ दृष्टान्तों का संयोजन किया था।

(२) हस्तवालप्रकरण अथवा मुष्टिप्रकरण

बुनियों नान्जियों की सूची Catalogue of the chinese Translation of the Buddhist Tripitaka) में एक प्रति का उल्लेख है जिसका नाम है मुष्टिप्रकरण (?) शास्त्र (तालान्तरक शास्त्र)। इसका अंग्रेजी में अनुवाद "Shastra on the explanation of the first" नामक शीर्षक से किया गया है। इसे चीनी साहित्य में दिग्नाग (Gina) का कार्य बताया गया है और तिब्बती साहित्य में आर्यदेव का। Sir M.A. stein के द्वारा Tun-huang से लायी गई प्रतियों में इस ग्रन्थ की भी तीन प्रतियाँ थीं जिन्हें आर्यदेव द्वारा रचित बताया गया है। चीनी प्रतियां परमार्थ (५५७–५६९ ई०) और ईत्सिंग (७०३ ई०) के समय की हैं। दोनों प्रतियों के अध्ययन से लगता है कि चीनी प्रतियों में उल्लिखित दिङ्नाग शायद व्याख्याकार रहा

होगा।[1] इस ग्रन्थ में कुल छ: कारिकायें हैं। प्रथम पांच कारिकाओं में संसार के मायावी स्वरूप का वर्णन और अन्तिम कारिका में परमार्थ का निरूपण है।

(३) चित्तविशुद्धिप्रकरण

इस ग्रन्थ में वैदिक क्रियाकाण्ड का विरोध किया गया है और तान्त्रिक बातों की प्रस्थापना की गई है। इसमें वार और राशियों के भी नाम मिलते हैं। इन आधारों पर कुछ विद्वान उसे आर्यदेव का ग्रन्थ नहीं मानते। परन्तु यह ठीक नहीं। चतुःशतक में भी ये बातें किसी सीमा तक प्राप्त होती हैं। अतः यह ग्रन्थ चतुःशतक के लेखक आर्यदेव का ही होना चाहिए। बुस्तोन ने इसे "चित्तावरणविशोधन" नाम से उल्लिखित किया है।[2]

प्रासंगिक और स्वातन्त्रिक शाखायें

नागार्जुन और आर्यदेव के प्रबल तर्कों से शून्यवाद की स्थापना हो चुकी थी फिर भी इसका विषय जनसाधारण को हृदयग्राह्य नहीं था। लगभग पञ्चम-षष्ठ शताब्दी में माध्यमिक सम्प्रदाय में मतभेद हुआ और फलतः प्रासङ्गिक और स्वातन्त्रिक शाखाओं का जन्म हुआ। बुद्धपालित और भावविवेक इन दोनों शाखाओं के क्रमशः संस्थापक माने गये हैं।

प्रासङ्गिक मत के अनुसार सभी पदार्थ स्वभावतः शून्य हैं। वहाँ दृष्टान्त का कोई तात्पर्य नहीं, तथा अनुमान का कोई अर्थ नहीं। अतः स्वभावशून्यता के सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है। चन्द्रकीर्ति संवृत्ति सत्य को लोकसंवृति और अलोकसंवृति के भेद से दो प्रकार का मानते हैं। प्रासंगिकमत की दृष्टि में प्रमाण-प्रमेय व्यवहार संवृतिसत्य है परन्तु सापेक्षता के कारण वह स्वभावशून्य है। इस सिद्धान्त के विरोध में अनेक तर्क प्रस्तुत किये गये जिनके समाधान के लिए स्वातन्त्रिक शाखा की स्थापना हुई। यह शाखा विज्ञानवाद से प्रभावित थी। इसमें परमार्थ पर विशेष ध्यान दिया गया। उसके दो भेद माने गये— पर्याय परमार्थ (अभिसंस्कृत) और अपर्याय परमार्थ (अनभिसंस्कृत)। संवृति के भी तथ्यसंवृति और मिथ्यासंवृति के भेद से दो भेद कर दिये गये। ज्ञान भी परोक्ष और अपरोक्ष है। अपरोक्षज्ञान के माध्यम से ही परमार्थ का

---

१. थामस, एफ. डब्ल्यू. दी हेन्ड ट्रीटाईज, ए वर्क आफ आर्यदेव J.RAS. (१९१८), पृ. २६७।

२. शास्त्री, हरप्रसाद, J.A.S.B. (१८९८) पृ. १७५

साक्षात्कार करना सम्भव होता है। थ्रून-स्वांग ने स्वातन्त्रिकों पर सांख्य का प्रभाव माना और तिब्बती आचार्यों ने उन्हें माध्यमिक सौत्रान्तिक कह दिया।[1]

बुद्धपालित के विषय में हमें अधिक ज्ञात नहीं। उन्होंने लगभग पञ्चम शताब्दी में नागार्जुन की माध्यमिक कारिका पर एक वृत्ति लिखी थी जो तिब्बती साहित्य में उपलब्ध है। उन्होंने चन्द्रकीर्ति के सप्तम शती की प्रथम-द्वितीय चरण में माध्यमिक कारिका पर 'प्रसन्नपदा' नाम की वृत्ति लिखी। उनके माध्यमिकावतार और चतुःशतक वृत्ति ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। बुद्धपालित ने भावविवेक को खण्डित करने का यथाशक्य प्रयत्न किया। नागार्जुन के ये सफल व्याख्याकार सिद्ध हुए। **चन्द्रकीर्ति** धर्मपाल के शिष्य थे तथा भव्य और कमलसिद्धि के सान्निध्य में उन्होंने नागार्जुन का अध्ययन किया था। बुदोन परम्परा उन्हे दक्षिणवासी तथा अलौकिक शक्तियों का पुञ्ज मानती है। चित्रलिखित गाय का दोहन और बिना स्पर्श किये पाषाण को स्वर्ण बना देना उनकी शक्तियों के विशेष रूप हैं। नागार्जुन, आर्यदेव, बुद्धपालित और चन्द्रकीर्ति प्रासंगिक सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य थे। इस सम्प्रदाय को "लोकप्रसिद्धि वर्गचारि माध्यमिक" भी कहा गया है।

स्वातन्त्रिक शाखा के प्रधान आचार्य है **भव्य** अथवा **भावविवेक**। उन्होंने बुद्धपालित के सिद्धांतों का सूक्ष्म तर्कों से खण्डनकरने का प्रयत्न किया। ये धर्मपाल के समसामयिक और शीलभद्र के आचार्य हैं। अतः उनका समय छठी शताब्दी माना जा सकता है। महायान करतल रत्नशास्त्र, माध्यमिक हृदयकारिका, मध्यमार्थ संग्रह, तथा माध्यमिक कारिकाओं पर प्रज्ञाप्रदीप नाम की उनकी वृत्ति मिलती है। भावविवेक के बाद ज्ञानगर्भ ने माध्यमिक सत्यद्वय अथवा सत्यद्वयविभंग नामक ग्रन्थ लिखा। बुदोन परम्परा भावविवेक को योगाचार माध्यमिक सम्प्रदाय का आचार्य मानती है। तदनन्तर अवलोकित ने माध्यमिकशास्त्र पर भव्य द्वारा लिखित टीका पर प्रज्ञाप्रदीपटीका नामक अनुटीका लिखी। ज्ञानगर्भ और अवलोकित का समय आठवीं शताब्दी होना चाहिए।

शांतिदेव—शून्यतावाद के अन्यतम मूर्धन्य समर्थक आचार्य शान्तिदेव का समय सप्तम शताब्दी माना जाता है। तारानाथ के अनुसार सौराष्ट्र में उनका जन्म हुआ था। वे श्रीहर्ष के पुत्र शील के समसामयिक थे। धर्मपाल के वे शिष्य थे। बुदोन परम्परा में भिक्षु होने के पूर्व उन्हें शांतिवर्मन् कहा जाता

---

१. जोशी, लालमणि, स्टडीज इन दी बुद्धिस्ट कल्चर आफ इण्डिया, पृ. २२१।

था। सौराष्ट्र के कल्याणवर्मन् के वे सुपुत्र थे। दक्षिण भारत भी उनका कार्य-क्षेत्र रहा है। मञ्जुश्री उनके आराध्यदेव थे। बुदोन और सुम्पाखान्यो परम्परायें शान्तिदेव को एवं भू-शू-कू को एक ही व्यक्तित्व मानती हैं। उन्होंने शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चय और बोधिचर्यावतार ग्रन्थों का निर्माण किया। कुछ तन्त्रग्रंथ भी उनके नाम पर है। डॉ० हरप्रसाद शास्त्री भी भू-शू-कू को शान्तिदेव ही मानते है। शान्तिदेव का शिक्षा समुच्चय और बोधिचर्यावतार माध्यमिक सम्प्रदाय के अमूल्य ग्रन्थ हैं।

प्रज्ञाकरमति (सातवीं-आठवीं शताब्दी) ने शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार पर पञ्जिका लिखी। शिक्षा समुच्चय में उल्लिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त इसमें अनेक ग्रन्थों और आचार्यों के नामों का उल्लेख है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण है। शील भद्र (सातवीं शताब्दी) ने आर्यबुद्धभूमी व्याख्यान नामक ग्रन्थ लिखा जो तिब्बती भाषा में सुरक्षित है। सिंहरश्मि (षट्शास्त्र और प्रज्ञामूलशास्त्र के रचयिता) जयसेन, प्रज्ञागुप्त, भर्तृहरि (?) चन्द्र, चन्द्रगोमिन आदि आचार्यों का भी योगदान अविस्मरणीय है।

शान्तरक्षित का समय अष्टम शताब्दी माना जाता है। वे नालन्दा विद्या-पीठ के अधिष्ठाता और बौद्धदर्शन के प्रमुख व्याख्याता रहे। उनका तत्वसंग्रह नाम का संस्कृत मे लिखित ग्रन्थ सर्वत्र विश्रुत है। वेदान्त, सांख्य, जैन, वैशेषिक आदि सभी दर्शनों की समालोचना इस ग्रन्थ में की गई है। बौद्धदर्शन का यह महनीय ग्रन्थ है। तारानाथ के अनुसार शान्तरक्षित के अन्य ग्रन्थ हैं—मध्यमिकालङ्कारकारिकावृत्ति, वादन्यायवृत्तिविपञ्चितार्थ, हेतुचक्रडमरु, तत्व-सिद्धि आदि।

शान्तरक्षित की कृपा से कमलशील को तिब्बत पहुँचने का निमन्त्रण मिला। वहां उन्होंने नागार्जुन-दर्शन का प्रचार-प्रसार किया। कहा जाता है कि उनके व्यक्तित्व से ईर्ष्या करने वाले कुछ लोगों ने उनकी जीवन लीला को समाप्त कर दिया। उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं—तत्वसंग्रह पञ्जिका, न्यायबिन्दुपूर्वपक्षसंक्षेप, माध्यमिकालोक और भावनाक्रम। उन्हे आर्यसप्तशतिका प्रज्ञापारमिता टीका, आर्यवज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-टीका, प्रज्ञापारमिता हृदयनामटीका, दाकिनीवज्रगुह्यगीतिनाम महोपदेश एवं महामुद्रोपदेश वज्रगुह्यगीति नामक ग्रन्थों के भी लेखक के रूप मे तिब्बती परम्परा में स्मरण किया जाते हैं। शान्तरक्षित और कमलशील के ग्रन्थो में माध्यमिक योगाचार के और तत्व उपलब्ध होते हैं। इस दृष्टि से शान्तरक्षित का महत्व और अधिक सिद्ध हो जाता है।

तान्त्रिक बौद्ध साहित्य

तन्त्र शब्द की निष्पत्ति तन् धातु से विस्तार अर्थ में हुई है। कालान्तर में इसी शब्द का प्रयोग बुनने के अर्थ में होने लगा। प्रतीकात्मक रूप से पुस्तक अथवा संग्रह के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। बाद में इस शब्द का प्रवेश आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हुआ। अध्यात्म मानवीय और ईश्वरीय शक्ति से सम्बद्ध रहता है। मानव ईश्वरीय कृपा-प्राप्ति के उद्देश्य से इष्टदेव की विविध उपासना करता है। शक्ति विशेष को समन्वित करने के लिए उपासना की पद्धतियों में क्रमिक विकास होता जाता है। इस सन्दर्भ में ज्ञान की अपेक्षा क्रिया का महत्व अधिक बढ़ जाता है।

शक्ति की उपासना व्यक्ति की दुर्बलता की अनुभूति पर निर्भर करती है। उपासना दुर्बलताजन्य भावों को उद्दीप्त करने का मात्र आयाम है। सब कुछ होते हुए भी व्यक्ति स्वयं को ईश्वर विशेष से हीन समझता है। फलत: उसकी उपासनाकर वह अपनी विपत्तियों को दूर करने का प्रयत्न करता है। तन्त्र का जन्म यहीं होता है। सिन्धु सभ्यता के उत्खनन मे मातृशक्ति का दर्शन, वैदिक साहित्य में ऋचायें और स्तोत्र, गीता-मनुस्मृति का जप-तप तथा योग एवं उपनिषद्, संहिता आदि की मन्त्रात्मक प्रवृति, जैन एवं बौद्ध संस्कृति के विविध स्तोत्र और मन्त्रप्रकार मानवीय प्रवृत्ति को प्रस्तुत करने के उत्तम उदाहरण है। उपासना का सम्बन्ध कर्मों की निर्जरा करने से है। अतः तन्त्र का उपयोग कर्म के कठोर जाल से मुक्त होने के लिए किया गया। इस प्रक्रिया के मुख्य लक्षण है—ज्ञान और कर्म का समुच्चय, शक्ति की उपासना, प्रतीकप्राचुर्य, गोपनीयता, अलौकिक सिद्धि चमत्कार, गुरु का महत्व, मुद्रा-मण्डल-यन्त्र-मन्त्र आदि का प्रयोग, सांसारिक भोगों का सम्मान एवं उनका आध्यात्मिक उपयोग[1]।

बौद्धधर्म में तन्त्र की यह समूची पृष्ठभूमि उपलब्ध होती है। वहां मूलरूप में चेतसिक क्रियाओं का अभियोग स्मृति और साधना के सन्दर्भ में दिखाई देता है। तन्त्र का विकास होने पर उसे प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध करने की दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ हुए। फलतः सेकोद्देसटीका (पृ. ३-४) में कालचक्र-

---

१. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ४५७.

तन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में मन्त्रयान को दीपंकर बुद्ध द्वारा सञ्चालित, माना । बाद में शाक्य मुनि गौतम बुद्ध ने उसे स्वीकार कर धान्यकटक पर्वत पर मन्त्र-यान का उपदेश दिया । तिब्बती परम्परा भी इसे स्वीकार करती है । उसमें भगवान् बुद्ध के तीन धर्मचक्रप्रवर्तनों का उल्लेख हुआ है—ऋषिपतन, गृध्रकूट और धान्यपिटक । इसी प्रकार की अन्य परम्परायें भी मिलती हैं । यथा—साधनमाला में यह कहा गया है कि जांगुलि का साधन बुद्ध द्वारा किया गया,तथा वज्रसरस्वती का साधन बुद्ध के अनुसार कराया गया । ये सभी परम्परायें इतिहास संगत नहीं मानी जा सकतीं । भगवान् बुद्ध ने इस प्रकार के साधन कभी नहीं अपनाये । आटानाटीयसुत्त जैसे कुछ सुत्त अवश्य त्रिपिटक में उपलब्ध होते हैं परन्तु उन्हें या तो प्रक्षिप्त माना जाना चाहिए अथवा अधिक से अधिक हम उन सुत्तों में तन्त्रयान के बीज पाने का उपक्रम कर सकते हैं ।

तन्त्रयान का वास्तविक प्रारम्भ महासांघिक सम्प्रदाय से हुआ है । उसमें एक पृथक् रूप से निबद्ध 'धारणीपिटक' इस बात का प्रमाण है कि तन्त्र-परम्परा महासांघिक सम्प्रदाय में अधिक लोकप्रिय थी । ललितविस्तार, समाधिराज, लंकावतार आदि सूत्रों में भी यह परम्परा दिखाई देती है । आन्ध्रक, वैतुल्यक आदि शाखाओं में 'मिथुन' को अध्यात्म से सम्बद्ध किया गया है । करण्डव्यूह में एक धारणी बुद्ध के विषय में भी निबद्ध की गई है । अष्टसाहस्रिक प्रज्ञापारमिता, प्रज्ञापारमिताहृदय, प्रज्ञापारमिता एकाक्षरी आदि ग्रन्थ भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं !

प्रज्ञापारमिता एक देवी का रूप माना गया । नाग, यक्ष, गन्धर्व आदि के समान प्रज्ञा की भी उपासना की जाने लगी । नागार्जुन के धर्मसंग्रह में पांच बुद्ध, चार देवियां, अठारह लोकपाल और छः योगिनियों के नाम मिलते हैं । सुखावती व्यूह में अमिताभ और अमितायु का उल्लेख मिलता है । करण्डव्यूह में उन्हें महेश्वर कहा है । स्वर्णप्रभास में चार ध्यानीबुद्ध और श्रीमहादेवी एवं सरस्वती के उल्लेख आये हैं । मैत्रेयनाथ का महायानसूत्रालंकार भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ।

महायान के तत्वों का विकास वज्रयान में हुआ । महायान के धारणी तन्त्रयान में मन्त्र बन गये । अवलोकितेश्वर एक महिमाशाली देवता के रूप में उपस्थित हुए । मैत्रेय और असंग के 'परावृत्ति' सिद्धान्त ने तन्त्रयान की भूमिका का कार्य किया । तन्त्रयान के मुख्य तत्व हैं - कुण्डलिनीयोग, मंत्र, यन्त्र, षट्कर्म, सिद्धियां, पंचमकार अधिकारभेद, हठयोग, गुरुशिष्ययोग आदि । नागार्जुन तिब्बती परम्परा के अनुसार तन्त्रयान के प्रतिष्ठापक थे । ये नागार्जुन माध्यमिक

आचार्य नागार्जुन से भिन्न होना चाहिए। इसी तरह आर्यदेव को भी इससे सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि वज्रयान के ग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प और गुह्यसमाजतन्त्र में तन्त्र साधना का प्रारम्भिक रूप तो रहा है पर उसका विकसित रूप सप्तम शताब्दी के बाद ही मिलता है। आर्यदेव को सप्तम-अष्टम शताब्दी का आचार्य नहीं माना जा सकता। जैसा कि पहले हम देख चुके हैं, चौरासी सिद्धों में शून्यवादी आर्यदेव का सम्मिलन उनकी पूर्व लोक प्रियता का कारण रहा होगा।

वज्रयान के तान्त्रिक ग्रन्थों को चार वर्गों में विभक्त किया जाता है—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतंत्र और अनुत्तर योगतंत्र। आदि कर्मप्रदीप, अष्टमी व्रतविधान, साधनमाला, साधनसमुच्चय आदि ग्रन्थ वज्रयान के प्रधान ग्रंथ हैं। यहां गुह्यसाधना का महत्व अधिक बढ़ा। तत्वरत्नावली, अद्वयवज्रसंग्रह भी इसी कोटि के ग्रंथ हैं। वज्रयान से **सहजयान** की उत्पत्ति हुई।

तारानाथ के अनुसार सरह और कम्पल ने हेवज्रतंत्र और अनुत्तरयोगतंत्र लिखे। ये दोनों तंत्र गुह्यसमाज के थे। इंद्रभूति की ज्ञानसिद्धि और पद्मवज्र की गुह्यसिद्धि भी गुह्य समाज से सम्बद्ध ग्रंथ हैं। सरह के ग्रंथों में बुद्धकपाल-तंत्र पञ्जिका, बुद्धकपालसाधन, बुद्धकपालमण्डलविधि, त्रैलोक्यत्रशंकरालोकेश्वर-साधन, दोहाकोशगीति, दोहाकोशनामचर्यागीति, काव्यकोशामृतवज्रगीति आदि प्रमुख है। सिद्ध नागार्जुन के वज्रतारासाधन और एकजटासाधन ग्रंथ मिलते हैं। उनके अन्य ग्रंथ हैं—मंत्रालंकारसाधन, कक्षपुटपिण्डीकृतसाधन, गुह्यसमाज-मण्डलविधि, सेकचतुरप्रकरण, स्वभावसिद्ध्युपदेश, वज्रयानस्थूलपत्ति, प्रज्ञापारमि-ताहृदयसाधन, लोकेश्वरसाधन, नीलाम्बरोपसिद्धि, वज्रपाणिमण्डलविधि, हयग्रीव-साधन, धर्मधातुस्तोत्र, कालत्रयनयस्तोत्र, सत्वाराधनस्तव, प्रज्ञापारमितास्तोत्र, नरकोद्धार समाधिमापाटोका आदि। इसी प्रकार अन्य सिद्धों का भी विपुल साहित्य मिलता है।[१] वह अधिकांश रूप में तिब्बती भाषा में सुरक्षित है।

सहजयान के बाद **कालचक्रयान** का उद्भव हुआ। यह समय लगभग दसवीं शताब्दी माना जा सकता है। कालचक्रतंत्र और उसकी टीका विमलप्रभा काल-चक्रयान के प्रमुख ग्रंथ हैं। मञ्जुश्री और सुचंद्र इसके विशिष्ट आचार्य हैं।

हमने तांत्रिक साधना का यह अत्यंत संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया है। उसका साहित्य संस्कृत और अपभ्रंश मे अधिक है। नागरी रूपांतर अभी कम हो सका है। फिर भी, जो जानकारी उपलब्ध है उससे बौद्ध-तंत्र-साहित्य निश्चित ही प्रभावक सिद्ध होता है।

---

१. स्टेडीज इन बुद्धिष्ट कल्चर आफ इण्डिया, पृ. २०५-६

परिवर्त ४

बौद्धदर्शन तथा उसका विकासक्रम

१. विकासक्रम

भगवान् बुद्ध अपने धर्म की स्थापना करने के उपरान्त आचार और विचार से उस कोमल पौधे को अविरत सिञ्चित करते रहे। उन्होंने अपने जीवनकाल में ही उस पौधे को वृक्षाकार में बढ़ते ही देख लिया। तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में बौद्धधर्म की स्थापना ने निश्चित ही जनसमुदाय को एक नया दृष्टिकोण दिया। फलतः उसे लोकप्रिय बनने में अधिक देर नहीं लगी। वैदिक, जैन एवं जैनेतर विचार - धाराओं का आलम्बन लेकर सम्यक्सम्बुद्ध आगे बढ़े और खण्डन–मण्डन की परम्परा में उन्होंने अपना विशेष योगदान दिया।

गति और विकास जीवन का लक्षण है। जिन धर्मों में गति और विकास बना रहा, वे धर्म तो बचे रहे और जिन धर्मों ने तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुरूप स्वयं को इस परिवर्तन से दूर रखा वे कालान्तर में नामशेष हो गये। बौद्धधर्म एवं दर्शन का विकास, जैसा हम अभी देख चुके हैं, जीवन के इस चिरन्तन तथ्य को अपने अंक में समेटे हुए चलता रहा। हीनयान और महायान जैसी शाखायें इसी विकास के ज्वलन्त परिणाम हैं।

'यान' शब्द मार्ग और वाहन का पर्यायार्थक है। मार्ग और वाहन प्रगति के प्रतीक हैं। प्रतीकात्मक रूप में यान शब्द का उपयोग वैदिक, जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में देखा जाता है। ब्रह्मयान और धर्मयान जैसे शब्द संयुक्त निकाय में प्रयुक्त हैं। सम्भवतः उन्हीं का आश्रय लेकर उत्तरवर्ती बौद्धधर्म की शाखाओं ने स्वयं को मूल धर्म से विभक्त करने के लिए उद्देश्य के आधार पर हीनयान एवं महायान की संज्ञा दी हो। महायानी आचार्यों ने अपनी परम्परा को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से समीक्षा की परिभाषा में मूल बौद्धधर्म और उसकी शाखाओं को हीनयान की संज्ञा दी तथा स्वयं को महायानी कहना-कहलाना स्वीकार किया। अन्य संज्ञाओं की अपेक्षा ये दो नाम अधिक प्रचलित हुए हैं। एकयान, अग्रयान, बोधिसत्वयान तथा बुद्धयान महायान के पर्यायवाची शब्द हैं और श्रावकयान तथा प्रत्येकबुद्धयान हीनयान के नामान्तर हैं। तीन यान होते

हुए भी वास्तविक यान एक ही है और वह है महायान सद्धर्मपुण्डरीक । भगवान् बुद्ध उपाय कौशल के माध्यम से उपदेश दिया करते थे, हीन सत्वों को दिया गया उपदेश हीनयान कहलाता और महसत्वों को दिया गया उपदेश महायान कहलाता

हीनयान और महायान दर्शन में कुछ मूलभूत अन्तर है :—

(i) असंग ने आशय, उपदेश, प्रयोग, उपस्तम्भ एवं काल के रूप में उक्त दोनों सम्प्रदायों में यह भेद व्यवस्थित किया है।

(ii) हीनयान में पुद्गलनैरात्म्य के चिन्तन के माध्यम से क्लेशावरण का विनाश किया जाता है परन्तु महायान में धर्मनैरात्म्य के ज्ञान से ज्ञेयावरण का विनाश होता है।

(iii) हीनयान का उपदेश प्रथमतः पञ्चवर्गीय भिक्षुओं के सम्मुख दिया गया और महायान का उपदेश अनन्त बोधिसत्वों के समक्ष गृध्रकूट पर्वत पर दिया गया।

(iv) महायान में बोधिसत्व समस्त संसार के निर्वाण प्राप्त होने के बाद ही स्वयं निर्वाण-प्राप्ति स्वीकार करते हैं, पर यह विचार हीनयान में नहीं।

(v) महायान के अनुसार बुद्धदेशना दो प्रकार की है—गुह्य एवं व्यक्त।

(vi) महायानी साहित्य में कल्पना का आधिक्य अधिक है।

(vii) महायानी बुद्ध अधिक लोकोत्तर है।

(viii) बुद्ध ने साधारण और सरल उपदेश हीनयानियों को तथा कठिन उपदेश महायानियों को दिया है।

(x) परमार्थतः यानों में भेद नहीं। एकात्मक होकर वे एक यान में ही समाहित हो जाता है।

(x) परावृत्ति योग महायान की विशेषता है।

(xi) महायान में दो प्रकार के सत्यों का आधार अधिक लिया गया है—संवृतिसत्य और परमार्थसत्य।

(xii) मूलतः दो काय थे—रूपकाय (भौतिक शरीर) तथा धर्मकाय (आध्यात्मिक शरीर)। महायान में सम्भोग अथवा निर्माणकाय (अवतारवाद) पर अधिक जोर दिया गया।

(xiii) स्थविरवाद का आदर्श अर्हत्व प्राप्ति था पर महायानी आदर्श बोधिसत्व हो गया। तथा अष्टाङ्गिकमार्ग के स्थान पर बोधिसत्वचर्या का विकास हुआ।

हीनयान और महायान के बीच यह सामान्य अन्तर हमने देखा। अब हम बौद्धदर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का विकासात्मक आधार पर अध्ययन करेंगे। और यह देखेंगे कि आर्यदेव का उस विकास में क्या योगदान रहा। यहां हम यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे कि बौद्धेतर, विशेषतः जैन, साहित्य में बौद्ध सिद्धान्तों को किस रूप में प्रस्तुत किया गया है।

बौद्ध दर्शन का प्रारम्भ विभिन्न धर्मों की समालोचना करते हुए मानव को नैतिक भूमिका पर प्रस्तुत करने से हुआ है। यहां कुशल-अकुशल कर्मों की व्याख्या तथा सांक्लेशिक और व्यावदानिक धर्मों का प्रस्तुतीकरण किया गया। धर्म की इस कुशल-अकुशलमयी कर्मों की व्याख्या के सन्दर्भ में अनात्मवाद को उपस्थित किया गया। इसके बाद सब कुछ क्षणिक है, कुछ भी स्थायी नहीं, यह सिद्धान्त रखा गया। तदनन्तर क्षणभङ्गुर तत्वों को प्रतीत्य-समुत्पन्न मानकर संस्कृत धर्मों के साथ हेतु-प्रत्ययजन्य प्रतीत्यसमुत्पन्न माना गया। बौद्धदर्शन की दृष्टि में संसार में रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पृष्टव्य स्वरूप आयतन और वेदना, संज्ञा व संस्कार स्वरूप विज्ञान ये दो मूलतत्व हैं जिनमें मूलतः आत्मा जैसा कोई स्थायी क्रियाशील तत्व विद्यमान नहीं। शेरबात्स्की के अनुसार यह सम्पूर्ण मतवाद चार आर्यसत्यों में विभाजित है (१) जीवन एक अशान्त संघर्ष है, (२) उसकी उत्पत्ति पाप पूर्ण वासनाओं से होती है, (३) चिरन्तन शान्ति ही चरम अभीष्ट है, और (४) एक ऐसा मार्ग है जहां जीवन के निर्माण में सहायक समस्त संस्कार क्रमशः लुप्त हो जाते हैं। धर्मचक्र के प्रथम प्रवर्तन का यही उद्देश्य है[१]। अर्हत् - प्राप्ति एवं व्यक्तिगत निर्वाण की उपलब्धि को इस काल में चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया।

द्वितीयकाल में बौद्धधर्म बहुत्ववाद से हटकर मौलिक एकतत्ववाद की ओर परिवर्तित हुआ। प्रारम्भिक वादों को अनात्मवाद अथवा निःस्वभाववाद (पुद्गलशून्यता) नाम दिया गया जबकि बौद्ध दर्शन को नैरात्म्यवाद से सम्पृक्त किया गया। पुरातन बौद्ध दर्शन में सभी धर्म परस्पर अपेक्ष्य और वास्तविक हैं जबकि नवीन बौद्ध दर्शन में समस्त धर्म परस्पर अपेक्ष्य न होने के कारण अवास्तविक हैं। यहां वास्तविक हेतुवाद का सर्वथा निराकरण किया गया है। अनुभूत वास्तविकता का सर्वथा प्रतिवाद न कर उसे आर्यसत्य के स्थान पर संवृतिसत्य और परमार्थसत्य के रूप में विभाजित कर दिया गया।

---

१. बौद्धन्याय, पृ० ६, प्रस्तावना

इसके बाद प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में जिन धर्मों को केवल निर्वाण में प्रसुप्त और साधारण जीवन में सक्रिय माना गया था, यहाँ चिरप्रसुप्त और उनकी सक्रियता को मात्र भ्रमात्मक प्रतीति माना गया।

हीनयान के आदर्श को स्वार्थपरक बताकर वैयक्तिक मुक्ति के स्थान पर अखिल प्राणि जगत की मुक्ति की परिकल्पना, पारमिता व महाकरुणा के अभ्यासपूर्वक धर्मकाय की स्थापना की पृष्ठभूमि में प्रमला प्रज्ञा के स्थान पर प्रज्ञापारमिता के रूप में ज्ञानकाय का समीकरण, बुद्ध के मानवीय व्यक्तित्व के स्थान पर उनके सम्भोग काय के रूप में ईश्वर कल्पना, परन्तु जगत्स्रष्टा के रूप में नही, एकत्ववाद की प्रतिस्थापना, तांत्रिक संस्कारों का ग्रहण व मूर्ति-पूजा का प्रचलन, तथा शून्यवाद का स्थापन ये विशेषतायें इस काल की रहीं।

बौद्धदर्शन के तृतीयकाल की विशेषता-न्यायशास्त्र में गहन अभिरुचि से स्पष्ट हुई। फलस्वरूप इसमें स्वसंवेदना की वैधता की स्वीकृति, प्रत्येक अस्तित्व की मानसिक कल्पनात्मक स्वीकृति और बौद्धधर्म का आदर्शवादी रूप, ईश्वर-बुद्धि के स्थान पर आलय-विज्ञान को एवं ईश्वरेच्छा के स्थान पर अनादिवासना को स्थापित किया गया[1]।

जैन साहित्य में बौद्धदर्शन के उक्त तीनों कालों के रूप दिखाई दे जाते हैं। जैनाचार्यों ने बौद्ध दर्शन की शाखाओं को स्थूलतः चार भागों में विभाजित किया है—वैभाषिक और सौत्रान्तिक तथा योगाचार और माध्यमिक। प्रथम दो शाखायें हीनयान से सम्बद्ध है और बाद की दो शाखायें महायानी हैं।

वैभाषिक के अनुसार जैसा अभ्यन्तर ज्ञान प्रतीत होता है, वैसा ही बाह्य पदार्थ भी सत् है, क्योंकि बाह्य पदार्थ की शुद्धि के बिना ज्ञान मात्र से खान-पान, ग्रहण-त्याग इत्यादि व्यवहार नही हो सकता सौत्रान्तिकों का मत है कि बाह्य पदार्थ हैं अवश्य परन्तु वे अतीन्द्रिय हैं। वैभाषिक खण्डन करते हैं कि बाह्य पदार्थ प्रत्यक्षज्ञानगम्य नहीं क्योंकि क्षणिक होने के कारण उनका इन्द्रिय-सम्पर्क होते ही प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति होने के पूर्व ही वे नष्ट हो जाते है। इस स्थिति म वे प्रत्यक्ष-ज्ञानगम्य नहीं हो सकते। वे तो ज्ञान के संवेदन पर कल्पनीय अथवा अनुमेय होते हैं। योगाचार के अनुसार बाह्यपदार्थ जैसी कोई वस्तु

१, वही, पृ. ९–१७

नहीं, क्योंकि उपलब्धि के समकाल में ही वे दृष्टिगोचर होते हैं। उपलब्धि बिना कोई भी पदार्थ नहीं दिखाई देता। अतः विज्ञान मात्र ही सत् है और दृष्ट अर्थ उसका आकार मात्र है। योगाचार मत ज्ञान को साकार मानता है। माध्यमिक सम्प्रदायी यह मानते हैं कि एक मात्र शुद्ध, स्वच्छ, निराकार ज्ञान ही सत् है और सभी दृश्यमान् साकार ज्ञान एवं बाह्य पदार्थ असत् हैं। क्योंकि उनके सत् होने में अनेक विरोध, और अनुपपत्तियां हैं—

> अर्थो ज्ञान समन्वितो मतिमता वैभाषिकेणोच्यते,
>
> प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सूत्रान्तिकैराश्रितः ॥
>
> योगाचारमतानुगैरभिहिता साकारबुद्धिः परा,
>
> मन्यन्ते बत मध्यमाः कृतधियः स्वच्छां परां संविदम् ॥[1]

बौद्धदर्शन के विकास का चतुर्थकाल है तान्त्रिक साधना का बढ़ाव। इस काल में बौद्ध विचारों का उतना अधिक विकास नहीं हुआ जितना अधिक बौद्ध आचार का। तान्त्रिक विचार धारा अपनी चरम स्थिति पर इसी काल में पहुंची। बौद्धधर्म का यह चरम विकास एक भ्रष्ट रूप में सामने आया और यही रूप उसके ह्रास का प्रमुख कारण बन गया। अतएव बौद्धधर्म के ह्‌ स की पृथक् काल निर्धारित न कर इसी में उसे गर्भित मान लिया गया।

२ बौद्धदर्शन के प्रमुखतत्त्व और उनकी व्याख्या

१. अव्याकृततावाद

बुद्ध कालीन समाज धार्मिक क्रान्ति के कगारों पर था। प्राचीन परम्पराओं से उन्मुक्त होकर चिन्तन करने का उसने बीड़ा उठा लिया था। बुद्ध और महावीर का पथदर्शन यंज्ञवाद की आधारशिला से विद्रोह करने की ओर विशेष था जिसे समाज ने सहर्ष स्वीकार कर लिया था।

---

१. [illegible] विस्तरा, पृ. २२३

बुद्धकालीन समाज की एक विशेष प्रवृत्ति थी कि वह तीर्थंकर, धर्मप्रवर्तक अथवा धर्मोपदेशक से आत्मा, ईश्वर और लोक के सन्दर्भ में प्रश्न पूछकर स्पष्ट उत्तर चाहता था। भगवान् बुद्ध को ऐसे अनेक प्रसंगों का सामना करना पड़ा। विधेयात्मक अथवा निषेधात्मक रूप से उन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत कर उन प्रसंगों में और अधिक उलझना ही था। और फिर ऐसे प्रश्नों का उपयोग भी कोई विशेष अधिक नहीं था। अतएव भगवान् बुद्ध ने उनका कोई उत्तर न देना ही उचित समझा[1] और कहा कि तर्क की कसौटी पर कसकर ही मेरे वचनों का मूल्याङ्कन किया जाय[2]।

ऐसे उक्त प्रश्नों को भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत कहा है। इन अव्याकृत प्रश्नों की संख्या मूलतः दस है—

(१) सस्सतो लोको, (२) असस्सतो लोको, (३) अन्तवा लोको, (४) अनन्तवा लोको, (५) तं जीवं तं सरीरं, (६) अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं, (७) होति तथागतो परं मरणा, (८) न होती तथागतो परं मरणा, (९) होति च न च होति तथागतो परं मरणा, और (१०) नेव होति न न होति तथागतो परं मरणा[3]। महायानी साहित्य में इनकी संख्या चौदह बतायी गई है। वहां लोक के सन्दर्भ में चार के स्थान पर आठ प्रश्न उपस्थित किये गये हैं[4]। शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद और उच्छेदवाद से बचने के लिए ही अव्याकृत प्रश्नों की स्थापना की गई थी[5]।

एक अन्य प्रकार से भी बुद्ध ने प्रश्नों को समाधानित करने का मार्ग खोजा और वह मार्ग चार प्रकार का बताया—(१) एकंस व्याकरणीय,

---

१. न हेतं, पोट्ठपाद, अत्थसंहितं, न धम्म संहितं, नादि ब्रह्मचरियकं, न निब्बिदाय, न विरागाय, न निरोधाय, न उपसमाय, न अभिञ्ञाय, न न सम्बोधाय, न निब्बानाय संवत्तति, तस्मा तं मया अव्याकतं, दी. ९.३.१६

२. तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं, मद्वचो न तु गौरवात्॥ ज्ञानसारसमुच्चय, ३१

३. दी. ९. ३. १६

४. दि बोधिसत्त्व डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ. १३६.

५. मज्झिमनिकाय, अलगद्दूपमसुत्त

(२) पटिपुच्छा व्याकरणीय, (३) ठापनीय, और (४) विभज्ज व्याकरणीय[1]। इस आधार पर उन्होंने विभज्जवादिन् भी अपने आपको कह दिया इसी प्रकार बुद्ध ने अनेकांशिक आधार पर भी प्रश्नों का उत्तर दिया है (अनेकंसिका पि मया धम्मा देसिता पञ्ञत्ता)[2]। सम्भव है, उत्तर देने के दो प्रकार रहे हों--एकांशिक और अनेकांशिक। अन्तिम तीन भेद अनेकांशिक के होंगे।

भगवान् बुद्ध का यह बौद्धिक चिन्तन दार्शनिक क्षेत्र मे नितान्त व्यावहारिक था। आचार क्षेत्र में इसी चिन्तन को उन्होंने 'मज्झिम पटिपदा' के रूप में प्रयुक्त किया। विचार और आचार क्षेत्र में उक्त दोनों सिद्धान्तों ने पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की। समूचा बौद्ध साहित्य इसका प्रमाण है। उसमें परमार्थ तत्त्व को वाचाऽवाच्यम्' और अनक्षर धर्मश्रुति कहा गया है। चन्द्रकीर्ति ने इसी परमार्थ को 'आर्याणां तूष्णीभावः' लिखा है[3] और लंकावतार ने तो तथागत को सदैव मौन बता दिया है।

तथागत का अव्याकृततावाद निःसन्देह विवादग्रस्त दार्शनिक प्रश्नों से दूर रहकर अध्यात्मिक चिरन्तन शान्ति की प्राप्ति की दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण था। परन्तु उत्तर काल मे उनका मौन भंग कर दिया गया और मूल बौद्ध सिद्धान्तो को समयानुकूल विकसित, परिवर्तित एवं परिवर्धित स्वरूप मे उपस्थित किया गया।

---

२. आर्यसत्य

आर्यसत्य बौद्ध चिन्तन की मूल भूमिका है। इसी की प्राप्ति हो जाने पर ही गौतम को बुद्ध और सम्यक् सम्बुद्ध कहा गया।[4] आर्यसत्यों की ज्ञान-प्राप्ति के बाद साधक अष्टम जन्म ग्रहण नहीं करता। उस

---

१. एकंसवचनं एकं विभज्जवचनापरे।
तर्तियं पटिपुच्छेय्य, चतुत्थं पन ठापये॥ अंगुत्तर, ४.५२

२. दी. ६.४.१९ ३. माध्यमिक वृत्ति, पृ. ५६

४. विसुद्धिमग्ग, १६. २१, ७. २६

साधक को संघ का उत्तम रत्न (रतनं पणीतं) कहा गया है। दर्शन प्राप्ति के साथ-साथ उसके तीन संयोजन (बन्धन) नष्ट हो जाते हैं—सत्काय दृष्टि (नित्य आत्मा का विश्वास), विचिकित्सा (संशय) तथा शीलव्रतपरामर्श (विविध प्रकार के व्रतों के कर्म काण्ड से चित्तशुद्धि की प्राप्ति में विश्वास)। वह चार दुर्गतियों और छः घोर पापों से निर्मुक्त हो जाता है[1]।

आर्यसत्यों की संख्या भ० बुद्ध ने चार बताई है—दुःखसत्य, दुःख समुदयसत्य, दुःखनिरोध सत्य और दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा सत्य। ये सत्य किसी से प्रच्छन्न नहीं हैं। नामरूप दुःखात्मक हैं। समूचा सांसारिक जीवन दुःखमय है। जन्म से मरण तक कहीं भी सुख नहीं। सम्पत्ति आदि का जो सुख है भी, वह मात्र सुखाभास है[2]। वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य में लगभग समान रूप से दुःख के सन्दर्भ में विचार किया गया है। दुःख-समुदय में दुःख की उत्पत्ति के कारण बताये गये हैं। मुख्य कारण है तृष्णा। उसके तीन भेद हैं—कामतृष्णा, भवतृष्णा, और विभवतृष्णा। इसके अन्तर्गत प्रतीत्य-समुत्पाद अथवा निदान को परिगणित किया गया है। विभज्य-वादी परम्परा में भवतृष्णा को समुदय और शेष अन्य तृष्णाओं को सास्रव हेतु माना गया है। दुःखनिरोधसत्य में तृष्णा का पूर्णतः नाश और निर्वाण की प्राप्ति का उल्लेख है। विभज्यवादी मात्र तृष्णा के क्षय को निरोधसत्य मानते है और शेष क्षयों को केवल निरोधात्मक स्वीकार करते है। चतुर्थ सत्य में दुःख निरोध अथवा निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट है। इसके अन्तर्गत शमथ और विपश्यना तथा बोधिपाक्षिक धर्मों का परिगणन होता है। आर्यसत्य के विकास का यह द्वितीय चरण है।

३. बोधिपाक्षिक धर्म —भ० बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय भिक्षुओं से निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिए बोधिपक्षीय धर्मों का पालन करना आवश्यक बताया था। ये धर्म संख्या मे सैंतीस हैं[3]।

१. चार स्मृति स्थान—साधक को काय, वेदना, चित्त और धर्म में अनुपश्यना करनी चाहिए। पालि साहित्य में कहा गया है कि भिक्षु को "सतो सम्पजानो समाहितो" होना चाहिए[4]। इसका तात्पर्य है कि भिक्षु अपने प्रत्येक कार्य में सजग रहे।

---

१. सुत्तनिपात, २.१.८-१०. २. वही, ३-८. धम्मचक्कपवत्तन सुत्त, (संयुत्त.)
३. दीघनिकाय, महापरिनिब्बाणसुत्त। ४. इतिवुत्तक, चामरियसुत्त।

२. चार सम्यक् प्रधान—सत्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना।) अनुत्पन्न अकुशल धर्मों की अनुत्पत्ति के लिए सम्यक् प्रयत्न करना,) उत्पन्न अकुशल धर्मों के विनाश के लिए प्रयत्न करना, (iii) अनुत्पन्न शल धर्मों की प्राप्ति के लिए उत्तरोत्तर प्रयत्न करना, और (iv) उत्पन्न शल धर्मों की स्थिति के लिए प्रयत्न करना।

३. चार ऋद्धिपाद्—छन्द, वीर्य, चित्त और विमर्श।

४. पांच इन्द्रियां—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, और प्रज्ञा। इन्हें आध्या-क विकास की सोपान मानी जा सकती हैं।

५. पांच बल—उक्त पांचों ही बल हैं। अंगुत्तर निकाय में स्मृति, , अपत्राप्य, वीर्य और प्रज्ञा को पंचबल कहा गया है। श्रद्धा एवं ाधि को जोड़कर सात बल भी उल्लिखित हैं।

६. सात बोध्यंग—स्मृति, धर्म-विचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि, ा उपेक्षा सम्बोधि प्राप्ति में सहायक हैं। पांच नीवरणों[1] के प्रतिकार के लिए की विशेष उपयोगिता है।

७. आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग—सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वाणी, कर्मान्त, आजीव, याम, स्मृति और समाधि। ये आठों सम्यक् मार्ग प्रज्ञा, शील और समाधि न्धों में विभाजित हैं। प्रथम तीन प्रज्ञा स्कन्ध में, चतुर्थ और पञ्चम ल स्कन्ध में तथा शेष समाधि स्कन्ध में अन्तर्भूत हैं।

संयुत्त निकाय में इन बोधिपक्षीय धर्मों का उक्त क्रम नहीं मिलता। ां अष्टाङ्गिक मार्ग का उल्लेख सर्व प्रथम किया गया है। श्रीमती ज डेविड्स ने अष्टाङ्गिक मार्ग को बुद्ध की मूल देशना का अंग माना [2]। परन्तु डॉ. पाण्डेय ने अंगुत्तर निकाय के अष्टक निपात में तथा घनिकाय के संगीत सुत्त में उनका उल्लेख न होने से इस मान्यता पर न चिन्ह खड़ा कर दिया है[3]। किन्तु इतने से ही अष्टाङ्गिक मार्ग को द्ध देशना से बहिर्भूत नहीं किया जा सकता। तथ्य यह है कि चूंकि उसका तर्भाव आर्यसत्य के अन्तर्गत हुआ है अतः उक्त स्थानों पर उसका

कामच्छन्द, अभिध्या व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, एवं विचि-कित्सा।
. शाक्य, पृ. ८९.   ३. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ११७

परित्याग आवश्यक नहीं था। धम्मपद में इसी को निर्वाण प्राप्ति का मार्ग कहा है, अन्य को नहीं [1]। इस स्थिति में अष्टाङ्गिक मार्ग को धर्मदेशना का मूल भाग स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पालि साहित्य में प्राय: अष्टाङ्गिक मार्ग के क्रम पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। सम्भव है इसका कारण उसकी अधिकाधिक लोकप्रियता और उपयोगिता रही हो।

---

३. अनात्मवाद अथवा निरात्मवाद

निरात्मवाद बुद्ध का एक सफल क्रान्तिकारी प्रयोग है। जिस युग में आत्मा आदि के अस्तित्व अथवा नास्तित्व के सन्दर्भ में व्यक्तित्व को परखा जाता था उस युग में ऐसे ज्वलन्त प्रश्नों पर मौन हो जाना अथवा अनत्त कहकर उसका विश्लेषण करना निश्चित ही एक नया चिन्तन था। तीर्थिक आत्मवाद को लेकर परस्पर अवगुण्ठित और विवाद ग्रस्त होरहे थे। तथा सारा जन समुदाय भी उनके इस बौद्धिक कलह से संत्रस्त और विपथगामी हो रहा था [2]। इन कटुता जन्य परिस्थिति का सूक्ष्मान्वेक्षण कर बुद्ध ने आत्मा की सर्वप्रथम यह व्याख्या की कि चूंकि यह समूचा जगत अनित्य, भयावह और दु:खकारी है अतएव इसे अनात्म (अपना नहीं है) मानो। ज्ञान-प्राप्ति का यही साधन है [3]। अज्झत्तचिन्ती, अज्झत्तं सुखं अनुयुञ्जय्य, अत्तकाम, अत्तानं गवेसे पयाथ, अन्धकारेण ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ, अत्तदीपा विहरथ आदि उपदेशों में बुद्ध ने यही उपदेश दिया है। इसके बाद अत्तभाव की परवर्ती व्याख्या अहं भाव भी है जिसका परित्याग निर्वाणोन्मुख भिक्खु के लिए अपरिहार्य बताया गया है। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने संसार से वैराग्य जागृत करने के लिए दुक्खसमुदयनिरोध की भावना से अनात्मवाद की स्थापना की थी। इसीलिए दु:खसमुदय का मूल कारण तृष्णा का निरोध हो जाने से प्रतिसंख्या ज्ञान की उत्पत्ति बतायी है। ५ स्कन्ध, १२ आयतन, और १८ धातु इन ३६ धर्मों

---

१. ऐसो व मग्गो नत्थञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया ········ २०. २-३

२. दीघनिकाय-ब्रह्मजाल सुत्तं, सामञ्ञफलसुत्त आदि, सूयगंडग, प्रथम अध्याय।

३. अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो मनसिकरोतो ञाणं उप्पज्जति पटिसम्भिदामग्ग, २. १००-१०१.

४. उदान, ४.१

को तथागत ने अनात्मा माना और उनसे आसक्ति तथा मोहाच्छन्नता को दूर करने का आदेश दिया है[१]। अनात्मवाद के विकास का यह प्रथम चरण है।

जन समुदाय को आत्मवाद की ओर से विमुखकर भगवान् बुद्ध का उसे व्यावहारिक दृष्टिकोण की ओर आकर्षित करने का यह सफल प्रयत्न था। मूलतः विवादास्पद और अप्रत्यक्ष वस्तु के अस्तित्व के प्रति व्यक्ति के इस आत्मास्तित्वाद को उसके दुराग्रह का प्रतीक बनाया गया। जनता को सद्यः आकर्षित करने का भी यह श्लाघ्य उपाय था कि मूलभूत समस्या के अनुमान गम्य बाह्य पक्ष को तटस्थ भाव से अवलोकन कराया जाय एवं अदृश्य पदार्थ की ओर परम्परागत बंधी दृष्टि को झकझोरकर अपनी ओर उसे खींच लिया जाय। इसी दृष्टि से भगवान् बुद्ध ने आत्मवाद की जड़ों को हिलाकर उससे ममत्व बुद्धि को हटाने का सचिन्तित अभिमत व्यक्त किया। बुद्ध ने इसके परिपोषण के लिए यहां तक कह दिया कि "जो यह मानता है कि यह मेरा आत्मा अनुभव कर्ता है, अनुभवगम्य है, कुकर्मों का फलभोक्ता है, नित्य, ध्रुव, शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है, यह उसका बालधर्म है (अयं भिक्खवे, केवलो परिपूरो बालधम्मो)[२]। अपने विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने अनेक आकर्षक उपमायें भी प्रस्तुत की हैं। उदाहरणार्थ—हे पोट्ठपाद ! जो व्यक्ति जनपद कल्याणी को तो चाहता है पर उसके रूप, रंग, वर्ण, कद, निवास, नाम आदि को नहीं जानता, उसका आचरण जिस प्रकार प्रभाव रहित और उपहासास्पद है उसी प्रकार आत्मा के गुण धर्म से अपरिचित यज्ञ यागादि करने वाले व्यक्ति का कथन भी निन्दास्पद होता है। अतः परिपूर्ण जानकारी के बिना किसी पदार्थ के विषय में कहना उचित नहीं[३]।

इन उपमाओं आदि के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध ने आत्मा के स्वरूप से परिचित हो जाने के बाद ही उसके विषय में अपना मत व्यक्त करने का उपदेश दिया था। यह कथन इससे और प्रमाणित हो जाता है जब वे तथागत (आत्मा) के अस्तित्व, अनस्तित्व, जन्म-मरण आदि को अनैकांतिक धर्म कहते हैं।

---

१. मज्झिमनिकाय, ३.१.६ २. मज्झिमनिकाय, १.१,२
३. दीघनिकाय, पोट्ठपादसुत्त

साथ ही यह भी कहते हैं कि यह मान्यता न सार्थक है, न धर्म उपयोगी है, न निर्वेद के लिए है और न वैराग्य के लिए है। अपरिचित स्थिति के ये सब परिणाम हैं। बुद्ध द्वारा पुनर्जन्म और कर्म की स्थिति स्वीकार किये जाने से आत्मा की असत् स्थिति स्वतः कमजोर हो जाती है। अनात्मवाद के विकास का यह द्वितीय चरण है।

उक्त कथनों से यह तथ्य निकलता है कि भगवान् बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व को मूलतः अस्वीकार नहीं किया था प्रत्युत अनासक्त भाव को उद्दीप्त करने के निमित्त अनत्त अथवा अनात्म शब्द का प्रयोग किया था। इस लक्ष्य में और दृढ़ता लाने के लिए उन्होंने अव्याकृतता एवं मज्झिमा पटिपदा के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को न तो स्वीकार किया था और न ही उसका प्रतिषेध किया था [१]। शाश्वतवाद और उच्छेदवाद से दूर रहकर आत्मा का यह चिन्तन श्रमण संस्कृति की परम्परा के विपरीत नहीं था।

इसके बाद का विकास रहा आत्मा के अस्तित्व को व्यावहारिक दृष्टिकोण से तो स्वीकार करना परन्तु पारमार्थिक दृष्टिकोण से उसका निषेध करना। पोट्ठपाद से बुद्ध ने यही विचार व्यक्त किया [२]। अनत्तलक्खण सुत्त [३] में आत्मा को पञ्चस्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) स्वरूप माना। संयुत्तनिकाय में पञ्चस्कन्धों के समवायात्मक रूप को सम्मुतिसच्च की दृष्टि से आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया परन्तु परमत्थसच्च से उसको अस्तित्वहीन माना [४]। अर्थात् प्रज्ञप्ति सत् से उसका अस्तित्व है और द्रव्यसत् से उसका नास्तित्व है। इस सन्दर्भ मे मिलिन्दपञ्ह में ग्रीक राजा मिलिन्द (मेनान्डर) और नागसेन का संवाद भी द्रष्टव्य है। यहां नागसेन ने अनात्मवाद को पुद्गल नैरात्म्य के रूप में प्रस्तुत किया है—परमत्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति। वात्सीपुत्रीय भी इसी प्रकार पुद्गलवादी हैं। उनकी दृष्टि से आत्मा पुद्गल स्कन्धों से न भिन्न है

---

१. संयुत्त. (रो.) भा. ४, पृ. ४००; सुत्तनिपात का अट्ठकवग्ग.

२. दीघनिकाय, पोट्ठपादसुत्त. ३. विनय पिटक, महावग्ग

४. यथा हि अंगसंभारा होति सद्दो रथो इति।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तो ति सम्मुति॥ मिलिन्दपञ्ह,
पञ्चम लक्खणसुत्त.

और न अभिन्न है। यदि भिन्न अथवा अभिन्न होता तो शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का प्रसंग उपस्थित होता। परन्तु यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं हो सका। पुद्गलवादी आत्मवाद की स्वीकृति को आत्मशून्य धर्म के साथ संगत नहीं कर सके। अनात्मवाद के विकास का यह तृतीय चरण है।

बौद्धधर्म में आत्मा के स्थान पर 'सन्तान' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। यह सन्तान चित्त चैतसिक धर्मों से उत्पन्न होकर 'प्राप्ति' नामक संस्कार विशेष से परस्पर सम्बद्ध हो जाता है। नागसेन ने एवं महाकवि अश्वघोष[1] ने इसे 'दीपशिखा' के उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। पुनर्जन्म के प्रश्न का समाधान भी इस दृष्टान्त से किया गया है। अनात्मवाद के स्थान पर निरात्मवाद शब्द का जन्म भी इसी काल कीदेन है। इस सिद्धान्त के विकास का यह चतुर्थ चरण है।

पञ्चस्कन्ध वाद अथवा सन्ततिवाद की स्थापना करने पर अनेक प्रश्न चिन्ह खड़े हुए। स्थिर आत्मा के अभाव में कर्मफल का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, जन्मान्तरग्राहित्व, जातिस्मरण आदि का होना क्या, कहाँ और कैसे बनेगा? ये गूढ़ एवं स्वाभाविक प्रश्न बौद्धधर्म के अनात्मवाद अथवा निरात्मवाद को और भी जटिल बना देते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यम प्रतिपदा के माध्यम से इन प्रश्नों का समाधान खोजने का प्रयत्न अवश्य हुआ है परन्तु उसमें सन्तोषप्रद सफलता दिखाई नहीं देती।

फलतः विज्ञानवाद की उत्पत्ति हुई और उसने आलयविज्ञान की स्थापनाकर चित्तसन्तति को ही संसार का कारण मान लिया। आत्मा के स्थान पर चित्त की स्थापना करने से निरात्मवाद के विपरीत उपस्थित प्रश्नों को समाधानित करने का पुनः प्रयत्न किया गया। कर्म से विनिर्मुक्त होने पर चित्त में सम्बोधि रूप प्रातिभ ज्ञान की उत्पत्ति और तदनन्तर निर्वाण की प्राप्ति स्वीकार की गई। चित्त की उस अवस्था को अनिर्वचनीय कहा गया है। विकास का यह पञ्चम चरण है।

इस सन्दर्भ में वसुबन्धु वात्सीपुत्रीय के पञ्चस्कन्धवाद का खण्डन करते हैं। उनका मत है कि यदि आत्मा समुदाय मात्र है, भावान्तर नहीं तो वह आत्मा नहीं है और यदि वह सांख्यों के पुरुष के समान है तो उसका कोई प्रयोजन नहीं। यदि पुद्गल चक्षुविज्ञान से जाना जाता है तो वह संज्ञा मात्र है, वस्तु सत् नहीं। और चूंकि पुद्गल

---

१. सौन्दरानन्द, १६.२८-२९.

विज्ञान का आलम्बन प्रत्यय नहीं, इसलिए उसका अस्तित्व भी नहीं। आत्मा तो मात्र हेतु-प्रत्यय जनित धर्म है। वात्सीपुत्रीय का प्रश्न है कि इस अवस्था में बुद्ध को सर्वज्ञ कैसे माना जायगा? वसुबन्धु इसका उत्तर देते हैं कि सभी पदार्थों को जानने वाले के अर्थ में हम बुद्ध को सर्वज्ञ नहीं मानते। बुद्ध तो ज्ञान की सन्तति विशेष का सूचक है और वही सर्वज्ञ है। वात्सीपुत्रीय पुनः प्रश्न करते हैं कि यदि अवक्तव्य पुद्गल नहीं तो बुद्ध भगवान् आत्मा के अस्तित्व के विषय में विधेयात्मक अथवा निषेधात्मक उत्तर स्पष्टतः क्यों नहीं देते? संसरण करने वाला कौन होगा? जातिस्मरण अथवा प्रत्यभिज्ञान कैसे होगा? वसुबन्धु इन सभी प्रश्नों के उत्तर के लिए सन्तानवाद का सहारा लेते हैं। वैभाषिक सत्स्वभाववादी और बहुधर्मवादी हैं। वे किसी भी पदार्थ को शाश्वत नहीं मानते सन्तान से उनका तात्पर्य रूपी-अरूपी स्कन्धों से है जो अविच्छिन्न रूप से एक सन्तान में उत्तरोत्तर प्रवर्तमान होते हैं और जिस सन्तान का पूर्व हेतु कर्म है। बीज-सन्तान के परिणाम के अति प्रकृष्ट क्षण से फल की उत्पत्ति होती है[1]।

वसुबन्धु ने विंशतिका मे "चित्तमात्रं भो जिनपुत्र यदुत त्रैधातुकम्" कहकर महायान में त्रैधातुक को विज्ञप्तिमात्र स्वीकार किया है। इससे बाह्यार्थ का प्रतिषेध हो जाता है। वस्तुतः अर्थ असत् है। अर्थ के रूप में दिखाई देने वाला यह विज्ञान ही है। युआनच्वांग ने त्रिंशिका पर 'एक सिद्धि' नाम की मौलिक टीका लिखी है। उसमें भी उन्होंने आत्मग्राह और धर्मग्रह की परीक्षा की है।

नागार्जुन की माध्यमिक कारिका और आर्यदेव का चतुःशतक तथा इन दोनों पर चन्द्रकीर्ति की टीकायें शून्यवाद (माध्यमिक सम्प्रदाय) की प्रस्थापना करती हैं। उन्होंने आत्मा के प्रतिषेध में स्वतन्त्र प्रकरण लिखे हैं। माध्यमिक कारिका में नागार्जुन ने यह फलितार्थ प्रस्तुत किया है कि भगवान् बुद्ध ने न आत्मा का उपदेश दिया और न अनात्मा का–

> आत्मेत्यपि प्रज्ञपित मनात्मेत्यपि देशितम्।
> बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्[2]॥

अनात्मवाद के विकास का यह षष्ठ चरण है।

---

१. बौद्धधर्म-दर्शन, पृ २४३–२४६

२. माध्यमिक कारिका, १८.६

४. प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्यसमुत्पाद (पालि-पटिच्चसमुप्पाद) बौद्धधर्म और दर्शन का मूल सिद्धान्त है। इसकी गहनता, व्यापकता और सूक्ष्मता समूचे बौद्ध साहित्य में द्रष्टव्य है। भगवान् बुद्ध ने अभिसम्बोधि प्राप्ति के प्रथम याम में पूर्वजन्मज्ञान, मध्यमयाम में दिव्य चक्षुत्व और अन्तिम याम में प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार किया[1]। अनन्तर विमुक्ति सुख के अनुभूत-काल की अन्तिम रात्रि के प्रथम याम में उन्हें "इसके होने से यह उत्पन्न होता है, इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न होता है" यह ज्ञान, मध्यमयाम में "इसके असद्भाव से यह नहीं होता, इसके निरुद्ध होने से यह निरुद्ध हो जाता है" यह अनुलोमात्मक और प्रति लोमात्मक अभि-ज्ञान उत्पन्न हुआ था[2]। इससे स्पष्ट है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य है—कारण के सद्भाव में उत्पत्ति और कारण के असद्भाव में उत्पत्ति का अभाव—इमस्मिं सति इदं होति, इमस्स उप्पादा इदं उप्पज्जति, इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति[3]।

प्रतीत्य (प्रति + इ गतौ × ल्यप्) अर्थात् कारण पूर्वक समुत्पाद (उत्पत्ति) होना प्रतीत्य समुत्पाद है—हेतु प्रत्यय सापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्य समुत्पादार्थः। इसी प्रकार "पच्चय सामग्गिं पटिच्च समं सह च पच्चयुप्पन्नधम्मे उप्पादेतीति पटिच्च समुप्पादो" भी कहा गया है। अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादयमुत्पद्यते इति इदं प्रत्ययार्थः प्रतीत्य समुत्पादार्थः[4]। इसे बौद्ध दर्शन का एक गम्भीर सिद्धान्त माना गया है। धर्म, बुद्ध और प्रतीत्यसमुत्पाद की एकाकारता से भी इस सिद्धान्त का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

कुछ विद्वान प्रतीत्यसमुत्पाद को बुद्ध की मूल देशना में सम्मिलित नहीं करते। ग्रादेर एवं फ्रांके ने इसे उत्तर कालीन प्रक्षिप्तांश बताया है[5] जबकि श्रीमती रिज डेविड्स इसके प्रस्थापक का नाम कल्पित मानती हैं[6]।

---

१. विनय पिटक, महावग्ग

२. विनय पिटक, महावग्ग, १.१.३. विसुद्धिमग्ग, १७-६, ललितविस्तर, पृ. २८६, इस सन्दर्भ में प्रतीत्य समुत्पाद का नाम नहीं है। परन्तु वहां उसके स्थान पर शून्यतानुपलम्भ निर्वाण, शब्द दिया गया है। इसी से स्पष्ट है कि यहां प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण को पृथक् नहीं माना गया।

३. मज्झिमनिकाय, ३.२.५

४. माध्यमिक वृत्ति, पृ. ९

५. औरिजन्स आफ बुद्धिज्म, पृ. ४०६

६. शाक्याज़, पृ० १३८-४८

परन्तु ये मत स्वीकार्य नहीं हो सकते क्योंकि तथागत ने सम्बोधिकाल में इसका साक्षात्कार किया था। तदुपरान्त बुद्ध ने इसे मूल देशना में सम्मिलितकर चतुरार्यसत्य के अन्तर्गत इसकी गणना की थी और मज्झिमपटिपदा के नाम से इसे परिचित कराया था।

बुद्ध का यह प्रतीत्यसमुत्पाद शाश्वतवाद, अहेतुवाद, विषमहेतुवाद, नियतिवाद, उच्छेदवाद, अक्रियावाद, नास्तिकवाद आदि सिद्धान्तों के खण्डन का प्रतीक है। हेतुओं पर निर्भरता, ईश्वर-निर्माण अथवा भवितव्यता की अस्वीकृति एवं दुःख परम्परा का निरोध-प्रदर्शन इस सिद्धान्त का मूल उद्देश्य था। "जो धर्म (पदार्थ) हैं। उनके हेतु को तथागत ने कहा है और उनके निरोध को भी उन्होंने बताया है। महाश्रमण का यही मत है।" यह कथन प्रतीत्य समुत्पाद की सुन्दर व्याख्या उपस्थित करता है।[1] यही इसका प्रथम चरण है।

प्रतीत्यसमुत्पाद में परतन्त्रता दिग्दर्शित है। माध्यमिकों के शून्यता पक्ष का यह आधार स्तम्भ रहा है। डॉ॰ पाण्डेय के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद और माध्यमा प्रतिपदा में विवर्तवाद का विकसित रूप देखा जाता है। उनका यह भी मत है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का एक पारमार्थिक पक्ष है जो पुरुषार्थ को सत् और असत् से परे बताता है और एक व्यवहारिक पक्ष है जो संसार में कार्यकारण नियम का विशिष्ट प्रतिपादन करता है। इससे एक ओर यह विदित होता है कि दुःख का मूल कारण संसार को सत् अथवा असत् समझ लेना है। यही अविद्या है। दूसरी ओर अविद्या ग्रस्त चित्त के लिए दुःखात्मक संसार चक्र निरन्तर कर्म, तृष्णा आदि का सहारा लेकर चलता रहता है।[2]

प्रतीत्यसमुत्पाद द्वादश निदानों पर आधारित है अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, और जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य-उपायास। उदान और विसुद्धिमग्ग में भी इन्हीं बारह कारणों-निदानों-का उल्लेख मिलता है। ये बारह निदान अनुलोम और प्रतिलोम के माध्यम से क्रमशः दुःखसमुदय और दुःखनिरोध का निरूपण करते हैं। इन अंगों का निरूपण अनेक प्रकार से मिलता है—

---

१. ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेसं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो, एवं वादी महासमणो॥ विनय॰ महावग्ग।
यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोधधम्मं, वही।

२. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ॰ ८६।

कहीं संक्षिप्त और कहीं विस्तृत,[1] कहीं एक से बारह[2], कहीं सात से बारह[3], कहीं बारह से एक[4], कहीं आठ से एक, कहीं तीन से बारह, और कहीं पाँच से आठ निदानों का वर्णन किया गया है।[5] इन उद्धरणों से ऐसा लगता है कि तथागत ने विभिन्न समयों में दुःखोत्पत्ति के कारणों को विविध रूप से प्रस्तुत किया था और उन सभी उपदेशों में से उक्त बारह निदानों को संकलित कर दिया गया। यह समूचा संकलन महानिदान सुत्त में उपलब्ध होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के विकास का यह द्वितीय चरण है।

प्रतीत्य समुत्पादवाद के अर्थ के उद्घाटक मूलतः तीन सूत्र हैं—(१) इसके होने पर यह होता है (अस्मिन् सति इदं होति), (२) कोई भी पदार्थ यथार्थ उत्पन्नत्व नहीं है, केवल प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व होता है, और (३) समस्त धर्म निर्व्यापार होते है। अर्थात् समस्त संस्कृत पदार्थ हेतु-प्रत्यय जनित होते हैं।

हेतु वचन, अवयव, कारण, मूल का नाम है और जो धर्म जिस धर्म की स्थिति अथवा उत्पत्ति का कारक होता है वह उसका प्रत्यय कहा जाता है। प्रत्यय, हेतु, कारण, निदान, सम्भव, प्रभव आदि शब्द अर्थ से एक हैं और व्यञ्जन से भिन्न है।[6] स्थविरवाद में (राग, द्वेष, और स्नेह) हेतु की अवस्थाओं को विकृत करते हैं और प्रत्यय की धर्म उत्पत्ति अथवा निर्वृत्ति में उपकारक होता है।

स्थविरवाद में राग, द्वेष और स्नेह ये तीन हेतु हैं जो चित्त की अवस्थाओं को विकृत करते है और चौबिस प्रत्यय हैं जो धर्म की उत्पत्ति अथवा निर्वृत्ति में उपकारक होते हैं। चौबीस प्रत्यय हैं-हेतु, आरम्मण, अधिपति, अनन्तर, समनन्तर, सहजात, अञ्ञमञ्ञ, निस्सय, उपनिस्सय, पुरेजात, पच्छाजात, आसेवन, कम्म, विपाक, आहार, इन्द्रिय, झान, मग्ग, सम्पयुत्त, अत्थि, विगत, और अविगत। सर्वास्तिवाद मे चार प्रत्यय (आलम्बन, समनन्तर, अधिपति, और सहकारी), छः हेतु (कारण, सहभू, सम्प्रयुक्त, सभाग, विपाक, और सर्वत्रग), तथा चार फल (निष्यन्द, पुरुषकार, अधिपति, और विसंयोगफल), स्वीकार किये गये हैं।

---

१. विसुद्धिमग्ग, पृ० ३९६-९७ २. उदान और विसुद्धिमग्ग,
३. निदानसंयुक्त, ४. निदानसंयुक्त और उदान
५. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ३२०
६. विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद १७

बौद्धधर्म में दुःख प्राप्ति का मूल कारण कर्म माना गया है, यद्यपि वहां अन्य कारणों का भी उल्लेख मिलता है, जैसे पित्त, श्लेष्म, वात, सन्निपात, ऋतु, और विषम।[१] यहां भी प्रतीत्य-समुत्पाद का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भव-चक्र हेतु-प्रत्यय के द्वादश निदानों पर अधारित है। इसका प्रधान कारण चतुरार्यसत्य सम्बन्धी अज्ञान (अविद्या) है।[२] बौद्ध दर्शन में अविद्या से बन्ध तथा विद्या से मोक्ष माना जाता है। अनित्य, अनात्मक, अशुचि और दुःख रूप सभी पदार्थों को नित्य, सात्मक, शुचि, और सुख रूप मानना अविद्या है। इस अविद्या से रागादिक संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कार तीन प्रकार के हैं—पुण्योपग (शुभ), अपुण्योपग (अशुभ) और आनेञ्ज्योपग (अनुभय-रूप)। वस्तु की प्रतिविज्ञप्ति को विज्ञान कहते हैं। इन संस्कारों के कारण वस्तु में इष्ट, अनिष्ट प्रतिविज्ञप्ति होती है, इसीलिए संस्कार विज्ञान में प्रत्यय अर्थात् कारण माना जाता है। इस विज्ञान से नाम अर्थात् चार अरूपी स्कन्ध वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, तथा रूप अर्थात् रूपस्कन्ध-पृथिवी, जल, अग्नि, और वायु उत्पन्न होता है। इस पञ्चस्कन्ध को नामरूप कहते हैं। विज्ञान से ही नाम और रूप को नामरूप संज्ञायें मिलती है। अतः इन्हें विज्ञान-सम्भूत कहा गया है। इस नामरूप से ही चक्षु आदि पांच इन्द्रियां और मन ये षडायतन होते हैं। अतः षडायतन को नामरूप प्रत्यय कहा है। विषय, इन्द्रिय और विज्ञान के सन्निपात को स्पर्श कहते है। छह आयतन - द्वारों का विषयाभिमुख होकर प्रथम ज्ञान-तन्तुओं को जाग्रत करना स्पर्श है। स्पर्श के अनुसार वेदना अर्थात् अनुभव होता है। वेदना के बाद उसमें होने वाली आसक्ति तृष्णा कहलाती है। उन-उन अनुभवों में रस लेना, उनका अभिनन्दन करना, उनमें लीन रहना तृष्णा है। तृष्णा की वृद्धि से उपादान होता है। यह इच्छा होती है कि मेरी यह प्रिया मेरे साथ सदा बनी रहे, मुझमें सानुराग रहे और इसीलिए तृष्णातुर व्यक्ति उपादान करता है। इस उपादान से ही पुनर्भव अर्थात् परलोक को उत्पन्न करने वाला कर्म होता है। इसे भव कहते हैं। यह कर्म मन, वचन और काम इन तीनों से उत्पन्न होता है। इससे परलोक में नये शरीर आदि का उत्पन्न होना जाति है। शरीर स्कन्ध का पक जाना जरा है और उस स्कन्ध का विनाश मरण कहलाता है। इसीलिए जरा और मरण को जाति प्रत्यय बताया है। इस प्रकार यह द्वादशाङ्ग

---

१. अंगुत्तर निकाय (रोमन) भाग ३, पृ० १३१

२. मज्झिमनिकाय, १,१,६

वाला चक्र परस्परहेतुक है। इसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य अर्थात् एक को निमित्त बनाकर अन्य का समुत्पाद अर्थात् उत्पन्न होना। इसके कारण यह भवचक्र बराबर चलता रहता है। जब सब पदार्थों में अनित्य, निरात्मक, अशुचि और दुःख रूप तत्वज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है। फिर अविद्या के विनाश से क्रमशः संस्कार आदि नष्ट होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में अविद्या से बन्ध और विद्या से मोक्ष माना गया है।[१]

इन द्वादश निदानों में प्रथम दो निदान अतीत भव से, तीन से दस तक निदान वर्तमान भव से और शेष अन्तिम दो निदान अनागत भव से सम्बद्ध हैं। इस तरह ये सभी प्रत्यय अन्योन्याश्रित हैं। योगाचारवादियों ने बारह निदानों का सम्बन्ध केवल दो जन्मों के साथ माना है। प्रथम से दस तक के निदानों का सम्बन्ध एक जन्म से और शेष दो निदानों का सम्बन्ध द्वितीय जन्म से स्वीकार किया गया है। उन्होंने निदानों के चार विभेद किये हैं[२]—

वर्तमान	१. बीज उत्पादक शक्ति	— अविद्या, संस्कार
	२. बीज	— विज्ञान-वेदना
	३. बीजोत्पादन सामग्री	— तृष्णा, उपादान तथा भव
भविष्य	४ व्यक्त कार्य	— जाति, जरा मरण

प्रतीत्य समुत्पाद के विकास का यह तृतीय चरण है।

उत्तर कालीन बौद्ध आचार्यों ने प्रतीत्य समुत्पादवाद का सैद्धान्तिक पक्ष दार्शनिक रूप से विकसित किया। आचार्य बुद्धघोष ने इसकी विविध प्रकार से मीमांसा करते हुए शून्यता रूपी अनात्मवाद की सिद्धि का आधार माना है।[३] सर्वास्तिवाद के अनुसार प्रतीत्य-समुत्पाद के चार भेद हैं—क्षणिक, प्राकर्षिक (अनेक जन्मिक), सांबन्धिक (हेतु-फल सम्बन्ध युक्त) और आवस्थिक (पंचस्कन्धिक बारह अवस्थायें)। विज्ञानवाद में प्रतीत्यसमुत्पादको आलय विज्ञान के माध्यम से व्यक्त किया गया है। वहां अलयविज्ञान सांक्लेशिक बीजों का संग्रह स्थान, मूलविज्ञान, कर्मस्वभाव अथवा कारण-

---

१. तत्त्वार्थ वार्तिक, १.४६, हिन्दी सार, पृ० २७१-२, तुलनार्थ देखिये—विसुद्धिमग्ग, १७ वां परिच्छेद, शिक्षा समुच्चय, पृ० २१६, बोधिचर्यावतार पं० पृ० ३६८, माध्यमिक का० पृ० ५६४,

२. उपाध्याय, बलदेव-बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ० ७७

३. विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद १७

स्वरूप भी है। उसे न शाश्वत और न उच्छिन्न प्रस्तुत सन्तति-मूलक स्वीकार किया गया है। [illegible] ने प्रतीत्यसमुत्पाद को आलयविज्ञान का स्वभाव होने के कारण सस्वभावी (हेतु-फल की निरन्तर प्रवृत्ति रूप) माना है। यहां प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ चलितशील विश्व माना गया है।[1] प्रतीत्य समुत्पाद के विकास का यह चतुर्थ चरण है।

हीनयान में प्रतीत्य समुत्पाद के व्यावहारिक पक्ष को उद्घाटित किया गया परन्तु महायान ने उसके पारमार्थिक पक्ष को प्रधानता दी। नागार्जुन ने शून्यता की सिद्धि में प्रतीत्य समुत्पाद को ही आधार माना है। उनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य नित्य एकान्तवाद अथवा अनित्य-एकान्तवाद से नहीं प्रत्युत नित्यानित्य-विनिर्मुक्त शुद्ध शून्यवाद मानने में है। यह शून्यवाद ही मध्यमा प्रतिपदा है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद् अशाश्वत-अनुच्छेदवाद को प्रस्तुत करता है।[2]

आर्यदेव ने भी स्वभावशून्यता की सिद्धि प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से की। चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि जो प्रतीत्यसमुत्पन्न होता है वह अज्ञात है क्योंकि उसकी उत्पत्ति स्वभावतः नही होती। जो प्रत्यय के आधीन होता है वह शून्य कहा जाता है। संसार को दुःखों से मुक्त करना महाकारुणिक बुद्ध का उद्देश्य है जिसकी सिद्धि प्रतीत्यसमुत्पाद के अविरुद्ध पदार्थों के निःस्वभावत्व को दिखाने से होती है।[3] यहां प्रतीत्य समुत्पाद के प्रति अपनी गहरी आस्था व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जैसे सूर्य की किरणों से निरस्त तिमिर द्वारा चिरकाल में भी आकाश काला नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार गम्भीर, उदार, और अचिन्त्य प्रतीत्यसमुत्पाद रूपी सूर्य-किरण द्वारा समस्त वादियों के समय (सिद्धान्त) रूपी अन्धकार खण्डित हो जाते हैं।[4]

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि माध्यमिक वृत्ति में चन्द्रकीर्ति ने 'प्रतीत्य' शब्द के 'इत्य' शब्द में समुत्पाद के साथ वीप्सार्थक (प्रति-प्रति इत्यानां समुत्पादः = पुनः पुनः विनाशशील = भावों का उत्पाद) समास स्वीकार नहीं किया। उनका तर्क है कि जहां देशना में अर्थ को स्वीकार

---

१. बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ४४१ त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका २, ५, ८, १५; विशेष देखिये—अभिधर्मकोश, तृतीय कोश।

२. माध्यमिक कारिका, १५-१०, २४.१८; बौद्धागमार्थ संग्रह, पृ० १६४

३. चतुःशतक, १६.२३ वृत्ति ४. वही, १६.२५ वृत्ति

किया गया है और उक्त अर्थ का ज्ञान ऐकेन्द्रिय से होता बताया गया है वहां यह वीप्सार्थता असंगत हो जायगी। जैसे "चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि च उत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानं" में चक्षुरिन्द्रिय हेतुक ज्ञान है और वह एकार्थक है अतः वहां वीप्सार्थ की पौनपुण्यता कैसे संभव होगी! इसके विपरीत चन्द्रकीर्ति ने प्रतीत्यसमुत्पाद को प्राप्त्यर्थक माना है। इस मान्यता में अर्थ विशेष अङ्गीकृत हो या न हो, दोनों अवस्थाओं में प्रतीत्य की प्राप्त्यर्थता सम्भव है। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि चन्द्रकीर्ति ने प्रतीत्यसमुत्पाद को सकारणता और परिवर्तनशीलता के साथ ही सापेक्षता का भी प्रतीक माना है—हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पादः (पृ० ५)। नागार्जुन की दृष्टि में यही प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यवाद है—यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे (माध्यमिक कारीका)[1]।

प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ चन्द्रकीर्ति की दृष्टि से "इदं प्रत्ययता" नहीं क्योंकि इसमें 'प्रतीत्य' और 'समुत्पाद' में गर्भित अर्थ का अभिधान नहीं है। उनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद में उत्पाद और निरोध का सन्दर्भ अवश्य है पर वहां नेयार्थता (मोक्ष साधन) और नीतार्थता (फल रूप मोक्ष) कराते हुए उन्होंने निःस्वभावता को सिद्ध किया है। समूचे माध्यमिक शास्त्रों ने इसी सन्दर्भ में प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण किया है। पदार्थों को तीनों कालों में निःस्वभाव बताते हुए उन्हें उत्पाद और निरोध से रहित अतएव मृषार्थक प्रदर्शित किया है। उनकी दृष्टि में प्रतीत्य समुत्पाद का तात्पर्य ही निःस्वभाव हो गया। निःस्वभावका अर्थ है स्वभाव से अनुत्पन्न पदार्थ। ऐसा पदार्थ स्वप्न सदृश, शून्यतात्मक, और अनात्मक होता है। जिसकी उत्पत्ति कारण पूर्वक होती है वह स्वतन्त्र रूप से नही होता। चूंकि स्वरूप स्वतन्त्र नहीं होता इसलिए उसके स्वयं का अस्तित्व नहीं होता। पदार्थ को शून्यतात्मक मानने का यही कारण मुख्य है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सभी पदार्थों का अभाव है। प्रतीत्य समुत्पन्न वस्तु तो माया केस मान है। निःस्वभाव होने से भाव दर्शन भी विपरीत हो जाता है। इसलिए भाव स्वभावत्व वादियों की दृष्टि में प्रतीत्य समुत्पादाभाव और शाश्वतोच्छेद दृष्टिदोष उपस्थित हो जाते हैं।

भाव स्वभावत्व वादियों के मन में प्रतीत्य–समुत्पाद विषयक मान्यता होते हुए भी वस्तुतः उसका यथार्थ रूप उसमें नहीं मिलता। जिस प्रकार व्यवहार से अनभिज्ञ बालक प्रतिबिम्ब में सत्यता के अध्यारोप

---

1. बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ४५२ विशेष देखिये—अभिसमं विनिश्चय सूत्र।

से यथावत् अवस्थित स्वभाव शून्यता के खण्डन से सत्स्वभावत्व प्रतीति में प्रतिबिम्ब की कल्पना को नहीं जानता उसी प्रकार भावस्वभावत्व वाद में प्रतीत्य समुत्पाद को स्वीकार किये जाने पर भी स्वभावतः शून्यात्मक पदार्थ के निःस्वभावत्व को ग्रहण न करने के कारण और असत् स्वरूप को सत्स्वरूप रूप से ग्रहण करने के कारण शून्यात्मक पदार्थ की स्वीकार नहीं करते।[1]

प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से पदार्थ के निःस्वभावत्व की सिद्धि प्रतीत्य समुत्पाद के विकास का पञ्चम चरण है। यहां प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ ही निःस्वभावत्व स्वीकारकर लिया गया है[2]। निःस्वभावत्व के ज्ञान से राग का कारण, संसार का बीज रूप विज्ञान सर्वथा निवृत्त हो जाता है। इसी रीति से श्रावकों की, अनुत्पन्न धर्म के कथन करने की सामर्थ्य वाले बुद्धों की तथा बोधिसत्वों की संसार से निवृत्त होने की व्यवस्था की गई है। प्रतीत्य समुत्पाद और निर्वाण का यह पारस्परिक सम्बन्ध विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्रतीत्यसमुत्पाद इदम्प्रत्ययता एवं सापेक्षता का सूचक है परन्तु निर्वाण का अध्यात्मिक लक्ष्य संसारण के कारणों का निरोधकर परमार्थ की प्राप्ति का संकेत करना है।

इसी प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा शून्यता का उपयोग उत्तरकाल में गुह्य साधना के क्षेत्र में बहुत अधिक हुआ। वज्रसत्व, वज्रधर, वज्रपाणि तथागत आदि सभी इस शून्यता के प्रतीक हैं। वज्र शब्द को भी शून्यतार्थक माना गया। प्रतीत्यसमुत्पाद के विकास का यह षष्ठ चरण है।

---

५. मध्यम मार्ग

प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या को और अधिक स्पष्ट करने के लिए भगवान् बुद्ध ने मध्यम मार्ग (मज्झिम पटिपदा) का अन्वेषण किया। यह शाश्वतवाद और उच्छेदवाद अथवा कामसुखल्लिकानुयोग और अत्तकलमथानुयोग के बीच का पथ है जिसका उपदेश बुद्ध ने भिन्न-

---

१. वही, पृ० ४६०

२. चतुःशतक, १४. २३ वृत्ति.

भिन्न अवसरों पर अपने अनुयायियों को दिया था।[1] चन्द्रकीर्ति की दृष्टि में मध्यमा प्रतिपद् दोनों अन्तों का मध्य है—अरूप्य, अनिदर्शन, अप्रतिष्ठ, अनाभास, अनिकेतन और अविज्ञप्तक"[2]। श्री मती रिज डेविड्स ने मज्झिम पटिपदा को अनित्यता और परिवर्तन का उपदेश माना है।[3] परन्तु यह तथ्यसंगत प्रतीत नहीं होता। बुद्ध ने पदार्थ जगत् का अस्तित्व "है भी और नहीं भी है" ऐसा स्वीकार नहीं किया प्रत्युत उसे "न सत् एवं न असत्" माना है। प्रतीत्य समुत्पाद में इसी सूत्र को हम विकसित अवस्था में पाते हैं।

---

६. कर्मवाद

बौद्धधर्म एक मनोवैज्ञानिक धर्म है। मनोविज्ञान की आधार शिला पर वह प्राणि-जगत को कम्मदायाद, कम्मयोनि, और कम्मपटिसरण कहता है।[4] कर्म ही पुनर्जन्म का मूल कारण है। सद्गति और असद्गति का आधार कर्म को माना गया है। यही उसका विपाक है—

कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्मसम्भवो।

कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तती॥

कर्म मूलतः दो प्रकार के हैं—चित्तकर्म (मानसिक कर्म) और चैतसिक कर्म (काय और वचन से उत्पन्न कर्म)।[5] इनमें चित्तकर्म प्रधान हैं।[6] कर्म पहले 'कृत' होते हैं और फिर 'उपचित' होते हैं। कर्म करने की पृष्ठ भूमि में चित्त भावना का आधार हुआ करता है अर्थात् भावों की शुद्धि-अशुद्धि पर कर्म-प्रकृति निर्भर रहती है। संकल्प (प्रयोग), संकल्प

---

१. संयुक्त निकाय, २, १, १५-१७; धम्मचक्कपवत्तनसुत्त

२. प्रसन्नपदा मा० का०, पृ० २६६ ३. बुद्धिज्म, पृ० ६४

४. कम्मस्सका माणव सत्ता कम्मदायादा कम्मयोनी कम्मबन्धु कम्मपटिसरणा कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीनपणीतताया ति, मज्झिम. ३.४५

५. चेतनाहं भिक्खवे कम्मं ति वदामि। चेतयित्वा हि कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा वा—अङ्गुत्तर निकाय

६. मनो पुब्बंगमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया-धम्मपद

के अनुसार सामग्री का एकत्रीकरण (मौल प्रयोग), संकल्प को कार्य रूप में परिणत करना (मौल कर्म पथ), और अनुवर्तन (पृष्ठ) ये कर्म की परिपूर्णता के चार सोपान द्रष्टव्य हैं। सर्वास्तिवादियों के अनुसार चेतना चित्तसहगत धर्म हैं। हमारा ध्यान कभी अनित्य और अशुभ को अशुभ समझता है (योनिशो मनसिकारो) और कभी इसके विपरीत भी हो जाता है (अयोनिशो मनसिकारो)। कुशल और अकुशल कर्म का सम्बन्ध इन दोनों प्रकार के ध्यानों से होता है। लोभ, द्वेष और मोह ये तीन अकुशल मूल हैं तथा अलोभ, अद्वेष, अमोह, निर्वेद, विराग आदि कुशल मूल हैं। पिटक में कहीं कृष्ण, शुक्ल, कृष्ण-शुक्ल और अकृष्ण-अशुक्ल के भेद से कर्मों का विभाजन मिलता है और कहीं कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल के रूप में षडभिजातियों अथवा लेश्याओं का वर्णन मिलता है। यह लेश्या-प्रकार जैन एवं आजीविक से सम्बद्ध होना चाहिए। कर्मवाद का यह प्रारम्भिक रूप है।

बुद्ध की दृष्टि में कर्म एक प्रकार का चित्त संकल्प है जिसे उन्होंने 'चेतना' शब्द कहकर व्यवहृत किया है[1]। उसे वे न तो वैदिक सिद्धान्त के समान अदृष्ट शक्ति मानते हैं और न जैनों के समान पौद्गलिक मानते हैं। बल्कि वे उसे अनादि और अविच्छिन्न परम्परा में घटित एक घटना मात्र मानते हैं। उनके अनुसार स्वकृत कर्मों के फल का भोक्ता प्राणी स्वयं होता है, अन्य नहीं। यह कर्मफल पांच प्रकार का है—अधिपतिफल (कारण हेतु से निवृत्त फल), निष्यन्दफल (सास्रव कर्मों का फल), विसंयोग फल (मोह एवं क्लेश का उच्छेदक और पुरुषकारफल (सहभू और सम्प्रयुक्त हेतु जन्य)। कर्म विपाक दुर्विज्ञेय और दुर्लभ्य है। तृष्णा से अभिव्यन्जित होकर कर्म विपाक देते है। कर्मवाद के विकास का द्वितीय चरण है

सर्वास्तिवाद (वैभाषिक) परम्परा में अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न का अस्तित्व है अतः कर्म अपने विपाक फल को क्रियाकाल में आक्षिप्त करता है और कर्म के अतीत होने पर विपाक का दान करता है। चन्द्रकीर्ति इसे अस्वीकार करते हैं और कर्म को क्रिया काल में निरुद्ध बताकर कर्ता

---

१. चेतना चेतयित्वा च कर्मोक्तं परमर्षिणा।
तस्यानेकविधो भेदः कर्मणा परिकीर्तितः॥
तत्र यच्चेतनेत्युक्तं कर्म तन्मानसं स्मृतं।
चेतयित्वा च यत्तूक्तं तत्तु कायिकवाचिकम्॥ मध्यमक, १७. २-३.

चित्तसन्तान में 'अविप्रणाश' नामक द्रव्य का उत्पाद बतलाते हैं"।[1] सौत्रान्तिक अतीत और अरूपी संस्कृत (प्राप्ति) नामक धर्मों के अस्तित्व को नहीं मानते। वे बाह्यार्थ और चित्त सन्तान का निषेध नहीं करते किन्तु कर्म और कर्म विपाक को चित्त में अहित होना बताते हैं। वे विज्ञानवादी रूप के अस्तित्व को नहीं मानते। कर्मवाद के विकास का यह तृतीय चरण है।

कर्म संसरण का मूल कारण होता है[2] और संसरण का अर्थ है संसार में जन्म-मरण ग्रहण करना। भगवान् बुद्ध को अपने शिष्यों के पुनर्जन्म के विषय में ज्ञान था। उनका यह ज्ञान उनके स्वसंवेद्य अनुभव का परिणाम था।[3] भिक्षुणी ऋषिदासी, जैसी महाकाश्यप और सारिपुत्र जैसे भिक्षु भी पूर्वजन्म सम्बन्धी ज्ञान से परिपूर्ण थे। धम्मपद का "गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न कहासि" कथन पुनर्जन्म से ही सम्बन्धित है। वर्णवाद भी कर्म पर आधारित है। इसलिए भगवान् ने कर्म प्रतिशरण होने के लिए कहा है। बुद्ध, धम्म और कम्म में कोई अन्तर नहीं। तथागत तो मात्र मार्ग दर्शक हैं।[4] उत्तम कार्य करते हुए उन्होंने सदैव आत्मसंयमी होने का उपदेश दिया।[5] आर्यदेव ने भी यह स्पष्ट किया है कि संसार से मोह होना दुःख का मूल कारण है।[6] उत्तम गति में भी अनिष्ट कर्म फल से दरिद्रता, दुर्बलता आदि जैसी विडम्बनायें बनी रहती हैं।[7] वहां सम्पत्ति से मान और उससे अधःपतन होता है।[8] यही सब पुनर्जन्म का कारण और फल है।

आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करना और पुनर्जन्म को स्वीकार करना ये दोनों परस्पर विपरीत तत्व प्रतीत होते हैं। सति केवट्ट पुत्त नामक भिक्षु के मन में भी इसी प्रकार की अनेक शङ्कायें रही होंगी।[9] भगवान् ने उनका समाधान किया था और बताया था कि विज्ञान प्रतीत्य-समुत्पन्न है। प्रथम का अन्तिम विज्ञान विलीन होता है और द्वितीय जन्म का प्रथम विज्ञान उत्पन्न होता है। अत एव न तो वही जीव बना रहता है और

---

१. माध्यमिक वृत्ति, १७२३; बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ३७२

२. चतुःशतक, ७.४

३. विनयपिटक, महावग्ग; मज्झिमनिकाय, १.३.१

४. तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता, धम्मपद, २०.४.

५. दीघनिकाय, महापरि निब्बाणसुत्त,

६. चतुःशतक, ८.१३

७. वही, ७.७.

८. वही, ७-१६

९. संयुत्त निकाय, १२-७

न अन्य जीव ही उत्पन्न होता है। मिलिन्दपञ्ह में नागसेन और मिलिन्द के बीच हुए संवाद में भी यही बात कही गई है। मिलिन्द के प्रश्न पर नागसेन ने कहा कि जिस प्रकार शैशवावस्था से बढ़ता हुआ वही व्यक्ति वृद्धावस्था तक पहुंचता है। हम दोनों अवस्थाओं में रहने वाले व्यक्ति को एक दूसरे से भिन्न अथवा अभिन्न नहीं कर सकते। उसी प्रकार पुनर्जन्म में जन्मा व्यक्ति न पूर्व-जन्म से भिन्न है और न अभिन्न (न च सो न च अञ्ञो)। धर्मों के निर्बाध प्रवाह से, उनके संघात रूप में आ जाने से एक उत्पन्न होता है, दूसरा निरुद्ध होता है। यह उत्पाद और निरोध युगपत्वत् प्रतीत होता है। अतएव न तो वह वही है और न उससे भिन्न ही है। यह नाम-रूप के द्वारा कुशल-अकुशल कर्म करता है और उन कर्मों के द्वारा एक अन्य नाम-रूप उत्पन्न होता है। वही संसरण करता है और कर्म के निःशेष हो जाने पर यह संसरण बन्द हो जाता है।[1]

बौद्धधर्म में साधारणतः आत्माका प्रतिषेध किया गया है। उसके विपरीत उत्पन्न प्रश्नों का समाधान दो प्रकार से हुआ है। प्रथमतः पुद्गलवादी हैं जिन्होंने पुद्गल (आत्मा) को स्कन्धों से न भिन्न माना है और न अभिन्न है प्रत्युत उसकी उपलब्धि पंच-विज्ञान काय और मनोविज्ञान में स्वीकार की है। उनकी दृष्टि में पुद्गल एक वस्तु-सत् है, एक द्रव्य है, किन्तु स्कन्धों से उसका सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार वह न नित्य है और न अनित्य है। दूसरा समाधान यह है कि जिसे लोक में आत्मा आदि कहते हैं, वह एक सन्तान (सन्तति) है जिसके अंगों का हेतु-फल-सम्बन्ध है। मृत्यु से इसका उपच्छेद नहीं होता। मृत्यु केवल उस क्षण को सूचित करती है, जब नई परिस्थितियों में नवीन कर्म समूह का विपाक प्रारम्भ होता है। इसमें वाक्चातुरी है, किंतु एक पहेली है। जिस सन्तति की कल्पना बौद्ध करते हैं, उसमें आत्मा के सब सामर्थ्य पाये जाते हैं।[2]

नागार्जुन ने कर्म को भी निःस्वभाव मान लिया है। उनका मन्तव्य है कि यदि कर्म स्वभावतः होता तो वह शाश्वत और अकृत होता। पर वह शाश्वत और अकृत होता नहीं, अन्यथा अकृताभ्यागम दोष की प्रसक्ति होगी। सिद्धान्त में दृढ़ता लाने के लिए कर्म के कारण क्लेश को भी नागार्जुन ने

---

१. मिलिन्द पञ्ह, लक्खणपञ्ह

२. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्म-दर्शन, पृ. ३८५–६.

निःस्वभाव मान लिया। आर्यदेव ने भी नागार्जुन के मन्तव्य का समर्थन किया है।[1] इसे कर्मवाद के विकासका हम चतुर्थ चरण कह सकते हैं।

---

७. निर्वाण

निर्वाण आध्यात्मिक साधना की वह परम सीमा है जहाँ समस्त कर्मास्रवों का क्षय हो जाता है। वह स्थिति अतीन्द्रिय परम सुखकारी है[2]। इतिवुत्तक (सुत्त. ४३) में निर्वाण को अतर्कावचर ध्रुव, अजात, असमुत्पन्न, अशोक और विरज पद माना है। त्रिपिटक मे प्राय: सर्वत्र उसे स्वसंवेद्य स्वीकार दिया गया है। थेर-थेरी गाथा मे भिक्षुओं और भिक्षुणियो के मनोहारी अनुभव संकलित हैं। भगवान् बुद्ध ने अभिसम्बोध काल में उसका स्वयं साक्षात्कार किया था। थेर गाथा में विविध स्थलों में निर्वाण को अभव, शान्त और अमृत पद माना गया है। यह अमृत पदरूपा निर्वाण, राग, द्वेष और मोह के क्षय से प्राप्त होता है।[3] तृष्णा के क्षय को भी निर्वाण कहा है।[4] निर्वाण इसी जन्म में प्राप्त होता हैं। इसी को सोपधिशेष निर्वाण कहा गया है। इस निर्वाण पद को अच्युत भी कहा गया है।[5] अर्थात् एक बार निर्वाण प्राप्त होने पर वहां से च्युत होने का प्रश्न ही नहीं। सोपधिशेष निर्वाण प्राप्ति के लिए साधक को लोभ, ईर्ष्या, मोह, मान, दृष्टि, विचिकित्सा, स्त्यान, औद्धत्य, अह्री तथा अनुत्ताप इन दस क्लेशों का आत्यन्तिक विनाश करना पड़ता है। इस प्राप्ति के चार सोपान हैं—स्रोतापत्ति, सकदागामि, अनागामि और अर्हत्। यह एहिपस्सक धम्म है और इसका सम्बन्ध जीवन की अवस्था से निर्वृत होना है। निरुपधिशेष निर्वाण जीवन की उस निर्वृत अवस्था के बाद की अवस्था का नाम है। प्रथम अनुभूति से सम्बन्धित और स्कन्ध सहगत निर्वाण है और द्वितीय अतीत से सम्बन्धित स्कन्ध विनिर्मुक्त निर्वाण है।

---

१. चतुःशतक, ७.१८–२३.

२. निब्बाणं परमं सुखं, मज्झिम; २. ३. ५

३. रागक्खयो, दोसक्खयो, मोहक्खयो, इदं वुच्चति निब्बाणं,—संयुत्त, जम्बु, संयुत्त.

४. तण्हाय विप्पहानेन निब्बाणं इति वुच्चति–सुत्तनिपात, पारायण वग्ग,

५. विद्धम्माभिनिब्बुता–उदान, पाटलिगामियवग्ग।

६. अहस्सं विरजं निब्बाणं परम च्चुतं—थेरीगाथा, ६७.

परमपद निर्वाण की प्राप्ति संस्कारों के पूर्ण शमन से होती है। वह एक ऐसा आयतन है जहां पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, आकिञ्चन्य, लोक, परलोक चन्द्र, सूर्य, च्युति, स्थिति, आधार आदि नहीं हैं।[1] उसे असंस्कृत, सत्य, पार अजर, ध्रुव, निष्प्रपञ्च, अमृत, शिव, क्षेम, अद्भुत, विशुद्ध, द्वीप और तृण रूप माना है।[2] निर्वाण को अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत भी कहा गया है।[3] दूसरी ओर बुद्धघोष ने निर्वाण को निषेधात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है कि यहां मात्र दुःख है, दुःखित कोई नहीं, मात्र क्रिया है, कारक कोई नहीं मात्र निर्वाण है, निर्वृत कोई नहीं, मात्र मार्ग है, मार्गानुगामी कोई नहीं। निर्वाण पदमच्चुतमच्चन्तं असङ्खतमनुत्तरं। निब्बानमिति भासन्ति वानमुत्ता महेसयो।। दर्शन के विकास का यह प्रथम चरण होगा।

दुक्खमेव हि न च को पि दुक्खितो
न कारको किरिया च विज्जति।
अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुन
मग्गं अत्थि गमको न विज्जति।।

निर्वाण की उक्त परिभाषाओं एवं स्वरूपों से यह स्पष्ट है कि सामान्यतः स्थविरवाद में निर्वाण सकल दुःखों का अभाव रूप है। उसे चित्त-चैतसिक क्रियाओं का चरम निरोध तथा अभावात्मक स्वीकार किया गया है। निर्गुण उसे एवं, अनिर्वचनीय विशेषण भी दिये जाते हैं। साधक इसे प्रज्ञा के द्वारा प्राप्त करता है।[4] निर्वाण की अजात और अभाव रूप स्थिति में उसे प्रतीत्य समुत्पन्न कैसे कहा जाय और अनात्मवाद का समर्थन कैसे होगा, ऐसे प्रश्न दार्शनिकों और चिन्तकों के मन में प्रायः उठते रहे है। अश्वघोष ने इन प्रश्नों का समाधान बड़ी कुशलता पूर्वक किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न किसी विदिशा में, प्रत्युत तैलक्षय से वह केवल शान्ति को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार प्रज्ञावान् व्यक्तित्व कहीं नहीं जाता, मात्र क्लेशक्षय हो जाने पर शान्ति प्राप्त कर लेता है।

---

१. उदान, पाटलिय वग्ग   २. विसुद्धिमग्ग, ८.२४८.

३. इतिवुत्तक, अज्जात सुत्त। अभिधम्मत्थ संगहो (६.६८) में कहा है—

पदमच्चु तमच्चन्तं असङ्खतमनुत्तरं।
निब्बानमिति भासन्ति वानमुत्ता महेसयो।।

४. मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ ३२९-३३

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्" ॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥[1]

अकलङ्क ने भी बौद्धों के निर्वाण की परिभाषा का उल्लेख किया है। उन्होंने एक स्थान पर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धों के निरोध को मोक्ष कहा है—रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानपञ्चस्कन्धनिरोधादभावो मोक्षः ।[2] और दूसरे स्थान पर निर्वाण को सर्वथा अभावात्मक बताते हैं। मोक्ष की इस परिभाषा के खण्डन के प्रसंग में उन्होंने कहा कि प्रदीप का निरन्वय विनाश असिद्ध है। दीपक रूप से परिणत पुद्गल द्रव्य का भी मुक्त जीवों की तरह विनाश नहीं होता। उनकी पुद्गल जाति बनी रहती है। जैसे हथकड़ी-बेड़ी आदि से मुक्त देवदत्त का स्वरूपावस्थान देखा जाता है उसी तरह कर्मबन्ध के अभाव से आत्मा का स्वरूपावस्थान होता है, इसमें कोई विरोध नहीं।[3] निर्वाण विचार के विकास का यह द्वितीय चरण है।

पुंसे के अनुसार आरम्भ में बौद्धधर्म आत्मा, पुनर्जन्म और निर्वाण में विश्वास करता था। वह दर्शन न था। बाद में धर्म नैरात्म्य की भावना और मद-निर्मदन के लिए नैरात्म्यवाद की स्थापना हुई। इसके दो रूप हुए—पुद्गलवाद और सन्ततिवाद। किन्तु पुनर्जन्म में जो विश्वास था, वह नष्ट नहीं हो सका। जो सन्ततिवाद के मानने वाले हैं उनमें कोई निर्वाण को वस्तु-सत् मानते हैं। यह दूसरे सौत्रान्तिक और पुब्बसेलिय हैं। इनमे हम स्थविरों को भी सम्मिलित कर सकते हैं। पहली कोटि मे विभज्जवादी, सर्वास्तिवादी, और वैभाषिक हैं अर्थात् आभिधार्मिक प्रायः पहले मत के है। 'पुब्बसेलिय' निर्वाण को वस्तु-सत् नहीं मानते (बुद्धघोष के अनुसार)। स्थविरों का भी मत है कि निर्वाण का अस्तित्व नहीं है। प्रज्ञप्तिमात्र होने के कारण उन्होंने निर्वाण को स्थापनीय प्रश्नों मे समाहित किया है[4]। वैभाषिक इसे स्वीकार नहीं करते।

---

१. सौन्दरानन्द, १६. २८-२९
२. तत्त्वार्थवार्तिक, १, १, ८
३. वही, १०, ४, १७
४. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० २९३

पुद्गलवादियों के अनुसार निर्वृत स्थिति में भी पुद्गल (आत्मा) का अस्तित्व है। वात्सीपुत्रीय इसे स्कन्धों से न सम्बद्ध मानते हैं और न पृथक्। विज्ञानवाद ने पुद्गल के स्थान पर एक विशुद्ध 'प्रभास्वर चित्त' की कल्पना की है। पांच अथवा आठ पुद्गलवादी, चार महासंघिक निकाय एवं विभज्यवादी निर्वाण के इस स्वरूप को स्वीकार करते हैं। इसके विकास का यह तृतीय चरण है

सौत्रान्तिक निर्वाण को क्लेश-जन्म का अभाव रूप मानते हैं पर वैभाषिक उसे प्रतिसंख्या-निरोध कहते हैं। वैभाषिकों के अनुसार निर्वाण एक नित्य, असंस्कृत धर्म एक पृथक् भूत सत् है और वह अचेतन तथा प्रतिसंख्या-निरोध (सांसारिक आस्रवों का क्षय रूप) है।[1] सौत्रान्तिक वैभाषिकों के उक्त मत से सहमत नहीं। वे निर्वाण को क्लेश क्षय रूप तो मानते है परन्तु अचेतन अवस्था नहीं मानते। वे भगवान् का धर्मकाय स्वीकार करते हैं और निर्वाण को एक अभावात्मक स्थिति स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हीनयान की ये दोनों शाखायें—वैभाषिक और सौत्रान्तिक-निर्वाण को नितान्त अभावात्मक मानती हैं।[1] निर्वाण-दर्शन के विकास का यह चतुर्थ चरण है।

महायानी परम्परा में निर्वाण का कुछ और विकास हुआ। हीनयान दर्शन में मात्र पुद्गलनैरात्म्य की कल्पना थी जिसमें क्लेशावरण का उच्छेद होना है पर महायान दर्शन में उसके अतिरिक्त धर्मनैरात्म्य की भी कल्पना की गई जिसके ज्ञान से ज्ञेयावरण दूर होता है। सत्काय दृष्टि (आत्मदृष्टि) राग-द्वेष का कारण है[2] अतः उसे दूर करने के लिए पुद्गलनैरात्म्य की भावना आवश्यक है। तथा सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए ज्ञेयावरण को दूर करना अपेक्षित है जो शून्यता ज्ञान (धर्मनैरात्म्य) से सम्भव है। दोनों आवरणों के दूर होने से ही सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। यह निर्वाण शब्दतः अनिर्वचनीय है। कल्पना का अपनयन हो जाने पर ही निर्वाण प्राप्य है। महायान में बुद्ध का धर्मकाय स्वीकार किया गया और मानव जीवन का चरम लक्ष्य अर्हत् प्राप्ति न मानकर बुद्धत्व प्राप्ति स्वीकार किया गया। योगाचार बाह्य जगत् का आभास मात्र

---

१. द्रव्यंसत् प्रतिसंख्यानिरोधः—सत्यचतुष्टयनिर्देशनिर्दिष्टत्वात् मार्गसत्यवत् इति वैभाषिकः—अभिधर्मकोश, व्याख्या, पृ० १७।

२. सत्कायदृष्टि प्रभवानशेषान्, क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन्।
आत्मानमस्या विषयञ्च बुद्ध्वा योगी करोत्यात्म निषेधमेव॥
माध्यमिकावतार ६.१२०, मा० वृत्ति, पृ० ३४०

मानकर वस्तुसत्ता का प्रतिषेध करता है वह एक आलयविज्ञान को मानता है जो सर्वधर्मों में बीजवत् सांक्लेशिक कारण रूप से आलीन रहता है। उसे विपाक विज्ञान भी कहते हैं। वह ज्ञेय पदार्थों का आश्रय है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में आलयविज्ञान का वही स्थान है जो आत्मा और जीवितेंद्रिय दोनों का मिलकर अन्य वादों में है।[1] इसे हम निर्वाण के स्वरूप के विकास का पञ्चम चरण कह सकते हैं।

हीनयान और महायान दर्शन में निर्वाण के स्वरूप में कुछ सामान्य विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं और कुछ विशिष्ट विशेषतायें। सामान्य विशेषतायें इस प्रकार हैं—

१. निर्वाण निष्प्रपञ्च और अनिर्वचनीय है। असंस्कृत धर्म होने के कारण वह उत्पाद, विनाश एवं परिवर्तन से दूर है।

२. निर्वाण स्वसंवेद्य है।

३. अष्टाङ्गिक मार्ग का परिपालन निर्वाण-प्राप्ति का साधन है।

४. व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध होता है।

५. अर्हत् निर्वाण निम्न कोटि का है और बुद्ध का ज्ञान तथा शक्ति लोकोत्तर है।

६. त्रिकालवर्ती बुद्धों के लिए यह एक और समान है।

दोनो दर्शनों में सम्मत निर्वाण के स्वरूप की तुलनात्मक विशेषताओं की दृष्टि से उनका विचार वैभिन्न्य इस प्रकार देखा जा सकता है—

हीनयान	महायान
१. बहुधर्मवादी	१. अद्वयवादी
२. संस्कृत धर्म वस्तु-सत् हैं।	२. धर्म संस्कृत (परापेक्ष) होने के कारण स्वभावशून्य हैं।
३. राशि अवयवी प्रज्ञप्ति सत् हैं और केवल धर्म वस्तु है।	३. धर्म शून्य है और केवल धर्मता (धर्मकाय) वस्तु सत् है।
४. पुद्गल नैरात्म्य है। केवल संस्कार सङ्घ है।	४. धर्मनैरात्म्य है और धर्मकाय है।
५. धर्म संस्कृत एवं असंस्कृत में विभक्त हैं और दोनों वस्तु सत् हैं।	५. वस्तु सत् कोई नहीं। दोनों शून्यता के आधीन हैं।

६. संस्कृत वस्तु प्रतीत्य समुत्पन्न है।	६. निरपेक्ष ही वस्तु है, अपापेक्ष नहीं
७. प्रतीत्यसमुत्पादवाद	७. शून्यता धर्म समानार्थक है।
८. परिनिर्वृत तथागत नित्य और अचेतन वस्तु है।	८. तथागत स्वभावतः नहीं, धर्मतः है।
९. निर्वाण सत्व, नित्य, दुःखाभाव तथा पवित्र है।	९. सुखात्मक तथा अनिर्वचनीय है।
१०. निर्वाण प्राप्त (उपलब्ध) है।	१०. निर्वाण अप्राप्त (अनुपलब्ध) है।
११. निर्वाण लोकोत्तर दशा है।	११. निर्वाण लोकोत्तरतमदशा है।
१२. विमुक्ति काय प्राप्त करते हैं।	१२. धर्म काय और सर्वज्ञत्व प्राप्त करते हैं।
१३. सोपधिशेष (प्रति संख्या-निरोध) और निरुपधिशेष (अप्रति-संख्यानिरोध) ये दो रूप हैं।	१३. इनके अतिरिक्त प्रकृतिशुद्ध और अप्रतिष्ठित ये निर्वाण के दो भेद और हैं।
१४. निर्वाण और संसार में धर्म-समता नहीं।	१४. निर्वाण औरसंसार में धर्म समता है।
१५. पदार्थ सत् है।	१५. पदार्थ का प्रपञ्च मायिक तथा मिथ्या है।
१६. क्लेशावरण से ही निर्वाण मिलता है।	१६. निर्वाण के लिए क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण दोनों से मुक्त होना अपेक्षित है।

शून्यवाद के संस्थापक आचार्य नागार्जुन ने निर्वाण को न भाव माना, न अभाव और न भाव-अभाव। उन्होंने उसे अप्रवृत्तिमात्र स्वीकार किया है। निर्वाण को भाव मानने पर उसका जरा-मरण, संस्कृतत्व तथा हेतु-प्रतीत्यजन्य मानना पड़ेगा परन्तु निर्वाण में ये विशेषतायें नहीं है। अभाव

यदि मानते हैं तो उसे अनित्य मानना होगा। यदि उभय है तो संस्कारों का आत्मलाभ तथा उनका नाश दोनों को ही निर्वाण कहा जाता है।

आर्यदेव और चन्द्रकीर्ति ने भी निर्वाण को अभावात्मक माना है। उन्होंने कहा है कि जैसे दुःख, दुःख समुदय, और दुःखनिरोध ये तीनों आर्यसत्य हैं वैसे ही क्लेशक्षय लक्षण स्वरूप मोक्ष नहीं है। क्योंकि उससे कुछ भी लाभ नहीं। बन्ध्य और मोक्ष इन दोनों का भी अवयव स्वभाव नहीं मिलता यदि इसका कुछ उपयोग मान भी लिया तो उससे अनुमित सत्व ही होगा और वह है नहीं। अतएव इसका सद्भाव नहीं है।

"समस्त स्कन्धों का नाश, जन्म-मरण का क्षय, विराग, निरोध निर्वाण है।" इस प्रकार के आगम प्रमाण से निर्वाण में स्कन्ध सर्वथा नहीं होते। पुद्गल भी नहीं होता। यदि निर्वाण में स्कन्ध होते तो पुद्गल भी होता। तब उनके होने पर निर्वाण की प्राप्ति में सूत्र-विरोध होगा और निर्वाण संसार से बाहर नहीं होगा। इस कारण उस निर्वाण में निर्वाणभूत कुछ भी नहीं मिलता। इसलिए कहा है—'यत्र दृष्टं हि निर्वाणं निर्वाणं तत्र किं भवेत्।" यहाँ निर्वाण को न आधार माना गया और न आधेय। निराधार आधेय के अभाव से निर्वाण का अभाव सिद्ध हो जाता है।

मुक्त अवस्था में ज्ञान के अस्तित्व की कल्पना करना भी निरर्थक है। भव-हीन व्यक्ति के लिए ज्ञान के सद्भाव का कोई तात्पर्य नहीं। वह कोई भी पदार्थ अच्छी तरह से अनुभूति मे नहीं ला पाता। क्योंकि उसके हेतुफलात्मक सारे विकार समूह प्रशान्त हो चुके। इसलिए मुक्त आत्मा में मोक्ष ज्ञान युक्त नहीं।

मुक्तावस्था में आत्मा का भी अस्तित्व नहीं, अन्यथा आत्माभिन्न ज्ञान-शक्ति का भी अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा और ज्ञानशक्ति ज्ञान सत्ता रूप है। आत्मा के अभाव में ज्ञान शक्ति निराश्रित हो जाती है। ज्ञान शक्ति निराश्रित हो जाने से भव भावना भी निवृत्त हो जाती है।[1] बौद्ध दर्शन में निर्वाण का यह विशेष स्वरूप है। इसे हम निर्वाण के विकास का षष्ठ चरण कह सकते हैं।

---

१. चतुःशतक, ९-२०-२५

८. ईश्वर कल्पना

दार्शनिक क्षेत्र में ईश्वरका स्वरूप आज भी विवाद-ग्रस्त प्रश्नके रूपमें खड़ा है। सृष्टिके प्रारम्भ से ही दार्शनिकों ने प्रस्तुत प्रश्न को अपने ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया है। ये प्रयत्न स्थूल रूपसे दो अंगोंमें विभाजित किये जा सकते हैं—श्रमण प्रयत्न और श्रमणेतर प्रयत्न। श्रमण संस्कृति के आचार्यों ने ईश्वर को ईश्वर रूपमे न मानकर उसे पथप्रदर्शक के रूप में स्वीकार किया है। ईश्वर का कार्य यहाँ स्वयंकृत कर्म करते हैं। श्रमणेतर संस्कृति में ईश्वर को सृष्टिकर्ता-हर्ता और साथही सुखदु-:खदाता के रूप में अङ्गीकार किया गया है। बौद्धधर्म-दर्शन श्रमण संस्कृति की अन्यतम शाखा है। उसमें ईश्वरवाद को अम्मवाद के रूप में उपस्थित किया गया है।

१ ईश्वर-कल्पना की उत्पत्ति—पथिकसुत्त में ईश्वर निर्माणवाद का खण्डन करते हुए भगवान् बुद्ध ने ईश्वर-कल्पना की उत्पत्ति बतायी है[1]—

बहुत समय के बाद इस लोक का प्रलय होता है। प्रलयके बाद आभास्वर ब्रह्मलोकवासी वहाँ दीर्घकाल तक रहते हैं। तदनन्तर पुनः प्रलय होता है और एक शून्य (सुञ्ञं) ब्रह्म विमान प्रकट होता है। आभास्वर ब्रह्मलोक से कोई प्राणी आयु अथवा पुण्य-क्षय हो जाने के कारण च्युत होकर ब्रह्मविमान में उत्पन्न होता है। कुछ समय बाद दूसरे प्राणी भी इसी प्रकार वहाँ उत्पन्न हो जाते है। जो प्राणी वहाँ सर्वप्रथम उत्पन्न होता है उसके मनमें यह विचार आता है—मैं ब्रह्मा, महाब्रह्मा, अभिभू, अनभिभूत, सर्वज्ञ, वशवर्ती, ईश्वर, कर्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, स्वामी और भूत तथा भविष्य मे उत्पन्न होने वाले प्राणियों का पिता हूँ। मैंने ही इन प्राणियों को उत्पन्न किया है। मेरे ही मन में सर्व प्रथम यह विचार आया था अहो, दूसरे प्राणी यहाँ आवें। अतः

मेरे ही मनसे उत्पन्न होकर ये प्राणी यहाँ उत्पन्न हुए हैं। और जो प्राणी पीछे उत्पन्न हुए उनके भी मनमें यह विचार उत्पन्न होता है कि यह ईश्वर कर्ता, पिता, ब्रह्मा, महाब्रह्मा है, इसने ही हम लोगों को उत्पन्न किया है।

जो प्राणी पहले उत्पन्न होता है वह अधिक आयुवान् और अधिक सम्मानित होता है। और जो पश्चात् उत्पन्न होता है वह अल्पायुवान् और अपेक्षाकृत कम सम्मानित होता है। यही कारण है कि पश्चात् उत्पन्न होने वाला प्राणी उस काया को छोड़कर इस लोक में आता है। यहाँ आकर प्रव्रजित हो जाता

---

१. दीघनिकाय, सुत्तसंख्या २४

है। और जिस समाधि प्राप्त करने पर अपने अनवहित चित्त में आत्मस्मरण करता है—जो यह ब्रह्मा है। जिस ब्रह्मा ने हमें उत्पन्न किया है वह नित्य ध्रुव और शाश्वत, निर्विकार है तथा जो हम लोग उस ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किये गये हैं, अनित्य अध्रुव, अल्पायु और मरणशील हैं।

यो खो सो भवं ब्रह्मा महाब्रह्मा०, येन मयं भोता ब्रह्मुना निम्मिता, सो निच्चो धुवो सस्सतो अविपरिणामधम्मो सस्सतिसमं तथेव ठस्सति, ये पन मयं अहुम्हा, तेन भोता। ब्रह्मुना निम्मिता, ते मयं अनिच्चा, अद्धुवा, अप्पायुका चवनधम्मा तथता आगता ति।[1]

बासठ मिथ्यादृष्टियों के प्रसंग में भगवान् बुद्ध ने आत्मा और लोक को अंशतः अनित्य माननेवाले इस सिद्धान्त को एकच्चसस्सतवाद कहा है।[2] वहां पर भी लगभग इन्हीं शब्दों में ईश्वर की उत्पत्ति का कथन किया गया है। इस कथन से निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् बुद्ध की दृष्टि से ईश्वर की सत्ता मानसिक सत्ता है। यद्यपि उसका सृष्टिकर्ता के रूप में कोई अस्तित्व नहीं है।

२. ईश्वर का स्वरूप अवक्तव्य है—प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में ईश्वर का स्वरूप अधिक स्पष्ट नहीं हो सका। उसने थोड़ा-बहुत अवक्तव्य का स्थान ले लिया है। चूल सकुलदायी सुत्तन्त में उदायी लोक के पूर्वान्त विषय में अपने आचार्य के विचार भगवान् बुद्ध के समक्ष उपस्थित करता है—जिस वर्ण से प्रणीततर दूसरा वर्ण नहीं, वह परम वर्ण है—यस्मा भन्ते, वण्णा अञ्ञो वण्णो उत्तरितरो वा पणीततरो वा नत्थि सो परमो वण्णो ति। भगवान् के "वह कौन-सा वर्ण है जिससे प्रणीततर वर्ण दूसरा नहीं" उदायी ने अपना पूर्व कथन ही दुहराया। भगवान् ने तब कहा—तुम कितना ही प्रयत्न करो, उस वर्ण को, नहीं बतला सकते—तं न वण्णं न पञ्ञपेसि।[3]

यहाँ जो परमवर्ण कहा है और जिसके स्वरूप का वर्णन सामर्थ्य के बाहर समझा गया है वह ईश्वर के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। इससे लगता है भगवान् बुद्ध ने ईश्वर का स्वरूप भी अवक्तव्य मानने का संकेत किया है, यद्यपि अव्याकृत प्रश्नों में इसका कोई स्थान नहीं है।

---

१. वही ३, १, ८, ३९-४०

२. वही १, ३, ३८

३. मज्झिम. २, २९, ३

ईश्वर का स्वरूप अन्धवेणी के समान है—वस्तुतः ईश्वर का यथार्थ स्वरूप कोई जान नहीं सका। परम्परा से जिसे हमने ईश्वर की पद्दीपर आसीन कर दिया उसी को ईश्वर मानते चले आये। प्रत्यक्ष दर्शन किसी ने नहीं किया। भगवान् बुद्ध इसलिए पूछते हैं—वशिष्ठ, त्रैविद्य ब्राह्मणों में क्या एक भी ब्राह्मण है जिसने ब्रह्म का स्वयं साक्षात्कार किया हो—"किं पन वासेट्ठ, अत्थि कोचि तेविज्जानं ब्राह्मणान एको ब्राह्मणो पि येन ब्रह्मा सक्खिदिट्ठो !" उद्यायीका उत्तर नकारात्मक होता है। बुद्ध पुनः प्रश्न करते हैं—वशिष्ठ, क्या त्रैविद्य ब्राह्मणों के पूर्वज मन्त्रकर्ता, और मन्त्रप्रवक्ता ऋषि थे जिनके कि गीत, प्रोक्त, समीहित पुराने मन्त्र को आजकल त्रैविद्य ब्राह्मण अनुगान-अनुभाषण करते हैं, भाषित का अनुभाषण करते हैं, वाचे का अनुवाचन करते हैं, जैसे कि अट्ठक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भारद्वाज, वशिष्ठ, कश्यप, भृगु। उन्होंने भी क्या यह स्वीकार किया है—जहाँ ब्रह्मा है, जिसके साथ ब्रह्मा है, जिस विषय में ब्रह्मा है, हम उसे जानते है, हम उसे देखते हैं ? बुद्ध ने इसका निष्कर्ष निकालकर कहा कि त्रैविद्य ब्राह्मणों में एक भी ऐसा ब्राह्मण नहीं जिसने ब्रह्मा का साक्षात्कार किया हो। इति किर वासेट्ठ, नत्थि कोचि तेविज्जानं ब्राह्मणानं एको ब्राह्मणो पि येन ब्रह्मा सक्खिदिट्ठो। जिसने जिसका स्वयम् साक्षात्कार न किया हो अथवा कोई भी उसे नही पा सका हो उसके अस्तित्व को प्रामाणिक कैसे माना जा सकता है !

इस प्रकार बुद्ध ने त्रैविद्य ब्राह्मणों के कथन को अप्रामाणिक घोषितकर ईश्वर एवं ईश्वर द्वारा प्रवेदित वेद को अमान्य किया है। वे ईश्वर मानने वालों की परम्परा को अन्ध वेणी के समान समझते हैं। जैसे अन्धों की पंक्ति एक दूसरे से सम्बद्ध रहती है पहले वाला भी नहीं देखता, बीच वाला भी नहीं देखता और पीछे वाला भी नहीं देखता। उसी प्रकार ईश्वरवादी भी अदृष्ट स्वभावी ईश्वर का अस्तित्व साक्षात्कार किये बिना ही परम्परावशात् स्वीकार करते हैं। बौद्ध दर्शन में ईश्वर कल्पना का यह प्रारम्भिक रूप रहा होगा।

सुख, दुःख आदि ईश्वरकर्तृक नहीं—तित्थायतन सुत्त में भगवान् बुद्ध ने ईश्वर के प्रति कुछ और सुलझे हुए विचार प्रस्तुत किये हैं। वहाँ वे कहते हैं कि सुख दुःख आदि ईश्वरकर्तृक नहीं हो सकते अन्यथा प्राणातिपात, अदिन्नादान, अब्रह्मचर्य, मुसावाद, पिसुनवाचा, परुषवाचा, आदि सभी को ईश्वरकर्तृक मानना पड़ेगा। और इन सबको ईश्वरकर्तृक मानना एक भूल हो

होगा। यह हमें अकर्मण्य बना देगा।

तत्र, भिक्खवे, ये ते समणब्राह्मणा एवं वादिनो एवं दिट्ठिनो यं किंचायं पुरिसपुग्गलो पटिसंवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा सब्बं तं इस्सर निम्मानहेतु त्याहं एवं वदामि-तेन हायस्मन्तो पाणातिपातिनो इस्सर निम्मानहेतु इस्सरनिम्मानं खो पन भिक्खवे, सारतो पच्चागच्छत न होति छन्दो वा वायामो वा इदं वा करणीयं इदं वा अकरणीयं ति। इति करणीया-करणीये खो पन सच्चतो थेततो अनुपलब्भियमाने मुट्ठस्सतीनं विहरतं न होति पच्चत्तं सहधम्मिको समणवादो।[1]

कर्मवाद और ईश्वर-कल्पना—कर्म वाद बौद्ध धर्म की विशेषता है। जिस कर्म का भगवान् ने गहकारक माना है (गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि)[2] उसे ही सुख-दुःख का कारण भी स्वीकार किया है। संसारमें गरीबी और अमीरी के बीच जो खाई बनी हुई है ऊंच-नीच दरिद्र-धनवान, मे जो दो किनारे निर्मित हैं उन सभीका मूल कारण हमारे कर्म है।[3] इसीलिये माणवक को भगवान् ने कहा था कि प्राणी कर्मस्वक हैं, कर्मदायाद, कर्मयोनि, कर्मबन्धु और कर्मप्रतिशरण हैं—

कम्मस्सका माणव सत्ता कम्मदायादा कम्मयोनी कम्मबन्धु कम्मपटिसरणा, कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीन-पणीतताया' ति।[4]

जहाँ प्राणियों को धर्मदायाद और कम्मदायाद बनने के लिये कहा गया है वही यह भी कहा है कि संसाररूपी अगाध समुद्रमे परिभ्रमण करानेवाला प्रतीत्यसमुत्पाद भी कर्मचक्र ही है। कर्मसे विपाक (फल) उत्पन्न होता है और विपाक कर्म से उत्पन्न होता है। कर्मसे पुनर्जन्म होता है और यही भव-भ्रमण कराने में कारण है।

कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्मसम्भवो।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तती ॥[5]

कर्म को संसारका कारण स्वीकार करने पर ईश्वरको सृष्टिकर्ता-हर्ता अथवा सुख दुःखादि के दाता रूपमें माननेकी आवश्यकता नही रह जाती इसलिए भगवान् ने स्वयंका न सर्वज्ञ माना हैं[6] और न ईश्वर। उन्होने तो अपने

---

१ अङ्गुत्तरनिकाय, भाग १, ३, ७, १,
२ धम्मपद ११, ९   ३ मज्झिमनिकाय, चूलकम्मविभंग-सुत्तन्त.
४ वही   ५ विसुद्धि, पृष्ठ ४२९.
६. मज्झिमनिकाय, तेविज्जवच्छगोत्त।

आपको पथप्रदर्शक अथवा दीपक के रूपमें स्वीकार किया है। बाकी परिश्रम तो प्राणी को स्वयमेव करना पड़ेगा। स्वयंकृत परिश्रमके बिना और कोई तारक नहीं हो सकता।[1] "अत्त दीपो भव" भी इसीलिये कहा गया है।

यहां यह द्रष्टव्य है कि बौद्धदर्शन में सभी दुःखों का कारण पूर्व कर्म नहीं माना गया। कुछ लौकिक कारण भी होते हैं जिनसे दुःख-प्राप्ति होती है। नागसेन ने दुःख के आठ कारण बताये हैं—वात, पित्त, कफ, संनिपात, ऋतु परिणाम, विषमाहार, उपक्रम और कर्म विपाक। वात का प्रकोप दस कारणों से होता है—सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, अति भोजन, बहुत देर तक खड़े रहना, अधिक श्रम करना और दौड़ना। कर्म फल से भी वात होता है। पर वात के उक्त नौ कारण इहलौकिक हैं। उनसे पूर्वजन्म का कोई सम्बन्ध नहीं। इसी लिए नागसेन ने कहा—न सब्बा वेदना कम्मविपाकजा अप्पं कम्म-विपाकजं, बहुतरं अवसेसं। सयुत्त निकाय में भी कहा गया है—ये ते समण ब्राह्मणा एवं वादिनो य किं चायं पुरिसपुग्गलो पटिसंवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा सब्बं तं पुब्बकतहेतुहि। यं सामं तं अतिधावन्ति तस्मा तेसं समणब्राह्मणानं मिच्छाति वदामि।[2] इसके बावजूद कर्म को संसार का कारण तो माना ही गया है। इस मान्यता से किसी को विरोध नहीं। कर्मवाद की यह नयी व्याख्या है। बौद्ध दर्शन में ईश्वर कल्पना के विकास का यह तृतीय चरण है।

प्रतीत्य समुत्पाद और ईश्वर कल्पना—प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा हेतु प्रत्यय सापेक्षता भव भ्रमण करने के कारणों को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का साधन है। परन्तु शून्यवाद तक आते-आते बौद्ध दर्शन ने पदार्थों की सृष्टि में इस नियम को मिथ्या कह दिया। नागार्जुन इस मत के प्रस्थापक आचार्य कहे जा सकते हैं। उनके अनुसार उत्पन्न—नष्ट होने वाले पदार्थों में कार्यकारण भाव की स्थापना करना संभव नहीं है। वस्तुतः कहीं कोई पदार्थ न स्वतः उत्पन्न होता है, न परतः (दूसरे से), न स्वतः और अहेतु से उत्पन्न होता है। इसे हम अजातिवाद कह सकते हैं।

> न स्वतो, नापि परतो, न द्वाभ्यां, नाप्य हेतुतः।
> उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥[3]

शान्तिदेव ने ईश्वरवाद की आलोचना करते हुए बौद्धेतर दार्शनिको के मन्तव्यों का खण्डन किया है। नैयायिकों के अनुसार जगत् का कारण ईश्वर

---

१. तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता। धम्मपद २०. ४.
२. मिलिन्दपञ्ह, पृ-१३५-६   ३. माध्यमिक कारिका, १.१.

है। पर प्रश्न है कि वह ईश्वर है क्या ? यदि पृथिवी आदि महाभूत ईश्वर हैं तो ईश्वर के स्थान पर महाभूतों को ही ईश्वर क्यों नहीं मानते ? महाभूत ईश्वर हो नहीं सकते क्योंकि महाभूत अनेक अनित्य, अचेतन, अदेवता, लंघ्य और अशुचि रूप हैं जबकि ईश्वर एक, नित्य, चेतन, देवता, अलंघ्य और शुचि रूप है। फिर ईश्वर किसकी सृष्टि करना चाहता है ? यदि आत्मा की सृष्टि करना चाहता है तो यह ठीक नहीं क्योंकि आत्मा और ईश्वर दोनों नित्य हैं। नित्य ईश्वर द्वारा नित्य आत्मा की सृष्टि करना तर्क संगत नहीं। पृथ्वी आदि का स्वभाव नैयायिक दर्शन में नित्य माना जाता है। ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता है और अनादि है। आविमान् सुख-दुःख कर्म से उत्पन्न होते हैं। तब सृष्टि के लिए ईश्वर का बचा क्या ? यदि सृष्टि करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति अथवा सामग्री की अपेक्षा है तो फिर उसे ईश्वर नहीं कहा जा सकता। यदि ईश्वर बिना इच्छा से सृष्टि करता है तो वह पराधीन है और अपनी इच्छा से करता है तो इच्छाधीन है। इसी प्रसंग में शान्तिदेव ने मीमांसकों और सांख्यो के सिद्धान्तो की भी आलोचना की है।[1]

अजातिवाद के प्रतिपक्षी त्रैकाल्यवादी सर्वास्तिवादियों के अनुसार पदार्थ हेतु-प्रत्यय द्वारा अनागत से वर्तमान मे और वर्तमान से अतीत मे चला जाता है। काल-परिवर्तन का नाम ही उत्पाद, स्थिति और भंग है। वस्तुतः पदार्थ की सत्ता रहती है। वह परमार्थ सत् ही है।[2] यह सर्वास्तिवादी सिद्धान्त ईश्वर कल्पना के विकास का चतुर्थ चरण है।

परन्तु शून्यवाद की दृष्टि से यह मत ठीक नहीं क्योंकि पदार्थ किसी दूसरी जगह से न आता है, न ठहरता है, और न कहीं अन्यत्र चला जाता है। जिसे परमार्थ सत् कहा गया है वह वस्तुतः माया और भ्रम है। यही शून्यवाद है। है।[3] ईश्वर कल्पना के विकास मे शून्यवाद के इस सिद्धान्त को हम पञ्चम चरण के रूप मे नियोजित कर सकते हैं।

त्रिपिटकके ईश्वर सम्बन्धी इस मन्तव्यको सर्वास्तिवादी और महायानी आचार्यों ने बौद्ध संस्कृत दार्शनिक साहित्यमे अधिक विकसित और गंभीरता से प्रस्तुत किया है। वसुबन्धुने अभिधर्मकोश[4] और स्फुटार्थ में[5], शान्तिदेवने बोधि-

---

१. बोधि चर्यावतार, ६, ११७–१४३.

२. अभिधर्म कोश, ५-२५-६;

३. बोधिचर्यावतार, ९-१४३–१५२

४. अभिधर्मकोश–२. ८.

५. स्फुटार्थ, पृष्ठ ४४५–६

चर्यावतारमें [1] और शान्तरक्षित ने तत्वसंग्रहमें [2] गंभीर तर्क उपस्थित कर ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व और सुख - दुःख-दातृत्व शक्ति का भरपूर खण्डन किया है।

इसके अतिरिक्त ईश्वरवाद के खण्डन में बौद्ध प्रचार्यों के निम्नलिखित कुछ और प्रबल तर्क उद्धरणीय हैं।[3]

१. पृथ्वी आदि कार्य घट की तरह किसी बुद्धिमान् कर्ता के द्वारा निर्मित हैं, यह ठीक नहीं। क्योंकि समस्त जगत् का कर्ता सर्वज्ञ, नित्य ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नवाला, अशरीरी, बुद्धिमान् माना जाता है, पर घटादि का कर्ता अल्पज्ञ और सशरीरी होता है। प्राचीन महल आदि के कर्ता का स्मरण तो होता है परन्तु पृथ्वी आदि का नहीं। वस्तुतः समस्त जगत् तो कारण सामग्री से स्वतः उत्पन्न होता है।

२. ईश्वर तो अत्यन्त दयालु और परोपकारी माना जाता है। यदि वह जगत् का कर्ता होता तो दुःखदायक शरीरादि की रचना नहीं करता। धर्म-अधर्म से उसके ये कार्य माने जावें तो ईश्वर—कल्पना से ही क्या लाभ ?

३. ईश्वर का सद्भाव किसी प्रामाण से भी सिद्ध नहीं। ज्ञानादि की प्रतीति नित्यता रूप से भी कहीं भी नहीं होती। ज्ञानादि को शरीर के द्वारा ही सम्पाद्य माना जाता है।

भारतीय दर्शनों में न्याय-वैशेषिक और वेदान्ती ईश्वर वादियों में प्रमुख है। तथा सांख्य, जैन, बौद्ध और चार्वाक ईश्वरवाद के विरोधी हैं। पक्ष और प्रतिपक्ष मे इनके तर्क लगभग सम.न दिखाई देते हैं।

बौद्धदर्शन के उक्त तर्क जैन दर्शन के बहुत समीप हैं। यद्यपि जैन दर्शन ने ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व आदि रूपों के खण्डन में और भी तीखे और गहन तर्कों का उपयोग किया है परन्तु दोनों का लक्ष्य एक होने के कारण चिन्तन में समानता दिखाई देती है। व्यक्तित्व के विकास के लिए यह आवश्यक भी था।

---

१. बोधिचर्यावतार, ६, ११७—१५५

२. तत्वसंग्रह, ईश्वरपरीक्षा ७२—८७ पुरुष परीक्षा १५५, १६०.

३. न्या. कु. च. पृ. ९७ आदि; प्रमेयक. मा पृ. २६६ आदि। न्या-वा-ता-टी; पृ-५९८ आदि; जैन न्याय पृ. १७७-१८८.

६ त्रिकायवाद

त्रिकायवाद बौद्ध दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। स्थविरवादी धारा के अनुसार भगवान् बुद्ध पूर्णतः मानव थे। उनकी मानवीय हीनतायें भी थीं। शनैः शनैः उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को मानवोत्तरीय बनाया गया। त्रिकायवाद इसी का विवर्तक है।

पालि साहित्य में बुद्ध के दो कायों का उल्लेख मिलता है—रूप काय तथा धर्म काय। रूप काय बुद्ध का भौतिक शरीर था तथा धर्म काय उनके द्वारा दिये उपदेश की संज्ञा थी। धर्म काय का ही विशेष महत्व था और उसे वास्तविक काय का स्वरूप प्रदान किया गया।

काय-कल्पना का विकास महासांघिक सम्प्रदाय से प्रारंभ हुआ। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता महायान का प्रारम्भिक ग्रन्थ है। इसमें उक्त कायों का ही विशेष उल्लेख है। प्रथम काय में बुद्ध के सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर गर्भित है। विज्ञानवादियो ने इसी विचार को त्रिकाय कल्पना के रूप मे विकसित किया। उसी स्थूल रूप काय को निर्माण काय तथा सूक्ष्म रूपकाय को संभोग काय नाम दिया गया। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में बुद्ध के व्यक्तित्व को चमत्कृत रूप अवश्य प्रदान किया गया परन्तु वहां पूर्ण दार्शनिक विकास दिखाई नही देता। ललित विस्तर और अभिधर्मकोश इसके प्रमाण है।

१. रूपकाय—स्थविरवाद में रूपकाय मानवीय व्यक्तित्व से आपूर है। संयुक्त निकाय मे इसी को पूतिकाय कहा गया है। सर्वास्तिवादी साहित्य में यही आश्रव और महासांघिक तथा सौत्रान्तिक में अनाश्रव के रूप में निर्दिष्ट है। कालान्तर में रूपकाय ही निर्माण काय कहा जाने लगा। उसमें बुद्ध का अवतार मात्र उपाय कौशल प्रदर्शन के निमित्त था। वैतुल्यकों की मान्यता थी कि बुद्ध संसार मे जन्म ग्रहण नहीं करते, वे तुषित लोक में निवास करते हैं और जनहित के लिए संसार में आते हैं। प्रातिहार्य प्रदर्शन इस काय का वैशिष्ट्य है। असंग के अनुसार शिल्प, जन्म, अभिसंबोधि तथा निर्वाण दर्शन और परार्थ सिद्धि निर्माण काय की मुख्य विशेषतायें हैं—

> शिल्पजन्ममहाबोधि सदा निर्वाण दर्शनैः।
> बुद्ध निर्माण कायोऽयं महामायो विमोचने॥ महायान सूत्रा, ६-६४

२. धर्मकाय—धर्मकाय मूलतः बुद्ध के उपदेश से सम्बद्ध है। महापरिनिब्बाणसुत्त में कहा गया है कि भ. बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय आनन्द से कहा कि आनन्द मेरे द्वारा उपदिष्ट धर्म ही मेरे बाद तुम्हारा शास्ता होगा

(यो वो आनन्द मया धम्मो च विनयो च देसितो पञ्ञत्तो सो वो ममच्चयेन सत्था)[1]। वक्कलि का सन्दर्भ भी इस प्रसंग में स्मरणीय है। बुद्ध ने वक्कलि से कहा कि "जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है, जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है (यो खो वक्कलि धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति, यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति)।[2] यही धर्म और बुद्ध की एकाकारता धर्मकाय की विशेषता है।

धर्म काय की प्राप्ति आश्रवक्षय का परिणाम है। इससे चार सम्पत्तियां प्राप्त होती हैं—ज्ञान संपत्, प्रहाणसंपत्, प्रभावसंपत् और रूपकाय संपत्। महायान में धर्म काय को ही वास्तविक काय स्वीकार किया गया है। यह धर्मता प्रतीत्य-समुत्पाद का ज्ञान है जो दुर्ज्ञेय है।[3] इसलिए इसे प्रपञ्चहीन और शुद्ध काय कहा गया है। महायान सूत्रालंकार में इसका उल्लेख स्वभावकाय के रूप में किया गया है। इसे सम, सूक्ष्म तथा निर्माणकाय और संभोगकाय का हेतु भी कहा गया है।[4] धर्मकाय वचन-अगोचर है और उसके निश्चय में प्रज्ञापारमिता भी एक आधारभूत कारण है।

माध्यमिक (शून्यवादी) परम्परा में संसार की सिद्धि तथागत की सिद्धि पर निर्भर है। चूंकि तथागत निःस्वभाव हैं अतः संसार भी निःस्वभाव है। इस तरह समूचा जगत् उनकी दृष्टि में निःस्वभाव और मायोपम बन जाता है।[5]

विज्ञानवाद (योगाचार) में शून्यता को 'वस्तुमात्र' माना है, जिसे 'चित्तविज्ञान' और 'आलयविज्ञान' की संज्ञा दी गई है। यह आलय विज्ञान प्रवृत्ति रूप साश्रव धर्मों तथा निवृत्ति रूप अनाश्रव धर्मों के कारणों का भण्डार है। यह सब चित्त की प्रतिकृति है। अतः धर्मकाय आलय विज्ञान का आधार है। यही तथता, भूततथता, धर्मधातु आदि नामों से भी अभिहित है।[6]

---

१. दीघ. २-३.　　　　２. संयुत्त निकाय

३. धर्म तो बुद्धा द्रष्टव्या धर्मकाया हि नायकाः।
　　धर्मता चाप्य विज्ञेया न सा शक्या विजानितुम्॥ चतुःशतक, ३०६

४. समः सूक्ष्मश्च तच्छिष्टः कायः स्वाभाविको मतः।
　　संभोगविभुताहेतु र्यथेष्टं भोगदर्शने॥ ९,६२.

५. माध्यमिक सूत्र, २२. १६　　　　६. त्रिंशिका, ३०, पृ. ४३

संभोगकाय—स्थविरवाद में मूलतः संभोगकाय की कल्पना नहीं मिलती। बुद्ध के लोकोत्तरवादी व्यक्तित्व के साथ संभोगकाय की विचार-धारा प्रबल होती जाती है। महायानी साहित्य के प्रायः सभी ग्रन्थ बुद्ध के भास्वर शरीर का विविध प्रकार से वर्णन किया करते हैं। महाकरुणा इसका आधार है। संसारी प्राणियों को असहाय देखकर बोधिसत्व यह प्रतिज्ञान करता है कि जब तक वह समस्त संसारियों को मुक्त नहीं कर देता तब तक वह स्वयं मुक्त नहीं होगा। गृध्रकूट पर्वत पर बुद्ध का यह संभोगकाय प्रारम्भ हुआ। उनके ललाट से असंख्य किरणें निकलती हैं जिनसे सारा जगत् प्रकाशित हो जाता है। अमिताभ आदि बुद्धों की यही विशेषता है। पर संभोगकाय बोधिसत्वों का शरीर है और स्वसंभोगकाय बुद्ध से सम्बन्धित है। स्वसंभोग काय में चार प्रकार के ज्ञान होते हैं—आदर्श, समता, प्रत्यवेक्षण और कृत्यानुष्ठान। संभोगकाय बोधिसत्वों का सूक्ष्म शरीर माना गया है।

दार्शनिक दृष्टि से धर्म काय शून्यता है। इसे अलक्षण विज्ञान भी कहा गया है। संभोगकाय धर्म काय का सत्, चित्, आनन्द या करुणा के रूप में विकास मात्र है। यही चित्त जब दूषित होकर पृथग् जन के रूप में विकसित होता है तब वह निर्माण काय कहलाता है।[1]

१०. बोधिसत्वचर्या

अर्हत् का आदर्श बुद्धत्व अथवा सम्यक् संबोधित्व से पीछे रह गया। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए बोधिसत्व स्वयं को तथा सारे जगत् को परमार्थ सत्य में प्रतिष्ठित करने का महाकारुणिक प्रयत्न करता है। बोधिपाक्षिक धर्मों की प्रवृत्ति, पारमिता की प्राप्ति और बोधिचित्त की उत्पत्ति करता है। तदर्थ वह अनुत्तर पूजा (वन्दना, पूजन, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद और परिणामना) और त्रिशरण-गमन करता है।[2]

११. त्रियान

यान शब्द भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीन है। उसका प्रयोग विविध प्रसंगों पर मार्ग और वाहन के अर्थ में होता रहा है। बौद्ध ग्रंथों में भी इन्हीं अर्थों में वह प्रयुक्त हुआ है। स्थूल रूप से हीनयान और महायान इसके दो भेद हैं। इनकी विशेषताओं में से तीन यानों का उद्भव हुआ—श्रावकयान, प्रत्येक बुद्धयान और सम्यक्संबुद्धयान। श्रावकयान हीनयान है। श्रावक का चरम उद्देश्य अर्हत् की प्राप्ति करना है। स्रोतापत्ति, सकृदागामि,

---

१. बौद्ध-धर्म-दर्शन,—आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ. १२१
२. देखिये बोधिचर्यावतार

अनागामि और अर्हत् ये चार भूमियां श्रावक को पार करनी पड़ती हैं। हीनाधिमुक्ति उसके हीनयान में कारण है।[1] प्रत्येकबुद्ध वह है जो बिना किसी गुरु की सहायता के और जगत् को उपदेश दिये बिना ही निर्वाण प्राप्त करता है। सम्यक्सम्बुद्धयान अथवा बोधिसत्त्वयान में बोधिसत्त्व समस्त संसार को मुक्त करने के प्रयत्न में रहता है उसे स्वयं की चिन्ता नहीं रहती। परोपकार वृत्ति की यह चरम साधना है। उपायकौशल्य इसका माध्यम है।[2] यानों की संख्या यहां तीन होते हुए भी उसे मूलतः एक ही माना गया है।[3] अतः महायान को एकयान और अग्रयान भी कहा गया है।

१२. आवेणिकधर्म

बुद्ध के वैशिष्ट्य को आवेणिक कहा जाता है। ऐसे आवेणिक धर्म अठारह माने गये हैं—१० बल, ४ वैशारद्य, ३ स्मृत्युपस्थान एवं महाकरुणा। कालान्तर में महायान में इनकी संख्या १४० तक पहुंच गई—३२ लक्षण, ८० अनुलक्षण, ४ सर्वाकार विशुद्धि, १० बल, ४ वैशारद्य, ३ स्मृत्युपस्थान, ३ आरक्षण, महाकरुणा, असम्प्रमोषधर्मता, वासना समुद्घात, तथा सर्वाकारवरज्ञान।[4]

१३. भूमियां

भूमियां साधक की आध्यात्मिक जाग्रति की प्रतीक हैं। स्थविरवाद में ऐसी चार भूमियां स्वीकार की गई हैं—सोतापत्ति, सकदागामि, अनागामि और अर्हत्। सोतापत्ति में साधक अष्टाङ्गिकमार्ग की साधना करता है। इस साधना से यह निश्चित हो जाता है कि साधक सम्बोधि को अवश्य प्राप्त करेगा। इसके लिए उसे अधिकाधिक सात जन्म और ग्रहण करना पड़ेंगे। सकदागामि मे छः प्रकार के कामावचर-क्लेशों का प्रहाण होता है और मात्र एक बार कामधातु (पृथ्वी) में जन्मग्रहण शेष रहता है। अनागामि तीसरी अवस्था है जहां साधक नौ प्रकार के क्लेशों को दूर करता है और कामधातु में पुनः उत्पन्न नहीं होता। चतुर्थ और अन्तिम अवस्था है अर्हदावस्था की प्राप्ति। इस अवस्था मे साधक समस्त आस्रवों का क्षय कर लेता है।

उत्तरकाल में महायान दर्शन में दश भूमियां स्वीकार की गई—प्रमुदिता,

---

१. सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२ २. सद्धर्म पुण्ड० पृ० २.६६

३. एकं हि यानं द्वितीयं न विद्यते तृतियं हि नैवास्ति कदाचि लोके।
अन्यत्रुपाया पुरुषोत्तमानां यद् यानमानात्वपदर्शयन्ति ॥ वही २.५४
बौद्धस्य ज्ञानस्य प्रकाशनार्थं लोके समुत्पद्यति लोकनाथः।
एकं हि कार्यं द्वितीयं न विद्यते न हीनयानेन नयन्ति बुद्धाः ॥ पृ० ४६

४. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३४५

विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरंगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा। इन भूमियों में बोधिसत्वचर्या को अधिकाधिक परिशुद्ध किया जाता है। त्याग, करुणा, समता आदि दस धर्मों की प्राप्ति, ऋजु, मृदु, शम आदि दस चित्ताशयों का विकास, संयोजनों का क्षय, तथा बोधिपाक्षिक धर्मों का विकास होता है। फलतः बोधिसत्व बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है।

१४. पारमितायें

स्थविरवाद में पारमिता को "पारमि" कहा गया है। बोधिसत्व पूर्णत्व प्राप्ति के लिए उनकी साधना करता है। मूलतः पारमिताओं की संख्या दस मिलती है—दान, सील, नेक्खम्म, पञ्ञा, विरिय, खन्ति, सच्च, अधिट्ठान, मेत्ता और उपेक्खा। समूचा जातक साहित्य पारमिताओं पर आधारित है। महासांघिक सम्प्रदाय ने इसे और अधिक महत्व दिया। फलतः महायान ने भी इसे अङ्गीकार कर लिया। वहां संख्या कुल छः रह गई—दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। इस परम्परा में ललित विस्तार, दिव्यावदान बोधिचर्यावतार आदि ग्रन्थ आते हैं। महायान में ही एक और अन्य परम्परा मिलती है। वहां उक्त छः पारमिताओं के साथ उपायकौशल्य, प्रणिधान, बल और ज्ञान जोड़कर दस की संख्या भी पूरी कर दी गई है। इस परम्परा मे दशभूमिकसूत्र आदि ग्रंथ आते हैं। पारमिता-प्राप्ति पुण्यसंभार का परिणाम बताया गया है।

परिवर्त ५

बौद्ध दर्शन के प्रमुख सम्प्रदाय और उनके सिद्धान्त

१—वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) दर्शन

साधारणतः बौद्ध दर्शन की चार शाखायें हैं—वैभाषिक और सौत्रान्तिक, तथा माध्यमिक और विज्ञानवाद। इनमें प्रथम दो हीनयानी दर्शन है और शेष दो महायान से सम्बद्ध हैं। कनिष्क कालीन (७८ ई०) यह वैभाषिक अथवा सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय त्रैकाल्यवादी और आभिधार्मिक के नामों से भी जाना जाता है। यह सिद्धान्त अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, आकाश, प्रतिसंख्या, निरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध आदि के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इसके चार भेद हैं—भावान्यथिक, लक्षणान्यथिक, और अवस्थान्यथिक। इनके क्रमशः चार प्रधान आचार्य हैं—भदन्त धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र, एवं बुद्धदेव।

भदन्त धर्मत्रात अतीत, प्रत्युत्पन्न तथा अनागत कालवर्ती एक ही पदार्थ में भावों की विविधता के साथ मूल भाव को अपरिवर्तनीय मानते हैं। घोषक एक ही धर्म में तीनों कालों के लक्षणों का स्थायित्व मानते हैं। वसुमित्र अवस्था अथवा कर्म के आधार पर तीनों कालों में विभेद स्थापित करते हैं तथा बुद्धदेव एक ही समय में तीनो कालों की प्रस्तुति निर्धारित करते हैं। इन सिद्धान्तों में बुद्धदेव का मत वैभाषिकों में विशेष लोकप्रिय हुआ।

धर्म—धर्म का तात्पर्य है—भाव, सत् अथवा वस्तु। वैभाषिकों ने धर्म के अस्तित्व को स्वीकार किया है। इसीलिए वे सर्वास्तिवादी कहलाये। उनके मत में सभी धर्मों की सत्ता यद्यपि पृथक् है परन्तु उनके संघात से जगत् के निर्माण की कल्पना की गई है। धर्म की सूक्ष्मतम व्याख्या निम्नलिखित प्रसिद्ध पद्य में द्रष्टव्य है—

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
तेषाञ्च यो निरोधो एवंवादी महाश्रमणः ॥

अर्थात् प्रत्येक धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न होता है और उसका निरोध होता है। डॉ० शेरबात्सकी ने धर्मता के स्वरूप के विश्लेषण में उसकी प्रमुख विशेषताओं का अंकलन किया है—धर्मता। नैरात्म्य, क्षणिकत्व, संस्कृतत्व, साश्रव—अनाश्रवत्व, सङ्क्लेश-व्यवदानत्व, दुःखनिरोध और निर्वाण।[1] वैभाषिक सम्प्रदाय में धर्म का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है—संस्कृत धर्म और असंस्कृत धर्म।

१. संस्कृत धर्म—परस्पर सापेक्ष भाव से उत्पन्न हों (सामेत्य कृतं संस्कृतम्)। ये प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण विनाश शील अतएव दुःख और दुःख समुदित हैं। संसरण के मूल कारण भी यही हैं। इन्हें अध्व, कथावस्तु, सनिःसार और सवस्तुक भी कहा है।

संस्कृत धर्म के मूलतः चार लक्षण हैं—जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता। इन लक्षणों के कारण इन धर्मों का हेतु-प्रत्यय जन्य उत्पाद, स्थिति, अन्यथात्व और व्यय होता है। अतएव पर्यायान्तर से जाति-जाति, स्थिति-स्थिति आदि रूप से उन मूल धर्मों के चार अनुलक्षण होते हैं। सौत्रान्तिक इन लक्षणों को पृथक् पृथक् न मानकर उन्हें प्रज्ञप्ति सत् स्वीकार करते हैं। संस्कृत धर्म तीन प्रकार के होते हैं—स्कन्ध, आयतन और धातु।

(i) स्कन्ध—नाम और रूप के भेद से स्कन्ध दो प्रकार के हैं। ये क्रमशः मानसिक और भौतिक अवस्थाओं के संसूचक हैं। नाम के अन्तर्गत संज्ञा, वेदना, एवं "संस्कार आते हैं तथा रूप के अन्तर्गत रूप और विज्ञान समाहित होते हैं। इनके समुच्चय को सत्त्व अथवा आत्मा कहा जाता है जो मात्र प्रज्ञप्ति-सत् है, द्रव्यसत् नहीं। ये अनित्य, दुःख और अनात्म हैं—यदनिच्चं तं दुक्खं, यं दुक्खं तदनिच्चं। सस्वभाववादी वैभाषिक बहुधर्मवादी होने के कारण शाश्वत वादी नहीं हैं। इसलिए जगत् की उत्पत्ति में वे ईश्वर को कारण नहीं स्वीकार करते।

(ii) आयतन—आयतन का अर्थ है—प्रवेश द्वार (आयं प्रवेशं तनो-

---

१. सेन्ट्रल कन्सेपसन आफ बुद्धिज्म, पृ. ७४-५; उपाध्याय, बलदेव बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ. १८२,

तीति आयतनम्) । इन्द्रिय तथा इन्द्रिय समूह से सम्बद्ध विषय को आयतन संज्ञा दी गई है। वस्तु के ज्ञान के लिए आयतन का सहयोग अपेक्षित है। इन आयतनों की संख्या बारह है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श ये पांच इन्द्रियां तथा बुद्धि और उनके विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस स्प्रष्टव्य तथा बाह्य ऐन्द्रिय ग्राह्य विषय।

(iii) धातु—उत्पत्ति के आश्रय अथवा उपकरण को धातु कहा जाता है। ये धातु १८ हैं—पूर्वोल्लिखित छः इन्द्रियां और उनके छः विषय तथा छः विज्ञान—चाक्षुष, श्रावण, घ्राणज, रासन, स्पर्शज और मनोविज्ञान। धातु शब्द का प्रयोग बौद्धधर्म में लोक के अर्थ में भी हुआ है। यह लोक दो प्रकार का है—भौतिक और अभौतिक। भौतिक के दो भेद है—कामधातु और रूप धातु। कामधातु में उक्त १८ धातु, रूपधातु में गन्ध, रस, घ्राण, और जिह्वा को छोड़कर १४ धातु, और अरूप धातु में मात्र मन, धर्म तथा मनो-विज्ञान धातुयें ही विद्यमान रहती हैं। स्कन्ध, धातु एवं आयतन को वैभाषिक द्रव्य-सत् कहते हैं परन्तु सौत्रान्तिक धातु को द्रव्य सत् एवं स्कन्ध तथा आयतन को प्रज्ञप्ति सत् स्वीकारते हैं। वसुबन्धु इन दोनों से भिन्न विचार वाले हैं। वे स्कन्धों को प्रज्ञप्ति सत् एवं आयतन और धातु को द्रव्य सत् मानते हैं।

(i) रूप—संस्कृत धर्मों के चार अवान्तर भेद हैं—रूप, चित्त, चैतसिक, और चित्त विप्रयुक्त। रूप के ११ भेद हैं—श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य, विषय और अविज्ञप्ति। रूप का स्वभाव अन्य पदार्थों का प्रतिघात करना है। परमाणु शब्द का प्रयोग स्थविरवादी परम्परा में उपलब्ध नहीं होता। वहां 'कलाप' शब्द अवश्य मिलता है जिसे हम सर्वास्तिवादी परम्परा में प्राप्त संघात—परमाणु के समकक्ष उपस्थित कर सकते हैं। सर्वास्तिवाद के अनुसार परमाणु के १४ भेद हैं—५ विज्ञानेन्द्रिय, ५ विषय, और ४ महाभूत। उपचय, संतति, जरता तथा अनित्यता उनके प्रधान लक्षण है। वस्तु त्रिका-लवर्ती होने के कारण नित्य है और उसकी विभिन्न अवस्थायें ही अनित्य तथा क्षणिक हैं। इस सन्दर्भ में सर्वास्तिवाद में रूप परमाणु नित्य माना गया। और उसमें पृथ्वी, अप, तेज और वायु रूप होने की सामार्थ्य भी स्वीकार की गई।[1] जैन और सांख्य भी यही मानते है। सर्वास्तिवाद का यह परमाणु-समुदयवाद सांख्यों के प्रकृति-परिणामवाद से, जैनो के द्रव्य-पर्यायवाद से और

---

१. सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थाट्स, पृ. १२५-१३७

सौत्रान्तिकों के अवस्था—अनवस्थावाद से जितना अधिक सन्निकट है उतना ही अधिक दूर वह योगाचार के क्षणिकैकान्तवाद से है। परमाणु समुदाय की क्षणिकता को योगाचार ने तर्क की भूमिका पर ले जाकर क्षणिकैकान्तवाद की कोटि में रख दिया और परमाणु की वास्तविक नित्यता को काल्पनिक सन्तान में सन्निहित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि सर्वास्तिवाद और योगाचार का मार्ग अत्यन्त विरुद्ध हो गया। भगवान् बुद्ध के एक ही अनित्यता के उपदेश को एक ने समुदाय में घटाया तो दूसरों ने सर्व वस्तुओं में स्थापित किया। अश्वघोष ने इसी को भूत तथतावाद के रूप में प्रतिपादित किया और उसके दो रूप बताये—पारमार्थिक और सांवृतिक। पारमार्थिक रूप विश्व का परम तत्व कहा गया और व्यावहारिक भूततथता संसार के रूप बताये गये हैं यह रूप सिद्धान्त जैन धर्म के नैश्चयिक आत्मा के समान है। कुन्दकुन्दाचार्य का 'सत्' सिद्धान्त भी भूत तथतावाद के अधिक निकट है।[1]

इन्द्रियां आदि भी वैभाषिक मतानुसार परमाणु संघात जन्य हैं। उनमें चक्षु, श्रोत्र, और मन अप्राप्त अर्थग्राही हैं तथा घ्राण, जिह्वा, और काय प्राप्त विषयग्राही हैं। चक्षु आदि इन्द्रियां विषय को स्पर्श कर नहीं जानती। यदि चक्षु स्पर्शकर जानती तो उन्हे आंख में लगे अंजन का भी दर्शन-ज्ञान होता। परन्तु दर्पण में देखे बिना उसका दर्शन नहीं हो पाता। अतः चक्षु अप्राप्यकारी है। चक्षु को प्राप्यकारी सिद्ध करने के लिए कहा जाता है कि चक्षु आवृत वस्तु को नही देख सकती, इसलिए प्राप्यकारी है। वस्तुतः यह कथन उचित नहीं। कांच, अभ्रक, और स्फटिक से आवृत पदार्थों को भी चक्षु देख लेती है। चुम्बक दूर से ही लोहे को खींच लेता है। फिर भी वह किसी चीज से ढके हुए लोहे को नही खींचता। इसलिए जो आवृत वस्तु को ग्रहण न कर सके वह प्राप्यकारी होता है, ऐसा नियम बनाना ठीक नहीं।[2] इसी प्रकार श्रोत्र और मन भी अप्राप्त विषयी हैं।

इन्द्रियों की संख्या २२ बतायी गई है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन, पुरुष, स्त्री, जीवित, सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, अज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय और आज्ञातावीन्द्रिय। रूप में वर्ण के १२ और संस्थान के ८ भेद होते हैं। शब्द के ८, गन्ध के ४,

---

१. न्यायावतार (टिप्प. पृ. २८२-२३); बौद्धधर्म दर्शन

२. तत्वार्थ राज वार्तिक; पृ-४८, न्या. कु. च. पृ-७५-८२, प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृ. २२०-२१. जैन न्याय, पृ-५६

रस के ६ और स्प्रष्टव्य के ११ प्रकार हैं। अविज्ञप्ति एक विशिष्ट कर्म प्रकार है। योगाचार के अनुसार रूप ११ ही हैं पर स्थविरवाद में उनकी संख्या २८ मानी गई है[1]

(ii) चित्त...बौद्ध दर्शन में चित्त और जीव (आत्मा) लगभग समानार्थक माने जाते हैं। स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद और योगाचार उसे अनित्य, अस्थायी और अस्वतन्त्र पदार्थ ही मानते हैं। आलम्बनों के भेद से चित्त के ७ प्रकार हैं—मनम्, चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वा विज्ञान, काय विज्ञान और मनोविज्ञान।

(iii) चैत्त अथवा चैतसिक धर्म—चित्त और चैत्त धर्म अन्योन्याश्रित है। ये मुख्यत: ६ प्रकार के हैं और अवान्तर भेद से ४६ प्रकार के हैं।

(क) चित्तमहाभूमिक धर्म—१० = वेदना, संज्ञा, चेतना, छन्द, स्पर्श, प्रज्ञा, स्मृति, मनसिकार, अधिमोक्ष और समाधि। स्थविरवाद और विज्ञान वाद में इन धर्मों को सामान्य और विशेष धर्मों के रूप में विभाजित किया गया है।

(ख) कुशल महाभूमिक धर्म—१० = श्रद्धा, अप्रमाद, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अहिंसा और वीर्य। स्थविरवाद ने इसके २५ और विज्ञानवाद ने १० धर्म माने हैं।

(ग) क्लेश महाभूमिक धर्म—६ = मोह, प्रमाद, कौसीद्य, अश्राद्धय, स्त्यान और औद्धत्य। स्थविरवाद में १४ अकुशल चैतसिक है जो क्लेश महाभूमिक धर्म की भावना से सम्बद्ध हैं।

(घ) अकुशल महाभूमिक धर्म—२ = आह्रीक्य और अनपत्रता

(ङ) उपक्लेशभूमिक धर्म—१० = क्रोध, म्रक्ष, मात्सर्य, ईर्ष्या, प्रदास, विहिंसा, उपनाह, माया, शाठ्य और मद। विज्ञानवाद में मूल क्लेशों की सूचियां मिलती हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि सर्वास्तिवाद में मूल क्लेश नहीं माने गये हैं।

(vi) अनियतभूमिक धर्म—८ = कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क, विचार, राग, द्वेष मान और विचिकित्सा।

४. चित्तविप्रयुक्त धर्म—इसके १४ भेद हैं—प्राप्ति, अप्राप्ति, निकाय, सभागता, आसंज्ञिक, असंज्ञी-समापत्ति, निरोध-समापत्ति, जीवित, जाति, स्थिति, जरा, अनित्यता, नाम काय, पदकाय और व्यञ्जन काय। स्थविरवादियों ने इन धर्मों का उल्लेख ही नहीं किया।

---

१. विशेष देखिये—अभिधर्मकोश, द्वितीय कोश।

सौत्रान्तिकों ने भी उन्हें स्वीकार नहीं किया। योगाचार में भी स्थिति लगभग वैसी ही है। वहां चित्त विप्रयुक्तधर्मों को स्वतन्त्र न मानकर मानस व्यापार के अन्तर्गत मान लिया गया है। विप्रयुक्त धर्मों की कुल संख्या २४ स्वीकार की गई है।

२. असंस्कृत धर्म—जिन धर्मों में संस्कृत धर्मों के पूर्वोक्त लक्षण न पाये जायं वे असंस्कृत धर्म कहलाते हैं। ये स्थायी, नित्य विशुद्ध और सत्य धर्म माने जाते हैं। स्थविरवाद में मात्र निर्वाण को असंस्कृत धर्म स्वीकार किया गया है। परन्तु सर्वास्तिवाद में उनकी संख्या तीन दी गई है—आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, और अप्रतिसंख्यानिरोध।

आकाश वह है जो न किसी से आवृत हो और न किसी को आवृत करे। स्थविरवादियों के अनुसार आकाश महाभूतों से उत्पन्न एक नित्य और अपरिवर्तन शील धर्म है। परन्तु सर्वास्तिवाद में उसे दिक् तथा वायु का पर्यायिक माना गया है। प्रतिसंख्यानिरोध का अर्थ है प्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न सास्रव धर्मों से पृथक् पृथक् विसंयोग। साधक जब अपनी सम्यग् दृष्टि से आस्रव को उत्पन्न करने वाले किसी धर्म को परित्याग कर देता है तब उसे प्रतिसंख्यानिरोध धर्म की अर्थात् निर्वाण की उपलब्धि होती है। परन्तु जब बिना प्रज्ञा के ही सास्रव धर्म का निरोध होता है तब अप्रतिसंख्या-निरोध कहा जाता है। इस निरोध का फल अनुत्पाद ज्ञान है यह ज्ञान अच्युत्पाती होता है। ये तीनों धर्म स्वतन्त्र और नित्य हैं। अतः हेतु-प्रत्यय के बिना ही पदार्थों की सत्ता मानने के कारण वैभाषिको को नानार्थवादी कहा जा सकता है।

सर्वास्तिवाद में काल के तीनों भागों का भी अस्तित्व माना गया है परन्तु सौत्रान्तिक मात्र वर्तमान काल को ही सत्य स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त विभज्यवादी वर्तमान और अतीत को सत्य मानते हैं। परन्तु शून्यवादी आचार्य काल का बिलकुल प्रतिषेध करते हैं।

परमाणुवाद

परमाणुवाद की मूलतः स्थापना सर्वास्तिवादियों के द्वारा हुई जिसे उत्तर काल में स्थविरवादियों ने भी स्वीकार की सर्वास्तिवाद में पांच विज्ञानेन्द्रियां

पांच विषय, तथा चार महाभूत ये परमाणु के चौदह भेद संघात-परमाणु कहलाते हैं। अभिधर्मवाद में इन्हीं को 'कलाप' संज्ञा दी गई है। उपचय, संतति, जरता और अनित्यता ये चार लक्षण कलापों के माने गये हैं।

सौत्रान्तिकों की दृष्टि में परमाणु रूप, गन्ध, रस और स्पृष्टव्य माना गया है। वैभाषिक इसे विनाशी स्वीकार करते हैं। शून्यवादी आर्यदेव ने भी परमाणु को अनित्य माना है। चन्द्रकीर्ति ने भी जगत् की उत्पत्ति का खण्डन करते हुए कहा कि अवयव परमाणु से बने अवयवी संसार भी परमाणु के ही परिमाण के न हों इसलिए कारणों में रहने वाले परमाणु को कार्य में नहीं माना जावेगा। अतएव परमाणुओं में सर्वात्मना संयोग न होकर उसके किसी एक अंश से संयोग नहीं होगा, वह हेतु नहीं होगा। इस तरह वह नाना रूप होने से चित्र के समान अनित्य हो जायगा। इसलिए कहा है— 'नाना नित्यो न जायते।' परमाणु का सर्वात्मना संयोग मानने पर सारा संसार परमाणुमात्र होने से अदृश्य (अतीन्द्रिय) हो जायगा। परमाणु को निरवयव भी नहीं माना जा सकता अन्यथा उसमें गति नहीं हो सकेगी और फलतः परमाणुओं का परस्पर संयोग नहीं हो सकेगा। फिर घटादि कार्य को उत्पत्ति कैसे होगी? अतः परमाणु कोई द्रव्य है यह कहना उचित नहीं। निरवयवी होने के कारण परमाणु योगी द्वारा प्रत्यक्षगम्य भी नहीं है। परमाणु हेतु रूप भी नहीं अन्यथा बीज के समान द्वयणुकादिक द्रव्यों द्वारा विनष्ट माना जायगा। परमाणु की अनित्यता में यह भी एक कारण है कि जगत् में एक परमाणु में दूसरा परमाणु सर्वात्मना नहीं रहता। परमाणु का संश्लेष (संयोग) होने पर संश्लिष्ट घटों के समान वह नित्य भी नहीं होता। इस प्रकार परमाणु की उत्पत्ति, स्थिति और निरोध क्रमशः और युगपत् नहीं होते। उत्पत्ति आदि के न होने पर परमाणु का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।[१]

२. सौत्रान्तिक दर्शन

सौत्रान्तिकों को दार्ष्टान्तिक भी कहा गया है। संभव है उन्हें यह नाम इस शाखा के प्रस्थापक आचार्य कुमारलात के ग्रन्थ "कल्पनामंडितिका दृष्टा-

---

१. चतुः शतक, २१२-२१९; बौद्धधर्मदर्शन

न्तर्पंक्ति" के आधार पर दिया गया हो। यह सर्वास्तिवादियों की ही एक शाखा थी। इसका अपना कोई स्वतन्त्र साहित्य प्रायः उपलब्ध नहीं अतः हम बौद्ध-बौद्धेतर साहित्य में प्राप्त तत्सम्बन्धी सामग्री पर ही निर्भर हैं। इसके विशिष्ट सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

१. बाह्यार्थ की सत्ता—सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनकी सत्ता अनुमानगम्य है, प्रत्यक्षगम्य नहीं।

२. ज्ञान स्वसंवेदी है। विज्ञानवादी भी यही मानते हैं।

३. बाह्य वस्तु का अस्तित्व है पर उसके आकार के विषय में एक मत नहीं।

४. परमाणुओं में परस्पर स्पर्श नहीं होता। क्योंकि वे निरवयव हैं।

५. प्रत्येक वस्तु अनित्य, क्षणिक और विनाशशील है।

६. रूप का अर्थ वर्ण ही है। संस्थान को उसमें नियोजित नहीं किया जा सकता।

४. असंस्कृत पदार्थ द्रव्य सत् नहीं।

५. चित्त विप्रयुक्त धर्मों का अस्तित्व नहीं। वे प्रज्ञप्तिमात्र हैं।

६. आयु को द्रव्य नहीं मानते।

७. संस्कृत लक्षण पृथक् नहीं, प्रज्ञात होते हैं।

८. अतीत-अनागत वस्तु-सत् नहीं।

९. अविज्ञप्ति का भी अस्तित्व नहीं।

१०. वितर्क, विचार, समाधि और अध्यात्म संप्रसाद परस्पर भिन्न नहीं।

११. न कोई इन्द्रिय दर्शक है, न कोई रूप दृश्य है, न कोई दर्शन क्रिया है, न कोई कर्ता है। हेतुफल-मात्र है।

१२. केवल ४३ धर्म हैं—

(i) रूप—८ = चार उपादान और चार उपादाय।

(ii) वेदना —३ = सुख, दुःख, न सुख न दुःख।

(iii) संज्ञा—६ – पांच इन्द्रियां तथा एक चित्त।

(iv) विज्ञान—६ = चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन, काय, तथा मन।

(v) संस्कार—२० = दस कुशल, दस अकुशल।

१३. समाधि एकालम्बन चित्त-सन्तति है।

१४. चेतना मानस कर्म नहीं है।

२. क्षणिकवाद—प्रायः प्रत्येक भारतीय दर्शन में किसी न किसी रूप-में संसार और सांसारिक पदार्थों को अनित्य अथवा क्षणभङ्गुर माना गया

है । बुद्ध ने "सब्बे धम्मा अनिच्चा, सब्बे भवा अनिच्चा, दुक्खा विपरिणाम-धम्मा",[1] तथा "यथा बुब्बुलकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं । एवं लोकमवेक्खन्तं मच्चु राजा न पस्सति"[2] जैसे कथनों में इसी दर्शन की भूमिका को प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया था । परन्तु यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भगवान् का यह उपदेश सत्व को संसार के मोह जाल से पृथक्कर उसे एक शान्त, अमृत और अविनाशी पद को प्राप्त कराना था ।[3] इन भावों में बौद्धधर्म-की पूर्णतः अनित्यात्मक एवं क्षणिकात्मक प्रकृति का दर्शन नहीं होता ।

तथागत के उक्त वचनों के माध्यम से उत्तरकाल में क्षणिकवाद का अत्य-धिक दार्शनिक विकास हुआ । ईसा की लगभग ६वीं शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक यह विकास स्पष्टः दृष्टिगत होता है । यद्यपि क्षणिकवाद बौद्धदर्शन-की चारों शाखाओं को मान्य है परन्तु दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील आदि आचार्यों ने इसे परमार्थ तक पहुँचा दिया ।

स्थविरवादी मात्र चित्त-चैतसिकों की क्षणिकता को स्वीकार करते थे । सर्वास्तिवादी—वैभाषिक बाह्य जगत् को भी किञ्चित् क्षणिक मानने लगे ।[4] परन्तु सौत्रान्तिक पूर्ण क्षणिकवाद पर विश्वास करने लगे । इसलिए वह पदार्थ-वादी बौद्धदर्शन कालान्तर में क्षणभंगवादी दर्शन बन गया ।

क्षणभंगवाद के अनुसार समस्त स्वलक्षण पदार्थ क्षणिक एवं परमाणुरूप हैं । वे अपने स्वभावानुसार जिस क्षण में उत्पन्न होते हैं उसी क्षण में विनष्ट हो जाते हैं ।[5] इस तरह पूर्वक्षण विनष्ट होकर उत्तर क्षण को उत्पन्न करता और वर्तमान क्षण अस्तित्व में रहकर क्रमबद्धता बनाये रखता है । इस विनाश और उत्पत्ति में किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रहती । अतः निर्हेतुक कहा गया है । इस स्थिति में सन्ततिपरम्परा बनी रहती है और कार्यकारण-भाव, अर्थक्रियाकारित्व, बन्ध-मोक्ष आदि व्यवस्थाओं में व्यवधान नहीं आता ।

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय, ४. १६-५.

२. धम्मपद, १३. ४   ३. वही, २०. ५

४. 'संस्कृतं क्षणिकं यतः'—अभिधर्मकोश, ४. ४

५. यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः ।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥ प्रमेयरत्नमाला में उद्धृत, ४. १

परमार्थसत् के परीक्षण में अर्थक्रिया का विशेष महत्व है। वह क्रमशः अथवा युगपद् होती है। नित्य पदार्थों में ये दोनों प्रकार की क्रियायें सम्भव नहीं। पदार्थ में स्थिरता और स्थूलता का आभास हमारी मानसिक कल्पना और विभ्रम का फल है। चित्तक्षण भी इसी प्रकार वासना के आधारपर क्रमिकता बनाये रखता है। सभी पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न होते हैं। उनमें शाश्वतता का मात्र भान होता है, वास्तविक प्रतीति नहीं। निर्वाण अवस्था में चित्तसन्तति निरास्रवत हो जाती है।

बौद्धों का यह क्षणिकवाद दार्शनिकों में अत्यन्त विवाद का विषय बना। बौद्धेतर विद्वानों ने इसकी कटु आलोचना की। जैन उन आलोचकों मे प्रमुख है। जैन सिद्धान्त के अनुसार परमाणुओं का पारस्परिक सम्बन्ध स्निग्धता और रूक्षता के कारण गुणात्मक परिवर्तन के रूप में होता है। वे ही परमाणु अपनी सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलरूपता धारण कर लेते हैं। पदार्थ प्रतिक्षण पर्याय-नय से विनाशी होकर भी अपनी अविच्छिन्न संस्कृति की दृष्टि से कथञ्चित् ध्रुव भी है। यह सन्तति कार्यकारणपरम्परा पर निर्भर रहती है। सर्वथा क्षणिक पदार्थों में अर्थक्रिया भी सम्भव नहीं तब उनका निर्हेतुक होना कैसे सम्भव है ?

बुद्ध ने संसार की अनित्यता का प्रदर्शन करने की दृष्टि से इस क्षणवाद-की प्रतिष्ठा की थी परन्तु उत्तरकाल मे उनकी इस मान्यता को दार्शनिक क्षेत्र मे लाकर क्षणिकवाद, शून्यवाद, नैरात्म्यवाद जैसे वादों की प्रस्थापना कर दी गई।

वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदायों में प्रमुख भेद

वैभाषिक (सर्वास्तिवाद)	सौत्रान्तिक
१. वर्ण और संस्थान के भेद से रूप दो प्रकार का हैं।	१. संस्थान का सन्निवेश वर्ण में ही हो जाता है।
२. बुद्धवचन वाक् स्वभाव और नाम स्वभाव दोनों हैं।	२. बुद्धवचन वाक् स्वभाव मात्र हैं।

३. असंस्कृत (निर्वाण) द्रव्य-है सत्, अवाच्य है, विसंयोगफल है।

४. चित्तविप्रयुक्त धर्मों (१४) का स्वतन्त्र अस्तित्व है।

५. संस्कृतधर्म के लक्षण जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता पृथक्-पृथक् हैं।

६. आयु द्रव्य है।

७. अतीत और अनागत द्रव्य-सत् हैं।

८. अविज्ञप्ति का अस्तित्व है।

९. तृतीय ध्यान का 'सुख' प्रथम और द्वितीय ध्यान के 'सुख' से द्रव्यान्तर है।

१०. सभाग अवस्था में चक्षु रूप देखता है। द्रष्टा तदाश्रित विज्ञान नहीं।

११. सर्वास्तिवादी भी क्षणिकवादी हैं परन्तु उसका क्षण काल का अल्पतम ग्रहमाण है।

१२. स्कन्ध, आयतन और धातु ये तीनों द्रव्यसत् हैं।

१३. चक्षु देखता है जब वह सभाग है।

१४. बाह्यार्थ की यथावत् प्रतीति होती है।

३. असंस्कृत (आकाश, अप्रतिसंख्यानिरोध, और प्रतिसंख्यानिरोध) द्रव्य-सत् नहीं, अभाव मात्र है, कारण-हेतु है।

४. चित्त विप्रयुक्त धर्म वस्तु-सत् नहीं, प्रज्ञप्तिमात्र हैं।

५. संस्कृत लक्षण पृथक् नहीं, प्रज्ञप्त होते हैं।

६. आयु द्रव्य नहीं।

७. अतीत और अनागत वस्तु-सत् नहीं।

८. अविज्ञप्ति का अस्तित्व नहीं।

९. प्रथम तीन ध्यानों में कायिक सुखेन्द्रिय होती है, चैतसिक सुखेन्द्रिय नहीं। अतः तृतीय ध्यान का 'सुख' द्रव्यान्तर नहीं।

१०. न द्रष्टा इन्द्रिय है, न दृश्य रूप है। न दर्शन-क्रिया है और न कोई दर्शक कर्ता है प्रत्युत हेतुफल-मात्र है।

११. धर्मों का विनाश उत्पाद के समनन्तर होता है। धर्मों की कोई स्थिति नहीं।

१२. स्कन्ध तथा आयतनों को प्रज्ञप्तिसत् और धातुओं को द्रव्यसत् मानते हैं।

१३. चक्षु और रूप के कारण चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। इन्द्रिय, रूप, दर्शन, कर्ता, हेतु-फल आदि का अस्तित्व नहीं। व्यवहारतः उनका उपचार किया जाता है।

१४. बाह्यार्थ अनुमानगम्य है, प्रत्यक्षगम्य नहीं।

३. शून्यवाद (माध्यमिक) दर्शन

शून्यवाद माध्यमिक बौद्ध दर्शन का एक विशिष्ट प्रभावक सिद्धान्त है। संयुक्त निकाय के भारद्वाज सुत्त में इसके बीज उपलब्ध होते हैं। हीनयान सम्प्रदाय में प्रथमतः पुद्गल नैरात्म्य के रूप में इसके बीज मिलते हैं। शनैः शनैः उत्तर काल में इस सिद्धान्त का विकास होता गया। महायान तक पहुंचते-पहुंचते पुद्गल नैरात्म्य के अतिरिक्त धर्म नैरात्म्य की कल्पना का विस्तार हुआ और फलतः शून्यवाद की स्थापना हुई। सौत्रान्तिक दर्शन में बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्षतः ज्ञेय नहीं माना गया। विज्ञानवाद में उनकी चित्तमात्र के रूप में सत्ता स्वीकृत हुई—"चित्तमात्रं भो जिनपुत्र यदुत त्रैधातुकम्।" पर माध्यमिक में बाह्य और आन्तरिक दोनों पदार्थों के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया गया। उन्होंने पदार्थ को न सत् माना, न असत् माना, और न अनुभव माना बल्कि इन चतुष्कोटियों से विनिर्मुक्त तत्व माना।[1] इसलिए उसे अभावात्मक नही कहा जा सकता किन्तु निरपेक्ष होने के कारण शून्यात्मक माना जाता है। सत्-असत् के बीच का यह आध्यात्मिक मध्यम मार्ग है—

> अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता, शुद्धी अशुद्धीति उभेऽपि अन्ता।
> तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा, मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः॥[2]

नागार्जुन ने शून्यवाद को प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या के रूप में प्रतिपादित किया है।[3] पदार्थों के स्वरूप का विश्लेषण जैसे-जैसे करते हुए वे आगे बढ़ते गये, उन्हें वे विशीर्ण होकर नीचे गिरते हुए दिखाई दिये—'यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा'। इसलिए शून्यता का स्वरूप उन्होंने निःस्वभाव होना बताया। आर्यदेव ने इसी को निर्वाण माना—

> धर्मं समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागताः।
> शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तदिहो भयम्॥ चतुःशतक, १२,१३

लंकावतार में इसी शून्यता को कदलीसम, स्वप्नोपम जैसे शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। इसी को धर्म नैरात्म्य कहा है। इस धर्म नैरात्म्य

---

१. न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः॥मा० का० १७

२. समाधिराजसूत्र, उद्धृत—बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ-३००

३. यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥ मा-का-१

की भावना का दार्शनिक आधार दो प्रकार का है—प्रथम सभी धर्मों की निःसारता और द्वितीय चित्त की प्रधानता। प्रथम पक्ष (शून्यवाद) का आख्यान नागार्जुन, आर्यदेव और चन्द्रकीर्ति आदि ने किया और द्वितीय पक्ष (योगाचार-विज्ञानवाद) का विस्तार मैत्रेयनाथ ने किया। शून्यवाद तथा योगाचार—विज्ञानवाद को संयुक्त रूप माना गया है। इसीलिए शायद आर्यदेव ने चतुःशतक को 'बोधिसत्व योगाचारशास्त्र' कहा है।[1]

शून्य का लक्षण—नागार्जुन ने शून्यता को प्रत्ययजन्य मानने के कारण भावात्मक माना है, अभावात्मक नहीं। अतः उसे पर परमार्थ और प्रपञ्चोपशम कहा है! उनके अनुसार शून्य का स्वरूप है—अपर प्रत्यय (प्रत्यात्मवेद्य), शान्त (निःस्वभाव), अप्रपञ्चित (निःशब्द, अनक्षरतत्त्व) निर्विकल्प (चित्त व्यापार से दूर), अनानार्थ (मात्र अर्थों से विरहित)।

"अपर प्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चै प्रपञ्चितम्।"[2]
"निर्विकल्पमनानार्थ मेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्"

शून्यता के प्रकार—महाप्रज्ञापारमिता में शून्यता के १८ प्रकार हैं— १. अध्यात्म शून्यता (अन्तः वस्तुओं की शून्यता) २. बहिर्धा शून्यता (बाह्य वस्तुओं की शून्यता), ३. अध्यात्मबहिर्धाशून्यता (अन्तः बाह्य पदार्थ भेद रहित हैं) ४. शून्यता-शून्यता (शून्यता ही यथार्थ तत्त्व नहीं, परम तत्त्व है), ५. महाशून्यता (उत्पाद, स्थिति और विनाश-रूप पदार्थ शून्यता), ६. असंस्कृत शून्यता—(पदार्थ प्रज्ञप्तिमात्र हैं), ७. अत्यन्त शून्यता (पूर्णतः शून्यता,), ८. अनवराग्रशून्यता (पदार्थ के आदि अन्त रूप की शून्यता), ९. अनवकार शून्यता (निरुपधिशेष निर्वाण शून्यता), १०. प्रकृति शून्यता (स्वभाव शून्यता) ११. सर्वधर्मशून्यता (सर्व पदार्थ स्वभाव शून्यता), १२. स्वलक्षण शून्यता (पदार्थ की स्व स्वरूप—शून्यता), १३. अनुपलम्भ शून्यता (काल शून्यता), १४. अभाव शून्यता (आकाश, प्रतिसंख्या, अप्रति संख्या का निरोध), १५. सर्वभाव शून्यता (पञ्चस्कन्ध शून्यता), १६. अभाव और स्वभाव शून्यता (संयोगोत्पन्न पदार्थ शून्यता)। 'पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' में इन शून्यताओं

---

१. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३६७-८
२. (मा. मा. १८. ९.)

के अतिरिक्त दो और शून्यताओं का उल्लेख है—१. स्वभाव शून्यता (सत्ता रहित पदार्थ और २. परभाव शून्यता (पर पदार्थों द्वारा उत्पत्तिहीनता)। शून्यवाद की विस्तृत कल्पना, इन प्रकारों में देखी जा सकती है।

आर्यदेव का चतुःशतक और शून्यवाद

आर्यदेव शून्यवाद के प्रतिष्ठापक आचार्यों में से अन्यतम माने जाते हैं। उन्होंने चतुःशतक में शून्यवाद की प्रतिस्थापनाको भली भांति पूरा किया है और प्रसिद्ध वृत्तिकार चन्द्रकीर्तिने उनके विचारोंको यथाशक्य स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। निःस्वभाववाद एवं शून्यवाद की स्थापना के सन्दर्भ में इन दोनों आचार्यों के विचार हम संक्षेप मे उद्धृत कर रहे हैं। ये विचार नित्यार्थ प्रतिषेध, आत्मप्रतिषेध, कालप्रतिषेध, दृष्टिप्रतिषेध, इन्द्रियार्थप्रतिषेध, अन्तग्राहप्रतिषेध और संस्कृतार्थ प्रतिषेध, नामक अध्यायों में मिलते हैं। अन्तिम अध्याय "गुरुशिष्यभावना सन्दर्शन" में आर्यदेव ने शून्यवाद का और भी विश्लेषण कर उपसंहार प्रस्तुत किया है।

१. नियार्थ प्रतिषेध

लोक में प्रवृत्ति कार्यार्थी होती है, स्वाभाविकी नहीं। और भूत-भौतिक, चित्त-चैत्त, लक्ष्य-लक्षण आदि संस्कृत वस्तु की पृथक्-पृथक् उत्पत्ति न होने के कारण यथासंभव समूह-रूप की ही उत्पत्ति होती है। समूह-रूप परस्पर कार्यकारणावस्था पर निर्भर है। इसलिए जिसके होनेपर जो होता है और जिसके न होनेपर जो नहीं होता वह उसका कारण है और दूसरा उसका कार्य है। पृथ्वी के बिना भूतत्रय का अभाव होता है और पृथ्वी के रहने पर भूतत्रयका सद्भाव होता है। इस प्रकार पृथ्वी की उत्पत्ति कार्यार्थी होती है। और कहा जा सकता है कि सभी संस्कृत पदार्थ कार्यार्थ उत्पन्न होते हैं। जो कार्यार्थ उत्पन्न नहीं होता वह नित्य नहीं है। नित्य शब्द के स्वभाव, सत्य, सार, वस्तु, द्रव्य शब्द पर्यायार्थक हैं। नित्यत्व के अभाव से निःस्वभाव, असत्य, असार, अवस्तु और अद्रव्य को संस्कृत कहा जाता है।

भाव, स्वभाव, आत्मा पर्यायार्थक शब्द हैं। वह आत्मा बिना कारण उत्पन्न नहीं होता। इसका अकारणत्व दूसरे द्वारा ही जाना गया है। जो

निर्हेतुक होता है वह खर-विषाण के समान अस्तित्वहीन होता है। आकाशादिक के साथ अनैकान्तिक दोष हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनका अस्तित्व भी आत्मा के समान निषिध्यमान है। इस प्रकार दोष को छोड़ने की इच्छा से उक्त कथन के विरुद्ध भी हेतुमान् स्वीकार किया जाता है। इससे भी इसका नित्यत्व दूर हो जाता है। अतएव हेतुमान होने से आत्मा भी सुखादि के समान अनित्य है। (२०३)

आकाश—रूपका अभाव मात्र ही आकाश है। आकाश इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। रूपान्तर का अभाव होने पर तो रूपी पदार्थों की उत्पत्ति में कोई प्रतिबन्ध देखा नहीं जाता। वही रूपान्तरा भाव पदार्थों को अवकाश देता है, इसलिए आकाश कहा जाता है। उस अवस्तुमान् अकिञ्चन पदार्थ का विमोहितों ने 'वस्तुमात्' नाम रखा है। वह युक्तियुक्त नहीं। पदार्थ—स्वभाव के जानकार 'आकाश' नाम में लौकिक ज्ञान से भी कोई अभिधेय स्वरूप नहीं देखते, जैसे पृथिवी आदि नामों में काठिन्यादिक। और तो क्या पदार्थ-स्वभावज्ञ समस्त बाह्य और आध्यात्मिक वस्तु को बिना प्राप्त किये उसके स्वरूप को जान लेते हैं। इसी प्रकार अप्रतिसंख्यानिरोध और प्रतिसंख्यानिरोध के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए (२०५)। आकाश के जो अवयव हैं वे ही इसके प्रदेश हैं। उनके द्वारा ही आकाश प्रदेशी है। उसमें जो अन्यसंयोगी प्रदेश है वह उससे अन्य संयोगी प्रदेश में रहता है। यदि रहता है तो उससे अभिन्न देशवर्ती घटका भी सर्वगतत्व सिद्ध हो जावेगा। अर्थात् व्यापक वह वस्तु है जो सर्वत्र हो, पर आकाश के सभी अवयव सर्वत्र व्याप्त नहीं। जैसे जो आकाश प्रदेश यहाँ है वह दूर देश में नहीं है, अतः आकाश व्यापक नहीं हो सकता, अन्यथा घट आदि पदार्थ जो एक देश में रहते हैं वे भी व्यापक हो जावेंगे। परन्तु वे व्यापक है नहीं इसलिए नित्य भी नहीं हैं।

काल—कालवाद के अनुसार संसार की उत्पत्ति और लय का कारण काल है। बीजादि कारणों के होने पर भी अङ्कुरादि की उत्पत्ति सर्वदा नहीं होती, कभी उत्पत्ति होती है और कभी विरोधी काल के आनेपर नहीं होती। अतएव काल का सद्भाव स्वीकार किया गया है। इसके खण्डन में कहा गया है—काल के नित्य होने पर उसके आश्रित रहने वाली अङ्कुरादि की उत्पत्ति और वृद्धि सदैव प्राप्त होनी चाहिए। पर ऐसा होता नहीं। कभी बिना बीज के ही अङ्कुरों की उत्पत्ति होती है और कभी बीज-वपन करने पर भी अङ्कुर नहीं होते। इसी प्रकार ही बीजादि के समान काल भी जब कभी

ही होता है। अतएव नित्य नहीं है। जिसके सद्भाव होने पर अङ्कुरादि की उत्पत्ति होती है और असद्भाव होने पर उसका विनाश होता है। ऐसा कोई दूसरा ही है। इस प्रकार कार्यभूत अङ्कुरादि के समान काल अनित्य ही है (२०७)। निष्क्रिय पदार्थ का हेतुत्व संभव नहीं, इसलिए हेतु नामक कोई पदार्थ अपने से भिन्न नहीं है। फलोदय का हेतु होने पर फलत्व कैसे नहीं होगा ? फलत्व होने पर अंकुरादि के समान इसकी नित्यत्व-दृष्टि कैसे हो सकती है ? इसलिए हेतु और फलकी व्यवस्था न होने से दोनों की स्वरूप-सिद्धि नहीं हो सकती। कारण होने पर जिसकी उत्पत्ति हो, वह फल है। जैसे बीज के होने पर अंकुर होता है। अंकुर के होने पर बीज नहीं होता। इसलिए हेतु फलत्व में कारण नहीं होता। जिससे जो बीज होता है उसकी अंकुरोत्पत्ति के पूर्व की कल्पना में तृतीय विकल्प नहीं रहता, दो ही विकल्प होते हैं—हेतुभूत या अहेतुभूत। वहाँ अग्नि आदि से जल आने के समान हेतुभूत से उसकी उत्पत्ति नहीं होती। हेतु ही फल के रूप में परिणत होता है। इसलिए उत्पत्ति के पूर्व फल दिखाई नहीं देता। और उत्पन्न होने वाले फल के बिना भी कोई फल - प्रतीति नहीं होती। अतएव सभी की फलवत्ता हो यह सिद्ध नहीं होता। सारांश यह है कि यदि हेतुओं में फल के बिना हेतुता ही नहीं तो इस तरह सभी हेतुओं में फलवत्ता प्रसक्त हो जावेगी। परन्तु ऐसा नहीं है। अग्नि से जले बीज में अंकुर (फल) नहीं होता। अतः काल फलात्मक हेतु नहीं माना जा सकता—

बिना फलेन यद्धेतो र्हेतुभावो न विद्यते।
हेतूनां तेन सर्वेषां फलभावः प्रसज्यते ॥ २०८ ॥

यदि कालवादियों का यह काल विचित्र जगत् का कारण है तो उससे नियत पूर्वावस्थावर्ती नानारूप विकार से कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए। परन्तु वह नहीं होती। मूल कारण बीज स्वयं विकृत रूप धारण करने के बाद ही अंकुर का कारण बनता है, पूर्वास्था के परित्याग के बिना नहीं। वैसे ही काल भी जब विचित्र जगत् का कारण होगा तो उसे कार्योत्पादन के पूर्व अपनी नियत पूर्वावस्था को छोड़ना पड़ेगा। अन्यथा कार्योत्पादन में समर्थ नहीं हो सकेगा। परन्तु जब विकृत रूप धारण करेगा तो उसमें विकार अवश्य होगा। वह बीजादि की तरह नित्य नहीं हो सकता (२०९)।

विकृत बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है। अन्य बीज की असंभवता से बीज का अनुविधायी होने से और सहानवस्थान होने से और कुछ ही

उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं मानना चाहिए ; एक साथ रहने वाले असदृश पदार्थों के हेतुत्व की असंभावना से और काल की नित्यता रूप हेतु के फल से 'अन्यत्व' ही होता है। इस कारण असदृश के साथ अवस्थान भी संभव है। फल के उत्पन्न होने पर भी काल में कोई विकार नहीं आता। इस काल से जो फल उत्पन्न होता है वह बिना विकार के ही होता है अर्थात् हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा किये बिना ही स्वयमेव उत्पन्न होता है। अथवा हेतु प्रत्यय की अधीनता में उत्पन्न होने पर फल बिना उत्पन्न हुए उत्पन्न होता है, यह भी ठीक नहीं। सर्वात्मना अभाव होने पर पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। जिसका सर्वात्मना सद्भाव नहीं, उसका खर-विषाण के समान हेतुप्रत्यय से उत्पन्न होना संभव नहीं। अतएव जिसके हेतु इष्ट है, वह धर्मातीत नित्य पदार्थ विकृत न होकर भी उत्पन्न होता है। यह निर्हेतुक ही उत्पन्न होता है। अर्थात् स्वयं ही उत्पन्न होता है। इसलिए इसकी निरर्थक हेतुत्व-कल्पना से क्या प्रयोजन! तात्पर्य यह है कि विकृत बीज से ही अंकुरादि उत्पन्न होता है, पर काल का विकृत रूप अंकुरादि है, ऐसी बात बुद्धि-संगत नहीं। जगत् स्वतः सिद्ध है। उसकी सिद्धि के लिए काल को कारण मानने की आवश्यकता नहीं (२१०)।

परमाणु—हेतुत्व, पारिमाण्डल्य और अप्रदेशत्व ये परमाणु द्रव्य के लक्षण हैं। यदि परमाणु सर्वात्मना दूसरे परमाणु से युक्त है, प्रदेश से नहीं, तो हेतु है। हेतुभूत एक परमाणु का दूसरे परमाणु में सर्वात्मना संयोग मानने से परमाणु के अणु परिमाण का कार्य द्व्यणुका द्व्यणु में भी संयोग मानने का प्रसंग आयगा। सारा संसार परमाणु मात्र होने से अदृश्य (अतीन्द्रिय) हो जायगा। पर संसार दृश्य है। अतः परमाणु का परमाणु में सर्वात्मना योग नहीं मानना चाहिए (२१३)।

संसार में अदृश्यत्वापत्तिवारण के लिए यदि एक परमाणु का दूसरे परमाणु से योग न माना जाय तो परमाणु का परमाणु से जो संयोग होता है वह किसी अंश में होता है। अश जिस अंश का जिस अंश से संयोग होता है वह परमाणु का अंश परमाणु का अवयव हुआ। जिसका संयोग से पहले अवयव है वह उसका अवयवी हुआ। अणु के भी अवयव होंगे। इस स्थिति में वह अणु नहीं कहा जा सकता। परमाणु भी घटादि की तरह अनित्य हैं। अतः वह परमाणु नहीं कहा जा सकता। अर्थात् परमाणु भी अनित्य है—

> यस्य पूर्वः प्रदेशोऽस्ति पूर्वांशस्तस्य विद्यते।
> अणोर्येन प्रदेशोऽस्ति तेनाणुर्नाणुरुच्यते ॥ २१५ ॥

गमन करने वाला व्यक्ति गमन करने में अपने आगे के पैर से आगे के स्थान को ग्रहण करता है और पीछे के पैर से पीछे के स्थान को छोड़ता है। इन दोनों क्रियाओं से गमन करने वाले का गमनत्व समझा जाता है। अनंश होने के कारण जिस परमाणु के अग्रिम भाग से ग्रहण और पश्चात् (पीछे के) भाग से वर्जन नही होता वह "गन्ता" नहीं कहा जाता है। इस प्रकार यदि परमाणु भी निरवयव होगा तो संयोगादि क्रिया के न होने से घटादि कार्य की उत्पत्ति भी न हो सकेगी। अतः परमाणु कोई द्रव्य है, यह कहना उचित नहीं ॥ २१६ ॥

अवयवहीन परमाणु का न आगे का भाग है और न पीछे का। इसलिये वह अव्यक्त है। व्यक्त का तात्पर्य स्पष्ट, ग्राह्य और दृश्य है। इसी का विपरीत-रूप अव्यक्त है। जो दृश्य नहीं है वह किसी के द्वारा भी नहीं देखा जा सकता। योगी भी अव्यक्त होने से उसे देखने में समर्थ नहीं हैं। इस कारण परमाणु नित्य नहीं है ॥ २१७ ॥

परमाणु यदि हेतुरूप हों तो अंकुर से बीज के समान वे परमाणु द्व्यणु-कादिक अवयवी द्रव्यों द्वारा विनष्ट हो जावें। अतएव उस फल में सहानवस्थान से परमाणु बीजके समान नित्य नहीं हैं। यदि इस तरह का हेतुत्व सम्भव नहीं तो परमाणु की नित्यत्व-परीक्षा निरर्थक ही है। तब उनसे क्या प्रयोजन ? अतः परमाणु नित्य नहीं है ॥१८॥

परमाणु के नित्य न होने में एक और प्रमाण आचार्य आर्यदेव प्रस्तुत करते हैं। जगत् में एक परमाणु में दूसरा परमाणु सर्वात्मना नहीं रहता। परमाणु का संश्लेष (संयोग) होने पर संश्लिष्ट घटों के समान वह नित्य भी नहीं होता। इसलिए वैशेषिक दर्शन की तरह सौगत दर्शन में भी परमाणु द्रव्य (नित्य) नहीं है। बुद्ध ने इसी कारण परमाणु के नित्यत्व का प्रतिपादन नहीं किया। स्वयं ही अप्रत्यक्ष है, यह भी कारण है। इस प्रकार परमाणु की उत्पत्ति, स्थिति और निरोध क्रमशः और युगपद् नहीं होते। उत्पत्ति आदि के न होने पर परमाणु का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतएव जैसे लौकिक भाव साधारण लौकिक विचार में ही रहते हैं, लोकोत्तर दर्शन परीक्षा में नहीं। उसी प्रकार न्याय सिद्धान्त का परमाणु भी साधारण दर्शन में लोक में व्यवहृत होते हुए भी परमार्थ विचार में सिद्ध नहीं हो सकता। अतः बौद्धदर्शन में परमाणुवाद स्वीकार्य नहीं ॥१९॥

निर्वाण—यहाँ पर आलोचक कहते हैं—बुद्धने परमाणुओं की नित्यताको स्वीकार नहीं किया, यह सत्य ही है। परन्तु उन्होंने जिसे नित्य माना है उसे तो नित्य मानना ही पड़ेगा। जैसे भगवान् ने कहा है निर्वाण के प्रसंग में कि "भिक्षुओं! वह अजात अभूत और असंस्कृत धर्म है"। इसके अनुसार असंस्कृत धर्म नित्य माना गया है। अतएव निर्वाण नित्य है। दुःखसत्य, समुदयसत्य, और दुःखनिरोधसत्य शासन (उपदेश) भी नहीं है, ऐसा भगवान् का उपदेश नहीं है। परन्तु यह कथन युक्तियुक्त नहीं। उपाय, बन्धन और बन्ध्य इन तीनों से यदि मोक्ष भिन्न हो तो उससे कुछ भी नहीं होगा और फलतः उसे मोक्ष नहीं कहा जा सकता—

उपायाद् बन्धनाद् बन्ध्यादन्यो मोक्षो भवेद् यदि।
न तस्माज्जायते किञ्चिन् मोक्षः स इति नोच्यते ॥२२०॥

इसमें बन्धन समुदयसत्य है। बन्ध्य के स्वतन्त्र न रहने से बन्धन होता है। बन्ध्य दुःखसत्य है क्योंकि वह क्लेश के परतन्त्र है। बन्ध्य से दूर होने का उपाय मार्ग सत्य है, दुःख-निवारक होने से। बन्धन और बन्ध्य के बिना बन्धन कार्य सम्भव नहीं। बन्ध्य-बन्धन का अस्तित्व बन्धन कार्य के अस्तित्व का हेतु है। तथा निवर्त्य और निवर्तक के बिना निवृत्ति नहीं हो सकती। निवृत्ति होने के कारण निवर्तक का अस्तित्व है। निवर्त्य संक्लेश है और निवर्तक मार्ग है, अन्धकार में दीपक के समान। जैसे दुःख-सत्य, दुःख समुदय सत्य और दुःखनिरोधसत्य ये तीनों आर्यसत्य अनुमित सत्य हैं वैसे ही क्लेशक्षय लक्षण स्वरूप मोक्ष नहीं है। क्योंकि उससे कुछ भी लाभ नहीं। बन्ध्य और मोक्ष इन दोनों का भी अवयव स्वभाव नहीं मिलता। यदि उसका कुछ उपयोग मान भी लिया जाय तो वह अनुमित सत्य ही होगा और यह है नहीं अतएव इसका सद्भाव नहीं। इसलिए जाति और क्लेश इन दोनों की उत्पत्ति न होना मोक्ष प्राप्ति से संभव है, यह ठीक नहीं। हेतु, प्रत्यय और सामग्री से उद्भूत पदार्थों के अभाव से, बीजाभाव से अंकुरादि के समान जाति (जन्म) कभी नहीं होता। इसलिए उसके लिए अर्थान्तर परीक्षाधर्म युक्तियुक्त नहीं।

तृतीय दुःखनिरोधसत्य भी विरुद्ध नहीं। क्योंकि जाति और क्लेश दोनोंका पुनः उद्भव नहीं होना तृतीय सत्यका वाच्य है। अभावभूत की संख्या से परिसंधान नहीं होता, ऐसा नहीं है। भगवान् बुद्ध ने कहा है हे भिक्षुओ! अतीत मार्ग, अनागतमार्ग, आकाश, निर्वाण और पुद्गल ये नाम मात्र, प्रतिज्ञामात्र

व्यवहारमात्र और संवृतिमात्र हैं। तात्पर्य यह है कि उपाय, बन्धन और बन्धय इन तीनों से यदि मोक्ष भिन्न हो तो उससे कुछ भी न होगा। अतएव इसे मोक्ष कहना युक्तिसंगत नहीं॥२२०॥

आर्यदेव ने इस सन्दर्भ में और भी मन्थन किया है और कहा है कि निर्वाणमें स्कन्ध नहीं होते। पुद्गल की भी उत्पत्ति नहीं होती। जहाँ निर्वाण दिखाई नहीं देता वहाँ निर्वाणसे तात्पर्य क्या!

स्कन्धाः सन्ति न निर्वाणे पुद्गलस्य न सम्भवः।
यत्र दृष्टं न निर्वाणं निर्वाणं तत्र किं भवेत् ॥२२१॥

भगवान् बुद्ध ने कहा है—"यह दुःख पूर्णतः निरवशेष हो गया है। इसे क्षय, विराग, निरोध, उपशम, अस्तंगम, अयुक्तान्य सन्धिक, निरुपादान, और शान्त कहा है।" इस प्रकार "समस्त स्कन्धों का नाश, जन्म मरणका क्षय, विराग, और निरोध निर्वाण है।" इस प्रकार के आगम प्रमाण से निर्वाण में स्कन्ध होते तो पुद्गल भी होता। तब उनके होने पर निर्वाण की प्राप्ति में सूत्र-विरोध होगा और निर्वाण संसार से बाहर नहीं होगा। इस कारण उस निर्वाण में निर्वाणभूत कुछ भी नहीं मिलता। इसलिए कहा है—"यत्र दृष्टं हि निर्वाणं निर्वाणं तत्र किं भवेत्।" निर्वाण का नाम निर्वृत्ति है। वह भावरूप होने का आधार है। इसका आधार निर्वाणभूत है। वह निर्वाणभूत स्कन्ध या पुद्गल है। उसके अभाव होनेपर आधार का अभाव हो जावेगा। तब उसके पक्ष में निर्वाण का स्वरूप क्या होगा? आधारभूत अथवा आधेयभूत? आधारभूत तो हो नहीं सकता क्योंकि निर्वाण में स्कन्ध होते नहीं और पुद्गल की भी उत्पत्ति नहीं होती। स्कन्ध और पुद्गल के अभाव में जब निर्वाण होता है और कुछ प्राप्ति होती नहीं तो निर्वाण से क्या तात्पर्य! अतएव निर्वाण आधारभूत नहीं है।

निर्वाण आधेयभूत भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें भी वही पूर्वोक्त दोषापत्ति है। निराधार के आधेयके अभावसे निर्वाण कैसा! निर्वाण के न होने पर नित्यत्व नहीं जाना जाता। अतएव पदार्थ नित्य नहीं हैं॥ २२१॥

मुक्तभूत पुरुष की मोक्षावस्थामें ज्ञानके अस्तित्व की कल्पना करना युक्त नहीं है क्योंकि सांख्यों के दर्शन में पुरुष बुद्धि के अध्यवसाय के लिए जानता है। अग्नि में उष्णता के समान बुद्धि का स्वरूप ज्ञान है। उसका यथोपदर्शित विषयों का ज्ञान कराना स्वभाव है। प्रकृति विषयसंभोग काम से ज्ञात पुरुष

की अभेद-प्रतीति के क्रम से इन्द्रिय समूह की उत्पत्ति में पुरुष के विषय सं
का कारण होती है। जब पुरुष के मन से विषय संभोग की इच्छा दूर हो ज
है, तभी संसार (जन्म-मरण) का उच्छेद होता है। भवहीन व्यक्ति के
ज्ञान के सद्भाव का कोई तात्पर्य-लाभ नहीं। वह कोई भी पदार्थ अच्छी तरह
अनुभूति में नहीं ला पाता। क्योंकि उनके हेतुफलात्मक सारे विकारसमूह प्रश
हो चुके। इसलिए मुक्त आत्मा के मोक्ष ज्ञानयुक्त नहीं।

यदि मोक्षकाल मे अज्ञान माने तो ज्ञान सद्भाव में अभिन्न स्वभाव व
पुरुष की अज्ञान-कल्पना वन्ध्यापुत्र की तरह स्पष्टतः अस्तित्वहीन होगी ॥२२
यदि मोक्ष में आत्मा रहती है तो ज्ञान-बीज की भी उत्पत्ति होगी। यदि ज्ञ
बीजका अभाव माना जाय तो भव-भावना भी अस्तित्वहीन हो जावेगी ॥२२

दुःख से मुक्त व्यक्ति के दुःख होता नही। दुःख उत्पाद, निरोध धर्म
संसार-कर्म के क्लेश से उत्पन्न होता है। उसी कारण से पुद्गल बंधता है
और वही आत्मा है। दुःखनिरोध होने पर उसके साथ सिद्धि-सुख की प्रा
होने से सर्वथा पश्चात् आत्मा का अभूतात्मकत्व से जो क्षय है, वही श्रेय है
मुक्त आत्मा नहीं। वह आत्मा वन्ध्यापुत्र के समान बिलकुल अकारणत्व रूप
स्वयं विद्यमान नहीं है और उसके स्वरूप-सद्भाव मे निश्चय के कारण अविकृ
होने से बन्ध और मोक्ष दोनों का विशेष अभाव है और इसलिए पहले के सम
संसार से निवृत्ति नही है। अर्थात् दुःख से मुक्त हो जाने पर निश्चय ही मु
भी नहीं बच जाता। जो आत्मा का क्षय है, वस्तुतः वही श्रेय है, मुक्त आत
नहीं। विशेष रूप से विकार के होने से अनित्य है। जो अनित्य होता
वह सकारण होता है। फिर दुःख-सन्तान के समान ही स्वभावत्याग
जायगा। अतएव आत्मा नहीं है। अर्थात् यदि मोक्ष में भी आत्मा मानें तो पि
वह नित्य और अविकारी भी है। ऐसा मानने पर बन्ध, मोक्षव्यवस्था, संसा
निवृत्ति ये सभी असंगत हो जावेंगे। यदि बन्ध-मोक्ष के लिए विकारी आत्मा
मानें तो विकारी न होने से अनित्यतापत्ति हो जावेगी। अतः मुक्तावस्था
आत्मवाद अयुक्त है ॥ २२५ ॥

२. आत्मप्रतिषेध

आचार्य आर्यदेवने "आत्मप्रतिषेधभावनासन्दर्शनम्" नामक प्रकरण में आत्
का यथाशक्य प्रतिषेध किया है। और चन्द्रकीर्ति ने उन तर्कों को और अधि
स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

आत्मा नामक कोई पदार्थ स्वरूपतः नहीं है। यदि है तो वह नियत रूप से स्त्रीरूपसे है अथवा पुरुषरूपसे अथवा नपुंसकरूपसे ? इनके अतिरिक्त अन्य कल्पना संभव नहीं। तीर्थकों ने आत्मा दो प्रकार का माना है—अन्तरात्मा और बहिरात्मा। उनमें जो अन्तरात्मा है वह शरीर रूप घर के भीतर व्यवस्थित, शरीर तथा इन्द्रिय समूह को कार्य में प्रवृत्त कराने वाला व्यापार पुरुष, जगत् का अहङ्कार उत्पन्न करने वाला, कुशलादि कर्मफल का उपभोक्ता और अनेक भेदों को भिन्न (नष्ट) करने वाला है। और बहिरात्मा शरीर, इन्द्रिय समूह रूप में अन्तरात्मा का उपकारक है। आत्मा के इन दोनों भेदों में जो अन्तरात्मा है वह यदि स्त्रीरूपसे परिकल्पित किया जाय तो रूप और लिङ्ग नहीं छोड़ने के कारण जन्मान्तर में भी वह नित्य ही स्त्री रूप रहेगा। परन्तु ऐसा होता नहीं। लिंग में परिवर्तन भी होता है और स्त्रीत्वादि आत्मा के गुण भी नहीं। ये ही दोष आत्मा के पुल्लिंग और नपुंसक मानने में उत्पन्न होंगे ॥ २२६ ॥

इस प्रकार यदि अन्तरात्मा की जो स्त्रीत्वादि की परिकल्पना है वह भ्रान्तिमूलक है तो ये लिंग स्त्री, पुमान् और नपुंसक बहिरात्मा के माने जायें और बहिरात्मा के संयोग से ही अन्तरात्मा में भी स्त्रीत्वादि की प्रतीति की कल्पना करे। परन्तु यह युक्तियुक्त नहीं। बौद्धदर्शन में आकाश को अस्वीकार कर चार ही महाभूत माने गये हैं। जिसके दर्शन में पाँच महाभूत मान्य है, वहाँ भी देहादि के निर्माण में आकाश का योग न होने से चार महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) ही कारण-भाव को प्राप्त होते हैं। उन कारणभूत पृथिव्यादि महाभूतों में लिंग स्वरूपतः विद्यमान नहीं। यदि उनमें लिंग होते तो उनके स्वाभावानुसार समस्त देहों की लिङ्गता निश्चित हो जाती और भ्रूण में भी लिङ्गता पायी जाती। परन्तु ऐसा होता नहीं।

इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा स्वरूपतः नहीं है। यदि आत्मा स्वरूपतः होता तो वह आत्मा जैसे एक के अहंकार का आलम्बन होता है, उसी प्रकार सभी के अहङ्कार का आलम्बन होना चाहिए। लोक में अग्नि की उष्णता स्वभावतः सभी के लिए होती है, अनुष्णत्व किसी को नहीं। उसी प्रकार आत्मा को भी सभी के के अहंकार का आधार (विषय) होना चाहिये, यदि आत्मा स्वरूपतः है। परंतु ऐसा है नहीं॥ २२७ ॥

यदि यह कहा जाय कि जब आत्मा नहीं तो अहङ्कार और आत्मस्नेह कहाँ रहेंगे तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि ये अहङ्कार और आत्मस्नेह स्वभावतः नहीं प्रत्युत

आत्मा में कल्पनामूलक है। जैसे ईंधन में अग्नि की कल्पना कल्पनामात्र है उसी प्रकार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूप अनित्य स्कन्धों में आत्मा, सत्व, जीव, जन्तु आदि की परिकल्पना अभूतार्थ का आरोपण मात्र है। जैसे ईंधन के उपादान से अग्नि होती है उसी प्रकार स्कन्धों के उपादान से आत्मा जानी जाती है। और वह स्कन्ध तत्वों से पांच प्रकार का निरूपित होता हुआ स्वभावतः नहीं है। परन्तु उसकी परिकल्पना अनित्य संस्कारों में होती है।

यस्त्वात्मा ममानात्मा तेनात्मा नियमान्न सः।
नन्वनित्येषु भावेषु कल्पना नाम जायते ॥ २२८ ॥

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए पुनः तर्क प्रस्तुत किया जाता है। आत्मा स्वभावतः है क्योंकि वह प्रवृत्ति-निवृत्ति का कारण है। यदि आत्मा नहीं होता तो शुभाशुभ कर्म का कर्ता और भोक्ता कौन होता? व्यक्ति वही शुभाशुभ कर्म करके जाति, गति, योनि आदि भेद से भिन्न अंडजादिक में अपने कर्म के अनुरूप जन्म लेता है और अनन्त सुख-दुःख फलों का कारण होता है। वही अभिसंस्कर्ता है। और वही प्रत्यनुभविता है। वही अधर्म से मारा जाता है और स्पर्श किया जाता है और छोड़ा जाता है। अतएव आत्मा स्वरूपतः है।

इस शंकापर आचार्य प्रश्न करते हैं कि यह आत्मा जन्मान्तर परिवर्तन में दैहिक भेद के विकारों का अनुरोध करता है अथवा नहीं? यदि दैहिक भेद के विकारों का अनुरोध नहीं करता तो आत्मा की कल्पना निरर्थक है। यदि देह-भेद के विकार का अनुरोध करता है तो देह से आत्मा की अभिन्नता तथा नित्यता युक्त नहीं (२२९)। आत्मा के न होने पर देह की चेष्टा, संकोच, प्रसरण आदि का प्रेरक कौन होगा, यह प्रश्न भी तथ्यसंगत नहीं। रथ किसी स्पर्शरहित पदार्थ से सञ्चालित नहीं किया जा सकता। वह सञ्चालन स्पर्शवान् ही कर सकता है। आत्मा भी कालके समान अदेही होने से स्पर्शवान् नहीं है। अस्पर्शवान् पदार्थ से देहकी चेष्टा आदि के कारण से आत्मा के सद्भाव का अनुमान और अस्पर्शवान् की प्रेरणा कैसे सम्भव है! प्रदेशाभाव से यह आत्मा स्पर्शवान् है नहीं। जो अप्रदेशी है उसका संयोग नहीं होता। संयोग से विरहित वस्तु की प्रेरणा नहीं होती। अतएव दैहिक चेष्टा का कर्ता होने से भी जीवन (आत्मा) के अस्तित्व को स्वीकार करना संगत नहीं (२३०)

यदि यह आत्मा नित्य होता तो उसके रक्षण करने की आवश्यकता नहीं रहती और आकाश के समान अहिंसात्मक धर्मोपदेश की अपेक्षा न होती। असिधारा, अग्नि, विष, वज्रपात आदि से भी इस पर कोई असर नहीं होता (२३१)।

आत्मा नित्य ही है क्योंकि जातिस्मरण का सद्भाव देखा जाता है। संस्कारों के उत्पन्न होने पर और बाद में शील-भंग होने पर जातिस्मरण नहीं देखा गया। जन्मान्तर संस्कार जहाँ उत्पन्न होते हैं वहीं नष्ट हो जाते हैं। वर्तमान जन्म में दूसरे ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए आत्मा अतीत काल में ऐसी ही थी, यह स्मरण नहीं होता। अर्थात् जन्मान्तर के संस्कार जिस देह में उत्पन्न होते है उसी में नष्ट हो जाते हैं। फिर देहान्तर में उनकी स्मृति तभी होगी जब अनुभावकर्ता आत्मा को नित्य माना जाय। अतः आत्मा नित्य है। इस तर्क के खण्डन के प्रसंग में कहा गया है कि।

जात्यन्तरों में शूलादि के आघात से उत्पन्न क्षत होते हैं। उनसे उपलक्षित कुछ शरीर विनष्ट हो जाते हैं और कुछ शरीर उत्पन्न हो जाते हैं। यथासमय जातिस्मरण का अनुभव होने से जिस तरह जातिस्मरण के सद्भाव को उत्पन्न करने वाले आत्मा के नित्यत्व की परिकल्पना करते हो वैसे ही शरीर की नित्यता को भी स्वीकार करना चाहिए। परन्तु स्वीकार कहाँ करते हैं ? अतएव जातिस्मरण मात्र से आत्मा को नित्य नहीं माना जा सकता। अन्यथा कार्य को भी नित्य मानने का प्रसंग उपस्थित होगा।

> जातिस्मरणसद्भावादात्मा ते यदि शाश्वतः।
> क्षतं पूर्वकृतं दृष्ट्वा कायस्ते किमशाश्वतः ॥२३२॥

आचार्य पुनः पूर्वपक्ष स्थापित कर आत्मा की नित्यता का खण्डन करते हैं—यह आत्मा जातिस्मरण कैसे करता है ? यदि स्वभाव से करता है तो उचित नहीं क्योंकि कल्पना करना उसका स्वभाव नहीं। सचित्त होने से यदि कल्पक माना जाय तब भी ठीक नहीं। क्योंकि स्वभाव-त्याग का प्रसंग आयेगा (२३३)।

यहाँ जब करण भूत चक्षु आदियों की प्रवृत्तियाँ रूपादि पदार्थों पर गिरती हैं तो रूपादि का ज्ञान तद्रूप ही हो जाता है और बुद्धि द्वारा किये गये अवसाय से उस अर्थ को आत्मा जानता है। पदार्थ के अनुसार चैतन्य कल्पित हो जाता है। अतएव आत्मा अभिन्न स्वरूप और नित्य हुआ। क्योंकि

चैतन्य सदैव पास रहता है। अतएव इसका चक्षु आदि करण निष्प्रयोजन होनेसे निरर्थक हैं। (२३४)। जिसके दर्शन में ईन्धन के अभाव में अग्नि नहीं होती और सद्भाव में होती है उसके दर्शन में इन्धनन्याययुक्त है। परन्तु जिसके दर्शन में अग्नि नित्य है उसके यहाँ इन्धनोपार्जन निरर्थक होगा। उसी प्रकार यह है। तब इस महदादि विकारों के समूह की प्रवृत्ति व्यर्थ ही है। और शास्त्र निर्माणका श्रम भी व्यर्थ हुआ। तात्पर्य यह है कि पुरुष (आत्मा) चैतन्य स्वरूप और नित्य है तो नेत्रादि ज्ञान के करण (साधन) इन्द्रियां निरर्थक हो जायगीं। परन्तु इन्द्रियां निरर्थक नहीं हैं। अतः आत्मा चैतन्य स्वरूप और नित्य नहीं है। (२३५)।

जैसे वृक्षादिक चलन क्रिया के प्रारम्भ से पूर्व की अवस्था में द्रव्य रूप से विद्यमान हैं वैसे पुरुष (आत्मा) नहीं। क्योंकि आत्मा चैतन्य रूप मात्र होनेसे चैतन्यशक्ति से पृथक् है नहीं। और द्रव्य रूप के अभाव से चैतन्य रहित होने पर भी उसका अस्तित्व है ऐसी कल्पना की नहीं जा सकती। अतएव आत्मा है परन्तु चैतन्य नहीं ऐसा मानना युक्ति संगत नहीं। और जो चैतन्य शक्ति के सद्भाव से पुरुष के अस्तित्व की कल्पना की जाती है वह भी युक्त नहीं। क्योंकि निराधार शक्ति का सद्भाव नहीं होता (२३६)। यदि पुरुष चैतन्य-व्यक्ति के पूर्व चैतन्य शक्ति रूप हो तो भी ठीक नहीं।

चैतन्य की द्वैरूप्य कल्पना में अन्यत्र पृथकता से चेतना की चेतनाधातु, चेतना बीज, चेतनाशक्ति आपने देखी है और चेतना शक्ति से चेतना पृथक् भी देखी है। इसलिए चेतनाधातु से प्रवर्तमान चेतना चेतना-धातु के समान देश वाली होगी। जिस प्रकार लोहा द्रवत्व को प्राप्त हुआ भी लोहे के स्थान से अभिन्न स्थान (एक स्थान) में रहने वाला होता है उसी प्रकार चेतना शक्ति से पुरुष अभिन्न है ऐसी अभिव्यक्ति नहीं होती। क्योंकि दोनों पुरुष और चैतन्य शक्ति अभिन्न हैं। अतः यह पुरुष शक्ति को प्राप्त होता हुआ अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है। बीज और अंकुर का आविर्भाव और तिरोभाव दिखाने से समानदेशता नहीं। पुरुष का भी आविर्भाव और तिरोभाव दिखाई देता है। इसलिए समानदेशता नहीं। अतः आचार्य ने लोहे के द्रवत्व का दृष्टान्त दिया है। चैतन्य शक्ति से पुरुष पृथक् नहीं है। वह शक्ति रूप से सम्पन्न व्यक्ति रूपता को प्राप्त होता है और विक्रियमाण होने से लोहे के समान आत्मा की नित्यता सिद्ध नहीं (२२७)।

चेतनाधातुरन्यत्र दृश्यतेऽन्यत्रचेतना ।
द्रवत्वमिव लोहस्य विकृतिं यात्यतः पुमान् ॥२३७॥

प्रत्येक प्राणी के शरीर में आत्मा आकाश के समान व्यापक हैं। उसकी मनोमात्र से संयुक्त चेतना सर्वव्यापिनी चेतना नहीं होती। और मन आत्मा के परमाणु मात्र देश से संयुक्त है। उस मन से संयुक्त होकर पुरुष मन से अभिन्न देशवाले चैतन्य को प्राप्त करता है यह तर्क भी ठीक नहीं।

आकाश के समान अत्यन्त महान् इस पुरुष के मनोमात्र में चैतन्य पाया जाता है। ऐसा मानने पर पुरुष अचेतन ही है। क्योंकि परमाणु मात्र प्रदेश में चेतन का सम्बन्ध न होने से पुरुष को संचेतन कहना संभव नहीं। अतः जैसे परमाणु मात्र नमक के संयोग से गंगा जल नमक वाला है ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार आत्मा को भी मनके संयोग मात्र से चेतन नहीं कहा जा सकता। आत्मा द्रव्य है। चैतन्य गुण है। अतएव इन दोनों के परस्पर भिन्न पदार्थ होने से पुरुष अचेतन है। अतः अचेतन घर की तरह आत्मत्व की कल्पना युक्त नहीं (२३८)

आत्माको प्रत्येक प्राणी में सर्वव्यापी भी नहीं माना जा सकता। यदि मैं आकाश की तरह सर्वव्यापी हूँ तो मेरी ही आत्मा के सद्भाव से दूसरे प्राणी में भी यह मेरा है "ऐसा अहङ्कार क्यों नहीं उत्पन्न होता ? यदि ऐसा होता तो मेरा सर्वव्यापकत्व उचित होता। परन्तु अन्य प्राणियों में 'मेरा है' यह अहङ्कार उत्पन्न नहीं होता। इस मेरे पर शरीर में दूसरे आत्मा द्वारा आवरण युक्त नहीं। और न दूसरे के आत्मदेशमें मेरी आत्मा का सद्भाव है क्योंकि समस्त प्राणी एक दूसरे में व्याप्त है। और जब समान देशता है तब उसके द्वारा उसका आवरण सम्भव नहीं। तेनैवावरणं नाम न तस्यैवोपपद्यते। समान देश होने से कोई भी वस्तु अपने से अपने का आवरण नहीं हो सकता। इसलिए परात्मा के भी अहङ्कार-विषय होने की प्रसक्ति होगी। परन्तु ऐसा होता नहीं अतएव आत्मा सर्वगत नहीं है। (२३६)

सांख्यवादियों के अनुसार सत्, रज और तम ये तीन गुण हैं। उन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था प्रधान और प्रसवावस्था प्रकृति है। वह त्रिगुणात्मक प्रकृति अचेतन होते हुए भी पुरुष के विविध विषयोपभोगकी उत्सुकता से पुरुष के साथ अभिन्न रूप से मिलकर समस्त विकार समूह जगत को उत्पन्न करती है। उत्पत्ति क्रम यह है—प्रकृति से महान् (बुद्धि), महान् से अहङ्कार, अहङ्कार

से पञ्च-तन्मात्रा और इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा से पञ्चभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश। इस प्रकार जिन वादियों के मत में गुणों को कर्त्ता और अचेतन माना गया है उन वादियों और उन्मत्तों में कोई अन्तर नहीं। उन्मत्त वस्तुका विपरीत ज्ञान कराते हैं। सांख्यों का यह असदर्थ प्रलाप है। (२४०)। सांख्य दर्शन के सत् रज और तम गुण गृहादि का निर्माण कर सकते है परन्तु उनका उपभोग नहीं कर सकते। इससे अधिक अयुक्त और क्या हो सकता है (२४१)।

जिसमें क्रिया हो उसे कर्त्ता कहते हैं। बिना कुछ करता हुआ निर्हेतुक कोई कर्त्ता नहीं होता। क्रियावान् होने पर निश्चित ही क्रिया की पूर्व अवस्था विशेष ज्ञातव्य है। पूर्वापर अवस्थाओं में निर्विशेष आत्मा पूर्वावस्था के समान क्रियावान् नहीं होता। और स्पर्शवान् क्रियावाला वायु, अग्नि आदि की तरह नित्य हो नहीं सकता। उसी प्रकार आत्मा की भी नित्यता सिद्ध नहीं होती। और आत्मा का क्रियावान् होना युक्त भी नहीं है। क्योंकि आत्मा व्यापक है और व्यापक से क्रिया हो नहीं सकती। इसलिए कि चलन आदि क्रिया में कर्त्ता पूर्व स्थान का त्याग करता है और आगे स्थान से संयोग। सर्व व्यापी आत्मा में यदि गमनादि क्रिया माने तो उसका कहीं त्याग और कहीं संयोग मानना पड़ेगा, जो संयोग-वियोग व्यापकत्व का बाधक है। अतः सर्वव्यापी आत्मा में क्रिया नहीं हो सकती। क्रिया कर्त्ता और कर्म दोनों के आश्रित रहती है। और वह क्रिया दो प्रकार की है व्यापार रूपा और भावरूपा। कर्त्ता के आश्रित व्यापाररूपा क्रिया होती है। जैसे गमन क्रिया के आश्रित देवदत्त जाता है। और वह सर्वगत नहीं होता। क्योंकि पाद के उत्क्षेपण व अवक्षेपण लक्षण रूप क्रिया से पूर्व देश का त्याग और अपर देश का ग्रहण होता है। इसीलिए क्रियावान् कहलाता है। यदि इसे सर्वगत मानते तो वह कहाँ जाता और कहाँ अनुपस्थित रहता। इसलिए कहा है—नास्ति सर्वगते क्रिया—सर्वव्यापी में क्रिया नहीं होती। अतएव आत्मा निष्क्रिय है। कर्माश्रिता क्रिया जो किसी बाह्य रूपके संयोग से कम्पन आदि प्रगट करती है और जो पाकादि हैं वह कम्पन प्रकट नहीं करती और वह भी कर्त्ता में स्थित व्यापारिक भाव से दोनों से सम्प्रयुक्त जानी जाना चाहिए। इसलिए कहा है—क्रियावान् नित्य नहीं है और सर्वव्यापी पदार्थ में क्रिया होती नहीं। अतएव आत्मा क्रिया रहित है इसलिए भी निष्क्रियवाद और नास्तिकवाद समान है। क्योंकि निष्क्रिय पदार्थ आकाशकुसुम के समान सत नहीं है। और सर्वथा असत् होने से आत्मा निष्क्रिय है। इसलिए यदि आत्मा नित्य नहीं है तो नैरात्म्यवाद तुम्हें

प्रिय क्यों नहीं ? समस्त असद् दृष्टियों से निवृत्ति पाने के लिए नैरात्म्यवाद अवश्य प्रिय होना चाहिए।

> क्रियाकाङ्क्षावतो नास्ति नास्ति सर्वगते क्रिया।
> निष्क्रियो नास्तिना तुल्यो नैरात्म्यं किं न ते प्रियम् ॥२४२॥

यदि आत्मा अग्नि की उष्णता के समान स्वरूपतः सर्वदा उपलब्ध होता है ऐसा माना जाय तो भी ठीक नहीं। क्योंकि आत्मा का स्वरूप वादियों ने भिन्न भिन्न स्वीकार किया है। कोई प्रत्येक देह में अभिन्न रूप से आत्मा को व्यापक स्वीकार करते हैं। दूसर समस्त जगत की आत्मा को चन्द्र के समान एक ही मानते हैं। और उसका भेद देह के भेद से औपचारिक उसी प्रकार है जिस प्रकार तेल, घी, जल आदि पात्र-भेद से चन्द्र प्रतिबिम्ब है। वह सर्वगत है। इसलिए दृश्यते सर्वगः कैश्चित्कैश्चरकायमितः पुमान् 'कहा है। इसी प्रकात कोई मानये हैं कि भ्रमर, सारस, चीटी, हस्ती आदि का आत्मा उनके शरीर बराबर है और उसका संकोच और विस्तार शरीर के अनुसार होता है। दूसरे लोग आत्मा के संकोच विस्तार को अनुचित मानने हुए उसे परमाणु मात्र ही मानते हैं। परन्तु तथागतों की उक्ति के आधार पर प्रतीत्य समुत्पाद धर्म का पूर्ण ज्ञान रखने वाले सम्यग्ज्ञानी "आत्मा नहीं है" ऐसा मानते हैं। यदि आत्मा स्वरूपतः होता तो निश्चित रूप से सत्य दर्शन वाले बुद्धों को भी आत्मा की उपलब्धि अवश्य होती। परन्तु तीर्थकों को आत्मा की उपलब्धि नहीं होती। अतएव यह फलित हुआ कि स्वभाव रूप से आत्मा नहीं है ॥२४३॥

नित्य आत्माको बाधा कैसी और बाधा (उपकार, अपकार आदि) के बिना मोक्ष कैसे ? अर्थात् नित्य आत्मामें बाधा नहीं हो सकती और बाधा रहित का मोक्ष भी कहना असंगत होगा। अतः जिसके मतमें आत्मा नित्य है उसके मत में मोक्ष की कल्पना युक्त न होगी (२४४)

यदि आत्मा स्वरूपतः होता तो स्वरूपतः निवृत्ति के अभाव से मोक्षावस्था में भी उस आत्मा का सद्भाव होता। उस स्थिति में नैरात्म्य चिन्तन की कल्पना युक्त नहीं। अतएव आत्म तत्त्व-ज्ञान से नियमतः निर्वाण होता है यह भी असत्य है। क्योंकि वहाँ भी आत्मग्राहका सद्भाव होता (२४५)।

सम्बन्धित धर्म से असंयुक्त, स्वरूप विशेष मात्र से अवस्थित भाव मात्रा का जो अंश प्राप्त होता है वह उसका स्वभाव है यह व्यवस्था समझनी चाहिए। क्योंकि अन्य धर्मों का मिश्रण नहीं होता। जैसे खोटे स्वर्ण में से लोहा आदि धातुके नष्ट हो जाने पर स्वर्ण पूर्णतः विशुद्ध हो जाता है और यही विशुद्धि स्वर्ण की यथार्थ प्रकृति है। वैसे ही मुक्तात्मा का विशुद्ध ज्ञानावस्था में ज्ञानका जो विशेष स्वरूप होता है वही उसका स्वरूप है। उससे आत्मा का योग कुछ भी नहीं होता। यदि आत्मा का योग रहे तो अहंकार होने की भी प्रसक्ति उपस्थित होगी। अतएव मोक्ष की पूर्वावस्था में भी वह उसका स्वभाव होता है यही युक्त है। इसलिए आत्मा स्वरूपतः सिद्ध नहीं (२४६)।

लोक में अनित्य पदार्थों के उच्छेद की कल्पना नहीं की जाती, अन्यथा सृष्टि के प्रारम्भ से जो बीज, अंकुर, वृक्ष आदि का हेतु और फलका सम्बन्ध अविच्छिन्न रूप से आज भी उपलब्ध होता है वह नहीं होता। यदि अनित्य का उच्छेद होता तो परम्परा की अप्रवृत्ति रूप विनाश होता। तो फिर ये बीजादिक आज भी क्यों उपलब्ध होते। परन्तु बीजादिक प्राप्त होते है। इसलिए अनित्य पदार्थ का उच्छेद नहीं होता ऐसा समझना चाहिए। यदि अनित्य वस्तुका सर्वथा उच्छेद होता है ऐसा माना जाय तो किसी भी प्राणी को मोहाविष्ट नहीं होना चाहिए।

अनित्यका उच्छेद स्वीकार करने पर अविद्या की प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए संसार विपर्यास के आवरणके बिना ही साध्य होता और समस्त लोककी अविद्याका विनाश होने से कोई भी तत्त्व अदृष्ट नहीं रहता। अत एव अनित्य वस्तुका उच्छेद नहीं होता (२४७)।

सममस्त भावों की उत्पत्ति में कारणभूत आत्मा की नित्यता सिद्ध है। इस कारण से प्रवृत्त बीजादिकों का उच्छेद नहीं देखा जाता। ऐसा कहना भी उचित नहीं। क्योंकि हेतु प्रत्यय को जन्म देने वाले भाव नित्य नहीं रहते। और असत् का जब कोई अस्तित्व नहीं तो खरविषाण के समान जगत्सृष्टि में वह कारण कैसे हो सकता है ? (२४८)।

यदि भाव आत्महेतुक हैं तो आत्मा के पृथक् होने से दूसरे भाव उत्पन्न नहीं होंगे। सूर्यकान्तमणि, इन्धन तथा सूर्य के संयोग से अग्नि उत्पन्न होती

है चन्द्रमा के समागम होने पर चन्द्रकान्तमणिके संयोगसे जलधारा बहती है। बीजादिकों से अंकुरादि उत्पन्न होते है। महाभूतोंसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। रूपादि भी दूसरे कारण से ही होता है। यह सब जो आत्मकर्तृक ही हैं इस रूपकी प्रवृत्ति उसी कारणसे ही उपलब्ध होती है। हेतुसे ही जगत्प्रवृत्ति हो जाती हैं। तब फिर आत्मकर्तृत्व-परीक्षा निरर्थक हो होगी। जब नित्यसे उत्पत्ति नहीं होती तो लोकमें जैसे हेतु-प्रत्ययोंसे उत्पन्न हुए स्वभावसे प्रसिद्ध बीजरूप प्रतीत्यसमुत्पादसे अनित्य अंकुर उत्पन्न होता है जो स्वयं ही अव्यवस्थित, निःस्वभाव तथा प्रकृतिशून्य है वैसे ही इस दृष्टान्त द्वारा अन्य भावोंके अन्धकारसे आवृत, सूक्ष्म, हेतु-फलमें अवस्थित अरूपी वेदनादि. और हेतु-कर्मके क्लेशसे अतीत, अनास्रव और संस्कार निःस्वभाव हेतुसे निःस्वभावी उत्पन्न होते हैं ऐसा समझना चाहिए।

यथा हि कृतकाद् बीजाज्जायते कृतकोऽङ्कुरः।
अनित्येभ्यस्तथा सर्वमनित्यमेव जायते ॥ २४९ ॥

इसी प्रकार जहाँ वज्रादिके कारण संस्कारोंके सम्बन्धका उन्मूलन हो जाता उसे भी विद्वज्जन प्रतीत्यसमुत्पादज्ञानसे वारण करते हैं। भाव अर्थात् फल अकुरादि बीजसे उत्पन्न होते है अतः बोजका उच्छेद नहीं होता। और जब अग्न्यादिसंयोग के समान भाव बीजादिहेतुक अंकुरादि सन्तानको उत्पन्न नहीं करते तब बीजमें उच्छेद दृष्टि होती है। परन्तु सृष्टिके आरम्भसे अब तक अकुरादि प्रवृत्ति अविच्छिन्न रूपसे देखी जा रही है। अतः बीजमें उच्छेद-दृष्टि (अनित्यता) सभव नहीं। यदि अंकुर रूप फलके प्रवृत्त होनेपर भी अपने स्वभावमें अवस्थित रहनेसे बीज निवर्तित नहीं होता तो बीजमें निकार न होनेसे वह नित्य हो जाता हैं। परन्तु ऐसा होता नहीं। अंकुर हो जानेपर बीज नष्ट हुआ दिखाई पड़ता है। यदि वह अंकुर होने पर भी नष्ट न होता तो उस बीजसे दूसरे भी अंकुर होते। परन्तु अंकुर दूसरे होते नहीं। अतः ये बीज तथा अंकुर ये दोनों अनित्य हैं और भावों का निःस्वभावत्व स्पष्ट है (२५०)।

३. कालप्रतिषेध—साधारणतः सभी भारतीय दर्शन कालका अस्तित्व स्वीकार करते है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में संवत्सर, सूर्य चन्द्र आदि का वर्णन अथवा उनके प्रति भक्ति का प्रदर्शन उल्लिखित है। इहलोक, परलोक, अतीत, वर्तमान, भविस्य, क्षण, पल आदि काल के ही विभाजक तत्व हैं। मीमांसक और वैशेषिक काल और आकाश के सामान्यतः चार

लक्षण मानते हैं— सूक्ष्मत्व, विभुत्व, नित्यत्व और एकत्व। जैन दर्शन काल को अनास्तिकायिक द्रव्य मानते हैं। सांख्य काल को उपाधि मात्र मानते हैं फिर भी उसे शाश्वत प्रकृति का एक गुण विशेष माना है। बौद्धधर्म ने कालको बिलकुल अस्वीकार कर दिया।

प्राचीन बौद्धधर्म में उपनिषदों के समान केवल रूप को ही अनित्य माना जाता था और चित्त, विज्ञान जैसे अन्य सूक्ष्म धर्म इस अनित्यता के परे थे। काल से औपाधिक द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। इस कल्पना का समर्थन बौद्ध साहित्य से भी होता है। महाभाषा में किसी मिथ्यादृष्टि के अनुसार काल को नित्य और संस्कृत पदार्थ को अनित्य माना गया है। अभिधर्मकोश में एक ऐसे त्रैकाल्यवाद का स्वरूप मिलता है जिसमें भविष्य में उत्पन्न होने वाले कार्य का वर्तमानीकरण देशान्तर कर्षण से होता है। संघभद्र के न्यायानुसार ग्रन्थ में प्रतिपक्षी के एक अन्य मत का उल्लेख है जो त्रैकाल्यवाद को नहीं मानता।

वैभाषिक में रूप और चित्त को अनित्य माना है। वहां ७५ धर्मों में काल को कोई स्थान नहीं दिया गया। अप्रत्यक्ष रूप से इसका तादात्म्य अमूर्त जातु से अवश्य किया जा सकता है। इसमें औपाधिक काल, जाति, जरा, स्थिति एवं अनित्यता रूप संस्कृत लक्षण त्रिकालात्मक है। उत्तरकाल में मात्र एक विभु संस्कृत द्रव्य रह गया जिसमें धर्म अवस्थित हैं। धर्म स्वलक्षणवान, होता है और यही उसकी स्वक्रिया (वृत्ति कारित्र, और स्वभाग) हैं। कारित्र्य का समाप्ति क्षण वर्तमान है, अनभिव्यक्त काल भविष्यत है, और व्यक्त काल भूत है। वास्तविक कारित्र्य तो वह हैं जो भविष्यत धर्मों को अपनी स्वक्रिया अभिव्यक्त करने के लिए विवश करे। हीनयान अभिधर्म में इसके ६ प्रकार हैं— सहभू, समनन्तर, सभाग, सर्वत्रग, विपाक और अधिपति। इनमें धर्म का कारित्र्य स्वकारित्र नहीं, परन्तु उसका हेतु भावावस्थान उसका फलोत्पादन सामर्थ्य हो जाता है। अभिधर्मकोश (२. पृ० २९३) में यह कहा गया है कि धर्म चाहे भविष्यत, वर्तमान अथवा भूत हो, सदैव रहता है। वह उस क्षण में फलग्रहण या फलाक्षेप करता है जिस क्षण में वर्तमान होकर वह एक फल का हेतु अथवा बीज होता है। कारित्र और स्वभाव का सम्बन्ध न भिन्न है और न अभिन्न। वह तो अनिर्वचनीय है। सौत्रान्तिकों ने इस सिद्धान्त का उपहास करते हुए इसे देवविचेष्टित कहा है (अभिधर्म-कोश, ५-५७) परन्तु संघभद्र ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा है कि इस स्थिति

में फिर बुद्ध को भी उपहास का पात्र बनाना पड़ेगा क्योंकि वे लोकोत्तर हैं भी और नहीं भी हैं। अर्थात् वैभाषिक भेदाभेदी हैं।[१]

सौत्रान्तिकों के अनुसार भूत और भविष्यत काल का अस्तित्व नितान्त काल्पनिक एवं आधारविहीन है। उनकी दृष्टि में वर्तमान काल की सत्ता अवश्य वास्तविक कही जा सकती है। सर्वास्तिवाद में फल, विषय आदि के के कारण त्रिकाल का अस्तित्व माना गया है।[२]

आर्यदेव ने चतुःशतक में कालवाद के तर्क उपस्थित किये हैं। जिनमें प्रमुख हैं—संसार की उत्पत्ति और लय का कारण एवं बीजादि हेतु का जगत की प्रवृत्ति में फलरूप में परिणमन। इन तर्कों का उत्तर देकर उन्होंने काल के अस्तित्व का खण्डन किया है। उनका कहना है कि यदि काल को नित्य माना जाय तो अंकुरादि की उत्पत्ति सदैव होनी चाहिए। कालको फलात्मक हेतु भी नहीं माना जा सकता, अन्यथा अग्नि से दग्ध बीज में अङ्कुर (फल) की फलवत्ता प्रसक्त हो जावेगी। काल विचित्र जगत का कारण होता तो उससे नियत पूर्वावस्थावर्ती नाना रूप विकार से कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए पर होती नहीं। काल की नित्यता स्वीकार करने पर हेतु भाव परिकल्पना भी व्यर्थ हो जाती है। इसके अतिरिक्त काल के प्रतिषेध में एक यह भी कारण है कि नित्य पदार्थ से नित्य पदार्थ की ही उत्पत्ति होनी चाहिए पर उससे जगत रूप अनित्य पदार्थ की उत्पत्ति होती है। अतः यह सिद्ध है कि काल का अस्तित्व नहीं है।[३]

आर्यदेव ने काल का प्रतिषेध करने के लिए एक पृथक् अध्याय लिखा है जिसका सारांश इस प्रकार है—

कालवादियोंके पूर्वपक्ष के सन्दर्भ में आर्यदेव ने कहा है कि काल का सद्भाव स्पष्टतः सिद्ध है। संसार में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, बीज आदि कारणों-के रहने पर भी कदाचित् पुष्प और अंकुर आदि की उत्पत्ति और नाश होता है। अतः काल नाम का पदार्थ सिद्ध होता है। और वह क्षण, पल, मुहूर्त आदि

---

१. बौद्धधर्मदर्शन, पृ० ५७४-८

२, अध्वंकास्ते तदुक्तं त्वयात् सद्विषयात् फलात् तदस्तिवाददात् सर्वास्तिवादी मतः—अभिधर्म कोष, ५-२५

३. चतुःशतक, २०७-२१२

से अभिव्यक्त होता है। अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न इन तीनों कालोंमें व्यवस्थित रहता है और भाव से भिन्न है। अतः नित्य है। कालवादियों की इस मान्यता का खण्डन करते हुए अचार्य आर्यदेव ने कहा है कि यदि काल भाव (पदार्थ) से भिन्न और ज्ञान से सिद्ध हो तो वह उत्पाद और भङ्ग का कारण होगा। परन्तु ऐसा है नहीं। भाव से भिन्न होनेके कारण उसके ग्रहण करनेका प्रसंग उपस्थित होगा।

जो तीनों काल कालके स्वभाव विशेषसे अवस्थित हैं वे भी अमूर्त होनेसे स्वरूपत: निर्णय करनेमें असमर्थ होते हैं और स्वभावत: व्यवस्था करनेमें समर्थ नहीं होते। घटादि द्वारा उनकी व्यवस्था करना संभव है। वे काल तो पदार्थसे भिन्न स्वरूप वाले हैं, वेदनादिके समान अनुभवाकार हैं और रूप, शब्द आदिके समान इन्द्रिय द्वारा नहीं जाने जाते। अतएव घटादि द्वारा ही वे विशेष रूपसे ज्ञातव्य हैं। इस प्रकार तीनों कालोंका निषेध करनेसे कालका प्रतिषेध स्पष्टत: हो जाता है। आर्यदेव और चन्द्रकीर्ति ने इस कथन को घट के उदाहरण के माध्यम से समझाया है। उन्होंने कहा है कि—

जो अनागत घट है उसमें न वर्तमान घट है और न अतीत घट। लक्षणके भेदसे परस्परमें यह असंभव है। इस प्रकार जब अनागत घटमें वर्तमान और अतीत दोनों घट विद्यमान नहीं हैं तब वर्तमान और अतीत दोनों भी अनागत होनेके कारण अनागतमें अनागत कहलाये। जिस प्रकार अनागत वर्तमानमें अनागत होनेके कारण अनागत है उसी प्रकार वर्तमान और अतीत दोनों भी अनागत होनेके कारण अनागतमें अनागत हुए। यदि वर्तमानमें अनागतत्व होनेके कारण अनागत ने अनागतत्व से अनागत नहीं ऐसा कहा तो भी युक्त नहीं। अनागतकी सिद्धि होनेपर वर्तमान और अतीत दोनोंकी सिद्धि होगी। यदि अनागत ही सिद्ध नहीं तो अतीत और प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) की सिद्धि कैसे हो सकेगी। इसी अभिप्रायसे अनागतका अभाव प्रतिपादन करनेकी इच्छासे आचार्य ने कहा है—"यस्मादनागतौ तौ द्वौ नास्ति तस्मादनागत:।" जब दोनों अनागत हुए तो तीनों भी अनागत होंगे ही। तीनोंके अनागतत्व होने पर अतीता और प्रत्युत्पन्न दोनों के असम्भ होने से अनागतत्वसे अनागतकी व्यवस्था कैसे संभव है। अतएव अनागत काल नहीं है।

अनागते घटे वर्तमानोऽतीतश्च नो घट:।
यस्मादनागतौ तौ द्वौ नास्ति तस्मादनागत: ॥२५१॥

यदि अतीतत्व और अनागतत्व ये दोनों स्वभाव अनागत घटमें विद्यमान हैं तो अतीत्व युक्त नहीं क्योंकि अनागत स्वभावके समान अनागतका सद्भाव भी

सिद्ध हो जायगा। अतएव अनागत अतीत नहीं हो सकता। अतीत के सिद्ध न होने से अनागत भी सिद्ध न हो सकेगा (२५२)।

तथा, जो अनागत भाव है वह सत् है या असत्। अनागत स्वभाव के होने पर सत् होगा नहीं, यह ऊपर कहा जा चुका है। वैसे ही अनागत भी न होगा। जिसका जो स्वभाव रहता है उसकी स्थिति तदात्मक और वर्तमान रहती है। नीलात्मकत्व के सद्भाव से ही नील वर्तमान [विद्यमान] है, पीतात्मकत्व के कारण नहीं। उसी प्रकार अनागत भी अनागतत्वभाव से वर्तमान में ही रहता है, अनागत में नहीं। जब अनागत सिद्ध नहीं होगा तो इसी के आश्रित सिद्ध होनेवाला न वर्तमान ही है और न अतीत ही है। इस इस प्रकार तीनों कालों का सद्भाव सिद्ध नहीं होता (२५३)।

जो अतीतकाल है वह अतीत स्वरूप से अतीत है या अनतीत स्वरूप से। अतीत स्वरूप से अतीत हो नहीं सकता अन्यथा वह अतीत नहीं कहला पावेगा अतिक्रांत व्यापार का ही नाम अतीत है। जो इस समय है वह अतीत अति-क्रान्त कैसे कहा जायगा। जैसे दुग्ध भाव से अतीत दही दुग्ध नहीं हो सकता और बालभाव से अतीत युवा बाल नहीं हो सकता। इसी प्रकार अतीतकाल से उत्पन्न होनेवाला अतीत अतीत नहीं कहा जा सकता (२५४)। उक्त दोष को वारण करने के लिए यदि यह कहा जाय कि अतीतकाल उसे कहते हैं जो अतीत से अनतीत हो तो ऐसा मानने में भी अतीतकाल से उत्पन्न होनेवाला अनतीत अतीत का उलंघन नहीं करता। इस प्रकार जो अतीत के व्यापार से शून्य होगा वह अतीत कैसे कहा जा सकता है! अतएव अतीतकाल का अस्तित्व सम्भव नहीं और जब अतीतकाल नही है तो उससे अनपेक्षित अनतीत (वर्तमान, भविष्यत्) भी नहीं है। इस प्रकार स्वरूपतः तीनों काल नही है।

स्यादतीतादतीतश्चेदतीतो जायते कुतः।
अतीतादनतीतश्चेदतीतो जायते कुतः ॥२५५॥

जो वैभाषिक सर्वकाल के सद्भाव को कहने के लिए सर्वास्तिवाद की ही प्रशंसा करता है उसके दृष्टिकोण के पुनर्परीक्षण के सन्दर्भ में प्रश्न है कि जिस अनागत अर्थ के अस्तित्व की कल्पना की जाती है, उसकी कल्पना उत्पन्न होने पर की जाती है अथवा अनुत्पन्न होने पर। यदि अनागत भाव भी उत्पन्न है तो वह उत्पन्न होने से वर्तमान होगा, अनागत कैसे! यदि अनागत भाव अजात (अनुत्पन्न) है तो अनागत भी हुआ और विद्यमान भी। तब निर्वाण की तरह इसको भी अनित्य मानना पड़ेगा। (२५६)

यद्यपि अनागत अनुत्पन्न है तथापि वह असंस्कृत के समान अविनाशी है हेतु और प्रत्ययों से अनागतीय अनागतत्व के नाश हो जाने से वर्तमानता आ जाती है। इस तरह अनागत अनित्य है (२५७)।

जो यह वर्तमान पदार्थ है वह अनित्य ही है। क्योंकि स्वभावतः अवस्थित रहने से वर्तमानत्व के सम्बन्ध से वर्तमान कहा जाता है और जिसकी अनित्यता है वह वर्तमान में अभाव के कारण विद्यमान ही नहीं होता। इस प्रकार वर्तमानत्व के साथ वर्तमानत्वाभाव भी मानना पड़ेगा। परन्तु एक पदार्थ में सद्भाव और असद्भाव ये दोनों विरोधी तत्व रह नहीं सकते। इसलिए वर्तमान अतीत नहीं है, नित्य है। इसी प्रकार अतीतकाल की भी अनित्यता सम्भव नहीं। क्योंकि जो विनष्ट हो जाता है उसे अतीत कहते हैं। तब तो अतीत के अनित्य मानने पर विनष्ट का पुनः विनाश मानना पड़ेगा जो अयुक्त और निष्प्रयोजन है। इससे आश्रयाभाव और अनवस्था दोष भी आ जाते हैं। अतः वर्तमान और अतीत ये दोनों नित्य हैं। इसके अतिरिक्त उसकी तीसरी गति भी नहीं होती। यदि वर्तमान और अतीत इन दोनों से अन्य अनागत को अनित्य मानें तो यह भी युक्त नहीं क्योंकि उत्पन्न हुआ वर्तमान और अतीत अनित्य है। जब वे अनित्य सिद्ध नहीं हो सके तो उत्पत्ति रहित आकाशादि की तरह अनागत की अनित्यता तो अत्यन्त असंगत होगी। आश्रयाभाव और अनवस्था दोष से विनष्ट वस्तु की पुनरुत्पत्ति संभव नहीं। अतः जैसे नित्य आकाश में अनित्य वर्तमान और अतीत की कल्पना निरर्थक है वैसे ही स्वभाववादी की काल के अतीत वर्तमान और अनागत की कल्पना भी असंगत है (२५८)।

अनागत भाव का अस्तित्व है। तन्तु में पट, कपाल में घट, बीज में अंकुर आदि अनागत भाव पहले से विद्यमान रहते हैं और वे हेतु-प्रत्यय-सामग्रियों के पश्चात् उत्पन्न होते हैं। क्योंकि जो पहले से जिसमें विद्यमान नहीं रहते वे पीछे भी उत्पन्न नहीं होते। जैसे वन्ध्या स्त्री को पुत्र उत्पन्न नहीं होता। अतएव जन्म देखने से अनागत भावों का अस्तित्व ज्ञात होता है। ऐसी कल्पना पर आर्यदेव ने कहा है कि

> यः पश्चाज्जायते भावः स पूर्वं विद्यते यदि
>
> न मिथ्या जायते पक्षस्तस्मान्नियतिवादिनाम् ॥२५९॥

उत्पत्ति से पूर्व अवस्थित जो भाव हेतु-प्रत्ययों से पीछे उत्पन्न होता है। उसका यदि उत्पत्ति से पूर्व स्वरूपतः अस्तित्व है ऐसा माना जाय तो जगत का

वर्णन करनेवाले नियतिवादियों का प्रतिनियत स्वभाव, निर्हेतुक, पुरुषकार-शून्य, उपपत्तिविरुद्ध पक्ष मिथ्या नहीं होगा अर्थात् अनागत भाव के यथार्थ मानने पर नियतिवाद पक्ष भी यथार्थ हो जायगा। यदि नियतिवाद पक्ष सत्य माना जाय तो इसमें दृष्टादृष्ट विरोध आता है। और जगत के पुरुषार्थ की भी कोई अपेक्षा नहीं रहती तथा प्रतीत्य समुत्पाद का अभाव हो जाता है। उसके अभाव होने पर खरविषाण के समान समस्त जगत अग्राह्य हो जावेगा। अतएव नियतिवाद अयुक्त है। इसलिए अतागतसद्भाववाद भी अयुक्त है (२५४)।

जिस पदार्थ का हेतु-प्रत्ययों से उत्पादन किया जाता है वह जन्म के पूर्व है ऐसा मानना युक्त नहीं। यदि उसका अस्तित्व होता तो विद्यमान (सत्) वस्तु का पुनरुत्पादन होता। परन्तु सत् का पुनरुत्पादन होता नहीं क्योंकि ऐसा मानना निष्प्रयोजक है (२६०)। यदि अनागत नहीं मानेंगे तो अनागत पदार्थों का अवलम्बन करनेवाला योगियों का प्रणिधिज्ञान भी यथार्थ न होगा। परन्तु योगियों का ज्ञान यथार्थ है क्योंकि उनकी भविष्यवाणी यथार्थ (सत्य) रहती है। असत् बन्ध्यापुत्रादि में यह संभव नहीं। अतएव अनागत यथार्थ है। ऐसी कल्पना किये जाने पर आचार्य आर्यदेव ने कहा है कि—

दृश्यतेऽनागतो भावः केनाभावो न दृश्यते।
विद्यतेऽनागतं यस्य दूरं तस्य न विद्यते (२६१)

उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था में अनागत पदार्थ नहीं है। यदि अविद्यमान पदार्थ योगियों द्वारा देखा जाता है तो बन्ध्यापुत्रादि भी देखे जाने चाहिए। परन्तु अविद्यमान पदार्थ तो योगियों द्वारा देखे जाते हैं, बन्ध्यापुत्रादि नहीं। स्वभावतः दोनों असत् हैं। उनमें एक दिखाई देता है, दूसरा नहीं, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं। जिसके मत में अनागत पदार्थ स्वरूपतः है उसके मत में वह दूर नहीं होगा। परन्तु दूर होता अवश्य है। ये दूरधर्म अतीत और अनागत है। अन्तिम धर्म है—प्रत्युत्पन्न पदार्थ। इस प्रकार अनागत धर्म उससे दूर हुआ जो अयुक्त है क्योंकि जिसके मत में अनागत भी विद्यमान ही है उसके लिए अनागत दूर नहीं हो सकता (२६१)।

जिसके लिए काय, वचन और मनका संयम है वह दानादि धर्म यदि अकृत (नित्य) ही है तो उसकी प्राप्ति के लिए यम, नियमादिक श्रम व्यर्थ होंगे। उस श्रम के बिना भी धर्म की प्राप्ति संभव, होने लगेगी। अतः धर्म की नित्यता

होते हुए भी नियम से धर्म की कुछ विशेषता सम्पादन करते हैं। वही अंश पहले अविद्यमान होने से पीछे किये जाते हैं। इस प्रकार अनागता अयुक्त है (२६२)।

अनित्यत्ववाद और सत्कार्यवाद इन दोनों के परस्पर विरोधी हो एक वस्तु में दोनों कैसे सम्भव हैं? इस आशंका पर आचार्य कहते "आद्यन्तौ यस्य विद्येते तल्लोकेऽनित्यमुच्यते"। अर्थात् अनित्य व जिसका आदि और अन्त दोनों हों। जिसके पूर्व भावान्तर नहीं वह लोक है और जिसके पश्चात् भावान्तर नहीं वह अन्त लोक है, अनित्य है। पदार्थ का आदि और अन्त दोनों हैं वह लोक है; अनित्य है। इ आद्यन्त के सद्भाव से लोकको नित्य नहीं कहा जा सकता। और न सत्कार्यवाद भी कहा जा सकता है (२६३)।

यदि अनागत नहीं है तो अनागामि क्लेश और जन्म के अभाव से प्रयत्न के ही मोक्ष हो जायेगा। आर्य मार्ग के फल से मुक्तों के अनागत जन्म न होने के कारण अनागत न होगा। जैसे अनागत के बिना मुक्त प्रयत्न सिद्ध हो जाता है उसी प्रकार इस अनागतफलाभाववाद में प्रयत्न के मोक्ष प्राप्त हो जायगा। परन्तु होता नहीं। अतएव असत्कार्यवाद युक्त न अनागत के मानने में केवल मुक्ति-प्राप्ति में ही दोष नहीं आएगा हमारे अहेतुक उत्पाद भी होने लगेंगे। ऐसी स्थिति में यह भी कह सकता है कि लोहित वर्ण के बिना लोहित वर्ण की उत्पत्ति होती यदि लोहित वर्ण के बिना लोहित वर्ण की उत्पत्ति मानी जाय तो अहेतुक ही होगी। परन्तु अहेतुक उत्पत्ति होती नहीं। यदि ऐसी सम्भ मानें तो अर्हत् में भी रागका प्रसंग मानना पड़ेगा। अतएव अहेतुक उ सम्भव नहीं। जब अहेतुक उत्पाद नहीं होगा तो अनागतका भी न होना अ ही है (२६४)।

सांख्य और वैभाषिक ये दोनों दर्शन सत्कार्यवादी ही हैं। सांख्य व जो सत् है वही है, जो असत् हैं वह नहीं ही है। असत् की उत्पत्ति नहीं और सत्का विनाश नहीं होता। असत् कारणसे, उपादान-ग्रहणसे और श शक्य-कारण आदि होनेसे सत् ही कार्य होता है। यदि असत्कार्यवाद जायगा तो सभी पदार्थोंसे सभी पदार्थोंकी उत्पत्ति होनी चाहिए, परन्तु नहीं। अतएव सत् ही कार्य होता है। वैभाषिक दर्शन भी स्वभावतः उत्प होनेसे उत्पत्तिके भयसे तीनों कालोंमें सत्की ही कल्पना करता है। वैभो

सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी असत्कार्यवादी हैं। सद् कार्यकी उत्पत्तिके निरोध होनेसे असत् ही कार्य उत्पन्न होते हैं ऐसा मानते हैं। अतएव सत्कार्यवादियों और असत्कार्यवादियोंमें सत्कार्यवादीके मतमें घटके लिए जो स्तम्भद्वार, कपाट आदिका बन्दर, पक्षी आदिकी रचना रूप अलंकार युक्त नहीं है। क्योंकि वह अलंकार रूप कार्य तो गृहमें सत्कार्यवादीके मतमें पहलेसे ही विद्यमान है। अन्यथा असत्कार्यवादका प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

असत्कार्यवादी के मत में भी स्तम्भादि अलंकार निरर्थक होंगे। क्योंकि अलंकार रूप कार्य तो असत्कार्यवादी के मत में असत् है। जैसे असत् होने से बन्ध्यापुत्र किसी के द्वारा भी पैदा नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार गृह के लिए स्तम्भादि अलंकार को असत्कार्य वाद के भी मत में कोई पैदा नहीं कर सकता।

स्तम्भादीनामलङ्कारो गृहस्यार्थे निरर्थकः।
सत्कार्य मेव यस्येष्टं यस्यासत्कार्यमेव च ॥२६५॥

यदि अनागत अर्थ का परिणाम वर्तमान माना जाय तो इस स्थिति में दो अवस्थायें सम्भव हैं—स्वरूप के विनाश से कल्पना की जाय अथवा स्वरूप स्थिति से। यदि स्वरूप के विनाश से परिणाम मानें तो एक नष्ट होगा और दूसरा उत्पन्न होगा। इस प्रकार परिणाम से उत्पत्ति और विनाश दोनों होंगे। स्थिति से परिणाम माना जाय तो एक द्रव्य का दूसरे धर्म में वृत्ति का उदय होने से धर्मान्तर का उद्भव होगा न कि परिणाम का। यही हमारा परिणाम है। इसी को स्पष्ट करते है। जैसे गोरस द्रव्य में रहने वाले धर्मान्तर दुग्धभाव की निवृत्ति और दधिभाव की उत्पत्ति परिणाम है। उसी प्रकार सत, रज, तम इन तीनों गुणों की अनागतावस्था की निवृत्ति और वर्तमान अवस्था की उत्पत्ति ही परिणाम है। परन्तु इस परिणाम के अस्तित्व की स्थापना करना सम्भव नहीं है। क्योंकि लोक को अनागत आदि तीनों गुणों के अस्तित्व का तो ज्ञान है परन्तु परिणाम का नहीं। दधि दुग्ध का विकार है ऐसा कहना सम्भव नहीं क्योंकि दुग्धावस्था में ही दुग्ध में दुग्धत्व है, दुग्धावस्था में ही वर्तमान दुग्ध दधि-भावको प्राप्त नहीं होता। यदि दुग्ध ही दधि भाव में हो जाता तो दुग्ध ही दधि हो जायगा। परन्तु यह उचित नहीं। अतएव यह दुग्ध का दधिभाव नहीं है। अब दुग्ध का दधिभाव होता तो अन्य किसी का भी हो जाता। अतएव परिणाम नहीं है। दधि में दुग्धावस्था से भिन्न गोरस द्रव्य मात्र की कुछ भी उपलब्धि नहीं होती। इसलिए आचार्य ने कहा है तथापि वर्तमानोऽस्ति कल्पयन्त्यविचक्षणा (२६६)।

संसार में एक क्षण में उत्पत्ति और भङ्ग वाले पदार्थों की किसी भी प्रकार की स्थिति नहीं है। स्थिति के अभाव से काल का हेतुभाव नहीं है। इसलिए पदार्थों के नित्य न होने से भाव रूप संसार की स्थिति सम्भव नहीं। यदि स्थिति होती तो फिर जीर्णता नहीं आती। क्योंकि जरा जीर्णता स्थिति के विरुद्ध होती है। अन्त की जीर्णता को हटाने के लिए ही स्थिति का अभाव समझना चाहिए (२६७)।

यदि भाव की स्थिति होती तो भाव क्रम से अनेक विज्ञानों द्वारा ज्ञेय होते इसकी सम्भावना भी नहीं। क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय दोनों क्षणिक होते हैं। जो एक से ग्रहण (जाना) किया जाय वह दूसरे से ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतएव भाव स्थितिमान् नहीं है। स्थिति के न होने से न भाव ही सिद्ध है और न काल ही (२६८)।

यदि पदार्थ से अनित्यता पृथक् ही है तो अनित्यत्व के लक्षण-भेद से पदार्थ नित्य हो जाता है। परन्तु भावपदार्थ नित्य नही है। अतएव अनित्यत्व का अन्यत्व भाव युक्तिसंगत नहीं। यदि अनित्यत्व भाव से एक है तो भी वह भाव एकत्व से पृथक् रह नहीं सकता और जो अनित्यत्व है, वह भाव में ही रहता है। इसलिए अनित्यत्वात्मक होने के कारण पदार्थ की स्थिति सदैव संभव नहीं। इसलिए भाव की स्थिति नही है। स्थिति के अभाव से अनित्यत्व नहीं। स्थिति और अनित्यत्व इन दोनों के अभाव से पदार्थ नहीं है और पदार्थ के न रहने से काल भी न नहीं होगा (२७०)।

यदि स्थितिकाल में अनित्यता दुर्बल है तो धर्मकी समानता होने पर वह स्थिति किसके द्वारा नष्ट की जायगी ? उसके बाद बलवत्ता कैसे आयगी। अर्थात् नही आ सकती। अतएव स्थिति पहले ही अथवा पश्चात् ही बलवान नहीं होगी। इसलिए पदार्थ नित्य अथवा स्थितिहीन होगा। परन्तु यह युक्त नहीं। अतएव भाव की स्थिति नहीं है (२७१)।

यदि अनित्यता दुर्बल नहीं होती, बलवती होती तो सभी पदार्थों में रहती। यद वह पदार्थों के एकांश में व्याप्त होकर रहे तो सभी में भी नहीं रहेगी। जब सभी पदार्थों में वह अनित्यता नहीं रहेगी तो सभी पदार्थ अनित्य भी न होंगे। जहाँ स्थिति बलवती होगी वहाँ कोई अंश नित्य होगा और जहाँ अनित्यता बलवती होगी वहाँ कोई अंश अनित्य होगा। इस प्रकार न सभी अनित्य होंगे और न सभी नित्य होंगे (२७२)।

यदि अनित्यता लक्ष्य के साथ नित्य रूप से सम्बद्ध है तो स्थिति नित्य नहीं होगी क्योंकि लक्ष्य और लक्षण व्यभिचरित नहीं होते। यदि अनित्यता नित्यता नित्य रूप से सम्बद्ध नहीं है तो स्थिति नित्य होगी क्योंकि अनित्यत्व का वहाँ अनुबन्धन हो जाता है। यदि स्थिति की नित्यता की रक्षा के लिए अनित्यता को लक्ष्य के साथ उत्पन्न न मानकर पश्चात् काल में माने तो भाव पहले नित्य होकर पश्चात् अनित्य होगा। इस प्रकार एक ही भाव को नित्य और अनित्य दोनों मानना पड़ेगा, परन्तु यह युक्त नहीं (२७३)।

यदि उस पदार्थ का अस्तित्व है तो उसकी अनित्यता असत्य होगी और यदि वह नष्ट होता है तो उसका अस्तित्व असत्य होगा। अर्थात् स्थिति को मानना युक्त नहीं। और उसकी स्थिति के न होने से पदार्थ भी नहीं होगा। पदार्थ के न होने से उसके आश्रित रहनेवाला काल भी स्वभावतः सिद्ध नहीं होगा (२७४)। काल अतीत संस्कारों की स्मृति का कारण है यह भी ठीक नहीं क्योंकि वर्तमान में स्थित पदार्थ का जो स्वरूप साक्षात् करने वाले पुरुष के वर्तमान ज्ञान द्वारा देखा गया है वह पुनः वर्तमान ज्ञान का विषय नहीं हो सकता क्योंकि एक पदार्थ का दो विज्ञानों द्वारा ज्ञेय होना पहले ही निषिद्ध कर दिया गया है। इसी न्याय से देखा हुआ पदार्थ पुनः नहीं देखा जाता। अतएव तद्विषयक स्मृति भी पुनः नहीं होती।

इसलिए स्मृति का आलम्बन अतीत भाव हुआ न कि वर्तमान। वह अतीत भाव यदि स्वरूपतः होता तो वह स्मृति विद्यमान भाव का आलम्बन करने के कारण स्वरूपतः सिद्ध होती। परन्तु जब वह अतीत भाव स्वरूपतः नहीं है तब उसका आलम्बन करनेवाली स्मृति भी नहीं है। अतः वह स्मृति मिथ्या है। मिथ्या इस स्वभाव से अभाव और प्रतीत्यसमुत्पाद में कोई अन्तर नहीं। भाव और अभाव दोनों पदार्थ मिथ्या नहीं हैं। अतीत पदार्थ भी सर्वथा है नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनका स्मरण होता है और फल भी देखा जाता है। स्वरूप से होने पर भी वह नहीं है। नित्यत्व का प्रसंग होने पर वस्तुग्रहण का भी प्रसंग उपस्थित होगा। उस प्रकार के भाव से स्मृति भी वैसी ही होगी। अतः वह स्मृति भी मिथ्या है उसी तरह जिस तर स्वप्नावस्था में देखे गये अनुभव विषयक स्वप्नों की स्मृति जाग्रत अवस्था में मिथ्या होती है।

न दृष्टो दृश्यते भावस्त्रिर्स्त न जायते पुनः।
तेन मिथ्या स्मृतिर्नामार्थोऽस्या मिथ्यैव जायते (२७५)।

दृष्टिप्रतिषेध—सभी पदार्थ प्रत्यक्षज्ञानगम्य नहीं होते। कुछ (परोक्ष पदार्थ) अनुमानगम्य भी होते हैं। स्वभावशून्यता के विषय में दृष्टान्त के होने से अनुमान भी कर सकते है : यहाँ सर्वत्याग का उपाय सर्वधर्म स्वभाव शून्यता है। उस सर्वधर्मस्वभावशून्यताको कोई विपरीप नहीं कर सकता। और यह सर्वधर्मस्वभावशून्यता सूक्ष्म भी है। क्योंकि सभी के समीप सर्वदा होते हुए भी वह सभी के समक्ष नहीं है। युक्तियों द्वारा सर्वधर्मस्वभावता का खण्डन करके नि:स्वभावता का प्रतिपादन किया गया है। यही निश्चय करना चाहिए। निश्चय करने में दो विकल्प उठ सकते हैं—यह ऐसा ही है या अन्यथा। यदि अनिश्चय का कोई कारण है तो उसे उपस्थित कीजिए। यदि नहीं हैं तो उक्त प्रकार से खण्डन हो ही चुका। और थोड़ा भी अनिश्चय का कारण कहना संभव नहीं, ऐसा इसी दृष्टान्त से सिद्ध है। अतः यदि बुद्धोक्त उपदेशों की सत्यता में कुछ सन्देह है तो शून्यता के उपदेश की सत्यता से ही अन्य उपदेशों की भी सत्यता का निश्चय कर लेना चाहिए। इस प्रकार बुद्ध के उपदेशों में कहीं भी सन्देह नहीं रहता (२८०)।

शास्त्रसंकेत को न जानने वाले गोपालक आदि सैकड़ों बार उपदिष्ट होने पर भी शून्यता के ज्ञान में उनका प्रवेश नहीं हुआ। इसीलिए उन्हें भय होता है। शून्यता का ज्ञान होने पर ही पण्डितों का भय सर्वथा दूर हो जाता है। क्योंकि भय के कारण अहंकार और ममता के अभिनिवेश शून्यता के ज्ञान से उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस तरह रस्सी में सर्पका विपरीत ज्ञान होने के बाद रस्सी के देखने पर सर्प का भय दूर हो जाता है। परन्तु जो अल्पज्ञानी है उसे नियम से ही होता है ॥२८३॥

संसार में प्रवृत्ति कराने में अनुकूल धर्म प्रवर्तक कहलाता है और अज्ञानियों का अभ्यास इसी प्रवर्तक धर्म में होता है। पदार्थों की स्वभावशून्यता रूप धर्म तो निवर्तक हैं क्योंकि वह संसार से निवृत्ति कराने में अनुकूल होता है। उस स्वभावशून्यता के अभ्यास का बाधक आत्मस्नेह है। उस आत्मस्नेह में चित्त लगा रहने से साधारण जन निवर्तक शून्यता धर्म से अत्यन्त भयभीत हो जाते है। और स्वभावशून्यता को प्रपात की तरह मानते हुए उसे यथार्थ रूप से समझने का प्रयत्न ही नहीं करते ॥२८४॥

इस प्रकार अज्ञानान्धकार से अच्छादित पदार्थ तत्व में एवं अप्राप्य अन्तवाले संसार रूपी महावन में प्रनष्ट सन्मार्ग वाले किसी व्यक्ति की भक्ति यदि स्वभावशून्यता में हो जाती है। तो उस भक्ति के अनुकूल कारणों में वृद्धि हो

जाती है। और उससे उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता शून्यतासिद्धान्त के उपदेश में हो जाती है। ऐसे ही व्यक्तियों को उपदेश दिया जाना चाहिए। परन्तु जो किसी ईर्ष्या, मात्सर्य, भय श्रोता के द्वेष आदि मोह के कारण तत्वधर्म (स्वभावशून्यता) के पात्रजन के उपदेश सुनने में विघ्न उपस्थित करता है उसे देव और मनुष्यात्मक सुगति भी नहीं मिलती क्योंकि वह निश्चित रूप से दुर्गति में जाता है तो फिर मोक्ष-प्राप्ति की बात तो कोसों दूर रही ॥२८५॥

इस प्रकार दूसरे का अत्यन्त उपकार करने वाले के सन्दर्भ में कहा गया है कि शील से पतित व्यक्ति अच्छा है परन्तु दर्शन (स्वभावशून्यता रूप बौद्ध दर्शन) से पतित व्यक्ति अच्छा नहीं। शील से स्वर्ग प्राप्त होता है। परन्तु बौद्धदर्शन से निर्वाणपद प्राप्त होता है।

शीलादपि परं भ्रंशो न तु दृष्टेः कथञ्चन।
शीलेन गम्यते स्वर्गो दृष्टया याति परं पदम् ॥ २८६ ॥

इस तत्वदर्शन के रहस्य को जानने के लिए विद्वान को प्रयत्न करना चाहिए। बौद्ध दर्शन के विघात के भय से सर्वत्र पात्र विशेष को निश्चित किये बिना अपात्रों में इस नैरात्म्यदर्शन का उपदेश नहीं देना चाहिए। क्योंकि अपात्रों में दिया गया उपदेश निरर्थक ही होता है।

जो अद्वितीय मोक्षद्वार है वह नैरात्म्य है। कुत्सित मतावलम्बियों को जो भयंकर है वह नैरात्म्य है। समस्त बुद्धों के ज्ञान का जो विषय है वह नैरात्म्य है। आत्मा नाम है स्वभाव का। उस आत्माके अभावको नैरात्म्य कहते हैं। वह नैरात्म्य धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य के भेदसे दो प्रकार का है। यहां जो पुद्गल नैरात्म्य है वह स्कन्धों से जाना जाता है। और वह स्कन्ध में पांच प्रकार से खोजते हुए उत्पन्न नहीं होता। परन्तु धर्मस्कन्ध, आयतन धातु सूचक पदार्थ हैं। इन धर्मों का और पुद्गल का अपने हेतु और प्रत्यय के आधीन जन्म होता है और वे उपादानों से जाने जाते हैं। इस लिए उनका स्वायत्त व अपरायत्त अपना आवृतक (नित्य) रूप नहीं है। इस प्रकार पुद्गल की और धर्मों की निःस्वभावता व्यवस्थित की गई है। जिस पदार्थ की स्वरूपतः सिद्धि नहीं है उसकी अन्य किस आत्मा से सिद्धि होगी? अतएव सर्वथा असिद्ध लक्षण स्वरूप ही पदार्थ मूर्ख व्यक्ति के विसंवादक आत्मा द्वारा जाने जाते हैं और इसी कारण अज्ञानी उनसे ममत्व करने लगते हैं। सम्यग्दर्शनों द्वारा पदार्थ के यथार्थ स्वभाव को जानने के बाद धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य दोनों का ममत्व छूट जाता है और यही निर्वाण प्राप्ति का कारण है। नैरात्म्य का ज्ञान होने पर

समस्त पदार्थों में ममत्व का त्याग हो जाता है और फिर कहीं पर कोई की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए नैरात्म्य एक अद्वितीय मोक्ष-यह नैरात्म्यदर्शन कुत्सित मतावलम्बियों को भयङ्कर है। क्योंकि दर्शन में वस्तु का सर्वथा अभाव माना जाता है जो अन्य मत वालों द्वार रित वस्तु के स्वरूप से पूर्णतः विपरीत है। इसीलिए उन्हें नैरात्म्य द कर प्रतीत होता है। समस्त बुद्धों के ज्ञानका विषय नैरात्म्य है समस्त श्रावक बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध और सम्यक्सम्बुद्ध तीनों सम्मिलित है। ज्ञ का विषय रहने से इसे समस्त बुद्धों का विषय कहा गया है। अ नैरात्म्यधर्म की महत्ता को व्यक्त करते हुये कहा है कि जो इस धर्म को है उसकी अन्य धर्म में प्रीति नहीं होती। इसलिए यह नैरात्म्यधर्म अ नाश के द्वार के समान देखा जाता है (२६१)

सद्धर्मतत्वदर्शन रूपी अमृतरसास्वाद से अन्य दर्शनो का रस अस हो जाता है। अतः वह अमृतरस अन्य सभी दर्शनों में नही मिलता। आचार्य ने आस्वादन सद्धर्मामृतरस के समान बुद्धिमान व्यक्ति के सन्तोषकारक वचन कहा है—"धर्मोऽयमात्मनस्तेन नाशद्वारमिवेक्ष्यते नैरात्म्यधर्म आत्मा के नाशद्वार के समान देखा जाता है (२६२)

बहुत से कुशल मनुष्य भी अन्य तीर्थिकों के मतो का आलम्बन दिखाई देते हैं, भगवान बुद्ध का नहीं। इसका मुख्य कारण है—बौद्ध अत्यन्त सूक्ष्मता। बौद्धधर्म की सूक्ष्मता और अन्य धर्मो की अयुक्तता पादन करते हुए आचार्य ने कहा है—शाक्य धर्म चित्त से, अचेलक धर्म और ब्राह्मण धर्म कर्णेन्द्रिय से जाना जाता है। इनमें भगवान बुद्ध सूक्ष्म है—

> शाक्यैरचेलकैर्विप्रैस्त्रिभिरप्रत्तेन चक्षुषा।
> कर्णेन गृह्यते धर्मः सूक्ष्मस्तत्समयो मुनिः॥ २६४॥

ब्राह्मणों का सार पाठ है। वही उनके वर्ण का विषय है। अचेलक चार रहित होने के कारण बढ़ती हुई शरीर की दुर्गन्ध और पङ्क से वस्त्र, स्नान और शाटिका से रहित होने से शीत, धूप, वायु, सूर्य, वध अनादि दुःखों के कारण भूत होते हैं। उनका आचार और धर्म चक्षु जाता है। परन्तु शाक्य (बौद्ध) समस्त पदार्थों को निःस्वभावत्व रू उद्भासित चित्त की सन्तान वाले, समस्त असद् दर्शनों को भयभीत क गहन अज्ञान तिमिर को दूर करने वाले और संस्कृत, पदार्थ को स्वप्न,

माया नारी और प्रतिबिम्ब निर्माण के समान देखते हुए समस्त क्लेशमल को दूर करने से निर्मल चित्त वाले होते हैं। इस कारण उनकी कुशल भावना मनो-विज्ञान से जानी जाना चाहिए। इस प्रकार भगवान बुद्ध का धर्म सूक्ष्म है। इस धर्म की सूक्ष्मता के ही कारण पुण्य की भावना होते हुए भी लोग बुद्ध-धर्म में प्रवृत्त नहीं होते। बाह्य उपासना का विधान बौद्धधर्म में नहीं है।

ब्राह्मण मन्त्र, जप, दान, होम मङ्गल, प्रायश्चित्त आदि कार्यों से अन्य लोगों से लाभ सत्कार आदि की इच्छा से बाह्य धर्म चाहते हैं। उनका यह बाह्य प्रधान धर्म मोक्षेच्छुकों को निषिद्ध है क्योंकि वह संसार के अननुकूल (प्रतिकूल) है। इसी प्रकार नग्नकों का धर्म भी चित्त को जड़ की तरह बना देने के कारण जड़ धर्म कहा गया है।

ब्राह्मणानां यथा धर्मः प्रायेण बाह्य उच्यते।
नग्नकानां तथा धर्मः प्रायेण जड उच्यते ॥ २६५ ॥

बाह्यधर्म होने के कारण ही ब्राह्मणों और नग्नकों में लोगों की श्रद्धा होती है, यह प्रतिपादन करते हुए आचार्य आर्यदेव कहते हैं कि जैसे विद्याध्ययन मात्र से ब्राह्मणों में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। वैसे ही क्लेशादि ग्रहण से नग्नों (जैनों) पर लोग कृपा करने लगते हैं (२६६)। इन नग्नकों (जैनों) को शरीर, क्लेश और दुःखों का अनुभव धर्म के निमित्त होता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि उनका आचरण दुश्चरित का फल है। जैसे अचेलकों का चरित्र दुःखानुभव पूर्वक नरक दुःखानुभव के समान कर्म का परिणाम होने के कारण धर्म नहीं है वैसे ही ब्राह्मणों का जन्म भी पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है। अतएव वह भी धर्म नहीं कहला सकता ॥ २२ ॥

यदि कर्म विपाक से चक्षु आदि के समान दुःख और जन्म धर्म नहीं हैं तो धर्म क्या है ? आर्यदेव ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि भगवान् बुद्ध ने संक्षेप रूप से अहिंसा को धर्म कहा है और केवल स्वभावशून्यता को ही निर्वाण कहा है। यही दोनों धर्म हैं। किसी प्राणी के अपकार की चिन्ता और अपकार के लिए किये गये शारीरिक और वाचिक कर्म हिंसा कहलाती है। उसके विपरीत अहिंसा है। दश कुशल कर्म ही उसके पथ हैं। थोड़ा भी परोपकार अहिंसा के अन्तर्गत आ जाता है। तथागतों ने संक्षेपतः धर्म और अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। जो स्वभावशून्यता कही गई है उसे तथागतों ने निर्वाण रूप से वर्णित किया है। अहिंसा से स्वर्ग प्राप्ति होती है और शून्यता से निर्वाण मिलता है। इसलिए 'केवलं तदिहोभयम्' कहा है। तथागत द्वारा प्रतिपादित दोनों धर्म इसी

में परिशुद्धि (केवलं) को प्राप्त होते हैं, अन्यत्र नहीं। इसी में स्व-पर की स्वर्ग और मोक्ष की कल्याण सिद्धि है।

> धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः।
> शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तदिहोभयम् ॥ २६८ ॥

बौद्धदर्शन की इतनी अधिक उपयोगिता समझते हुए भी बाह्य धर्मावलम्बी इन दोनों धर्मों को क्यों स्वीकार नहीं करते ? इसका वास्तविक कारण आर्य-देव की दृष्टि में स्वपक्षप्रेम है। अपने पक्ष के प्रति अनुराग अनादि संसार से चला आया है। वह अपने जन्मस्थान के समान छोड़ा नहीं जा सकता। इसी कारण से अज्ञानी अपने दर्शन पक्ष के राग को छोड़ नहीं पाते। फलतः तथागत धर्म (बौद्धधर्म) में वे प्रवृत्त नहीं होते। परन्तु पण्डितगण अपनी जन्मभूमि को भी दुःखों का कारण जानकर, उससे आशा छोड़कर वैभवशाली अन्य देशों का आश्रय लेते हैं। उसी प्रकार उन्हें अपने पक्ष को छोड़कर गुणवान बौद्धधर्म का ही आश्रय अवश्य लेना चाहिए (२६६)। इसलिए कहा है—

> ग्राह्यतोऽन्यतोऽपि युक्तार्थः श्रेयस्कामेन धीमता।
> ऊर्ध्वमर्को नेत्रवतां सर्वसाधारणो ननु ॥ ३०० ॥

अर्थात् कल्याण चाहने वाले बुद्धिमान को उपयुक्त पदार्थ जहाँ कहीं भी मिले ग्रहण करना चाहिए। जैसे सूर्य नेत्रवान प्राणियों के लिए है और सर्व साधारण के लिए भी ॥ २५ ॥

५. इन्द्रियार्थ-प्रतिषेध

चक्षुःसन्निकर्षत्व—चार महाभूतों और चार उपादानभूतों से उत्पन्न होने वाला घट चक्षु द्वारा सम्पूर्णतः दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के प्रत्यक्षीकरण का भी यहाँ निषेध किया गया है। यह वस्तु सुगन्धित है, इस तरह नासिका द्वारा ज्ञातव्य जातिपुष्प, पद्म कमल, चन्दनादिक सभी पदार्थ नासिका इन्द्रिय के विषयभूत हैं, क्योंकि रूपादि देखे बिना कोठरी में बन्द उसकी गन्धमात्र ग्रहण की जा सकती है। इसी प्रकार यह पदार्थ मीठा है, इस तरह के शक्कर, नमक, नीम आदि सभी पदार्थ रसना-इन्द्रिय के विषयभूत हैं। यह कोमल है, इस तरह के लकड़ी, कम्बल, धूल, पाषाण आदिक सभी पदार्थ स्पर्शनेन्द्रिय के विषय हैं। वे सभी पदार्थ चारों महाभूत और चार उपादानभूत, कुल मिलाकर आठ द्रव्यों से बनते हैं, इसलिए एक एक इन्द्रिय द्वारा उनका एक एक विषय ही ग्रहण किया जाता है, सभी एक साथ नहीं। अतएव जातिपुष्प,

ाक्कर, लकड़ी, कम्बल आदि आत्मा या स्वयं के प्रत्यक्ष हैं, ऐसा कौन तत्वज्ञानी
कहेगा ? (३०२) यदि रूप मात्र के देखने से सम्पूर्ण अदृष्ट घट देखा जा
सकता है तो अदृष्ट घट से दृष्ट रूप क्या अदृष्ट नहीं हो सकता ? आठ द्रव्यों का
उपादान स्वरूप होने पर भी घट विषय में यदि एक द्रव्य रूप देखने से सम्पूर्ण
(घट) को देखे जाने की कल्पना की जा सकती है तो एक रूप में अवस्थित
वह रूप अवशिष्ट सात द्रव्यों के द्वारा क्या अदृष्ट नहीं कहा जा सकता। इसलिये
रूप का ही नहीं, घट का भी प्रत्यक्षत्व नहीं होता (३०३)। क्योंकि उस
रूपका पर, अपर और मध्यम अंश होता है। अनीरिसत गन्धादि से सम्बन्धित
केवल रूप का प्रत्यक्षत्व उसके पर, अपर और मध्यम अंश के देखने मात्र से नहीं
कहा जा सकता। क्योंकि उन पर, अपर और मध्यम अंशों के भी पर, अपर
और मध्यम अंश होंगे। फिर उनके भी अन्य अंश होंगे, और उन अंशों के भी
अन्य अंश होंगे। इस प्रकार रूप परमाणु के अन्तिम भाग तक रहेगा (३०४)।
यदि आप रूप मात्र के देखने से घट का प्रत्यक्षत्व मान बैठेंगे तो अणु का भी
उसके पहले, पीछे और दिगंश भेद से तथा पर, अपर और मध्यम अंश भेद से
अंश मानना पड़ेगा। पर अणु के अंश माने नहीं जाते। यदि पहले, पीछे के
अंश भेद से अणु अंशवान माना जाय तो घट के समान उसकी भी परमाणुत्व
हानि हो जायगी अर्थात् अणु को फिर अणु नहीं कहा जा सकेगा। अतएव
घटका प्रत्यक्षत्व सम्भव नहीं है। द्रव्याष्टक के साथ में निश्चित रूप से रहने वाले
चतुर्महाभूत से निर्मुक्त रूप उपलब्ध नहीं होता। रूपायतन से निर्मुक्त रूप हेतु
नहीं होता। रूपायतन चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण है परन्तु रूपहेतु शरीरेन्द्रिय द्वारा
ग्राह्य है। इसलिए यदि 'रूप हेतु है' यह किसी स्वरूप से सिद्ध होता है तो रूप
भी स्वरूपतः सिद्ध हो जायगा। रूपहेतु का रूपादि सिद्ध होने पर उसका भेद
होना भी संभव नहीं। इसलिए रूपहेतु के अभाव होने पर निर्हेतुक रूप भी सिद्ध
नहीं होता। यदि अभेदरूप में अवस्थित होने के कारण रूप हेतु के रूप का
जाना माना जाय तो भी संभव नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर रूपहेतु और उसका
फल दोनों का ग्रहण चक्षु इन्द्रिय द्वारा होना चाहिए। पर यह संभव नहीं,
क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय के विषय और लक्षण भिन्न होते हैं (३०८)। यदि द्रष्टव्यत्व
प्रयोजन निरर्थक है तो यहाँ दृष्ट पदार्थ को देखकर उसके द्रष्टव्य स्वरूप की
कल्पना की जाती है या अद्रष्टव्य स्वरूप की। यदि द्रष्टव्य स्वरूप की कल्पना की
जाती है तो उस कल्पना से लाभ क्या ? जिस दर्शन रूप प्रयोजन से वह कल्पना
की जाती है उसके बिना भी उसका सद्भाव है ही तब फिर कल्पना का प्रयोजन
क्या ? यदि अद्रष्टव्यभून स्वरूप की कल्पना की जाती है, तो वह भी युक्त नहीं।

क्योंकि द्रष्टव्यत्व प्रसंग से उत्पन्न होने वाले द्रष्टव्यत्व स्वरूप के साथ इस अद्रष्टव्यत्व स्वरूप का विरोध होता है और यह विरोध होने से पदार्थ का द्रष्टव्यत्व बन नहीं सकता। अतएव जिस तरह द्रष्टव्य और अद्रष्टव्य घट का सर्वथा द्रष्टव्यत्व हो जाना युक्त नहीं और जाति की सम्भावना समाप्त हो जाती है, उसी तरह अद्दष्टव्यभूत (असद्रूप) घट की कल्पना करना ठीक नहीं है (३१०)। रूपादिक अर्थों को तभी प्रत्यक्ष माना जा सकता है जब उनमें इन्द्रियों को जानने की शक्ति हो। परन्तु यह शक्ति उनमें नहीं है। क्योंकि चक्षुरादिक पाँचों इन्द्रियां सामान्यतः भौतिक मानी जाती हैं। और उनका कार्य विषय भेद से पृथक् है। जैसे चक्षु से रूप ही देखा जा सकता है, शब्द नहीं सुना जा सकता। कान से भी शब्द सुना जा सकता है, रूप नहीं देखा जा सकता है, अतएव आर्यदेव ने कहा है उपपत्ति विरुद्ध कार्य होने से चक्षुरादिक इन्द्रियों की स्वरूप कल्पना कैसे की जा सकती हैं? भौतिकत्व के समान होने पर भी विषय ग्रहण भेद मानना ठीक नहीं। चक्षुरादिक इन्द्रियों का सद्भाव विषयग्रहण से अनुमानित होता है। इसलिए इन्द्रियों का सद्भाव होने से विषयों का प्रत्यक्षत्व कहना ठीक नहीं। यदि इस तरह से चक्षुरादिक इन्द्रियां न हों तो इन इन्द्रियों की कर्मविपाक स्वरूप की व्यवस्था कैसे हो? क्या हम लोगों के द्वारा इन इन्द्रियों का विपाकस्वरूप रोका जा सकता है?

> भौतिकमक्षि कर्णश्च दृश्यतेऽक्ष्णा परेण न।
> नूनं कर्मविपाकं तदचिन्त्यमुक्तवान्मुनि ॥ चतुःशतक ३११।

दर्शन से पहले चक्षुर्विज्ञान नहीं होता क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय के दर्शनाधिपति प्रत्यय का अभाव होता है। यदि दर्शन के बाद वह ज्ञान माना जाय तो ज्ञान निरर्थक हो जायगा। यदि ज्ञान के बिना ही चक्षु से पदार्थ का दर्शन होने लगे तो विज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ होगा। ज्ञान और दर्शन दोनों का एक साथ उद्भव होता है, इस तरह की तीसरी कल्पना करना भी ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार के दर्शन से दर्शन क्रिया निरर्थक हो जायगी। विज्ञान और दर्शन के एक साथ होने पर जिस दर्शन के साथ विज्ञान समान काल में होता है, उस दर्शन के अधीन वह विज्ञान होता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं। एक साथ उत्पन्न होने वाले गाय के बायें, दायें सींग एक दूसरे के अधीन माने जायें, यह सम्भव नहीं। उसी तरह दर्शन के साथ उत्पन्न होने वाला विज्ञान दर्शन के अधीन नहीं होता। अतएव दर्शन निरर्थक ही है। इस प्रकार जब विज्ञान का होना सम्भव नहीं तो उसके होने से चक्षुरादिक इन्द्रियों का सद्भाव कैसे सम्भव है? उनका सद्भाव नहीं हो सकता (३१२)। यदि चक्षु प्राप्तकारी (सन्निकर्ष)

होकर विषय को जानता है तो पलक मात्र गिराने के भीतर चन्द्र तारे आदि पदार्थों को नहीं ग्रहण किया जा सकता। गतिमान् के अर्ध देश का उपग्रहण और समान काल मे उत्पन्न होने वाले विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) विषय का ग्रहण ठीक नहीं। क्योंकि वहाँ गति काल की भिन्नता है। पलक मात्र गिराने से समीपवर्ती पदार्थ के समान विदूरवर्ती पदार्थ भी देखे जाने चाहिए, ऐसा मानना अयुक्त है। यदि चक्षु प्राप्तकारी होता तो अत्यन्त अभ्यास करने पर भी आखों मे लगा हुआ काजल दिख जाना चाहिए, पर यह सम्भव नही। अतएव चक्षु प्राप्तकारी नहीं (३१३)। यदि चक्षु जाकर रूप को देखता है तो क्या देखकर उस स्थान तक जाता है या बिना देखकर ? यदि चक्षु रूप को देखकर उस रूप के स्थान पर जाता है तो गये हुए उस चक्षु के गमन से क्या लाभ ? विषय (पदार्थ) को देखने के लिए चक्षु का गमन हुआ था और वह विषय पहले ही पूर्व स्थान से देख लिया गया है तब उस गमन से कोई प्रयोजन नहीं। यदि बिना देखे ही चक्षु गमन करता है तो नियम से द्रष्ट विषय का दर्शन नहीं प्राप्त होता। अन्धा भी बिना देखकर इष्ट स्थान पर जाता है। उसे अद्रष्टव्य पदार्थ का दर्शन निश्चित रूप से नहीं होता (३१४)।

पश्येच्चक्षुश्चिरादूरे गतिमद्यदि तद्भवेत्।
अत्यभ्यासे च दूरं च रूपं व्यक्तं न तच्च किम् ॥ ३१३ ॥

गतेन न गुणः कश्चिद्रूपं दृष्ट्वाक्षि याति चेत्।
द्रष्टव्यं नियमेनेष्टमिति वा जायते वृथा ॥ ३१४ ॥

जो चक्षु, श्रोत्र (कान) और मन को अप्राप्तविषयी मानते हैं, उनके प्रति आर्यदेव कहते है कि प्राप्तकारिता मात्र प्रतिषेधपरक होने से आगम का कोई विरोध नहीं। जहाँ कही विधि की प्रधानता होती है, उसका विरोध नहीं होता। जहाँ कही प्रतिषेध की प्रधानता होती है, वहाँ विरोध नहीं होता। इसलिए यहाँ पर विधि के असम्भव होने पर प्राप्तकारिता प्रतिषेध मात्र से अप्राप्तविषयपन की व्यवस्था की जाती है। विधिमुख से तो अप्राप्तविषय मे कल्पना करने वाला चक्षु यहीं स्थित होकर सम्पूर्ण जगत को देख ले। जिसकी गति नहीं, उसके लिए दूर से क्या मतलब ? इससे समीपवर्ती पदार्थ भी गमन किए बिना ही द्रष्टव्य है और दूरवर्ती पदार्थ भी। इस प्रकार से दूर होने पर भी कोई विशेषता नहीं। जब गमन किये बिना ही देख लिया जाता है तो समीपवर्ती के समान दूरवर्ती पदार्थ भी देख लेना चाहिए। आवृत (ढके हुए) पदार्थ पर जाने से गमन का प्रतिबन्धक होने के कारण आवृत पदार्थ नहीं देखा जाता, यह ठीक

है। पर जब बिना गये ही पदार्थ देखा जा सकता है तो गमन का प्रतिबन्ध न होनेपर अनावृत के समान आवृत पदार्थ का भी दर्शन हो जाना चाहिए (३१५)। जैसा चम्पक, मल्लिकादि फूलों में सुगन्धि पहले उन्हीं में रहती है, बाद में उनके सम्पर्क से तेलादि में वह सुगन्धि पहुँचती है। जैसे अग्निमें उष्णता स्वत: अवस्थित है, उसके सम्पर्क से बाद में दूसरे में पहुँचती हे। इसी प्रकार यदि चक्षु का देखना ही स्वभाव है तो उसका स्वयं में देखना पहले होना चाहिए। फिर चक्षु का ग्रहण चक्षु से ही क्यों नहीं होता ? पदार्थों के स्वभाव का मूलतः स्वयं में रहने से चक्षु का ही ग्रहण हो जाना न्यायसंगत हैं, परन्तु चक्षु अपने आप को नहीं देखता, तब फिर पत्थर आदि के समान दूसरे पदार्थ का भी दर्शन होना इसे सभव नहीं है (३१६)। चक्षु का विज्ञान नहीं होता क्योंकि वह (चक्षु) पदार्थको जानता नहीं। जानता इसलिए नहीं, कि उसका जानना स्वभाव नहीं। क्योंकि चक्षु भौतिक है। उसके जड़ होने से पदार्थ के जानने की संभावना ही नहीं होती। इस प्रकार से चक्षु का ज्ञान नही। और न विज्ञान का दर्शन होता है, क्योंकि विज्ञान का काम जानना है न कि देखना। यदि विज्ञान का काम देखना हो तो विज्ञान का सद्भाव रहने से उसका भी रूपदर्शन होना चाहिए। पर होता नहीं है। रूप का न विज्ञान होता है और न दर्शन होता है। विज्ञान इसलिए नहीं होता कि रूप का स्वरूप विज्ञान नहीं है। दर्शन इसलिए नहीं होता कि उसके रूप को देखा नहीं जा सकता। और जब ये परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं तो उसकी सामग्री होने पर भी रूप नहीं देखा जाता। पदार्थ देखने के कारण स्वरूप आंखों के न होने से जिस तरह अंधा व्यक्ति पदार्थ नहीं देख पाता उसी तरह इन्द्रिय रूप और विज्ञान परस्पर मे विकल होने से पदार्थ का देखा जाना नहीं बनता। इस प्रकार जब पदार्थ देखा नहीं जाता तो कौन तत्त्वज्ञानी यह कहेगा कि पदार्थ देखा जाता है ? अर्थात् कोई नहीं (३१७)।

जैसे तत्वज्ञानी रूप नहीं देखते उसी तरह शब्द भी नहीं सुनते। रुपदर्शन के समान शब्दश्रवण भी असम्भव है। यदि शब्द सुना जाता है तो वह कान को (श्रवणदेशको) स्पर्श कर सुना जाता है या बिना स्पर्श किये ही ? यदि स्पर्शकर (श्रप्राप्त) सुना जाता है तो वह कान के पास जाकर शब्द करता है या नहीं। यदि शब्द करता है तो वक्ता होने से देवदत्त के समान यह शब्द भी नहीं होता। यदि न बोलते हुए जाता है तो निःशब्द होने के कारण 'यह शब्द है' ऐसा विश्वास किसे होगा। शब्द का जब ग्रहण नहीं होगा तो उसका अस्तित्व भी मानना ठीक नहीं (३१८)।

शब्दसन्निकर्षत्व—यदि श्रोत्रेन्द्रिय के स्थान को प्राप्त होकर शब्द ग्रहण किया जाता तो उसका आदि भाग किसके द्वारा ग्रहण किया जाता। प्राप्तिग्राही होने से शब्द के आदि भाग का ग्रहण नहीं होता। दूसरी इन्द्रियाँ भी उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। इस प्रकार किसी के द्वारा भी इसका आदि भाग ग्रहण नहीं किया जाता। और फिर अप्राप्यमाण होने के कारण 'यह शब्द ही नहीं होता' ऐसा समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रथम तो शब्द का ग्रहण नहीं होना चाहिए। आगे यदि शब्द का ग्रहण होता है तो गन्धादि का भी ग्रहण होना चाहिए। परन्तु गन्धादि का ग्रहण होता नहीं, इसलिए शब्द प्राप्तकारी नहीं है॥ १९॥

मानस सन्निकर्षत्व—यदि चित्त विषयदेश (पदार्थ स्थान) को जाकर विषय को जानता है, ऐसी कल्पना की जाय तो यह भी उचित नहीं। यह चित्त विषयदेश को इन्द्रियसहित जाता है या अकेला जाता है ? इन्द्रियसहित तो जाता नहीं, क्योंकि इन्द्रियाँ सदा देह में ही रहती है। उनके चले जाने पर देह के निरिन्द्रिय हो जाने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। यदि अकेला जाता है तो इन्द्रियों से वियुक्त होकर चित्त जाकर भी क्या करेगा। इन्द्रियों से वियुक्त हो जाने पर चित्त में रूपादि दर्शन की सामर्थ नहीं रह जाती। अन्यथा अन्धों को भी दर्शन का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इसके बाद भी कोई किसी प्रकार विषयदेश के गमन से अर्थोपलब्धि की कल्पना करें तो भी अर्थज्ञान का अन्त न होने से पूर्व दोष दूर नहीं किया जा सकता। ऐसा होने पर यह जीव क्या सदा अमनस्क नहीं रह सकता ? हर समय अचिन्तक ही आत्मा प्राप्त होती है। अचिन्तक के आत्मत्व होना संभव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अन्यथा स्तम्भ आदि के भी आत्मा होने का प्रसङ्ग आ जायगा। इस तरह से विचारवानों के इन्द्रियविषय और विज्ञानों का सद् रूप होना असम्भव है, अतएव उनकी स्वरूप सिद्धि होती तो स्पष्टतः यथास्थित स्वरूप से उसकी प्राप्ति होती। पर असिद्ध है। यदि इनकी स्वरूप सिद्धि प्राप्ति उसकी होती नहीं। इसलिए स्वरूप-शून्यता की सिद्धि हो जाती है॥२२१॥

यहाँ चक्षु रूप के कारण चक्षुर्विज्ञान को उत्पन्न कर वह इन्द्रिय पदार्थों के साथ निरुद्ध हो जाता है। उसके निरुद्ध हो जाने पर जो पहले देखा गया पदार्थ है, वही बाद में मन के द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। असन्निहित पदार्थ का ग्रहण मरीचिका के समान होता है। यद्यपि मरीचिका में थोड़ा-सा भी जल नहीं होता तो भी हेतु-प्रत्यय होने पर जलाकार संज्ञा प्रवर्तित हो ही जाती है। इसी प्रकार अविद्यमान स्वरूप के ह.न

पर भी पहले ग्रहण किये गये पदार्थ में मरीचिका के समान जो विज्ञान उत्पन्न होता है वही सभी पदार्थों की व्यवस्था में कारणभूत हो जाता है। सभी पदार्थों की व्यवस्था में कारण भूत होने से ही उसे संज्ञास्कन्ध कहा गया है। क्योंकि संज्ञाविशेष का प्रयोग इसी तरह से किया जाता है। इसी संज्ञा से सभी पदार्थों की व्यवस्था जाननी चाहिए। स्वभाव का पदार्थस्वरूप निबन्धन सर्वथा युक्तियुक्त नहीं है ॥ ३२२ ॥

कायेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होने के कारण महाभूत श्रवण बाह्य हैं। उनसे चक्षु से उत्पन्न होने वाला रूप और श्रवण से उत्पन्न होने वाला शब्द उत्पन्न होता है। यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। इस प्रकार घ्राणादि के विषय में और चक्षु आदि के विषय में भी समझना चाहिए। अथवा इन्द्रियों की यह अर्थगति आश्चर्य उत्पन्न करने वाली नहीं है। यदि केवल इन्द्रियों की ही अर्थगति में वह वैचित्र्य होता तो यह आश्चर्यास्पद है। परन्तु जब यथोक्त न्याय से संसार के विद्वानों को इन्द्रजाल के समान विस्मय उत्पन्न करने वाला हो तब यह आश्चर्य नहीं, क्योंकि किसी असम्भव पदार्थ के उत्पन्न होने पर आश्चर्य होता है। सभी जगह उसका समान रूप नहीं होता। अग्नि की उष्णता अश्चर्य उत्पन्न करने के लिए नहीं होती ॥ ३२४ ॥

अतएव अनिश्चित स्वरूप होने के कारण जैसा प्रत्यय (कारण) हुआ वैसा-वैसा विपरिवर्तमान होने के कारण विद्वानों को अलातचक्र, निर्वाण, स्वप्न, माया, जल, चन्द्र, धूमिका, प्रतिध्वनि, मरीचिका और मेघ के समान संसार को निःस्वभाव समझना चाहिए।

अलातचक्रनिर्माणस्वप्नमायाम्बुचन्द्रकैः।
धूमिकान्तःप्रतिश्रुत्कामरीच्यभ्रैः समो भवः ॥ ३२५ ॥

अन्यग्राह प्रतिषेध—प्रतीत्यसमुत्पन्न और परस्पराश्रित भाव निःस्वभाव है। यदि किसी पदार्थ के उत्पन्न होने पर कहीं किसी प्रकार की पराधीनता नहीं होती तो इस अपराधीन—स्वतन्त्र पदार्थ के स्वयं ही व्यवस्थित होने के कारण अस्तित्वकी कल्पना स्वभावतः युक्तिसंगत है। परन्तु ऐसा संभव नहीं कि जिसका हेतु-प्रत्ययोंसे जन्म हो और उसको पराधीनता न हो। यदि ऐसा नहीं मानते तो फिर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कोई पदार्थ अहेतुक भी उत्पन्न होता है। और इस प्रकार निर्हेतुक के प्रसंग से किसी पदार्थ का कोई स्वरूप नहीं। अतएव यह भी मानना होगा कि किसी का कोई स्वभाव नहीं ॥ ३२६ ॥

घट भी स्वभावतः सिद्ध नहीं होता। यदि घट नामका कोई पदार्थ होता तो वह नेत्र द्वारा ग्राह्य होने से रूप से अभिन्न माना जाता परन्तु रूप और घट दोनों में एकता नहीं। रूप और घट दोनों में एकता होगी तो जहाँ रूप होता वहीं घट होता। इस तरह सर्वत्र रूप में घट हो जाता। पाकज गुणकी उत्पत्ति होने पर रूपका विनाश होनेपर घटका विनाश हो जाता। परन्तु ऐसा होता नहीं। इसलिए रूप ही घट है ऐसी एकता नहीं कही जा सकती।

इस दोष को दूर करने के लिए यदि यह माना जाय कि घट रूप से पृथक् होकर रूपवान् है। जैसे अर्थान्तरभूत गायों से देवदत्त गायों वाला माना जाता है तो यह भी अयुक्त है क्योंकि रूपवान् घट रूप से पृथक् नहीं है। यदि घट रूप से पृथक् होता तो वह रूप के बिना ग्रहण किया जाता। गायों से पृथक् होकर देवदत्त ग्रहण नहीं किया जाता। इसी प्रकार घट भी रूप बिना ग्रहण नहीं किया जाता। इसलिए रूप के बिना घट नहीं है। जब रूप के बिना घट नहीं है तो अविद्यमान होने पर रूप सहित कैसे ग्रहण किया जाता है? अविद्यमान बन्ध्यापुत्र गोमान नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार घट रूपवान् है ऐसा भी कहना युक्त नहीं, अन्यत्व के असम्भव होने से ही रूप और घट दोनों की आधार आधेयकी कल्पना की भी सिद्धि नहीं होती। इसलिए कहा है—घट में रूप नहीं और रूप में घट नहीं।

रूप और घट में अन्यत्व होने पर घट में रूप है, ऐसा कथन कुण्ड में दधि के समान होगा। रूपमें भी घट है ऐसा कथन कट में देवदत्त के समान होगा। परन्तु यह संभव नहीं। अतएव घट स्वभावतः नहीं है। जिसका स्वभाव नहीं होता वह अलातचक्र के समान स्वभावसे शून्य होता है। जिस प्रकार घट स्वभावतः नहीं है उसी प्रकार समस्त पदार्थ भी स्वभावतः शून्य हैं ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

रूपमेव घटो नैक्यं घटो नान्योऽस्ति रूपवान्।
न विद्यते घटे रूपं न रूपे विद्यते घटः ॥ ३२७ ॥

भाव घट में सत्ता के योग से द्रव्य सत् कहना भी ठीक नहीं क्योंकि घटादि द्रव्यों में अनुप्रवृत्तिलक्षण होने से भाव समामान्य है और व्यावृत्तिलक्षण होने से घट विशेष है। यदि उन दोनों की विलक्षणता से भाव और घट में देखकर भाव से घट पृथक् माना जाता है तो इसी प्रकार विलक्षणता से भाव भी घट से पृथक् क्यों नहीं हो जायगा। और फिर अन्यबुद्धिध्वनि प्रवृत्तिनिमित्तक अन्यत्व और अनुप्रवृत्ति लक्षण की कल्पना नहीं होनी चाहिए, क्योंकि विलक्षणता से ही अन्य बुद्धिध्वनि प्रवृत्ति की सिद्धि हो जाती है।

यदि दूसरे अन्यत्वकी कल्पना की जाय तो फिर भाव और घटमें विलक्षणता को अपेक्षा से अन्यत्व नहीं होगा। इसीलिए कहा है—दोनों में विलक्षणता देखकर भाव से घट पृथक् माना जाना चाहिए। परन्तु यह ठीक नहीं। जिस प्रकार भाव अनुप्रवृत्तिलक्षणक होनेसे घट से पृथक् है उसी प्रकार से अन्यत्व भी अनुप्रवृत्तिलक्षणक होने से घट से पृथक है। उस अन्यत्व की अन्यबुद्धिध्वनि की प्रवृत्ति का कारण दूसरा है नहीं। यदि होता तो अन्यत्वों में अपर्यवसान दोष हो जाता। तभी अन्यत्व के बिना अन्यबुद्धि अन्यत्व में होती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी सम्भावना कर ली जानी चाहिए। अतएव अन्यत्व की अकिञ्चित्कर कल्पना व्यर्थ है। अन्यत्व के न होने पर कहीं से किसी का भी अन्यत्व नहीं होता। और भी ऐसा विचार किया जाता है कि किस प्रकार की सत्ता का अन्यत्व के साथ योग हो। वह योग अन्यभूता का है अथवा अनन्यभूता का। यदि अन्यभूता का है तो अन्यत्व के साथ योग (सम्बन्ध) व्यर्थ हुआ। और यदि अनन्यभूता का है तो विरुद्ध अन्यत्व के योगसे योग प्राप्त नहीं होता। अन्यत्वके अभाव से घट से भाव पृथक् है यह युक्तियुक्त नहीं। फिर लोक में विपर्यास को प्रमाणित कर घटत्व रूप ही सद्बुद्धिध्वनि प्रवृत्तिनिमित्तक होने से भाव है ऐसी पदार्थ के भेद से यदि एक घट नहीं होता तो घट भी एक नहीं होता। जैसे एकत्व रूप एक संख्या घट नहीं है वैसे ही द्रव्यत्व रूप से अनेक संख्या के पृथक्भूत होने से घट भी एक नहीं होता, क्योंकि वह द्वित्वमय रहता है। और इस घट के एक रूप की एक संख्या परिकल्पित होती है अथवा अनेक रूप की? यदि एक रूप की एक सख्या परिकल्पित होती है तो एकत्व कल्पना व्यर्थ ही है। और यदि अनेक रूप की एक संख्या परिकल्पित होती है तो भी विरुद्ध होने से अयुक्त ही है। अतएव लोक में घट स्वरूप की ही अविद्यमानता रहते हुए निहितार्थान्तिर की एकत्व कल्पना जाननी चाहिए। फिर गुण द्रव्याश्रयी हैं ऐसा मानकर एकत्व के योग से घट ही एक होता है न कि एकत्व घट होता है।

पदार्थ को जो लम्बाई और विस्तार होगा, रूप भी उसी लम्बाई और विस्तार वाला होगा। ऐसा प्रतिवादी यदि स्वीकार करते हैं तो पदार्थ के छोटे बड़े आकार के अनुसार रूप भी छोटा बड़ा होना चाहिए। तब फिर द्रव्य के समान रूप को भी छोटा बड़ा स्वीकार करने में क्या बाधा है? रूप और गुण दोनों एक हैं। रूप का अणुत्व और महत्व दोनों गुण में ही है। और गुण में गुण का सन्निवेश हो नहीं सकता ऐसा हमारा सिद्धान्त है। यद्यपि द्रव्य और रूप का परिमाण एक होगा फिर भी सिद्धान्तविरोध के भय से रूप का अणुत्व

महत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। सिद्धि नहीं होती। व्यावृत्ति मात्रसे वस्तुस्वरूप का निर्धारण करना संभव नहीं है। गुण मात्र रहने से घट नहीं कहा जाता। घट तो तभी है जब उसमें गुण के साथ छोटे बड़े रूपादिक भी हों। सत्ता भी द्रव्य गुण कर्म में सामान्य होने से घट नहीं होता। संख्या अणु, महत् रूपादिकों से यह पृथक् है और यह इसका स्वभाव है ऐसी व्यवस्था करना संभव नहीं। इस प्रकार जहाँ प्रतिपक्ष में लक्षण से भी लक्ष्य रूप घट स्वरूप की सिद्धि नहीं होती वहाँ पक्षान्तर में संख्यादि से पृथक् सिद्ध स्वरूपसे घट भाव का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। अतएव घट की स्वभावशून्यता सिद्ध हो जाती है। शरीरेन्द्रिय की ग्राह्यता स्पर्श है। जिसे स्पर्श होगा वह स्पर्शवान् है। स्प्रष्टव्य ही कायेन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है। इसलिए स्पर्शवान् है। उस स्पर्शवान् से अस्पर्शवान् (स्पर्शहीन) रूप, रस, गन्धों का संयोग सम्भव नहीं। यह वैसे ही संभव नहीं जैसे घट का सम्बन्ध आकाश से नहीं हो सकता। जब रूपादिकों का सम्बन्ध नहीं हो सकता तो परस्पर स्पर्श करने वाले रूपादिकों से विशेष समुदाय रूप जो घट कहा है वह युक्तिसंगत नहीं (३३३)।

रूपादिक समुदाय रूप घट का प्रत्येक रूपादिक अवयवभूत होने के कारण घट संज्ञक नहीं होते। घट अवयवी है और रूपादिक अवयव हैं। अवयव होने के कारण रूप को घट नहीं कहा जा सकता। और जैसा रूप है वैसे ही गन्धादिक है।

रूप चूंकि अवयव है इसलिये उसका आधारभूत कोई अवयवी भी होगा क्योंकि अवयवी के बिना अवयव नहीं हो सकता। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि घटत्व के अभाव में रूपादिको का कहाँ से कौन अवयवी होगा। रूपादि के बिना अवयवी जाना ही नहीं जा सकता। जिसका स्वरूप अज्ञेय है उसे असत् होने के कारण अवयवी नहीं कह सकते। जब अवयवी नहीं तब अवयवत्व होने पर भी रूप के होने की सम्भावना नहीं। इस प्रकार अवयव और अवयवी दोनों नहीं हैं।

रूपादिकों का समुदाय रूप घट नहीं है। क्योंकि समस्त रूप रूपस्कन्ध का समूह मात्र है। अतएव रूप, गन्धादिक भी रूप कहे जाते है। वे रूप घट के समान पटादिकों में भी हैं। घटादिका भेद होने पर भी वे स्वलक्षण में व्यभिचरित नहीं होते। क्योंकि सभी जगह समान लक्षण हैं। तब एक रूप का जैसे घटत्व रूप में अवस्थान है वैसे ही पटादि सम्बन्धित अन्य रूपका भी घटत्व के साथ सम्बन्ध क्यों नहीं होगा ? घट में अवस्थित रूपादि के समान लक्षण के अभेद से उस रूप का भी घटत्व के रूप में अवस्थान युक्तिसंगत ही है।

यदि कपालों के कारण घट की सिद्धि होती है तो इन कपालों की सिद्धि किस कारण से होगी। वे स्वभावतः सिद्ध तो कहे नहीं जा सकते अन्यथा निर्हेतुकत्व का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। यदि उनकी सिद्धि में अन्य कोई कारण मानते हैं तो कपालों की स्वरूपतः सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि उनका भी अन्य शर्करिका (धूलि आदि) आदि के कारण अस्तित्व दिखाई देता है। इस प्रकार जिन कपालों की सिद्धि स्वतः नहीं है वे और दूसरे की सिद्धि में कैसे सहायक हो सकते हैं। अतएव घट अस्तित्व विहीन है। यह जो घट प्रतिषेधक विधि है यही सभी कार्यों की असिद्धि (अस्तित्व विहीनता) को सिद्ध करने में उपयोगी है।

घटः कारणतः सिद्धः सिद्धं कारणमन्यतः।
सिद्धिर्यस्य स्वतो नास्ति तदन्यज्जनयेत्कथम् ॥ ३३८ ॥

समुदित रूपादिक समुदाय रूपमें अवस्थित होने पर भी अपने-अपने स्वरुपका परित्याग नहीं करते। तब जिस प्रकार रूप की समुदायावस्था में स्वरूप का परित्याग न होने से गन्ध की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार अनेकाश्रित समूह का एकत्व भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि वह समुदाय रूपादिकों से पृथक् नहीं है और वे रूपादिक परस्पर में ही विभक्त होते रहते हैं। रूपादिकोंसे अव्यतिरिक्त समुदाय घट के समान एक कैसे हो सकता है। जैसे लक्षणों से अपृथक् होने के कारण घट की एकता नहीं होती ऐसा कहाँ है। वैसे ही लक्षणों से अपृथक् रहने के कारण समूह की एकता सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार घट के समान रूप के समूह की एकता सिद्ध नहीं (३३९)।

जैसे महाभूतों में एकत्व नहीं होता क्योंकि उनके अतिरिक्त दूसरों का भी सद्‌भाव रहता है। इसी प्रकार भूतों से उत्पन्न होने वाले का भी अस्तित्व नहीं क्योंकि भूतों के बिना अहेतुकत्व का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। चित्त के बिना चित्त से उत्पन्न होने वाले धर्म उत्पन्न नहीं होते और न चित्त से उत्पन्न होने वाले धर्मों के बिना चित्त होता है। वैसे ही जात्यादि लक्षणों के बिना रूपादिक लक्ष्य नहीं होता। और न लक्ष्य के बिना निराश्रय लक्षण होता है। इस प्रकार जब किसी भी एक पदार्थ की ही सिद्धि नहीं होती तब समुदित पदार्थों की सिद्धि कहाँ संभव है? (३४४)

एकत्व, अन्यत्व, उभय, नोभय इन एकत्वादि पक्षों में सत्, असत् आदि उपलक्षित दूषण नियोजनीय है। सत्कार्यवादी का पक्ष है कि कार्य और कारण दोनों में एकत्व है। उसके दर्शन में अपने कारण से अवस्थित सत्कार्य विपरि-

णामी हो जाता है। क्योंकि असत्कार्य का किया जाना सम्भव नहीं। यदि कार्य असत् रूप से उत्पन्न होता तो सभी पदार्थों से सभी पदार्थ उत्पन्न हो जाते। परन्तु ऐसा होता नहीं। दूध आदि से निश्चित (प्रतिनियत) दधि आदि की ही उपलब्धि होती है। वादी के पक्ष में कार्यकारण में एकत्व मानने से सत् ही कार्य उत्पन्न होता है। यह एकत्वपक्ष है। उस एकत्वपक्ष में सत्कार्यवाद से नित्य दूषण आते हैं। जैसे कहा है—स्तम्भादीनामलङ्कारो गृहस्यार्थे निरर्थकः। जिसे सत्कार्यवाद ही स्वीकार है उसके घर के निमित्त स्तम्भादिकों का अलंकार निरर्थक हो जाता है।

जिसके पूर्व उत्पत्ति की जाती है उसका अस्तित्व है ऐसा कहना युक्ति संगत नहीं। सत् का यदि जन्म होता तो उत्पन्न हुए का भी जन्म होता। धर्म (पदार्थ) यदि अवृतक है भी तो भी जप, तप और नियम व्यर्थ हो जाते हैं। अतएव कोई भी कार्य सत्कार्य से उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार विद्वानों को सत्कार्यवाद में कथित दूषण एकत्वपक्ष में प्रयुक्त करना चाहिए।

असत्कार्यवादी अन्यत्ववादी हैं जिनके मतानुसार कार्य और कारण में अन्यत्व है। वे मानते हैं कि सत् से उत्पत्ति निरर्थक होती है और असत् ही कार्य उत्पन्न होता है। उनके अन्यत्व पक्ष में भी पूर्वोक्त असत्कार्यवाद में उपलक्षित दूषण आ जाते हैं।

जो कार्य—करण में एकत्व और अन्यत्व दोनों की कल्पना करते है वे सदसत्कार्यवादी हैं। वे देवदत्तका आत्मत्व व्यवस्थित है और अव्यवस्थित है ऐसा मानते हैं। तथा मञ्जरो, केयूर आदियों का सुवर्णात्मत्व व्यवस्थित है और अव्यवस्थित है ऐसा प्रतिपादन करते हैं। उनके सदसत्कार्यवाद के खण्डन में एकत्व और अन्यत्व पक्ष में कथित दूषण उपस्थित किये जा सकते हैं।

जिनके दर्शन में घटादिकों के आभावसे अपने कारणोंके निमित्त अन्यत्व और एकत्वादि सद्हेतुक हैं उनका सद्वाद, असद्वाद के निराकरण द्वारा सत् भी नहीं होता व असत् भी नहीं होता। दोनों के न होने पर नोभय (सदसद्वादर) नहीं होता। क्योंकि जब सद्वाद और असद्वाद दोनों की संभावना नहीं तब किसके निषेध से सदसद्वाद होगा! इस प्रकार क्रमश. सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद और सदसत्कार्यवाद तथा नोभय (न सत्कार्यवाद न असत्कार्यवाद) यह क्रम है। इसे विद्वद्गण एत्वादियों में नित्य प्रयोग करें।

सदसत् सदसच्चेति नोभयं चेति वाक्रमः।
एष प्रयोज्यो विद्वद्भिरेकत्वादिषु नित्यशः॥ ३४६॥

उनमें सत् का तात्पर्य आत्मा है और असत् का तात्पर्य अनात्मा है। सत् और सत् के अभाव से असत् है। इस प्रकार आत्मा भी है और आत्मा के अभाव से अनात्मा भी है। न सत् है और न असत् है। इसका तात्पर्य है—न आत्मा है न अनात्मा है। और नोभय। अथवा एकत्व, अनेकत्व, उभय और अनुभय।

उनमें पट और शुक्ल में एकत्व है ऐसा जिनका मत है वह सत् है। यह क्रम विषय से और काल के लक्षण में प्रयोज्य है। विषय से इस प्रकार है—यदि पट और शुक्ल में एकत्व है तो जहाँ जहाँ शुक्ल है वहाँ वहाँ पट होना चाहिए और जहाँ जहाँ पट है वहाँ वहाँ शुक्ल होना चाहिए। परन्तु जहाँ जहाँ शुक्ल है वहाँ वहाँ पट नहीं है और जहाँ जहाँ पट नहीं है वहाँ वहाँ शुक्ल है। तब इस स्थिति में पट और शुक्ल में अपेक्षित एकत्व नहीं मिल सकता। क्योंकि विषय का भेद है।

काल से क्रम इस प्रकार है। काल तीन प्रकार का है—अतीत, अनागत और वर्तमान। अतीत अवस्था में ही पहले उत्पन्न हुआ शुक्ल देखा गया। यदि पट और शुक्ल दोनों में एकत्व है तो यदि शुक्ल पूर्वजात है तब पट भी पूर्वजात होना चाहिए। यदि पट पश्चात् जात है तो शुक्ल भी पश्चाज्जात (पीछे उत्पन्न हुआ) होना चाहिये। यदि पूर्वजात शुक्ल में वर्तमान पट बाद मे उत्पन्न होता है तो जो पूर्व जात है और जो पश्चाज्जात है उन दोनों म एकत्व नही होगा क्योंकि उनमें उत्पत्ति क्रम का भेद है। यदि पट और शुक्ल में एकत्व है तो शुक्ल शुक्ल में पट विलीन हो जाता और पट में भी शुक्ल विलीन हो जाता। जब शुक्ल शुक्ल मे विलीन होता है पट नहीं और पट में भी पट ही विलीन होता है, शुक्ल नहीं। तब पट और शुक्ल मे एकत्व नहीं हो सकता। विलय और विलयाभाव में भेद होता है।

यदि शुक्ल के योग से पट शुक्ल है ऐसा कहा जाय तो इसके उत्तर में आचार्य का यह कहना है कि यदि शुक्ल के योग से पट शुक्ल होता है तो यह पट शुक्ल के योग से शुक्ल लक्षण प्राप्त करता है अथवा नहीं। यदि शुक्ल लक्षण प्राप्त करता है तो पट शुक्ल ही होता और पट का पटत्व नष्ट हो जाता। यदि शुक्ल-स्वरूप प्राप्त नहीं होता तो योग होने पर भी पट शुक्ल नहीं होता। अतएव शुक्ल योग से पट शुक्ल है ऐसी मान्यता निर्दोष नहीं। पट जैसे शुक्ल नहीं होता वैसे ही पट के जो नील, पीत, रक्त, रक्त पीत, कपिल, कपोत, कृष्ण आदि वर्ण और दीर्घ, ह्रस्व, कोमल, कठिन इत्यादि विशेष हैं उनसे भी पट अन्य ही

है। इस प्रकार सभी का अभाव हो जायगा। और सभी का अभाव हो जाने पर पट का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। जैसे पट नहीं होगा वैसे ही समस्त पदार्थ भी नहीं होंगे। क्योंकि गुण विशेष उनसे भिन्न ही हैं।

जिसका पक्ष नोभय है उनका भी प्रतिषेध संक्षेपत: कहा जाता है। यदि पट और शुक्ल में न एकत्व है और न अन्यत्व है, इस प्रकार उभय लक्षणों का अभाव है तो शुक्ल भी शुक्ल ही नहीं होगा और अशुक्ल भी नहीं होगा। पट भी पट ही नहीं होगा, अपट (पटाभाव) भी नहीं होगा। अतएव शुक्ल में जब दोनों लक्षण अप्राप्त हैं तब शुक्ल ही उसका नाम क्यों है, कृष्ण क्यों नहीं? बात यह है कि चूंकि उसका नाम शुक्ल है, कृष्ण नहीं, इसलिए शुक्ल ही है। उभय लक्षणाभाव वाले उस पटका 'पट' यह नाम क्यों है पट क्यों नहीं? चूंकि उस पट का 'पट' यह नाम है, घट नहीं, इसलिए पट ही है। इस प्रकार शुक्ल ही और पट ही सिद्ध होता है। अवश्य उनमें एकत्व और अन्यत्व होना चाहिए। एकत्व होने पर फिर से भी एकत्व प्रतिषेध का क्रम ही कथनीय है। परन्तु अन्यत्व होने पर अन्यत्व प्रतिषेध का क्रम कथनीय है। इस प्रकार सभी पदार्थों का प्रतिषेध आर्यदेव ने प्रतीत्य समुत्पाद का तात्पर्य निःस्वभाव माना है और उसे स्वप्न सदृश शून्यतात्मक तथा अनात्मक कहा है।

> प्रतीत्य सम्भवो यस्य स स्वतन्त्रो न जायते।
> न स्वतन्त्रमिदं सर्वं स्वयं तेन न विद्यते॥ ३४८॥

सभी संस्कृत पदार्थ प्रतीत्य समुत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जिस पदार्थ का समुत्पाद कारण पूर्वक होता है वह स्वतन्त्र नहीं क्योंकि उसकी उत्पत्ति हेतु और प्रत्ययों से होती है। इसलिए जिस पदार्थ का प्रभिनति होता है वह स्वभावत: विद्यमान नहीं। अतएव प्रतीत्य समुत्पन्न पदार्थ का स्वरूप स्वतन्त्र न होने से पदार्थ शून्यतात्मक हो जाता है। परन्तु इसका तात्पर्य सभी पदार्थों का अभाव नहीं है। इसलिए प्रतीत्य समुत्पन्न वस्तु माया के समान है। निःस्वभाव होने से भाव दर्शन विपरीत हो जाता है। इसलिए भाव स्वभाव स्ववादियों के मत में प्रतीत्यसमुत्पादाभाव और शाश्वतोच्छेद दृष्टि ये दो दोष उपस्थित हो जाते हैं (३४९–५०)।

यदि संस्कृत का लक्षण अतिरिक्त होता तो विद्यमान संस्कृत पदार्थ का भी अस्तित्व न होता क्योंकि यह उत्पाद यदि संस्कृत पदार्थ को उत्पन्न करता है तो वह विद्यमान संस्कृत पदार्थ को उत्पन्न करता है या अविद्यमान संस्कृत

पदार्थ की ? जिसका पक्ष असत्कार्य वाद है उसका बीजा वस्था में अंकुर के न होने से हेतु-प्रत्यय सामग्री द्वारा बीज क्षण में ही अँकुर उत्पन्न हो जाता। इसलिए उस वादी का "असदन्ते जायते चेद्" यह पक्ष है। परन्तु असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। अन्यथा खर-विषाण आदि की भी उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इसलिए "नैना राज्जायते कुतः" कहा है।

असत्व कारण है। असत्व से असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। इस दोष के भय से सत्कार्यवाद के अनुसार सत् ही उत्पन्न माना जाता है। ऐसा स्वीकार करने पर प्रश्न उठता है। यदि सत् ही उत्पन्न होता तो वह कहाँ से उत्पन्न होता ?

यदि उत्पत्ति के अत्यन्त पूर्व बीजावस्था में ही अङ्कुर की उत्पत्ति की कल्पना की जाती तो उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि सत् का सद्भाव है ही। सत् की उत्पत्ति की परिकल्पना करने पर उत्पत्ति की अनवस्था का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। अतएव सत् की उत्पत्ति नहीं होती (३५१)।

चूंकि उत्पन्न हुए अंकुर से बीज रूप हेतु नष्ट हो जाता है। इसलिए असत् रूप से विद्यमान अंकुर बीज से उत्पन्न होता है ऐसी भी मान्यता युक्ति संगत नहीं। जैसे यव, गोधूम आदियों में अविद्यमान धान्याङ्कुर विकार से उत्पन्न नहीं होते उसी प्रकार अविद्यमान विकार से भी धान्यांकुर उत्पन्न नहीं होते। जैसे तैल रूप में परिणामन होने पर तिल नष्ट हो जाता है वैसे ही अंकुर के उत्पन्न होने पर उसका बीज नष्ट हो जाता है। अतएव असत् पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। तथा सिद्ध (उत्पन्न) अंकुर पुनः सिद्ध (उत्पन्न) नहीं होता। इस प्रकार सत् का भी उत्पाद नहीं होता (३५२)।

जब यह अंकुर आत्म भाव को प्राप्त हो जाता है तब इसका रूप सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार इसको जाति (जन्म) नहीं होती। जब इसका रूप सिद्ध नहीं होता तब भी इसका जन्म युक्ति सगत नहीं। असिद्ध रूप के असद्भाव आश्रित जन्म की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए जन्म और किसी प्रकार भी संभव नहीं होता। कुछ सिद्ध होता है परन्तु कुछ सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार दोनों पक्षों में उक्त दोष उपस्थित होने से अपनी और दूसरे की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार जब तीनों कालों में भी जन्म सम्भव नहीं दिखाई देता तो प्रकारान्तर यह कथ्य है कि जन्म कभी भी नहीं होता। जहाँ इसका उत्पाद होता है वह काल नहीं है।

जातिस्तदा न भवति न जातिरन्यदापि च।
तदान्यदा न चेज्जातिः कदा जाति र्भविष्यति ॥ ३५३ ॥

जिस प्रकार दुग्ध स्वभाव से अवस्थित दुग्ध की उत्पत्ति नहीं होती। उसी प्रकार दुग्ध से अन्य दधि पदार्थ की भी उत्पत्ति नहीं होती। दधि भूत दुग्ध में दुग्ध दधि है ऐसा नहीं माना जा सकता। जब दधि होगा तो उस समय वह दुग्ध नहीं होगा। और जब वह दुग्ध होगा तब वह दधि नहीं होगा। इस प्रकार दुग्ध दधि हो जाता है ऐसी मान्यता युक्ति संगत नहीं ॥ ३५४ ॥

उत्पत्ति के पूर्व संस्कृत पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। यदि यह माना जाय कि उत्पत्ति काल में उसने जन्म ग्रहण किया, स्थिति काल में ठहरा और भंगकाल में उसका भङ्ग हो गया तो भी युक्ति संगत नहीं। क्योंकि यहाँ उत्पत्तिकाल में स्थिति और भंग दोनों का अभाव होने से स्थिति और भग से रहित संस्कृत का अभाव हो जाता है और इसलिए उत्पत्ति नहीं होती। तथा स्थिति काल में और भंग काल में दोनों का अभाव रहने से एक एक की प्रवृत्ति नहीं होती। उस प्रवृत्ति के न होने से संस्कृत नहीं होता ॥ ३५५ ॥

घटका स्वतः सिद्ध स्वरूप कपाल की अपेक्षा से नहीं है। कपाल का भी स्वतः सिद्ध स्वरूप शर्करा (धूलि, रेत) की अपेक्षा से नहीं है। अतएव इस प्रकार अन्य पदार्थ के अभाव होने पर कपाल में घटका स्वभाव (घटत्व) नहीं है। उसी प्रकार कपाल स्वभाव के होने पर उन कपालों का घटकी अपेक्षा से अन्यत्व भी नहीं होता। इस प्रकार चूंकि स्वभाव के बिना किसी का भी अन्यत्व नहीं होता, इसलिए दोनों से उत्पत्ति नहीं होती। और स्वरूप के असिद्ध होनेपर दूसरे से भी उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार उत्पत्ति नहीं होती ॥३५६॥

और भी। यह उत्पाद उत्पत्ति के पूर्व होता है या पश्चात् होता है अथवा युगपत (एक साथ) होता है। यदि पूर्व होता है तो आश्रय का अभाव होने से मान्य नहीं है। यदि पश्चात् होता है तो अनुत्पन्न का असत्व होने से और उत्पत्ति की व्यर्थता होने से वह स्वीकार्य नहीं। यदि युगपत् पक्ष को स्वीकार किया जाय तो वह भी संभव नहीं क्योंकि दोनों के उपकार की अपेक्षा नहीं रहेगी। अतएव चूंकि उत्पत्ति और उत्पाद का क्रम निर्धारण करना संभव नहीं है इसलिए घटकी और जातिकी उत्पत्ति एक साथ नहीं हो सकती। अब सद्भाव ही नहीं है तो घट उत्पन्न हुआ यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं ॥३५७॥

घट का जीर्ण स्वरूप उपलब्ध होने से घट का उत्पाद होता है यह कहना भी उपयुक्त नहीं। जीर्ण की जो जीर्णता है वह यदि लोक में वस्तुके पूर्व उत्पन्न

हुई मानी जाय तो घटके पूर्व उत्पन्न हुई अवस्था का जीर्णत्व युक्ति युक्त नहीं। क्योंकि उस समय उसकी संज्ञा नूतन होगी अर्थात् घड़ा उस समय नया होगा। पश्चात् उत्पन्न हुई अविकल अवस्था में बाद में उत्पन्न होने के कारण, नूतनता रहती है। फिर जीर्णता कहाँ होगी? यदि पूर्व में उत्पन्न हुई वह जीर्णता इस समय रहती हैं ऐसा कहा जाय तो प्रश्न उठता है कि वह जीर्णता वही है अथवा अन्य है। यदि वह वही है। तो नवीन अवस्था का विनाश न होने से वह जीर्ण नहीं है। यदि वह जीर्णता अन्य है तो वह भी उसी के समान उत्पन्न हुई है। इस प्रकार वह नूतन ही है, जीर्ण नहीं। अतएव ऐसा होने पर जीर्णता के अभाव से उत्पाद नहीं देखा जा सकता ॥ ३५८ ॥

उत्पाद त्रिकाल में भी युक्ति संगत नहीं माना जा सकता। हेतु और फल का युगपत् सम्बन्ध न होने पर भी हेतुफल की अनुपपत्ति होती है। निरात्मक होने के कारण अनागत का सद्भाव नहीं। अतीत से भी इसकी उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि अतीतका भी सद्भाव नहीं रहता। इस प्रकार जब तीनों कालों में उत्पाद नहीं होता तो स्वरूपतः उत्पाद नहीं है यह सिद्ध हुआ ॥ ३५६ ॥

अतएव निश्चय ही पदार्थ निःस्वभाव होना चाहिए। पदार्थ तो संक्लेशका कारण भूत कुलक रूप प्रतीत्य समुत्पन्न है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार माया द्वारा निर्मित हाथी, अश्व आदि हैं। अज्ञानी उसकी कल्पना स्वभावमय करते हैं। परन्तु आर्य (विद्वान) पदार्थ को माया मरीचि के समान निःस्वभाव ही जानते है। पारस्परिक विरोध होने से उत्पाद, स्थिति और भंग की उत्पत्ति न युगपत् होती है और न क्रमशः।

संस्कृत रूप से उत्पाद आदि के स्वीकार किये जाने पर उत्पाद, स्थिति और भङ्ग में सभी वस्तुओं की पुनः उत्पत्ति होती है। और पुनः उत्पत्ति होने पर उत्पत्ति के बाद उत्पत्ति होगी। जैसे उत्पत्ति के बाद उत्पत्ति होना न्यायोचित है वैसे ही भङ्ग (विनाश) होना भी न्यायोचित है। इसलिए भङ्ग का भी संस्कृतत्व होने के कारण उत्पाद, भङ्ग और स्थिति से सम्बन्ध है। अतएव भङ्ग का भी अन्य भङ्ग का सद्भाव होने से विनाश होगा। उस भङ्ग का भी विनाश होगा। उसके बाद होने वाले भङ्ग का भी विनाश होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जावेगा। और अनावस्था होने पर सभी पदार्थों की असिद्धि हो जायगी। इसलिए स्वभावतः संस्कृत लक्षणों की सिद्धि नहीं हो सकती।

उत्पादस्थिति भङ्गानां युगपन्नास्ति सम्भवः।
क्रमशः सम्भवो नास्ति सम्भवो विद्यते कदा ॥ ३६१ ॥

उत्पादादिषु सर्वेषु सर्वेषां सम्भवः पुनः।
तस्मादुत्पादवभङ्गो भङ्ग वद् दृश्यते स्थितिः॥ ३६१॥

जैसे शीत, उष्ण, सुख दुःख आदि में एक एक का अभाव होने से ही दूसरे की स्थिति का आभास होता है उसी प्रकार लक्ष्य भी यदि लक्षण से भिन्न होगा तो उसमें अनित्यता कैसे रहेगी ? और संस्कृत के बिना अनित्यता होती नहीं। इसलिए लक्षण से लक्ष्य भिन्न नहीं स्वीकारा जा सकता। इस दोष से मुक्त होने की इच्छा से यदि लक्ष्य लक्षण में अनन्यत्व की कल्पना की जाय तो वह दूसरा दोष होगा। इसलिए चारों (लक्ष्य, लक्षण, भाव और अभाव) का सद्भाव स्पष्टतः नहीं है। यदि लक्षणत्रय (उत्पाद, स्थिति और भङ्ग) और लक्ष्य इन दोनों को एक ही स्वीकार किया जाय तो लक्षणत्रय और लक्ष्य ये चारों पदार्थ भी नहीं होंगे। क्योंकि यहां दोनों का एक मान लेने पर लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती। और लक्ष्य को भी लक्षण नहीं माना जा सकता। इस प्रकार चारों का भी सद्भाव नहीं होता। तब स्वरूप की असिद्धि होने से तत्व और अन्यत्व स्वीकार नहीं किये जाने चाहिए।

भाव का तात्पर्य सिद्धरूप अङ्कुर है। वह भाव अर्थात् अविकृत बीज से उत्पन्न होता है यह कथन युक्ति संगत नही। क्योंकि अविक्रियमाण बीज की उत्पत्ति सम्भव नहीं और न सिद्धाङ्कुर रूप भाव का रूप भी पुनः उत्पन्न होता है। अभाव से भी भाव की उत्पत्ति नहीं होती। अभाव से अग्नि से जले हुए बीज में फल उत्पन्न करने की शक्ति का अभाव होता है। इसलिए उत्पन्न होने वाले पदार्थ की पुनः उत्पत्ति नहीं होती। "अभावान्न जायते का यही तात्पर्य है। अभाव से भी अभाव की उत्पत्ति उसी प्रकार नहीं होती जिस प्रकार बन्ध्या को पुत्रोत्पत्ति नहीं होती। भाव से भी अभाव की उत्पत्ति नहीं होती। उसमें भी उक्त दोष का प्रसंग आ जाता है। जब भाव से भाव और अभाव से अभाव उत्पन्न नहीं होता तब उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए हेतु प्रत्यय द्वारा किस पदार्थ का सद्भाव है ?

वस्तुतः भाव, अभाव और भङ्ग, तीनों को उत्पत्ति कल्पित है। भाव का तात्पर्य सद्भाव है। सद्भाववान् पदार्थ की पुनरुत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि सत् पदार्थ की उत्पत्ति निरर्थक है। इसलिए "भावो नैव भवेद् भावः" कहा है। असत् पदार्थ की भी उत्पत्ति नहीं होती। अन्यथा बन्ध्या के भी पुत्रोत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इस प्रकार सत् पदार्थ न सत् है और न असत् इसलिए उत्पाद सम्भव नहीं। इसका भङ्ग भी नहीं होता। क्योंकि असत्

खर विषाण के समान अभाव का अभाव नहीं होता। भाव पदार्थ का भी अभाव नहीं होता अन्यथा परस्पर विरोध उपस्थित होगा। अविद्यमान् पदार्थ के अभाव में भङ्ग नहीं हो सकता। और उत्पाद तथा भङ्ग के अभाव में संस्कृत नहीं यह सिद्ध हो जाता है। भगवान् बुद्ध ने जैसे कहा है कि संस्कृत, असंस्कृत सब कुछ छोड़कर उन स्त्रियों को कोई विकल्प नहीं। दृष्टि प्राप्त व्यक्तियों द्वारा सभी स्थितियों में असंस्कृत प्राप्त वस्तु सदैव छोड़ दी जाती है।

> संस्कृत ऽसंस्कृत सर्व विविक्ता नास्ति विकल्पन तेषमृषीणाम्।
> सर्व गतीषु असंस्कृत प्राप्त दृष्टि गते ह सदैव विविक्ता॥

जायमान पदार्थ की उत्पत्ति होती है "यह कथन भी युक्ति सगत नहीं। यदि कोई पदार्थ कुछ उत्पन्न हो और कुछ अनुत्पन्न हो तो ऐसी स्थित में उसे जायमान् नहीं कहा जा सकता। जात और अजात इन दो स्थितियों के अतिरिक्त कोई तीसरी स्थिति सम्भव नहीं इसलिए असत् होने के कारण जायमान पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। यदि दोनों रूपों को जायमान् स्वीकार किया जाय तो "किञ्चिज्जात' वाला रूप जातान्तर्गत होने के कारण उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि सत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती यह पहले कह दिया गया है। उसके द्वितीय रूप "अकिञ्चिदजात" की भी उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती॥ ३६४॥

फिर भी यदि जात और अजात (उत्पन्न और अनुत्पन्न) इन दोनों में में जायमानत्व की कल्पना की जाय तो अतीत और अनागत में भी जायमानत्व मानना पड़ेगा। इसीलिए "अथ वा जायमानत्व मर्वस्यैव प्रसज्यते" कहा है। जन्म रूप व्यापार जिसने प्राप्त कर लिया वह 'जात' कहलाता है। उसका असद्भाव अतीत में ही होता है। अजात वस्तु अनागत होती हैं। इसीलिए यहां जायमान की जानि (उत्पत्ति) की कल्पना की गई। अथवा त्रिकाल में सभी को जायमान' के अन्तर्गत रखा जा सकता है। अथवा दूसरे शब्दों में कहा जाय कि कोई भी वस्तु 'जायमान' नहीं होती॥ ३६६॥

जो जायमान स्वभाव वाला है वह स्वयं द्वारा व्यवस्थित होने से कार्य कहा नहीं जा सकता। जो जायमानात्मना अकार्य है वह भी जायमान नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जायमान पदार्थ के स्वरूप का सद्भाव नहीं है। जो जायमानात्मना कार्य है वह भी अजायमान के समान जायमान नहीं होता और जायमान का अभाव होने पर जायमान पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती (३६७)।

जिस वादी के दर्शन (मत) में मध्य बिना अतीत व अनागत इन दोनों को उत्पत्ति सम्भव नहीं उसे जायमान नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उस जायमान पदार्थ का मध्य अपेक्षित है। जैसे जायमान पदार्थ के अन्तर्वर्ती अतीत व अनागत काल हैं। वैसे ही उस जायमान पदार्थ को जात-अजात इन दो रूपों के मध्य में होना चाहिये। इसी के आधार पर जात-अजात की व्यवस्था होती है। और जात अजात के मध्यवर्ती तृतीय जायमान पदार्थ की व्यवस्था कराने के लिए यह सम्भव नहीं। क्योंकि सर्वत्र ही जात-अजात इन दोनों के बीच 'जायमान' रूप कल्पना की अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होगा (३६८)।

यह पदार्थ चूँकि 'जात' इस संज्ञा से अभिहित है इसलिए जायमान नहीं है। और जायमान के असम्भव होने पर 'जात' यह संज्ञा ही नहीं है जिसके उत्पन्न होने पर उसे 'जायमान' की कल्पना की जा सके। और फिर यदि उत्पन्न होने पर भी जायमान उसे कहा जाय तो उसकी उत्पत्ति असम्भव है जायमान होने के कारण। इसी का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है" - जात उत्पद्यते कस्मा-ज्जायमानो यदा तदा।" जब उत्पन्न हुआ पदार्थ ही 'जायमान' कहलाता है तो वह जायमान पदार्थ किससे उत्पन्न होता है? सिद्ध होने से इनकी उत्पत्ति की कल्पना युक्त नहीं। यही इसका तात्पर्य है। अतएव जायमान पदार्थ उत्पन्न होता है यह कथन युक्ति संगत नहीं (३७०)।

इसके अतिरिक्त निस्पन्न पदार्थ ही विद्यमान कहलाता है। अविद्यमान पदार्थ अनिस्पन्न अथवा अकृत माना जाता है। इन दोनों अवस्थाओं को छोड़कर जायमान पदार्थ यदि विद्यमान नहीं तो उसे क्या नाम दिया जायगा? इस प्रकार जब "यह पदार्थ है" ऐसा जायमान पदार्थ के विषय में नहीं कहा जा सकता तो स्वरूप के निर्धारण न होने के कारण उसे 'असत्' ही कहा जाना युक्ति संगत है (३७४)।

अतएव परीक्ष्यमाण पदार्थ स्वभावतः सिद्ध नहीं होते। माया के समान वे शून्य हैं यह सिद्ध है (३७५)।

७—शून्यता सिद्धि

शून्यता के वास्तविक अर्थ को निश्चित किये बिना परिग्रह (आसक्ति) छोड़कर संसार में कोई भी ऐसा समर्थ व्यक्ति नहीं जो निर्वाण में स्पृहा उत्पन्न कर सके। और वह शून्यतार्थ जगत के लिए अत्यन्त त्रासकर होने के कारण

कटु भाषण में निपुण पुरुष द्वारा राजा की प्रिय भार्या के मरणक्रम विषयक समाचार में सौमनस्य उत्पन्न करने के समान किसी भी युक्ति से विद्वानों को अवतार्य है। अहंकार ममत्व और स्नेह से विपर्यस्त संसार अनित्य वस्तु में ही क्षणभंगुरता न देखने से मात्र सस्कार के प्रवाह का स्पष्ट ज्ञान न होने से शून्यता दर्शन से विशेष सम्बन्धित नित्यता को निश्चित कर सन्निकर रहता हुआ संसार को अशून्य ही स्वीकार कर रहा है। वक्ता भी माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्य समुत्पन्न (कारण पूर्वक उत्पन्न) है और कर्ता के रूप में कहा गया है। वचन और वाच्य के कारण वक्ता जाना जाता है। यदि ऐसा है तो वक्ता का स्वभाव नहीं है। फलतः वाच्य और वचन दोनों का भी वस्तुरूप नहीं है। जब पुरुष व्यर्थ ही है तो फिर वक्ता का स्वभाव अथवा रूप को भी सिद्धि नहीं होती। अतएव शून्य है। इसी प्रकार वाच्य भी वक्ता और वचन के कारण जाना जाता है। इसलिए उनका स्वभाव नहीं है। अतएव उन तीनों का भी स्वभाव तीनों में विद्यमान नहीं। इस प्रकार वक्तृ, वाच्य और वचन इन तीनों की स्वभाव शून्यता सिद्ध है (३७५)।

यदि अशून्य नामक कोई पदार्थ होता तो उसका प्रतिपक्षी शून्य पदार्थ भी होता। परन्तु अशून्य पदार्थ का तो अस्तित्व है नहीं। क्योंकि किसी भी अहेतुक पदार्थ का आकाश कुसुम के समान सद्भाव असम्भव है। जब अशून्य का सद्भाव असम्भव है तो उसका प्रतिपक्षी शून्य भी अपने प्रतिपक्षी के बिना अस्तित्वहीन है। यदि कुक्कुर (कुत्ता) नहीं तो वह कपि (बन्दर) का प्रतिपक्षी नहीं हो सकता। अन्य विरुद्ध पदार्थ के बिना विरुद्ध पदार्थ कहीं भी संभव नहीं। और उस विरुद्धार्थ के बिना शून्य का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इसीलिये कहा गया है कि समस्त दृष्टियों के निर्गमन का कारण शून्यतामयी दृष्टि है—

जैसे कोई काश्यप नामक पुरुष रुग्ण हो जाय। उसके लिए वैद्य दवा दे। वह दवा उसके सभी दोषों को दूर कर कोष्ठ से न निकले। तो काश्यप क्या मानते हो कि वह रुग्ण पुरुष उस रोग से मुक्त हो जायगा ? काश्यप ने उत्तर दिया। नहीं, भगवान। उस पुरुष का वह रोग अत्यन्त गाढ होगा। भगवान ने कहा— इसी प्रकार काश्यप, समस्त दृष्टियों को शून्यता निःसरण है। जिसकी शून्यतामयी दृष्टि है उसे मैं अचिकित्स्य मानता हूँ (३८२)

शून्यता सर्व दृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे॥ ३८३॥

"पदार्थ सत्व भावी हैं क्योंकि उनका विशेष रूप 'उपलब्ध नहीं होता" यह प्रश्न भी ठीक नहीं। क्योंकि इस स्थिति में यदि अग्नि ही उष्ण है तो वह अनुष्ण को क्यों जलाती है? इसलिए उसका नाम इन्धन भी नहीं क्योंकि इन्धन के बिना अग्नि का अस्तित्व ही नहीं। अतएव विशेषाभाव के कारण भाव का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता ॥ ३८४ ॥

यदि पदार्थ का सद्भाव होने से उसके अभाव का निवारण युक्ति संगत माना जा सकता है तो पदार्थ के अभाव की प्राप्ति होने से पदार्थ का कारण भी क्यों नहीं हो सकता? इसी क्रम से सत्, असत्, सदसत् और न सदसत् यह पक्षक्रम विद्वानों द्वारा एकत्वादि में सदैव प्रयोजनीय है ॥ ३८५ ॥

परमाणु मात्र का भी जहां सत्य स्वरूप नहीं वहां भव कैसे उत्पन्न हो सकता है? भावोत्पत्ति सर्वथा न होने पर उत्पादाभाव ही है। समस्त पदार्थों को यथावत् जानने वाले सूर्य की किरण समूह द्वारा अखिल अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने वाले घोर अज्ञानान्धकार से व्याप्त रात्रि में निद्रा से विपर्यस्त संसार को उल्लास और उद्बोधन देने में तत्पर सम्यक अभिसम्बुद्ध बुद्धों का अभाव भी इसलिए युक्तियुक्त नहीं। इसी कारण से ही तत्वज्ञान की अपेक्षाकर कोई भी पदार्थ उपलब्ध नही होता। जैसा भाव के विषय में है वैसा अभाव भी स्वीकृत नहीं। अथवा स्वभाव से अजात होने के कारण अभाव भी नहीं। इसलिए "अभावोऽपि चबुद्धानां" कहा है। श्रावकों, प्रत्येक बुद्धों और अनुत्तर सम्यक् सम्बुद्धों का अभाव भी युक्त नहीं ॥ ३८६ ॥

जहां अद्वयवाद है वहां अगम किस पदार्थ का सद्भाव होगा? जो पदार्थ नित्य हैं उनका स्वरूपतः सद्भाव नहीं है। इस प्रकार सद्भाव व असद्भाव की कल्पना की परीक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि यह कल्पना पदार्थ की नित्यता पर आधारित है और पदार्थ नित्य है नहीं। जो पदार्थ उत्पन्न होने वाले हैं उनका भी स्वरूप नित्य नहीं। इसलिए स्वभाव लक्षण से प्रतिकूल लक्षण वाले पदार्थों के स्वभाव से सद्भाव व असद्भाव की कल्पना करना शक्य नहीं।

हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण स्वभावतः कृतकत्व प्राप्ति से पदार्थों का जो स्वभाव है वह निर्हेतुक ही है। निर्हेतुक सत्व उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार भाव के विप्रतिषेध होने के कारण भाव के अभाव होने से भाव का अभाव ही स्वभाव है। अतएव सभी का यह स्वभाव अभिन्न रूप वाला है। इस प्रकार सभी पदार्थ स्वभाव से अनुत्पन्न होने के कारण एकरूप

वाले हैं अथवा अभाव रूप स्वभाव वाले हैं। जैसे घट, गृह, क्षेत्र आदि के भिन्न होने पर भी सर्वत्र आवरण हीन होने के कारण सामान्यतः अरूप मात्र रूप वाला आकाश भिन्न स्वरूप वाला नहीं होता। और जैसे सभी संस्कृत पदार्थ अनित्य ही हैं, सभी आश्रव दुःखदायक ही है। उसी प्रकार जो सभी पदार्थों का द्रष्टा है वह भी पदार्थों के भेद की व्यवस्था नहीं कर सकता। इसलिए एक पदार्थ का जो द्रष्टा है वह सभी पदार्थों का द्रष्टा मना गया है। एक पदार्थ की जो ही शून्यता होगी वही शून्यता सभी की होगी।

भाव स्यैकस्य यो द्रष्टा द्रष्टा सर्वस्य स समृतः।
एकस्य शून्यता यैव सैव सर्वस्य शून्यता ॥ ३८८ ॥

यदि सभी पदार्थों का अभाव रहने से पर पक्ष का परिहार नहीं होता तो किसी भी युक्ति से शून्यता हेतु द्वारा निराकृत तुम्हारे स्वपक्ष की सिद्धि क्यों नहीं होती? असिद्धि भी नहीं कही जा सकती इसलिए यह नहीं है ॥ ३८९ ॥

ससार में जो यह कहा जाता है कि दूषक हेतु सुलभ है, ठीक नहीं। यदि दूषक हेतु होता तो सुलभ होने से प्रतिपक्षी भी उस दूषण की उद्भावना करता। परन्तु उसे यह सम्भव नहीं अतएव दूषक सेतु सुलभ नहीं है ॥ ३९० ॥

सत् से यदि असत् ही होता है तो जो असत् है उससे सत् ही होगा। क्योंकि पदार्थ के नाम स्वभाव का अनुकरण नहीं करत। पदार्थ के वे नाम उसके स्वरूप अथवा काल से सम्प्रयुक्त नहीं होते। क्योंकि पहले या बाद में वे अभीष्ट होते हैं। इसी को और स्पष्ट करते हैं सुलोचन वाले के लिए काना (काण), अल्पायु वाले के लिए दीर्घायु वाला, तस्कर (चोर) के लिए देवरक्षित आदि प्रतिकूल अर्थ वाले नाम मिलते हैं। इसलिए 'सत्' ऐसा जो नाम दिया है उससे सत् ही होता है। यदि सत् सत् होता है इस नामकरण से पदार्थ सत् कहा जाय तो असत्व होने के कारण असत् से असत् होता है इस नामकरण से सत्व का प्रतिषेध क्या निश्चित नहीं किया जाता? इसकी सद्भाव की कल्पना के समान असद्भाव का ज्ञान भी युक्त है (३९२)।

यदि सत् पदार्थ का वह लौकिक स्वरूप सत्स्वभावत्व स्वरूप को स्पर्श नहीं करने वाले शब्दों द्वारा अभिधीयमान होता तो वह उसी स्वरूप से सद्भाव होने के कारण परमार्थ ही होता, लौकिक नहीं। अब लौकिकत्व ही स्वभाव नहीं है

तो उस लौकिक का परमार्थत्व ही सिद्ध होता। और परमार्थ दर्शन से योगी संसार से मुक्त हो जाते हैं (३६३)।

भाव का सद्भाव होने पर उसका निषेध होने से अभाववाद होता। जब उक्त न्याय से भाव ही उत्पन्न नहीं होता तब भाव के अभाव से अभावकी उत्पत्ति नहीं होगी क्योंकि भ.व के बिना अभाव कहाँ से सिद्ध होगा। (३६५)।

हेतु के पूर्व शून्यता नहीं होती। यदि पश्चात् होती है ऐसा मानें तो शून्यता का कृतकत्व सिद्ध होगा। और कृतक माया की हाथी के प्रपञ्च के समान विसंवादक है। परन्तु शून्यता तो अक्षर सामान्य रूप है, विसंवादक नहीं। फलतः शून्यता को हेतु से साध्य नहीं माना जा सकता। यदि उसे ज्ञापक हेतु के अभिप्राय से कहा गया हो तो भी हेतु सिद्ध नहीं होता। क्योंकि "यही हेतु है" यह किसी की प्रतिज्ञा का साधक वचन है। यदि उसकी प्रतिज्ञा का वह हेतु है तो उससे और होता। वैसा होने पर पक्षधर्म नहीं होता है। इस प्रकार प्रतिज्ञात अर्थ का अवगम नहीं होता। और हेतु की प्रतिज्ञा का अन्यत्व नहीं होता। जब अन्य नहीं होता तो अन्यत्व के अभाव से प्रतिज्ञा का स्वरूप के समान यह हेतु नहीं होता। इस प्रकार हेतु की विद्यमानता सिद्ध नहीं होती। अतएव पदार्थों का नि.स्वभावत्व सिद्ध हो जाता है (३६७)।

यदि दृष्टान्त की कल्पना की जाती है तो हेत्वर्थ से असम्बद्ध रूप में ही कल्पना की जाती है अथवा सम्बद्ध रूप में? यदि सम्बद्ध रूप में की जाती है तो हेतु के दूषण द्वारा ही उसका निराकरण हो जाता है। और यदि असम्बद्ध रूप मे की जाती है तो उन दोनों के प्रतिज्ञात अर्थ की सिद्धि में सामर्थ्य न होने से ही उसका कोई उपयोग नहीं। तो उस कल्पना से क्या तात्पय ?

यदि हेत्वर्थ से असम्बद्ध दृष्टान्त से अर्थ-सिद्धि मानी जाती है तो काक के कृष्ण दृष्टान्त से आत्मा भी कृष्ण हो जाता। परन्तु यह सम्भव नहीं। अतएव भाव के अभाव से दृष्टान्त का होना युक्ति संगत नहीं (३६७)।

शून्यता का उपदेश तत्त्व के प्रतिपादन के लिए होता है। और तत्त्व का स्वरूप स्वभाव है। यदि किसी पदार्थ का सद्भाव होता तो तत्त्व परमार्थ होता। इस प्रकार मोक्षार्थी उसी का दर्शन शुभकारी मानते, शून्यता का नहीं। तब वह गुण नहीं, प्रत्युत केवल अपवाद रूप प्रवृत्त होने के कारण दोष ही है। जब निःस्वभाव पदार्थों का विपर्यास होने के कारण सस्वभावत्व देखा जाता है तब लोक का अभिनिवेश हेतु होता है। पदार्थों का अध्यवसाय हेतुक कर्म-क्लेश से

जन्म-उत्पत्ति होने से संसार में प्रवेश हो जाता है। तब निःस्वभाव पदार्थों के स्वभावत्व को प्रकाशित करने वाला यह शास्त्र आरोप व अपवाद के खण्डन। निःस्वभावत्व को प्रदर्शित करता है। लोक (संसार) भी पदार्थों के निःस्वभा का अभ्यास कर प्रतिबिम्ब का निर्माण करने वाले मायादिक पदार्थों के स पदार्थ के अभिनिवेश में तद्धेतुक कर्म-क्लेश के क्षय से रागादिक समस्त बन्ध छेदन करने से विमुक्त हो जाता है। इस कारण से यह शास्त्र पदार्थों के नि स्वभावत्व मात्र को उपस्थित करता है।

को गुणः शून्यतादृष्ट्या स्याच्चेद्भावः स्वभावतः।
बन्धः कल्पनया दृष्टेः सैवेह प्रतिषिध्यते॥ ३९८॥

जैसा भगवान ने कहा है—निःस्वभाव योग से सभी पदार्थ शून्य होते अप्रणिधान योग से सभी पदार्थ निर्निमित्त (कारणहीन) होते हैं। प्रज्ञापारा द्वारा सभी पदार्थ शुद्ध होते हैं—इसी प्रकार जो कारणों द्वारा उत्पन्न होत वह अजात है क्योंकि उसकी उत्पत्ति स्वभावतः नहीं होती। जो कारणों (प्रत के आधीन होता है वह शून्य कहा जाता है। जो शून्यता को जानता है अप्रमत्त कहा जाता है। अ.र भी। यहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद का होना असम्भव न ऐसा कहा गया है कि कल्पना द्वारा दृष्टि का बन्ध होता है और उसी का प्रतिषेध किया जाता है। कल्पना अभूत स्वभाव वाले पदार्थ का आरोपण क है। उससे पदार्थों का बन्ध होता है। संसार के दुःखों का नष्ट करने के उस बन्ध को दूर करने के लिए प्राणियों के दुःखों से दुःखित महाकारुणि तथागत बोधिसत्व प्रतीत्यसमुत्पाद के अविरुद्ध पदार्थों के निःस्वभावत्व मात्र दिखाते है।

जब लौकिक पदार्थ के विषय मे कहने की इच्छा होती है तो बाह्य व आध्यात्मिक भेद से पञ्च स्कन्ध वाले पदार्थ को भी लौकिक मानना चाहि परन्तु जब लोकोत्तर तत्व की व्याख्या की जाती है तो आर्यज्ञान की अपे पञ्च स्कन्ध वाला पदार्थ की भी व्याख्या स्वभाव-शून्य रूप से की जाने यो है। इसके अतिरिक्त यदि कहने की इच्छा होती है और जो वादी द्वारा स नहीं स्वीकार किया जाता वह यथार्थ अथवा लौकिक नहीं होता। इसलिए यह मानता है वह "यह सत् है" और "यह असत् है" ऐसा कहने का स नहीं। यदि चित्तचैतसिक है तो घट पटादिक भी हैं क्योंकि वे समस्त लोक प्रसिद्ध है। और यदि वे घट पटादिक विचार मे नहीं है तो चित्तचैतसिक नहीं है क्योंकि फिर कोई युक्ति (तर्क) नहीं। ऐसा होने पर 'यह सत् है' असत् है' ऐसा कहना सम्भव नहीं।

एकं सदसदेकं च नेदं तत्त्वं न लौकिकम् ।
तेनेदं सदिदमसद्वक्तुमेव न शक्यते ॥ ३१६ ॥

पक्ष का होने पर अन्यथा सिद्ध हो जाने के कारण चिरकाल से उसमें दूषण हो जाता है । परन्तु सत् और असत् दोनों पक्षों का खण्डन करने वाले को पक्ष का परिग्रह ही नहीं उसके लिए सत्-असत् दोनों पक्षों का खण्डन करने से चिरकाल पर्यन्त भी दूषण उपस्थित करना सम्भव नहीं । आकाश रूपी है नहीं और चिरकाल से उसका रूपी होना सम्भव भी नहीं रहा । इस प्रकार वादियों द्वारा भी उनके आश्रित तीनों पक्षों के असम्भव होने पर शून्यतावाद में दूषण उपस्थित करना सदैव से भी असम्भव रहा । क्योंकि पण्डितों द्वारा शून्यतावाद में दूषण लगाना आकाश में चित्र बनाना अथवा लोहे की प्रतिमा निर्मित करने के समान पीड़ा कारक समझना चाहिए । जैसे सूर्य की किरणों से निरस्त तिमिर (अन्धकार) द्वारा चिरकाल में भी आकाश काला नहीं किया जा सकता उसी प्रकार गम्भीर, उदार और अचिन्त्य प्रतीत्यसमुत्पाद रूपी सूर्य किरण द्वारा समस्त वादियों के समय (सिद्धान्त) रूपी अन्धकार खण्डित हो गये ऐसा समझना चाहिए । और भी कहा गया है । जैसे यहाँ अनुपम सूर्य अत्यन्त घने अन्धकार समूह का उन्मूलन करता है उसी प्रकार यह शून्यतावाद रूपी सूर्य सत्-असत् आदि सिद्धान्त रूपी अन्धकार का उन्मूलन करता है ।

४–विज्ञानवाद

माध्यमिक सम्प्रदाय के शून्यवाद के विपरीत विज्ञानवाद का उत्थान हुआ । तदनुसार जगत् के समस्त पदार्थ शून्य भले ही हों पर शून्यात्मक प्रतीति के ज्ञापक विज्ञान को सत्य पदार्थ अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए । चित्त, मन अथवा बुद्धि की इस अभूतपूर्व प्रतिष्ठा के कारण ही इसे विज्ञानवाद कहा गया है । यह उसका आध्यात्मिक नाम है । धार्मिक और व्यावहारिक दृष्टि से इसे योगाचार कहा गया है । इसमें शमथ और विपश्यना रूप योग-मार्ग का आचरण किया जाता है । मैत्रेयनाथ का अभिसमयालंकार तथा असंग का योगाचार भूमिशास्त्र योगाचार के विशिष्ट प्रतिपादक ग्रन्थ हैं । तिब्बती परम्परानुसार सन्धि निर्मोचन, लंकावतार तथा घनव्यूह नामक ग्रन्थ भी इसी श्रेणी में आते हैं । ई० पू० प्रथम शताब्दी से ई० तृतीय शताब्दी तक इस सम्प्रदाय का आरम्भकाल, तृतीय से पंचम शताब्दी तक उत्थानकाल और उसके बाद विकासकाल कहा जाता

है। इन्हें क्रमशः सूत्रकाल, शास्त्रकाल तथा न्यायकाल की भी संज्ञा दी गई है।[1]

विज्ञानवाद को निरालम्बनवाद भी कहा गया है। उसकी सिद्धि आलम्बन के बिना भी की जाती है। शून्यवाद के विरोध में विज्ञानवादियों ने यह तर्क उपस्थित किया कि चूँकि ज्ञान के माध्यम से ही बाह्यार्थ सत्ता की प्रतीति होती है अतः विज्ञान ही परमार्थ माना जाना चाहिए। असंग ने इस परमार्थ के विषय में कहा है कि वह 'परमार्थ न सत् है, न असत्, न तथा है न अन्यथा; न इसका उदय होता है न व्यय, न इसकी हानि होती है न वृद्धि; यह विशुद्ध नहीं होता, पुनः विशुद्ध होता है। यही परमार्थ का लक्षण है।[2] तथता, निर्वाण, धर्मधातु आदि नाम इसके पर्यायार्थक है। विज्ञानवाद की दृष्टि में बाह्य दृश्य पदार्थ की सत्ता नहीं। मात्र चित्र ही विचित्र रूपों में दिखाई देता है। कभी वह देह के रूप में और कभी भोग के रूप में प्रतिष्ठित रहता है। विज्ञानवाद का यही अद्वयवाद है।

> दृश्यते न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
> देहभोग प्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥[3]

विज्ञानवाद में ग्राह्य-ग्राहक-ग्रहण अथवा ज्ञेय-ज्ञाता-ज्ञान की सत्ता है। ये सभी विज्ञान चित्त के काल्पनिक परिणमन है, वास्तविक नहीं। वहाँ आत्म दृष्टि को भी भ्रम मात्र माना है। अवस्था भेद से विज्ञान आठ प्रकार का है—चक्षु-विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान, मनोविज्ञान, क्लिष्टमनोविज्ञान और आलयविज्ञान। प्रथम सात विज्ञानों को प्रवृत्ति-विज्ञान कहते है। आलयविज्ञान में उनका आविर्भाव होता है और उसी में वे विलीन हो जाते हैं।

आलय विज्ञान विज्ञानवाद का बहुचर्चित सिद्धान्त है। यह उसका एक ऐसा कवच है जिसके बल पर विज्ञानवादी आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों का यथाशक्य संरक्षण किया है। बौद्धेतर दार्शनिकों ने इसे अपनी कटु आलोचना का विषय बना लिया। स्थिरमति ने आलय का अर्थ क्लेशोत्पादक धर्मों के बीजों

१—बौद्ध-धर्म के विकास का इतिहास पृ० ४०१

२—बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ३६०

३—लंकावतार, ३.२७

का स्थान, कार्य रूप से सम्बद्ध रहने के कारण समस्त धर्मों के लय होने का स्थान तथा कारण रूप से सब धर्मों में अनुस्यूत होने का स्थान किया है।[1]

आलयविज्ञान को मूलविज्ञान, कर्मस्वभाव और कारणस्वभाव भी कहा गया है। इस दृष्टि से उसे बौद्धेतर धर्मों में मात्र आत्मा का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यह सास्रव और अनास्रव कर्मों का बीज स्थान है। कुछ उसे प्रकृतस्थ मानते हैं और कुछ भावनामय मानते हैं। सृष्टि-परम्परा का वह एक विशेष कारण है। बीज आलयविज्ञान के आधार पर धर्म को उत्पन्न करते हैं और धर्म आलयविज्ञान के गर्भ में बीज का संग्रह करते हैं। यह आलय विज्ञान पाँच चैत्त धर्मों से सम्बद्ध है—स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना। इनमें आलयविज्ञान उपेक्षा-वेदना से संप्रयुक्त है—उपेक्षा वेदना तत्र। वह अनिवृत-अव्याकृत है।

महायानी ग्रन्थों में आलय विज्ञान को सूक्ष्मस्वभावी बताया गया है। प्रवृत्ति निवृत्ति में वह कारण है। लंकावतार में इसे 'ओघ' संज्ञा दी गई है। महासांघिक निकाय इसे 'मूल विज्ञान' कहता है। महीशासकों ने संसार कोटि निमुस्कन्ध, स्थविरवादियों ने भवांग विज्ञान तथा सर्वास्तिवादियों ने आलय नाम से उसे अभिहित किया है।[2]

पदार्थ स्वरूप विचार

पदार्थ को धर्म अथवा भाव भी कहा गया है। ये दो प्रकार के हैं—संस्कृत और असंस्कृत। संस्कृत पदार्थ हेतुप्रत्ययजन्य होते है और असंस्कृत पदार्थ स्वतः सिद्ध होते है। संस्कृत धर्म ९४ है—रूप ११, चित्त ८, चैतसिक ५१ और चित्तविप्रयुक्त २४ तथा असंस्कृत धर्म ६ हैं—आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध, अचल, संज्ञावेदनानिरोध तथा तथता। असंस्कृत धर्मो म अन्तिम तीन धर्म विशेष हैं। अचल का अर्थ है उपेक्षा। इसमे योगी दुःखादि की उपेक्षा कर देता है। बाद में वह संज्ञा, वेदना आदि जैसे मानस धर्मों का आत्मवश कर लेता है और तदनन्तर योगी तथता (परमतत्व) को प्राप्त करता है। इस तथता को अविकृत, भूतकोटि, अनिमित्त, परमार्थ और धर्मधातु भी कहा गया है।

निःस्वभाववाद—विज्ञानवाद में सत्ता दो प्रकार की वर्णित है—पारमार्थिक और व्यावहारिक। व्यावहारिक सत्ता का स्वभाव दो प्रकार का है—

१—त्रिंशिका भाष्य, पृ० १८

२—बौद्धधर्मदर्शन, पृ० ३९१

परिकल्पित और परतन्त्र । विकल्प अथवा भ्रान्ति को परिकल्पित सत्ता कहा जाता है और प्रत्यय से उद्भूत परतन्त्र सत्ता है। पारमार्थिक सत्ता परिनिष्पन्न स्वभाव वाली रहती है। इसी को तथता कहा जाता है। इनमें परिकल्पित स्वभाव प्रज्ञप्तिसत् है, परतन्त्र स्वभाव प्रज्ञप्ति और वस्तुसत् है, तथा परिनिष्पन्न स्वभाव द्रव्यसत् है। ये तीनों स्वभाव परस्पर व्यतिरिक्त नहीं। स्वयं में निःस्वभावी होते हैं। उनमें क्रमशः लक्षणनिःस्वभावता, उत्पत्तिनिःस्वभावता तथा परमार्थनिःस्वभावता रहती है।

संस्कृत धर्म उत्पत्ति, स्थिति, और समाहार का प्रतीक है। हीनयान में इन संस्कृत पदार्थों को स्वीकार किया गया था पर माध्यमिकों ने उसे नहीं माना। वे संस्कृत पदार्थों का उत्पादन न संस्कृत रूप से मानते हैं और न असंस्कृत रूप से। उनकी दृष्टि में ये उत्पादादि न व्यस्त रूप से पदार्थ के लक्षण होंगे और न समस्त रूप से। किसी अन्य उत्पादादि से भी संस्कृत लक्षणता की सिद्धि नहीं हो सकती, अन्यथा अपर्यवसानदोष की प्रसक्ति हो जायगी। इस प्रकार महायान में संस्कृत धर्मों की उत्पत्ति, स्थिति, और विनाश को अस्वीकार करते हुए संस्कृत पदार्थों का निषेध करते हैं और उन्हें निःस्वभाव मानते हैं।

विज्ञानवाद के उक्त सिद्धान्तों से स्पष्ट है कि उसमें बाह्यार्थ के अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार किया गया और उनके दर्शन को मात्र वासनाजन्य मानकर कल्पना प्रसूत माना गया। परन्तु यह ठीक नहीं। न तो वासना के माध्यम से पदार्थ के अस्तित्व को अस्वीकार किया जा सकता है और न ज्ञान से पदार्थ की उत्पत्ति मानी जा सकती है। ज्ञान से तो पदार्थ के स्वरूप को परखा जाता है। और फिर जब पदार्थ ही नहीं होगा तो ज्ञान का क्या आधार रहेगा। आलय विज्ञान को नित्य मान कर भी यह समस्या सुलझती नहीं। इस सबके बावजूद विज्ञानवाद का योगदान अविस्मरणीय रहेगा।[1]

आर्यदेव का चित्त विशुद्धि प्रकरण और योगाचार

शून्यवादी आर्यदेव का एक और महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। वह है—चित्तविशुद्धिप्रकरण। इसे सर्वप्रथम महा० हरप्रसाद शास्त्री ने J. A. S. B. (पृ० १७५) में १८९८ में प्रकाशित किया था। इसके बाद प्रभुभाई भिखाभाई

१—विशेष देखिये—बौद्ध-धर्म-दर्शन, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, अभिधर्म कोश आदि ग्रन्थ।

पटेल ने पुनः इसका सम्पादन-संशोधन कर विश्व भारती से १९४९ में प्रकाशित कराया। श्री पटेल के अनुसार चित्तविशुद्धिप्रकरण का लेखक चतुःशतक के लेखक से भिन्न है। पर यह सही नहीं लगता। चतुःशतक के रचयिता आर्यदेव के काल में तान्त्रिक बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ चुका था। इसलिए चतुःशतक के रचयिता को चित्तविशुद्धिप्रकरण के रचयिता से पृथक् नहीं किया जा सकता।

उत्तर काल में महायान बौद्धधर्म की दो शाखायें हुईं—पारमितानय और मन्त्रनय। मन्त्रनय भी अनेक शाखाओं में विभक्त हुआ। चूंकि चित्तविशुद्धिप्रकरण में भी योगाचार (५) शब्द आता है अतः सम्भवतः यह ग्रन्थ योग-तन्त्रयान से सम्बद्ध रहा होगा।

वज्रयान के विकास में माध्यमिक और योगाचार की दार्शनिक भूमिका का विशिष्ट योगदान रहा है। योगाचार में तो चित्त ही सब कुछ है यह चित्त बोधिचित्त का रूप है जो निर्वाण प्राप्ति का कारण होता है। आर्यदेव ने इसी चित्त (बोधिचित्त) का वर्णन किया है। बौद्धधर्म, विशेषतः महायान में चित्त का महत्वपूर्ण स्थान है। इसे मूलतः "अनाविल" और "प्रकृतिप्रभास्वर" कहा गया है। माध्यमिक दर्शन का बोधिचित्त महायान सिद्धान्तों का पालन करने पर क्रमशः प्राप्त हो सकता है। पर चित्त विशुद्ध रूप से मन पर आधारित है। महायान बौद्धधर्म के अनुसार कोई भी व्यक्ति बोधिसत्व अवस्था प्राप्त कर सकता है। वासना और कर्म के कारण उसकी मूल अवस्था आवृत है। जैन सिद्धान्त का यह स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। इस विशुद्ध बोधिचित्त से इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है (जन्मन्यत्रैव बुद्धत्वं प्राप्यते नात्र संशयः, चित्त० ८५)। वज्रयान में आग्रह रहित प्रज्ञा और करुणामूलक उपाय का सुन्दर संमिश्रण तथा मन्त्र, साधना और धारणी का समन्वय बुद्धत्व प्राप्ति में कारण होता है।

चित्तविशुद्धिप्रकरण के अनुसार विशुद्ध चित्त होने पर पाप पुण्य की व्यवस्था भी अनावश्यक हो जाती है—

> तस्मादाशय मूला हि पापपुण्यव्यवस्थितिः।
> इत्युक्तमागमे यस्मान्नास्ति शुभचेतसाम् ॥१६॥

यहाँ यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार रजक मलीन द्रव्य से मलीन वस्त्रों को स्वच्छ करता है (वही, ३८), विष का प्रकोप से विषसे दूर किया जाता है, (वही ३९) तथा कर्णगत जल को कान में और जल डालकर समूचा जल

निकाला जाता है (वही, ३७) उसी प्रकार राग और काम भी राग और काम से ही दूर किया जा सकता है, बशर्ते कि साधक ज्ञानवान् हो।

> दुर्विज्ञैः सेवितः कामः कामो भवति बन्धनम्।
> स एव सेवितो विज्ञैः कामो मोक्ष प्रसाधकः॥ चित्त० ४२॥

यह चित्त पंकजात पद्म के समान पंक रूप राग, द्वेषादि से दूषित नहीं होता। वह तो संगमरमर पत्थर अथवा दर्पण के समान अलिप्त रहता है (वही, ११५, ११६)। इस ग्रन्थ में वैदिक यज्ञ-याज्ञ विधि आदि की तीव्र आलोचना की गई है।[1] ग्रन्थ के विषय से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वज्रयान के बीच योगाचार-काल में स्पष्ट रूप से सामने आने लगे थे।

बौद्ध न्याय

भारतीय दर्शनों की परम्परा से दो विचारधाराओं में विभक्त किया गया है—आस्तिक धारा और नास्तिकधारा। वैदिक संस्कृति में आस्तिक और नास्तिक शब्दों की व्याख्या वेद की स्थिति को स्वीकार और अस्वीकार करने पर आधारित है। इस दृष्टि से "वेदनिन्दको नास्तिकः" जैसी परिभाषायें साहित्य जगत् में उन्मुक्त रूप से सामने आयीं। जैन-बौद्ध विचारधारायें अथवा श्रमण संस्कृति नास्तिक विचारधारा के अन्तर्गत रखी गयी। परन्तु इन शब्दों की यह व्याख्या युक्ति संगत नहीं। वस्तुतः आस्तिक और नास्तिक शब्दों का सम्बन्ध आत्मा और लोक के अस्तित्व को स्वीकार करने और न करने पर निर्भर है। इस तथ्य के आधार पर चार्वाक् को ही नास्तिक कहा जायगा और शेष विचारधारायें आस्तिक के रूप में मान्य होंगी।

आत्मा और ज्ञान—वैदिक दर्शन में ब्रह्म (आत्मा) को चिद्रूप मानकर ज्ञान को अन्तःकरण का धर्म स्वीकार किया गया है। तदनुसार ब्रह्म की विशुद्ध अवस्था में ज्ञान प्रतिभासित नहीं होता।[2] सांख्य के अनुसार ज्ञान पुरुष (चैतन्य) का धर्म न होकर प्रकृति का विकार है। नैयायिक-वैशेषिक ज्ञान को आत्मा का अयुतसिद्ध गुण मानते हैं। जैन दर्शन में आत्मा उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य रूप से त्रयात्मक है, उपयोग और चैतन्य स्वरूप है। ज्ञान का आत्मा से तादात्म्य

---

१. विशेष देखिये, चित्तविशुद्धिप्रकरण—प्रभु भाई पटेल, भूमिका।

२. अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाण चैतन्यं—वेदान्तपरिभाषा, पृ. १७

सम्बन्ध है। आत्मा की उस शक्ति का नाम ज्ञान है जिससे पदार्थ जाना जाता है और उस शक्ति का नाम दर्शन है जिससे तत्त्वश्रद्धान होता है।[1] परन्तु बौद्ध दर्शन ज्ञान को चित्तप्रवाह के रूप में स्वीकार करता है। वहां ज्ञान जड़ पदार्थों का धर्म नहीं है।[2] वह विज्ञानधारा, आलयविज्ञान और प्रवृत्तिज्ञान के क्रम से ज्ञेयों का प्रतिभास करता है।

प्रमाण-लक्षण—यही ज्ञान प्रमाण है "प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्"। तथा "प्रमाकरणं प्रमाणम्। प्रमा का करण क्या हो, यह विवाद का विषय है। न्याय-वैशेषिक सन्निकर्ष और ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। सांख्य इन्द्रियवृत्ति को प्रभाकर अनुभूति को और जैन ज्ञान को ही करण मानते हैं। पर बौद्ध परम्परा में अविसंवादिज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार किया गया है और सारूप्य और योग्यता को करण माना गया है।[3] उसके अनुसार ज्ञान न मीमांसकों की तरह परोक्ष है, न नैयायिकों की तरह ज्ञानान्तरवेद्य है और न सांख्यों की तरह प्रकृति का धर्म है। वह तो जैनों की तरह स्वसंवेदित्व धर्म से विभूषित है।[4] विज्ञानवाद में बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया अतः वहां अविसंवाद और प्रामाण्य व्यवहाराश्रित हैं। पर सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी हैं। अतः यह अविसंवादित्व स्वलक्षण पर आश्रित है।

प्रमाण भेद—प्रमाण के भेदों में बौद्ध और बौद्धेत्तर दार्शनिक एकमत नहीं। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को प्रमाण स्वीकार करते हैं। नैयायिक उसमें उपमान और जोड़ देते हैं। जैन इन सब प्रमाणों को प्रत्यक्ष और परोक्ष में गर्भित कर देते हैं। परन्तु बौद्ध-दृष्टि में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण है। उनके अनुसार विषय स्वलक्षणात्मक और सामान्यलक्षणात्मक होते हैं। स्वलक्षण में वस्तु का स्वरूप शब्दादि के बिना ही ग्रहण किया जाता है। यह वस्तु-ग्रहण प्रत्यक्ष का विषय है। पर सामान्यलक्षण में अनेक वस्तुओं के साथ वस्तु का ग्रहण होता है। यह वस्तुग्रहण अनुमान का विषय होता है। बौद्धों के अनुसार आगम आदि प्रमाणों

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, भा. १, पृ०४; प्रवचनसार, प्रथम अधिकार।

२. सौन्दरानन्द, १६.२८.२६

३. प्रमाणमविसंवादी ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः।
अविसंवादनं शाब्देप्यभिप्रायानवेदनात्॥ प्रमाणवा. २.१.

४. दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त; तत्त्वसंग्रह, १३४४
सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्—न्यायबि० १।११

का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है क्योंकि शब्द आदि से सम्बद्ध परोक्ष अर्थ का बोध लैंगिक होता है जो अनुमान का ही शब्दान्तर है। अर्थापत्ति, स्मृति, अभाव, प्रत्यभिज्ञान, उपमान आदि प्रमाणान्तरों को भी अनुमान में ही गर्भित कर दिया जाता है। जैनों के अनुसार प्रमाण के दो ही भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान परोक्ष प्रमाण के ही भेद हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण—नाम, जाति आदि से संयुक्त, कल्पना विरहित और निर्भ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है—प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादि संयुतम्। प्रत्यक्ष के चार भेद हैं--इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष स्वलक्षण को विषय करता है। दिङ्नाग का यही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। हीनयान ने आत्मा का निषेधकर प्रत्यक्ष को आन्तरिक बाह्य इन्द्रियों पर निर्भर कर दिया। महायान में माध्यमिकों ने शून्यवाद को अपनाया और विज्ञानवादियों ने 'आलय विज्ञान' को स्वीकार कर अनात्मवाद से उत्पन्न तर्कों को निरस्त करने का प्रयत्न किया। यही विज्ञानधारा आलयविज्ञान और प्रवृत्तिज्ञान के क्रम से पदार्थज्ञान करती है। पदार्थज्ञान में चार कारण माने गये है—आलम्बन, सहकारी, अधिपति, और समनन्तर। चक्षु आदि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को समनन्तर प्रत्यय (वस्तु का साक्षात्कार करने की शक्ति) बनाकर जो मन उत्पन्न होता है वह मानस प्रत्यक्ष है।[1] निर्विकल्पक ज्ञान को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहा जाता है (स्वसंवित् निर्विकल्पकम्) और समाधि से उत्पन्न प्रत्यक्ष को योगिप्रत्यक्ष कहते हैं। यह प्रत्यक्ष कल्पना विरहित, निर्भ्रान्त और अर्थक्रियानुसारी होती है।[2]

बाह्यार्थवादी सौत्रान्तिकों के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष क्षणिक परमाणु रूप स्वलक्षण से उत्पन्न होता है। इसमें स्वलक्षण पदार्थ आलम्बन कारण है, पूर्वज्ञान समनन्तर (उपादान) कारण, इन्द्रियाँ अधिपतिकारण, और प्रकाश आदि सहकारी कारण है। क्षणभंगुरता होने पर भी सन्तानमूलक एकत्वाध्यवसाय से अविसंवाद मान लिया जाता है। अनुमान में ग्राह्य विषय तो सामान्य लक्षण है, क्योंकि अन्यसामान्य ही उसका विषय है फिर भी प्राप्त स्वलक्षण होता है। अतः प्राप्य स्वलक्षण की अपेक्षा उसमें प्रामाण्य है।[3] यहाँ अनुमान रूप

१—प्रमाणवार्तिक, ३.२४३

२—तत्वार्थ वार्तिक, १, १२, न्या० कु० च०, पृ० ४६; न्याय वि० पृ०, ११

३—प्रमाणवार्तिक २,५७-५८; सिद्धिविनिश्चय टीका; प्र० भाग, पृ० ६६-१००

सविकल्पक ज्ञान है। प्रत्यक्ष शब्द विशिष्ट अर्थ को ग्रहण नहीं करता। अर्थ और शब्द का तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं है। इस स्थिति में अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में ज्ञान को उत्पन्न न करने वाले शब्द के आकार का संसर्ग कैसे रह सकता है? और जब वह शब्द के आकार को धारण नहीं करता, तब वह शब्दग्राही कैसे हो सकता है? अतः जो ज्ञान अर्थ से संसृष्ट शब्द को वाचक रूप से ग्रहण करता है, वही सविकल्पक है, अन्य नहीं। यह बात प्रत्यक्ष ज्ञान में सम्भव नहीं है। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। जैन दर्शन ने इस प्रकार के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को उपचार से प्रमाण माना है क्योंकि परम्परा से ये सभी ज्ञान सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होते हैं।[1] सन्निकर्ष को भी यहाँ प्रमाण नहीं माना गया है।

बौद्धदर्शन की मुख्य भूमिका क्षणभंगुरवाद की है। अतः वस्तु के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क होते ही वस्तु प्रतीत हो जाती है और तज्जन्य ज्ञान अर्थ के आकार का होता है। वह ज्ञान निराकार नहीं होता अन्यथा स्वरूप का प्रत्यक्ष, ज्ञानों में परस्पर भेद और नियतार्थ में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः ज्ञान अर्थाकार होता है।

> भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
> हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः तदाकारार्पणक्षमम्॥ प्रमाण वा० ३.२४७
>
> अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्।
> तस्मात् प्रमेयाधिगते प्रमाणं मेयरूपता॥ वही, ३.३०५

अनुमान प्रमाण—साधन (लिङ्ग) से साध्य (लिङ्गी) के ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहा जाता है।[2] जैसे धूम (साधन) से अग्नि (साध्य) का ज्ञान होना। साधन को हेतु भी कहा जाता है। हेतु का साधारणतः लक्षण है—साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणं हेतु। 'अन्यथानुपपत्ति' 'अथवा' अविनाभाव' हेतु का लक्षण माना जाता है। बौद्ध दर्शन में साध्याविनाभाव को हेतु का लक्षण न मानकर उसके तीन लक्षण स्थापित किये गये हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्ष असत्व। साध्य की सिद्धि के स्थान को पक्ष कहते हैं (पर्वत)। जहाँ साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव बताया जाय वह सपक्ष है (पाकशाला)। और जहाँ साध्य के अभाव में साधन का भी अभाव

१—जैन न्याय, पृ० ६४-६५,

२—साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्।

दिखाया जाय वह विपक्ष है (सरोवर)। जिसमें ये तीनों लक्षण मिले वही सम्यक् हेतु है। जैसे इस पर्वत पर अग्नि नहीं होगी वहाँ धूम भी नहीं होता, जैसे सरोवर। हेतु का यह लक्षण असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक दोषों से विरहित है। अतः त्रैरूप्य ही हेतु का निर्दोष स्वरूप है।[1]

अनुमान के दो भेद हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान वह ज्ञान है जो निश्चित साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान कराये और परार्थानुमान वह ज्ञान है जो अविनाभावी साध्यसाधन के वचनों से साध्य का ज्ञान कराये। इस परिभाषा के आधार पर स्वार्थानुमान को ज्ञानात्मक और परार्थानुमान को शब्दात्मक कहा जा सकता है। स्वार्थानुमान के तीन अंग हैं—धर्मी, साध्य और साधन। धर्मी को पक्ष भी कहा जाता है।

उपर्युक्त हेतु के स्वरूप को नैयायिक पञ्चरूप वाला मानते है—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। त्रैरूप्यवादी बौद्ध हेतु के इस पञ्चरूप में से अबाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व को अनावश्यक मानते हैं। तथा अविनाभाव को तादात्म्य और तदुत्पत्ति से नियत बताते हैं। वहाँ हेतु के तीन भेद कहे गये हैं—स्वभाव हेतु, कार्य हेतु और अनुपलब्धि हेतु। प्रथम दो हेतु विधिसाधक है और अन्तिम हेतु प्रतिषेध साधक है। जैन दर्शन में हेतु के स्वभाव, व्यापक, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर भेद किये गये है। जैन दर्शन मे अकलंक ने हेतु के सामान्यतः दो भेद किये हैं—उपलब्धिरूप और अनुपलब्धिरूप। ये हेतु विधेयात्मक और प्रतिषेधात्मक होते हैं। उनमें प्रत्येक के ६ भेद हैं—स्वभाव, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर। बौद्धदर्शन में स्वभाव और कार्य ये दो ही भेद स्वीकार किये गये हैं। जैनदर्शन में हेतु का एक ही रूप माना गया है—अविनाभाव नियम। उसके दो भेद हैं—सहभाव नियम और क्रमभाव नियम।

न्याय दर्शन में परार्थानुमान के पाँच अवयव माने जाते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इनमें जैन दर्शन में प्रतिज्ञा और हेतु को आवश्यक माना गया है। परन्तु बौद्ध दर्शन केवल हेतु के प्रयोग को ही आवश्यक मानता है। उनके अनुसार पक्ष का प्रयोग निष्प्रयोजन है। मात्र हेतु के प्रयोग से ही गम्यमान पक्ष में साध्य का ज्ञान हो जाता है। सांख्य और मीमांसक उक्त पाँच हेतुओं में उपनय और निगमन को आवश्यक नहीं मानते।

१—न्या० कु० च० पृ० ४३८, हेतुस्वरूप. न्यायप्रवेश, पृ० १, प्रमाण वा० ३.१४

हेत्वाभास—हेतु के स्वरूप से विरहित होकर भी जो हेतु की तरह प्रतिभासित होता हो वह हेत्वाभास कहलाता है। नैयायिक हेतु के पञ्च रूप के समान पाँच हेत्वाभास मानते हैं—असिद्ध, विरुद्ध अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम। बौद्ध त्रैरूप्य के रूप में तीन हेत्वाभास मानते हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। जैन दर्शन में भी साधारणतः इन्हीं हेत्वाभासों को स्वीकार किया गया है। पर अकलंक मात्र असिद्ध को हेत्वाभास मानते हैं।

वादविवाद—वादविवाद की परम्परा भारतीय संस्कृति में बहुत प्राचीन है। मिलिन्दपञ्ह में वाद के दो रूपों का उल्लेख आया है—पण्डितवाद और राजवाद। पण्डितवाद में शैक्षणिक स्तर पर वादविवाद किया जाता है। पर राजवाद में कठोर अनुशासन बना रहता है। न्यायशास्त्र में इसके तीन भेद मिलते हैं—वाद, जल्प और वितण्डा। वीतरागकथा को वाद कहा जाता है। इसमें तत्त्वनिर्णय करना मुख्य उद्देश्य है। यहाँ छल, जाति आदि निग्रह स्थानों का प्रयोग नहीं किया जाता। परन्तु जल्प और वितण्डा में जय-पराजय की भावना होती है और उसमें छलादि निग्रह स्थानों का यथासंभव प्रयोग किया जाता है। बौद्धदर्शन में उपायहृदय आदि ग्रन्थों में निग्रहस्थानों का प्रयोग प्रचलित रहा है परन्तु धर्मकीर्ति ने उनका प्रयोग अनुचित बताया है। यहाँ अहिंसा का दृष्टिकोण प्रमुख रहा है। इसलिए धर्मकीर्ति ने असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन नामक दो निग्रहस्थानों को स्वीकार किया है।

शब्द अथवा आगमप्रमाण—शब्द अथवा आगम प्रमाण भी विवादास्पद विषय है। वैशेषिक शब्द को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत रखते हैं। मीमांसक शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध बताते है तथा शब्द को नित्य मानकर वेद को अपौरुषेय मानते हैं। वैयाकरणों के अनुसार शब्द क्षणिक होने से वे अर्थबोधक नहीं होते अतः वे स्फोट नामका एक अन्य नित्य तत्त्व मानते हैं तथा यह मत व्यक्त करते हैं कि संस्कृत शब्दों में ही अर्थबोधक शक्ति होती है। पालि-प्राकृत आदि देशी भाषाओं में उस शक्ति का अभाव है। जैन दार्शनिक शब्द या आगम प्रमाण को तीर्थङ्कर के वचनों से निबद्ध साक्षात् या प्रणीत ग्रन्थों तक ही सीमित नहीं रखते, बल्कि व्यवहार में संकेतादि से उत्पन्न ज्ञान को भी आगम प्रमाण में गर्भित कर लेते हैं। परन्तु बौद्ध[1] शब्द को ही प्रमाण नहीं मानते क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ उनकी दृष्टि में न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति। उनकी दृष्टि में शब्द विकल्प वासना से उत्पन्न होते हैं। अतः वे बाह्यार्थ का ग्रहण कराने में असमर्थ हैं। जैसे

१. प्रमाण वा. टी., ३. २१२; तत्त्वसंग्रह, पृ-५४०

"अंगुलि के अग्रभाग में सौ हाथी हैं।"[1] इस प्रकार के तथ्यहीन वाक्यों के उच्चारण में व्यक्ति अथवा वक्ता दोषी नहीं। क्योंकि यदि वक्ता गूंगा हो तो वह इस प्रकार का असत्य ज्ञान नहीं करा सकता। इस प्रकार के ज्ञान उत्पन्न करने में तो शब्दों की ही महिमा मूल कारण है। अतः पुरुष भी यदि वे शब्द बोलेगा तब भी असत्य ज्ञान होगा। अतः विकल्प वासना से शब्दों का जन्म होता है और शब्दों से विकल्पों का जन्म होता है। शब्द अर्थ का स्पर्श भी नहीं करता।

बौद्धदर्शन में श्रुत को अविसंवादि नहीं माना है। उसक चिन्तन है कि जिस शब्द का प्रयोग सत् अर्थ में होता है वही शब्द अर्थ के अभाव में भी देखा जाता है। अतः शब्द विधि रूप से कथन नहीं करते। इसलिए अन्यापोह को ही शब्दार्थ मानना चाहिए। बौद्ध दृष्टि में शब्द और लिंग का विषय माना जाय तो वह बाह्य अर्थ न स्वलक्षण रूप हो सकता है और न सामान्य रूप हो सकता। सामान्य रूप में अर्थ भी शब्द का विषय इसलिए नहीं है कि वास्तविक सामान्य ही असम्भव है, अर्थ क्रियाकारी न होने के कारण। अपोह (निषेध) के दो पर्युदास और भेद हैं प्रसज्य। पर्युदास भी दो प्रकार का है—बुद्धिरूप और अर्थरूप। सविकल्पक ज्ञान में अर्थाकार रूप से जो अर्थ का आभास होता है उसे अपोह कहा जाता है। जिसके द्वारा अन्यका अपोह (निषेध) किया जाय उसे अन्यापोह कहते हैं। वह अन्यापोह शब्द का मुख्य रूप से अभिधेय है। तात्पर्य यह है कि शब्दज्ञान में जो प्रतिभासित हो उसे ही शब्दार्थ मानना उचित है। शब्द ज्ञान में न तो प्रसज्यप्रतिपेध (तुच्छाभावरूप) का ही अध्यवसाय होता है और न स्वलक्षण का ही प्रतिभास होता है। किन्तु बाह्यार्थ की निश्चायक एक शाब्दी बुद्धि उत्पन्न होती है। अतः उसे ही शब्दार्थ मानना चाहिए। शब्द का अर्थ के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध भी कार्य कारण भाव से भिन्न नहीं है क्योंकि बुद्धि में जो अर्थ का प्रतिबिम्ब होता है वह शब्द-जन्य है इसलिए उसे वाच्य कहते हैं और शब्द का जनक होने से वाचक कहते हैं।[2]

इस प्रकार बौद्ध धर्म ने दार्शनिक क्षेत्र में आकर चिन्तन की भूमिका को आगे बढ़ाया। आध्यात्मिक सिद्धान्तों को दार्शनिक रूप देना और उस पर अपने ढंग से विचार प्रस्तुत करना बौद्ध दार्शनिकों का विशेषता है। दर्शन के क्षेत्र में यह उनका अविस्मरणीय योगदान कहा जा सकता है।

—: ० :—

---

१. प्रमाण वा. टी. १, पृ० २८८, जैन न्याय, पृ. १३६

२—जैन न्याय, पृष्ठ २४३–२४६

परिवर्त ६

बौद्ध विनय की उत्पत्ति और विकास

विनय का यहाँ विशेष रूप से सम्बन्ध उपासक—उपासिकाओं एवं भिक्षु-
णियों के लिए निर्धारित उन नियमों से है, जिनसे वे मुक्ति-पथ को प्रशस्त
हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति में प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय के विशिष्ट नियम
करते थे। परिव्राजक सम्भवत: एक सर्व सामान्य सन्यासी जीवन का
कात्मक शब्द था। श्रमण परिव्राजक और ब्राह्मण परिव्राजक जैसे शब्दों
योग जैन तथा बौद्ध साहित्य में बहुत अधिक मिलता है। वैदिक साहित्य में
तस, वानप्रस्थ, ब्रह्मचर्य, सन्यास आदि शब्दों का प्रचलन प्रचुरता से हुआ है।
जैन एवं बौद्ध संस्कृति में अनगार अथवा भिक्खु शब्दों ने लोकप्रियता पायी
सभी सम्प्रदायों मे सांसारिक स्नेहजाल को मुक्ति प्राप्ति का प्रमुख बाधक
स्वीकार किया गया है। इसी बाधक तत्त्व को समाप्त करने के लिए
का आचरण किया जाता है। इसी सन्दर्भ में बौद्ध विनय पर हम
र करेंगे।

भिक्षु (भिक्खु) विनय

बौद्ध विनय की उत्पत्ति तथागत भगवान् बुद्ध से ही हुई है। सम्बोधि प्राप्ति
द बुद्ध ने सर्वप्रथम पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को धर्मोपदेश दिया। उनमें
डञ्य को मध्यम मार्ग और चतुरार्यसत्य का ज्ञान होने पर "जो कुछ उत्पन्न
ाला है वह नाशवान् है" यह बिरज निर्मल धर्मनेत्र उत्पन्न हो गया। उसका
रण करने पर वप्प भद्दिय, महानाम और अश्वजित को भी धर्मचक्षु प्राप्त हो
पञ्चवर्गीय भिक्षुओं ने भगवान् से प्रव्रज्या और उपसम्पदा की याचना
भगवान् ने "एहि भिक्खु, स्वाक्खातो धम्मो चरं ब्रह्मचरियं सम्मा
ख़स्स अन्त किरियाय" (भिक्षुओ! आओ, धर्म सुव्याख्यात है, अच्छी तरह
क्षय के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करो,) कहकर उन्हें अपने संघ में प्रविष्ट किया।

भिक्षु संघ के निर्माण का यह श्रीगणेश था। बाद में वाराणसी के श्रेष्ठी पुत्र यश उसके मित्र विमल, सुबाहु, पूर्णजित और गवाम्पति ने भी बुद्ध की प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा ग्रहण की। उनकी उपसम्पदा को सुनकर पचास अन्य गृहपतियों ने भी आकर भगवान् से विरजचक्षु प्राप्त किये और दीक्षा ली।

इस प्रकार बुद्ध के संघ में कुल एकसठ भिक्षु हो गये। अब भगवान् के मन में अपने धर्म के प्रचार-प्रसार की बात आयी। उन्होंने इन भिक्षुओं से कहा—"हम सभी दिव्य और मानुष बन्धनों से दूर हैं। भिक्षुओ! बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर अनुकम्पा करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। आदिकल्याणकारी, मध्यकल्याणकारी और अन्तकल्याणकारी इस धर्म का उपदेश करो। सार्थ, सव्यञ्जन, केवल परिपूर्ण और परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो। ये सांसारिक प्राणी अल्प दोषवान् हैं। धर्म का श्रवण न करने से उनकी हानि होगी और सुनने से वे धर्मज्ञ होंगे।"[1] इन भिक्षुओं को बुद्ध ने प्रव्रज्या और उपसम्पदा देने का अधिकार देकर नाना दिशाओं में धर्म-प्रचारार्थ भेज दिया। इस समय उपसम्पदा देने का प्रकार यह था—पहिले सिर दाढ़ी का मुण्डन कराया जाता, फिर काषाय वस्त्र पहनाया जाता, बाद में उसे एक कन्धे पर रखकर भिक्षुओं की पादवन्दना करायी जाती तथा उकड़ूं बैठाकर अञ्जलि से प्रणाम कराकर तीन बार यह कहलाया जाता—बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि। बौद्ध विनय के विकास का यह द्वितीय चरण था।

इन भिक्षुओं को उपसम्पदा देने का अधिकार देकर बुद्ध स्वयं भी उरुवेला (गया) की ओर धर्म-प्रचार के उद्देश्य से ही चल पड़े। बीच में वनखण्ड में ध्यान करते समय भद्रवर्गीय तीस मित्र आये और उन्हें उपसम्पदा दी। उरुवेला पहुँचकर बुद्ध ने जटिल बन्धुओं (उरुवेल, नदी और गया काश्यप) को

---

१. मुत्ताहं, भिक्खवे, सब्बपासेहि ये दिब्बा ये च मानुसा। तुम्हे पि भिक्खवे मुत्ता—चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। मा एकेन द्वे अगमित्थ। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सब्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ। सन्ति सत्ता अप्परजक्ख जातिका अस्सवनता धम्मस्स परिहायन्ति भविस्सन्ति धम्मस्स अञ्ञातारो—महावग्ग. पृ. २३

पन्द्रह प्रातिहार्य दिखाकर अपने संघ में दीक्षित किया। उनके साथ ही उनके एक सहस्र शिष्य भी भगवान् के अनुगामी हो गये। राजगृह में पहुँचने पर मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार ने तथागत की शरण ली और भिक्षुसंघ के लिए वेणुवन भेंट किया। २५० शिष्यों के साथ संजय से भी यहीं भेंट हुई। संजय के शिष्य सारिपुत्र को बुद्ध के शिष्य अश्वजित ने संलाप के बीच अपने गुरु का नाम बताया और उनके मूल सिद्धान्त को उपस्थित किया—

ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो॥

सारिपुत्र (उपतिष्य) को यह धर्मपर्याय रुचिकर लगा। उसका मित्र मौद्गल्यायन (कोलित) भी प्रसन्न हुआ। फलत: संजय अपने शिष्य परिवार के साथ बुद्ध की शरण मे आ गया। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन बुद्ध के प्रधान शिष्य हो गये। तथागत बुद्ध के संघ की यह वृद्धि विशेष फलदायी रही।

इस समय तक भगवान् बुद्ध के संघ में लगभग १५०० भिक्षु हो चुके थे। उपाध्याय के बिना वे अनुशासनहीन और प्रभावहीन दिखाई देते थे। संघ की यह कमी जानकर बुद्ध ने भिक्षुओं को उपाध्याय ग्रहण करने की अनुमति दी। इस प्रसंग में विनय पिटक (महावग्ग) में उपाध्याय और शिष्य के कर्तव्यों का आलेखन किया गया है। उनके गुणो और अवगुणों पर भी प्रकाश डाला गया है। तदनुसार शिष्य मे ये पाँच गुण होना चाहिए—उपाध्याय के प्रति अति-प्रेम हो, श्रद्धा हो, लज्जाशील हो, गौरव देनेवाला हो और ध्यानादि की अधिक भावना करता हो। इसी प्रकार उपाध्याय के भी शिष्य के प्रति कर्तव्य बताये गये हैं कि वह शिष्य को उपदेश दे, पात्र दे, चीवर दे और रोगग्रस्त हो जाने पर परिचर्या करे। उत्तराध्ययन (प्रथम अध्ययन) में भी इसी प्रकार शिष्य और उपाध्याय के कर्तव्यों का वर्णन मिलता है। कल्याणमित्र ही सही अर्थ में उपाध्याय है। विनय के विकास का यह तृतीय चरण है।

इसके बाद कुछ परिस्थितियों के कारण तथागत ने उपसम्पदा के नियमों में परिवर्तन किया। अब ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारण के माध्यम से उपसम्पदा दी जाने लगी। उपसंपदा योग्य भिक्षु के लिए संघ को इस प्रकार ज्ञापित करना आवश्यक था।

१. ज्ञप्ति—भन्ते! संघ मुझे सुने, अमुक नामक, अमुकनाम के आयुष्मान् का उपसंपदापेक्षी है। यदि संघ उचित समझे, तो संघ अमुक नामक को, अमुक नामक के उपाध्यायत्व में उपसम्पन्न करे।

२. अनुश्रावण—भन्ते ! संघ मुझे सुने, अमुक नामक, अमुक नामके आयुष्मान् का उपसंपदापेक्षी है। संघ अमुक नामक को अमुक नामक के उपाध्यायत्व में उपसम्पन्न करता है। जिस आयुष्मान् को अमुक नामक की उपसंपदा अमुक नामक के उपाध्यायत्व में स्वीकार है, वह चुप रहे, जिसको स्वीकार न हो, वह बोले। इस बात को संघ के समक्ष तीन बार कहा जाता।

३. धारणा—संघ को स्वीकार है, इसलिए चुप है—ऐसा समझता हूँ।

भिक्षु जब तक स्वयं उपसम्पदा की याचना न करे, उसे उपसम्पन्न नहीं किया जाता। उपसम्पदा देते समय भिक्षु को स्पष्ट रूप से बताना चाहिए कि उसे चार निश्रयों (जीविका के साधनों) का पालन करना होगा—(१) भिक्षा मांगना और पुरुषार्थ करना। संघ भोज, उद्दिष्ट भोजन, निमन्त्रण, शलाका भोजन, पाक्षिक भोजन आदि भी विहित हैं। (२) श्मशान आदि में पड़े चिथड़ों से चीवर तैयार करना। क्षौम, कापासिक, कौशेय, कम्बल आदि का वस्त्र भी विधेय हैं। (३) वृक्ष के नीचे निवास करना। विहार, आढ्य योग, प्रासाद, हर्म्य, गुहा आदि भी विहित है। (४) गोमूत्र की औषधि का ग्रहण करना। घी, मक्खन, तेल, मधु, खांड़ अधिक लाभ में विधेय हैं। मूलतः ये चार निश्रय थे। इनमें अधिक लाभ को विधेय बाद में किया गया। बौद्ध विनय का यह चतुर्थ चरण है।

धीरे-धीरे उपसम्पदा के नियमों-विधानों में भी अन्तर होता गया। हर नियम के पीछे किसी घटना विशेष का हाथ रहा है। अब उपसम्पदा का विधान हुआ कि उपसम्पदा दस या दस से अधिक पुरुष वाले गण द्वारा दी जाय तथा उपसम्पदा पानेवाला भिक्षु भी चतुर और जानकार हो और दस अथवा दस से अधिक वर्ष की अवस्था वाला हो। उपाध्याय के अभाव में आचार्य करने की भी अनुमति दी गई। आचार्य-शिष्य में पिता-पुत्रवत् संबंधों का निर्देशन मिला। उपाध्याय और आचार्य से शिष्यत्व (निश्रय) तभी विच्छिन्न माना जाता जब वे आश्रम छोड़कर चले गये हों, या विचार-परिवर्तन कर लिया हो, या काल-कवलित हो गये हों, या धर्मान्तर ग्रहण कर लिया हो अथवा उसकी स्वीकृति दे दी हो। उपसम्पदा अथवा प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक था कि साधक सम्पूर्णतः शील सम्पन्न हो, समाधिसम्पन्न हो, प्रज्ञावान् हो, राग-द्वेषादि से विमुक्त हो, विमुक्ति-ज्ञान के साक्षात्कार-पुञ्ज से युक्त हो, श्रद्धालु हो, लज्जाशील, संकोची, उद्योगी, स्मृति - सम्पन्न, दोषज्ञ, सेवाभावी, कल्याणमित्र और प्रातिमोक्ष सम्पन्न हो। अन्य सम्प्रदाय में रहने वाले व्यक्ति के लिए चार माह का परिवास दिया जाता पर शाक्य जातीय,

ष (जैन) और जटिलक साधु इस परिवास के नियम से मुक्त थे क्योंकि
र्मवादी और क्रियावादी थे।[1] प्रव्रज्या ग्रहण करने की भी कुछ योग्यतायें
रित की गई। निम्नलिखित व्यक्ति प्रव्रज्या के अयोग्य होते थे—कुष्ठ, फोड़ा,
ोग, सूजन और मृगी बीमारियों से पीड़ित राजसैनिक, ध्वजबन्ध डाकू, चोर,
दण्ड प्रापक, ऋणी और दास। आगे उपसम्पदा पाने वालों की अवस्था
ीस कर दिया गया और श्रामणेर की अवस्था को पन्द्रह निश्चित किया
। एक भिक्षु एक अथवा जितने श्रामणेरों को अनुशासित कर सके, उतनी
ा में श्रामणेर रख सकता था। श्रामणेर को दस शिक्षापदों का पालन करना
श्यक बताया गया—पाणातिपात, अदिन्नादान, मुसावाद, सुरामेरयमज्ज-
दट्ठान, विकालभोजन, नच्चगीतवादित विसूकदस्सन, मालागन्ध, विलेपन
गमण्डन, विसूसनट्ठान, उच्चासयनमहासयन और जातरूपरजतपटिग्गहण से दूर
ा (वेरमण) वे श्रामणेर दण्डनीय होते थे जो भिक्षुओं के अलाभ, अनर्थ,
ास, निन्दा और संघर्ष के चालक होते थे। दण्ड में उन श्रामणेरों को संघाराम
वासस्थल में प्रवेश नहीं करने दिया जाता। कुछ ऐसे कर्म भी होते
जनके प्रतिफल स्वरूप श्रामणेर का निष्कासन भी कर दिया जाता, जैसे—
ंहिसा करना, चोरी करना, अब्रह्मचारी होना, झूठ बोलना, मद्यपान करना,
धर्म-संघ की निन्दा करना, मिथ्यादृष्टि सम्पन्न हो जाना और भिक्षुणी दूषक
होना। बाद मे उपसम्पदा के अयोग्य व्यक्तियों में कुछ और सम्मिलित कर
गये। जैसे-पंडक (नपुंसक), अन्य तीर्थिकगामी, नाग (जाति ?), मातृ-
', पितृहन्ता, अर्हत्हन्ता, स्त्री-पुरुष दोनों लिङ्गवाला, पात्ररहित, चीवर
त, आदि। प्रव्रज्या के लिए भी अयोग्य व्यक्तियों की गणना की गई है।
—कटे हाथ-पैर -कान-नाक-अंगुलिवाला, पोर, कुबड़ा, बौना, लक्षणाहत,
त, लिखितक, लूला, लंगड़ा, पक्षाघाती, ईर्यापथरहित, जराग्रस्त, अन्धा,
, बहरा आदि। प्रव्रज्या के लिए भी साधक के माता-पिता की आज्ञा
अनिवार्य हो गया। अन्त में उपसम्पदा ग्रहण करने के लिए निम्न
निर्धारित हुई, उदाहरणार्थ-साधक को किसी प्रकार का रोग न हो जैसे—
गन्ड, किलास, शोथ, मृगी। मनुष्य हो, पुरुष हो, स्वतन्त्र हो, ऋणमुक्त हो,
सैनिक न हो, माता-पिता से अनुमित हो, बीस वर्ष का हो, पात्र-चीवर आदि
क्त हों। उपसम्पदा के साथ उसका और उसके उपाध्याय का नाम भी पूछा
ा। ज्ञप्ति, अनुश्रवण और धारणापूर्वक उपसम्पदा कर्म कर दिया जाता।
विनय के विकास का यह पञ्चम चरण है। प्रत्येक चरण अनेक सोपान

१. महावग्ग, पृ० ७५

के साथ स्थिर हो सका, यह घटनाओं से प्रमाणित है ही। इसके बाद भी विकासात्मक चरण स्थिर नहीं रहा।

उपोसथ—उपोसथ का तात्पर्य है—भिक्षु संघ एकत्रित होकर धर्मोपदेश करे। प्राचीनकाल में बौद्धेतर मतावलम्बी, विशेषत: जैनधर्मानुयायी चतुर्दशी, पूर्णमासी और अष्टमी को एकत्रित होकर धर्मोपदेश किया करते थे। श्रेणिक बिम्बिसार के कहने पर तथागत बुद्ध ने भी इस विधान को अपने संघ के लिए निर्धारित किया। पातिमोक्ख (प्रातिमोक्ष) भी इसी से सम्बद्ध है। पातिमोक्ख का अर्थ है, भिक्षु-जीवन के विभिन्न नियम। महावग्ग में पातिमोक्ख को कुसल धर्मों में प्रमुख बताया है (आदिमेतं मुखमेतं पमुखमेतं कुसलानं धम्मानं)। उपोसथ के दिन भिक्षु एकत्रित होकर प्रातिमोक्ष की आवृत्ति किया करते हैं। उपोसथ के लिए सीमा-निर्धारण भी किया गया है। पर्वत, पाषाण, वन, वृक्ष, मार्ग, वल्मीक, नदी, उदक आदि चिन्ह निश्चित कर दिये जाते हैं, जिसकी सूचना संघ को दे दी जाती है। कोई विहार, अटारी-प्रासाद, हर्म्य, गुहा आदि उपोसथागार के रूप में निश्चित कर दिया जाता जहाँ सभी भिक्षु पूर्व सूचना पाकर स्थविर भिक्षु के पास उपोसथ के लिए एकत्रित होते हैं। उपोसथ के चार कर्म हैं—संघ के कुछ भागका धर्म विरुद्ध उपोसथ कर्म करना, समग्र संघ का धर्म विरुद्ध उपोसथ करना, भाग का धर्मानुकूल उपोसथ करना और समग्र का धर्मानुकूल उपोसथ करना। इनमें अन्तिम कर्म विधेय है।

प्रातिमोक्ष—प्रातिमोक्ष और उपोसथ का अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। भिक्षु नियमों के निश्चित हो जाने पर उपोसथके दिन प्रातिमोक्ष किया जाने लगा। आवृत्ति के पांच क्रम निर्धारित हुए—(१) निदान का पाठ करना, (२) निदान और पाराजिकों का पाठ करना, निदान, पाराजिक और संघादिशेषों का पाठ करना, (४) निदान, पाराजिक, संघादिशेष और अनियत धर्मों का पाठ करना, और (५) विस्तार के साथ प्रातिमोक्ष का पाठ करना। आपत्ति काल में प्रातिमोक्ष का संक्षिप्त पाठ करना भी विधेय माना गया। ऐसी स्थिति में शेष प्रतिमोक्ष को स्मृति से श्रुत मान लिया जाता है। आपत्तिकाल (अन्तराय) ये हैं—राज, चोर, अग्नि, उदक, मनुष्य, अमनुष्य, हिंसक सरीसृप, जीवन, और ब्रह्मचर्य। भिक्षु-संघ से स्वीकृति लेकर ही परस्पर में विनय पूछने की प्रक्रिया थी। और अवकाश लेकर दोषारोपण किया जाता था। नियम-विरुद्ध काम यदि कोई भिक्षु करे तो चार-पाँच भिक्षु उसे धिक्कारें, दो-तीन भिक्षु उसे अभिव्यक्त करें और एक भिक्षु यह कहे कि चूंकि यह

र नहीं। प्रातिमोक्ष का पाठ गृहस्थ-युक्त परिषद् में निषिद्ध किया गया है।
। आवृत्ति चतुर और समर्थ भिक्षु के आश्रय में होनी चाहिए। भिक्षु यदि
यात्रा के लिये जाये तो उसे भिक्षु संघ के (उपाध्याय) से अनुमति लेनी
ए। आवास में यदि बहुश्रुत, आगमज्ञ, धर्मधर, विनयधर, मात्रिकाधर भिक्षु
तो उनकी सेवा करनी चाहिए। यदि आवास में प्रातिमोक्ष को जानने वाला
न हो तो ऐसे आवास में चला जाय जहां उपोसथ कर्म अथवा प्रातिमोक्ष-
ि जानकर भिक्षु रहते हों। उपोसथ या संघकर्म में सभी भिक्षुओं को
पत होना आवश्यक है। यदि भिक्षु रोगी हो अथवा उसको उसके परिवारजन
ना चाहें, उसे राजा, चोर, बदमाश पकड़ लें तो उससे अपनी परिशुद्धि
ि समक्ष भेज देनी चाहिए। यदि यह संभव न हो तो भिक्षु संघ के एक
ो उपोसथ नहीं करना चाहिए। यदि कोई भिक्षु उन्मत्त हो गया हो तो उसके
संघ उपोसथ करे ऐसा प्रस्ताव आना चाहिए। उपोसथ कर्म के लिए अपेक्षित
। चार बतायी गई है पर कदाचित् तीन अथवा दो भी हों तो उन्हें परस्पर
शुद्धो अहं आवसो,परिशुद्धो ति मं धारेथ"यह वचन तीन बार कहना चाहिए।
भिक्षु अकेला हो तो उसे उपोसथ करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिए। यदि कुछ
' विरुद्ध कार्य हुए हों तो उनकी स्वीकृति पूर्वक उनका प्रतिकार हो नाचाहिए।
किसी आवास में चार या अधिक आश्रमवासी भिक्षु हों तो उन्हें उपोसथ
न एकत्रित हो प्रातिमोक्ष का पाठ करना चाहिए। अन्य आश्रमवासी भिक्षु
उनकीसंख्या से अधिक हों तो प्रातिमोक्ष का पाठ पुन. करना चाहिए, अन्यथा
बतलानी चाहिए। सन्देह, संकोच, कटूक्तिपूर्वक अथवा अनुपस्थिति को
बिना किया गया उपोसथ सदोष माना गया है। इन दोषों को दूर करने
प्रातिमोक्ष का पाठ पुन: होना आवश्यक है। उपोसथ की दो तिथियों में
संख्या के आधार पर एक तिथि की स्वीकृति दी जाती है। आवासिकों तथा
न्तुकों में उपोसथ पृथक् रूप से नहीं किया जाता प्रत्युत उनकी संख्या के
ार उसका निर्धारण होता है। उपोसथ के दिन आवास त्यागने के भी
। बनाये गये हैं। साधारणत: उस दिन आवास छोड़ा नहीं जाता। यदि
ों विशिष्ट परिस्थितियों में छोड़ना भी पड़े तो भिक्षुको ऐसे आवास में जाना
ए जहां सहधर्मी हों और जहां उसी दिन पहुंचा जा सके। प्रातिमोक्ष-
के लिए भी परिषद् के कुछ नियम हैं। यह परिषद् ऐसी होनी चाहिए
निम्न प्रकार के व्यक्ति उपस्थित न हों—भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेर,
णेरी, पाराजिक दोषी, पापदिट्ठिगत, तीर्थिकगत, मातृ-पितृ घातक, अर्हद्
क, भिक्षुणी दूषक, पण्डक, संघभेदक आदि। इन नियमों के अतिरिक्त यह
नियम बना कि उपोसथ की समूची प्रक्रिया उपोसथ के ही दिन पूरी होनी

चाहिए। उपोसथ और प्रातिमोक्ष का विधान ही बौद्ध विनय के विकास का षष्ठ चरण कहा जा सकता है।

वर्षावास—वर्षावास का विधान यातायात की असुविधा तथा वर्षा के कारण उत्पन्न होने वाले जीवों के उपघात से बचने के लिए किया गया है। वैदिक तथा जैन संस्कृति मे भी यह मान्य है। जैन भिक्षु वर्षावास करते थे और हरित तृणों पर विचरण करने से अपने आपको बचाते थे। परन्तु बौद्ध भिक्षु न वर्षावास करते थे और न हरित तृणों को बचाते थे। बुद्ध के समक्ष यह बात रखी गयी। फलतः उन्होने बौद्ध भिक्षुओं के लिए वर्षावास आवश्यक कर दिया[1]।

वर्षावास आसाढ़ पूर्णिमा अथवा श्रावण पूर्णिमा के दूसरे दिन से प्रारम्भ होता है जिसमे तीन माह तक स्थान परिवर्तन करना निषिद्ध है। यदि निम्न लिखित व्यक्तियों का सन्देश अथवा कार्य हो तो भिक्षु एक सप्ताह के लिए वर्षावास तोड़कर बाहर जा सकता है। भिक्षु, भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेर, श्रामणेरी, उपासक, और उपासिका। बिहारादि का दान तथा पुत्र-पुत्री आदि के विवाह मे उपस्थित होना भी इसी के अन्तर्गत आ जाता है। विनय पिटक मे कुछ ऐसी परिस्थितियो का भी वर्णन है जिनमें संदेश के बिना भी भिक्षु-भिक्षुणी एक सप्ताह के लिए बाहर जा सकते हैं। उदाहरणार्थ भिक्षु को यदि रोग, अनभिरति, कौकृत्य, मिथ्यादृष्टि, गरुधर्म आदि उत्पन्न हो गये हों तो भिक्षु बिना संदेश पाने पर भी उनकी सहायता करने जा सकता है। किन्ही विशेष परिस्थितियों मे स्थान-त्याग की भी अनुमति दी गई है। जैसे वन्य पशु, सरीसृप, चोर, पिशाच, अग्नि, जल, आदि का भय, अनुकूल भोजनादि की प्राप्ति न होना, गणिका, स्थूल कुमारी, पडक, ज्ञातिजन, भूपति, चोर आदि का आह्वान, कोषागार का दर्शन, और संघ भेद को रोकना। वृक्ष-कोटर, वृक्ष-वाटिका, अभ्यकास, अशयन, शवकुटिका, छत्रवास, चाटीवास, आदि मे वर्षावास करना विधेय नही है।

प्रवारणा—वर्षावास के बाद भिक्षु संघ एकत्रित होकर अपने अपराधों का संदर्शन करता है। इसी को प्रवारणा कहा गया है। इसमे दृष्ट, श्रुत और परिशङ्कित अपराधों का परिमार्जन किया जाता है और परस्पर मे विनय का अनुमोदन होता है—

---

१. महावग्ग (विनय) पृ. १४४

अनुजानामि भिक्खवे, वस्सं वुट्ठानं भिक्खूनं तीहि ठानेहि पवारेतुं—दिट्ठेन वा सुतेन वा परिसङ्काय वा। सा वो भविस्सति अञ्ञमञ्ञानुलोमता आपत्तिवुट्ठानता विनयपुरेक्खारता।[1]

प्रवारणा की प्रक्रिया यह है कि सर्वप्रथम चतुर, समर्थ भिक्षु संघ को सूचित करे कि आज प्रवारणा है। बाद में स्थविर भिक्षु उत्तरासंग को एक कन्धे पर रखकर उकड़ूं बैठे तथा हाथ जोड़ कर संघ को यह सूचित करे कि मैं दृष्ट, श्रुत और परिशंकित अपराधों की प्रवारणा करता हूं। संघ मेरे अपराधों को बताये। मैं उनका प्रतिकार करूंगा। यह बात तीन बार दुहरायी जाती है। नवीन भिक्षु को भी प्रवारणा इसी प्रकार लेनी पड़ती है। उपोसथ में अपने अपराधों की पाक्षिक परिशुद्धि हो जाती है और प्रवारणा में वार्षिक परिशुद्धि हो जाती है। प्रवारणायें दो होती हैं—चतुर्दशी की और पञ्चदशी की। इसके चार कर्म होते हैं—धर्म विरुद्ध वर्ग का प्रवारणा कर्म, धर्म-विरुद्ध सम्पूर्ण संघ का प्रवारणा कर्म, धर्मानुसार वर्ग का प्रवारणा कर्म और धर्मानुसार सम्पूर्ण संघ का प्रवारणा कर्म। प्रवारणा कर्म में कम से कम पांच भिक्षु रहना चाहिए। बाद में चार, तीन, दो और एक भिक्षु को भी प्रवारणा करने की अनुमति दे दी गई। प्रवारणा कर्म तीन बार दोहराया जाता है, पर विशिष्ट अवस्था मे दो वचन और एक वचन की भी प्रवारणा विधेय मानी गई है। शबर भय, भिक्षु कलह, वर्षा, चोर, अग्नि, जल, मानव, अमानव, हिंसक जन्तु सरीसृप, मरण, शीलपतन आदि के भय की संभावना होने पर प्रवारणा को अधिक से अधिक संक्षिप्त किया जा सकता है। भिक्षुओं के कुछ दोष ऐसे होते हैं जबकि उनकी प्रवारणा को स्थगित कर दिया जाता है। जैसे—भिक्षुओं को अवकाश न करना, अथवा किसी की प्रवारणा को अनुचित रूप से स्थगित रखना। यदि कोई भिक्षु अपने दोष का निह्नव करे तो हठात् उसकी प्रवारणा करानी चाहिए। विशेष आवश्यकता होने पर प्रवारणा को संघ की स्वीकृति पूर्वक किसी अन्य समय में भी किया जा सकता है।[2] वर्षावास और प्रवारणा के विधान को बौद्ध विनय के विकास का सप्तम चरण कहा जा सकता है।

उपानह—विनय पिटक में भिक्षु को केवल एक तल्ले वाले (एक पलासिक) जूते पहनने का विधान मिलता है। इस प्रसंग में उस समय प्रचलित जूतों का सुन्दर आलेखन है। बुद्धकाल में नीली, पीली, काली, मजीठिया,

---

१. महावग्ग पृ० १६७

२. महावग्ग पवारणाक्खन्धक

महारंग, और महानाम से रंगी पत्ती वाले जूते पहने जाते थे। खल्लकबद्ध, पुटबद्ध, पालिगुण्ठिम, तूलपूर्णिक, तित्तिरपत्तिक, मेण्ड विसाणबद्धिक, विच्छिकालिक, मयूरपिच्छ-परिशिल्पित, चित्रित सिंह, व्याघ्र, चीता, हरिण, ऊदबिलाव, मार्जार, कालक, उलूक आदि पशु-पक्षियों के चर्म के जूते बनते थे। ये जूते भिक्षु वर्ग के लिए असेवित थे। पुराने अनेक तल्लों के जूतों की भी स्वीकृति बाद में दे दी गई। आराम में भी उपानह, मसाल, दीपक और दण्ड रख सकते थे। काठ, ताड़पत्र, बांस, तृण, मूंज, बल्वज, हिंताल, कमल, कम्बल आदि से पादुकायें निर्मित होती थीं तथा उनमें स्वर्ण, रजत, मणि, वैडूर्य, स्फटिक, कांस, कांच, रांगा, सीसा, तांबा आदि भी लगाया जाता था। ऐसी पादुकाएं भिक्षु के लिए निषिद्ध की गई हैं।

वाहन और आसन—साधारणतः भिक्षु को वाहन पर चलना मना है। परन्तु बाद में नरयान, और हस्तियान तथा शिविका और पालकी के उपयोग की भी स्वीकृति रोगी भिक्षु के लिये दे दी गई। आसंदी, पर्यङ्क, गोड़क, चित्रक, पटिक (गलीचा), तूलिक, विकतिक, उद्दलोमि, एकान्त लोमि, कटिस्स, कौशेय, कुत्तक, हत्थत्थर (हाथी का झूला), अस्सत्थर, रथत्थर, मृगछाल, कदलीमृग-शय्या, सउत्तरच्छद, उभतोलोहितकूप जैसे उच्चशयनों और महाशयनों का प्रचलन था। पर उनका सेवन भिक्षु के लिए निषिद्ध था। सिंह, व्याघ्र, चीते आदि के चमड़े को भी उसे धारण नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे प्राणिवध की प्रेरणा मिलती है। सीमान्त देशों में जाने पर भिक्षुओं के नियमों में कुछ और ढिलाई कर दी गई। वहां विनयधर सहित पांच भिक्षुओं के गण से उपसंपदा करने का विधान हुआ। गणवाले उपानहों को धारण करने, नित्य स्नान करने, चर्ममय आस्तरण रखने तथा चीवरपर्याय (विकल्प) करने की भी अनुमति मिली।[1]

भैषज्य—बौद्ध भिक्षु वर्ग के लिए घी, मक्खन, तेल, मधु, और शक्कर इन पांच भैषज्यों का सेवन पूर्वाह्न—अपराह्न काल में भी विहित है। रीछ, मछली, सुसुका, सूकर, गर्दभ आदि की चर्बी से निर्मित भैषज्य, हल्दी, सिङ्गिवेर, अदरक, वच, वचत्थ, अतीस, खस, भद्रमुत्ता (नागरमोथा) आदि जड़वाली दवायें, नीम, कुटज, पटोल, तुलसी, कपासी आदि के पत्तों से निर्मित दवायें; विडंग, पिप्पली, मिर्च, हर्रा, बहेरा, आँवला, गोष्ठफल आदि फल रूप दवायें, सामुद्रिक, काला, सेंधा, वानस्पतिक, बिलाळ आदि नमक के प्रकारों से निर्मित दवायें, हींग,

१. महावग्ग, चर्मस्कन्दक

हींगकी गोंद, हींग की सिपाटिका, तक, तकपत्ती, तकपर्णी, कुलुल्स आदि गोंद वाली दवायें, तथा फुन्सी, फोड़ा आदि के लिए चूर्ण की दवायें भी भिक्षु ले सकता है। इस प्रसंग में अनेक रोग और उसकी दवाओं का भी उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ—भूतप्रेत (अमनुष्य) के रोग में कच्चा मांस और कच्चा खून ग्रहण करना चाहिए। नेत्ररोग के लिए काला अञ्जन, रस अञ्जन, स्रोत अञ्जन, गेरू और काजल लगाये। सिर दर्द करने पर सिर में तेल की मालिश की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त नस, नस करनी, और धूमवत्ती का भी उपयोग हितकर होता है। वात रोग में तेल में मद्य डालकर उसे पकाकर पीना चाहिए तथा मालिश करना चाहिए। अधिक से अधिक स्वेद निकल जाने से भी वात रोग ठीक हो जाता है। सम्भार (स्वेदक पत्तों के बीच सोना), महास्वेद (गड्ढे में अग्नि और पत्ते भरकर उस पर लेट जाना), भंगोदक उबले पत्तों से स्वेद निकालना), उदक कोष्ठक (उष्ण जलसे स्वेद निकालना) ये चार स्वेदकर्म की प्रक्रियायें हैं। रक्त बाहर निकाल देने से भी वात रोग का शमन हो जाता है। पैर में मालिश करने से बिवाई (पैर फटना) मिट जाती हैं। शल्यकर्म करने से फोड़ा मिटता है। घाव को पट्टी बांधकर ठीक किया जाता है। घाव में खुजलाहट होने पर सरसों के लोंदे से उसे सहला दिया जाता है। मांस बढ़ जाने पर नमक की कंकरी से उसे काट दिया जाता है। सर्प के काटे जाने पर पुरीष (गूथ), मूत्र, राख (क्षारिक) और मिट्टी के सेवन से लाभ होता है। विष चिकित्सा के लिए भी पुरीष (टट्टी) का प्रयोग होता है। भूत-प्रेत की बाधा होने पर आमिषोदक (अनाज जलाकर बनाया गया खीरा) पिलाया जाता। पाण्डुरोग में गोमूत्र की हर्रे पिलायी जाती। छविदोष होने पर गंधक का लेप कराया जाता। काय के अभिसन्न होने पर जुलाब दिया जाता। बौद्ध भिक्षुओं के लिए ये सभी दवायें निषिद्ध नहीं थी। घी, मक्खन, मधु, और तेल को एक सप्ताह से अधिक रखने का उनके लिए विधान नहीं है। गुड़, मूंग और कांजी भी लिया जा सकता है। वायगोले की बीमारी में कांजी लाभकारी होती है। आराम के भीतर रखा, पकाया, और स्वयं बनाया भोजन करना निषिद्ध है। परन्तु दुर्भिक्ष में यह नियम शिथिल किया जा सकता है। कल्प्यकारक न होने पर मधणीय फल स्वीकार्य हैं। भोजनोपरान्त आमीत भक्ष्य भी ग्रहणीय है। गुप्त स्थान के चारों ओर दो अंगुल तक शस्त्रकर्म अथवा वस्तिकर्म नहीं करना चाहिए। बौद्ध विनय के अनुसार भिक्षु के लिए मांस भक्षण भी निषिद्ध नहीं है। परन्तु मनुष्य, हाथी, अश्व, कुक्कुर, सर्प, व्याघ्र, भालू और तरक्षु (लकड़बग्घा) के मांस का भक्षण निषिद्ध बताया गया है। यवागू (खिचड़ी) का भोजन बुद्ध के समय लोकप्रिय रहा होगा। उसके भोजन करने में दस गुण बताये गये हैं—

वर्ण, सुख, बल और प्रतिभा का विकास होता है, क्षुधा और पिपासा दूर होती है, वायु को अनुकूल होता है, पेट साफ हो जाता है और अपच को पकाता है। यवागू अनेक रोगों की अच्छी दवा है। रोगी को गुड़ और नीरोग को गुड़ का रस दिया जाता। जैसा पहले लिखा गया है, बौद्धधर्म में मांसभक्षण निषिद्ध नहीं था। शर्त यह थी कि वह मांस 'तिकोटिपरिसुद्ध' हो। भिक्षुओं के उद्देश्य से वह न बनाया गया हो। इसलिए अदृष्ट, अश्रुत और अपरिशङ्कित मांस ही भक्षणीय की श्रेणी में रखा गया है।[1]

पांच गोरसों का विधान पहले ही हो चुका था। आगे गहन कान्तार में जाते समय तण्डुल, नवनीत, गुड़, उड़द, मूंग, तेल, घी के पाथेय रखने की भी अनुमति दे दी गई। आम्रपान, जम्बूपान, चोचपान, मधुपान, मुद्दिक पान (अगूर), सालुकपान, और फारुसकपान, तथा अनाज के फल के रस को छोड़कर सभी फलों के रस की, मात्र ढाक के रस को छोड़कर सभी पत्तों के रसकी, महुए के पुष्प रस को छोड़कर सभी पुष्परसों के पान की अनुज्ञा दे दी गई।[2] बौद्ध विनय के विकास का यह अष्टम चरण कहा जा सकता है।

कठिन चीवर—वर्षावास समाप्त होने पर कुछ पाठेय्यक भिक्षु तथागत के दर्शन करने भीगते हुए श्रावस्ती पहुँचे। इसी घटना से कठिन चीवर का विधान हो गया। 'कठिन' चीवर वह है जो वर्षावास के बाद संघ की सम्मति से सम्मान प्रदर्शनार्थ किसी भिक्षु को दिया जाय। कठिन चीवर ग्रहीत भिक्षुओं को पांच बातें विहित हैं—बिना आमन्त्रण के विचरना (अनामन्त चारो), बिना तीनों चीवर लिए विचरना (असमादान चारो), गण भोजन, इच्छानुसार चीवर ग्रहण करना (यावदत्थ चीवर) तथा चीवर मिलते समय जो वहाँ होगा, वह चीवर उसीका हो जायगा। कठिन चीवर के लिए संघ के समक्ष दृष्टि, अनुश्रावण और धारणा अवश्य होना चाहिए।

कठिन चीवर की उत्पत्ति में आठ कारण हैं—पक्कमन्तिका, निट्ठानन्तिका, सन्निट्ठानन्तिका, नासनन्तिका, सवनन्तिका, आसावच्छेदिका सीमातिक्कन्तिका और सहुब्भारा। यहाँ भिक्षु इस कठिन चीवर का उद्धार कभी अनाशा पूर्वक करता है कभी आशा पूर्वक करता है, कभी करणीय पूर्वक करता है, कभी अपविनय पूर्वक करता है और कभी फासु विहार पक्खक (सुख पूर्वक विहार वाला) पूर्वक करता है।[3]

---

१. विनय पिटक, महावग्ग, पृ० २५३
२. " " " भेसज्जक्खन्धक
३. ,, कठिनक्खन्धक

चीवरक्खन्धक के प्रारम्भ में राजगृह के प्रसंग में जीवक का चरित दिया हुआ है। जीवक सालवती गणिका से उत्पन्न प्रसिद्ध चिकित्सक था, जिसे अभय राजकुमार ने पाला-पोसा था। यहां अनेक रोगों की दवाओं का उल्लेख मिलता है, जिनका प्रयोग जीवक ने अपनी चिकित्सा पद्धति में किया था। विविध जड़ी बूटियों को घी में पकाकर नासिका रन्ध्रों में डालने से साकेत श्रेष्ठी की भार्या का पुराना शिर दर्द दूर हो गया था। बिम्बिसार के भगन्दर रोग को एक ही लेप में ठीक कर दिया था। राजगृह के एक सेठ के शिर की शल्य चिकित्सा कर उसमें से एक बड़े जन्तु को निकाल दिया था, जो सेठ की मृत्यु का कारण बनने वाला था। जीवक ने वाराणसी के एक श्रेष्ठी पुत्र की अंतड़ी में शल्य चिकित्सा द्वारा ही गाँठ निकाली। प्रद्योत के पाण्डु रोग को कषाय वर्ण-रस गंध से युक्त घी पिलाकर दूर किया। तथागत के शरीर को भी विरेचन से जीवक ने शुद्ध किया तथा इसी के साथ प्रद्योत का दिया हुआ एक दुशाला जोड़ा भी बुद्ध को भेंट किया, जिसे उन्होंने स्वीकार किया। इसी प्रकार गृहपति द्वारा प्रदत्त कौशेय और कोजव (कम्बल) को स्वीकार कर लिया गया। बाद में तो भिक्षु के लिए छः प्रकार के चीवर धारण करने की अनुज्ञा मिल गयी—क्षौम, कपास, कौशेय, कम्बल (ऊन), साण (सन), और भंग (मिश्रित)। इन नये चीवरों के साथ पांसुकूल चीवर भी धारण करना पड़ता था। बौद्ध विनय के विकास का यह नवम् चरण माना जा सकता है।

संघकर्म—संघ का विकास इस समय पर्याप्त हो चुका था। बुद्ध की लोकप्रियता बढ़ गयी थी। इसलिए चीवरदान भी बहुत अधिक आना प्रारम्भ हो गया था। फलतः उनके विभाजन के लिए संघ के कर्मचारियों का चुनाव होना आवश्यक था। इसके लिए एक चीवर प्रतिग्राहक का चुनाव होता था। चीवर प्रतिग्राहक वह हो सकता था जो छन्दागति (स्वेच्छाचारिता), दोष, मोह, भय और गुप्तागुप्त से दूर हो। इसी प्रकार इन्हीं गुणों से युक्त एक चीवर निदहक भण्डागारिक और चीवर भाजक भी चुना जाता था।

चीवर—संघ के इन सभी अधिकारियों के माध्यम से समागत चीवर भिक्षुओं को बांट दिये जाते थे। अयोग्य अथवा बुरे चीवरों को रख दिया जाता था। समागत चीवरों में उपार्ध (दो तिहाई) भाग श्रामणेरों को भी दिया जाता था। चीवर दुर्वर्ण होने पर मूल, स्कन्ध, त्वक्, पत्र, पुष्प और फल के रंगों से रंग दिये जाते थे। रंगने के लिए नांद, थाल, कूड़ा, घड़ा, दोणी, आदि बर्तन रखने की भी अनुमति दे दी गई थी।

इसी स्कन्धक में चीवर बनाने की विधि भी दी हुई है। संघाटी, उत्त और अन्तर वासक को काटकर (छिन्नक) बनाया जाता। इनमें कुसि, अ मण्डल, अर्धमण्डल, विवर्त, अनुविवर्त, ग्रैवेयक, जांघेयक और बाहुवन्त का रखा जाता। चीवर अधिक मिलने पर उन्हें परिमित कर दिया गया। भिक्षु अधिक से अधिक तीन चीवर रख सकता था—दोहरी संघाटी, ए उत्तरासंग, और एकहरा अन्तरावासक। अतिरिक्त चीवर बाद में विक रूप में रखे जाने लगे। पुराने कपड़ों के चीवरों की संख्या इससे भी अ निश्चित कर दी गई। मृगार माता विशाखा के कारण भिक्षुओं को व शाटिका, नवागन्तुक भोजन, गमिक भोजन, रोगी भोजन, रोगी परिचारक भ रोगी भैषज्य और यवागू ग्रहण करने की तथा भिक्षुणियों को उदक साटी की भी अनुमति मिल गई। इसके अतिरिक्त प्रत्यास्तरण (आसन की चाद प्रतिच्छादन (कोपीन), मुखपुञ्छन चोलक (रूमाल), और परिष्कार च (थैला) रखने का भी विधान हुआ। उपासकों द्वारा दान में दिये गये च पर संघ का अधिकार होता था और उन चीवरों का वितरण भिक्षुओं में ही करता था। परिनिर्वृत्त भिक्षु अथवा श्रामणेर की सम्पत्ति संघ की स होती है। इसी प्रसंग में यह भी बताया गया है कि नग्नता तीर्थिकों का आ है। बौद्ध भिक्षुओं को उसका आचरण नहीं करना चाहिए। कुश चीर, ब क्षिप, अर्कनाल, पोत्थक आदि चीवर भिक्षुओं के लिए ग्रहणीय नहीं। इसी सभी नीलक, पीतक, लोहितक, मंजिष्ठक, कृष्णक, हरितक, महानाम कञ्चुक, तिरीटक, वेठन आदि प्रकार के चीवर को धारण करना भि के लिए अनुचित है।[1]

दण्ड-व्यवस्था—चाँपेय स्कन्धक में कर्मादि के प्रकार और सं गतिविधियों पर प्रकाश डाला गया है। भिक्षु का कर्तव्य है कि वह भिक्षु को उत्क्षिप्त न करे और यदि प्रमादवश उत्क्षिप्त किया हो तो अपने अ को स्वीकार कर ले। कर्म साधारणतः छः प्रकार के हैं—अधर्म कर्म, वर्ग समग्र कर्म, धर्म प्रतिरूपक वर्ग कर्म, धर्म प्रतिरूपक समग्र कर्म, और धर्म कर्म। भिक्षुक संघ पाँच प्रकार का होता है—चार, पाँच, दस, बीस और अधिक भिक्षुओं का संघ। चतुर्वर्ग भिक्षु संघ उपसंपदा, प्रवारणा और आह्व छोड़कर धर्म समग्र होकर सभी कर्म कर सकता है। पञ्चम वर्ग भिक्षुसंघ अ और मध्यम जनपदों में उपसंपदा को छोड़ देता है। दशवर्ग भिक्षुसंघ आह्व छोड़ता है और विंशति वर्ग अथवा अतिरिक्त विंशतिवर्ग भिक्षुसंघ ध

---

१. विनय पिटक, चीवरस्कन्धक

होकर सभी कर्म कर सकते हैं। संघ के बीच उन्मत्त, तीर्थिकगत, मातृ-पितृ घातक आदि भिक्षुओं को प्रतिक्रोशन देना लाभ दायक नहीं, पर प्रकृतिस्थ साधु को प्रतिक्रोशन देना लाभदायक है। वहाँ संघ से निस्सारण और अवसरण के नियम भी दिये गये हैं। इसके बाद अधर्मकर्म, धर्म कर्म, तर्जनीय कर्म, नियस्स कर्म, प्रव्राजनीय कर्म, प्रतिसारणीय कर्म और उत्क्षेपणीय कर्मों का आख्यान है तथा उनकी क्षमायाचना की प्रक्रिया भी दी हुई है।[1]

संघ-विवाद और दण्ड-व्यवस्था—कोशाम्बक स्कन्धक के प्रारम्भ में कौशाम्बीमें हुए भिक्षु संघ के विवाद का उल्लेख है। सम्भव है, यह भाग तथागत के परिनिर्वाण के उत्तरकाल का हो। इसी प्रसंग में अधर्मवादी और धर्मवादी के चिह्न दिये गये हैं। जैसे, अधर्मवादी वह है जो धर्म, अधर्म, विनय, अविनय, भाषित, अभाषित, आचरित, अनाचरित, अज्ञप्त, प्रज्ञप्त, आपत्ति, अनापत्ति, अवशेष, अनवशेष आदि को प्रतिरूप में स्वीकार करता है। और धर्मवादी इनको यथा रूप में स्वीकार करते हैं। संघ में कलह उत्पन्न होने पर सारा संघ एकत्रित होता है और ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारणा पूर्वक छन्द (वोट) के माध्यम से संघभेद का उपशमन करता है।[2] छन्द के समय भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेर, श्रामणेरी आदि से भी वर्ग (कोरम) की पूर्ति कर ली जाती। कुछ कर्म ज्ञप्ति द्वितीय कहे जाते हैं और कुछ कर्म ज्ञप्ति चतुर्थ (ज्ञप्ति के बाद तीन कर्म वाक्य कहना) कहे जाते हैं। इन दोनों से विरहित कर्म विनय विरुद्ध माना जाता। वर्ग कर्म वह, जिसमें भिक्षु अथवा उनके छन्द एकत्रित न हुए हों। समग्र कर्म वह, जिसमें सभी भिक्षु उपस्थित रहते हों। वर्ग कर्म त्याज्य माना गया है। संघ सामग्री दो प्रकार की है—अर्थ विरहित, परन्तु व्यञ्जनयुक्त एवं अर्थ युक्त तथा व्यञ्जनयुक्त। प्रथम में संघ में विवाद होने पर वस्तु का निर्णय किये बिना ही संघ-सामग्री करता है परन्तु द्वितीय में वस्तु का निर्णय कर लिया जाता है।

चुल्लवग्ग—में संघभेद, विभिन्न कर्म और उनकी दण्डव्यवस्था के प्रसंग अधिक हैं। लगता है, भगवान् बुद्ध के जीवन समय में ही संघ भेद प्रारम्भ होगया था। देवदत्त, पंडुक, लोहितक आदि भिक्षुओंके प्रकरण इसके उदाहरण हैं। **तर्जनीय कर्म**—के आरम्भ की कथा भी ऐसी ही कलह से प्रारम्भ होती है। तथागत ने इस कर्म को दुर्भरता, दुस्पुरुषता, महेच्छुकता, असन्तोष, संगणिका और आलस्य की प्रवृत्ति का रूप कहकर उसकी निन्दा की है। तर्जनीय कर्म

---

१. विनय पिटक, चीवरक्खन्धक

२. वही, कोसम्बकक्खन्धक

की दण्ड विधि यह है। संघ पहले कर्त्ता को प्रेरित करे, फिर स्मरण करा
अपराध का आरोप करे, तदनन्तर चतुर समर्थ भिक्षु संघ को सूचित करे औ
ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारणा पूर्वक तर्जनीय कर्म करे। तीन बातों से युक्त तज
नीय कर्म, अधर्म कर्म, अविनयकर्म, और असंपादित कर्म कहे जाते हैं (१
सम्मुख न किया गया हो। (२) बिना पूछे किया गया हो, और (३) बिन
प्रतिज्ञा (स्वीकृति) के किया गया हो। वहां बारह अधर्म कर्मों का वर्ण
मिलता है। उनसे प्रतिकूल धर्म धर्म कर्म कहे गये हैं। तर्जनीय व्यक्ति वे हैं ज
कलहकारी, दुश्शील, अनाचारी, निन्दक और मिथ्यादृष्टि सम्पन्न होते हैं
दण्डित व्यक्ति के लिए उपसम्पदा, निश्रय, उपस्थान, उपदेश, कर्म निन्दा, प्रवारण
आदि का स्थगन कर देना चाहिए। उस भिक्षु के तर्जनीय कर्म को क्षमा नहं
किया जाता जो उपसम्पदा देता हो, निश्रय देता हो, श्रामणेर से उपस्थान (सेवा
कराता हो, भिक्षुणियों को उपदेश देता हो, कर्म (निर्णय) की निन्दा करता ह
तथा उपोसथ अथवा प्रवारणा स्थगित कराता हो। नियस्सकर्म की दण्ड-वि
आदि भी लगभग इसी प्रकार की है। प्रव्राजनीय कर्म (संघ निष्कासन
अश्वजित और पुनर्वसु भिक्षु के पापमयी अनाचारों से प्रारम्भ हुआ। अन
प्रकार के कर्मों की आरम्भ कथा भी इसी प्रकार भिन्न भिन्न है तथा उनक
दण्डविधि, कर्तव्य आदि भी लगभग समान है।

पारिवासिक दण्ड प्राप्त भिक्षु को भी उपसम्पदा निश्रय आदि नहीं दिय
जाता, अदण्डित भिक्षु के साथ आवास आदि नहीं किया जाता। शुक्र त्याग में छ
रोज का मानत्व दण्ड दिया जाता। यदि भिक्षु एक पक्ष तक इस कर्म को छिपा
तो उसे एक पक्ष का मानत्व दण्ड दिया जाता। संघादिसेस के दोष करने प
तदनुसार शुद्धान्त परिवास दिया जाता। कुछ ऐसे दुष्कर्म होते कि भिक्षु क
मूल से प्रतिकर्षण कर दिया जाता।

कुछ कर्म छः विनय में सम्मिलित कर दिये गये हैं। भूल होने पर स्मरण
कर लेना स्मृति विनय है। इससे भिक्षु निर्दोष शुद्ध होकर धर्म से सम
हो जाता है। उन्मत्त अवस्था दूर होने पर अमूढ़ विनय दी जाती है। इस
प्रकार प्रतिज्ञात करण (स्वीकृति), यद्भूयसिक (बहुमत से उपशमन
तत्पापीयसिक और तिण्णवत्थारक (तृण जैसा आवृत कर देना) विनय
प्रचलित थी।

अधिकरण—भिक्षु-भिक्षुणियों के बीच अनेक विषयों पर विवाद होने प
तथागत ने चार अधिकरण बताये—विवाद अनुवाद आपत्ति और कृत्य। कुशल
अकुशल कर्म विवाद अधिकरण के मूल हैं। इन्हीं कर्मों से भिक्षु अनुवद

अनुवाद अधिकरण (शक देकर दोषारोपण करना), काय, वचन अथवा मन से आपत्ति अधिकरण होता है और कृत्य अधिकरण का एक मूल है—संघ। ये सभी अधिकरण कुशल, अकुशल और अव्याकृत के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इन अधिकरणों (मुकदमों) के उपशमन की भी प्रक्रियाएँ निर्धारित की गई हैं। विवाद अधिकरण भिक्षु संघ के सम्मुख उपस्थित होकर तथा यद्-भूयसिक रीति से शान्त हो जाता। इसका निर्णय भिक्षुसंघ स्वयं अथवा उद्-वाहिका (चुनी समिति) के माध्यम से करता। ऐसे समय शलाकाओं का भी प्रयोग होता था। शलाकाएँ तीन प्रकार की होती थीं—गूढ़क, सकर्णजल्पक और विवृतक। अनुवाद अधिकरण संमुख, अमूढ़, स्मृति और तत्पापीयसिक विनय से शान्त किया जाता। आपत्ति अधिकरण संमुख, प्रतिज्ञात और तिणवत्थारक तथा कृत्य अधिकरण संमुख विनय से उपशमित होती थीं।[1]

आभूषण और साज-सज्जा—तथागत ने स्नान आदि के भी नियम निर्धारित किये। इनका समावेश क्षुद्रक वस्तुओं में किया गया। भिक्षु को स्नान मल्लक हस्त अथवा चूर्ण आदि से नहीं करना चाहिए। बाली, लटकन, कर्णसूत्र, कटि-सूत्र केयूर, हस्ताभरण, अंगूठी आदि आभूषण धारण नहीं करना चाहिए। केश, कंघी, दर्पण, लेप, मालिश, नृत्य, गीत, लोमी ऊन, आम्रभक्षण, लिंगच्छेदन, महार्घ चन्दन पात्र रखना भिक्षु के लिए निषिद्ध था। हड्डी, दाँत, सींग, नल, बाँस, काष्ठ, लाख, फल, लोह, फल, शंख का दण्ड सत्थक धारण किया जा सकता है। सत्थक (कैंची), नमतक (वस्त्रखण्ड), सुई, नाली नालिका, किण्ण, और सिपाटिका (गोंद) के भी रखने की अनुमति थी। कठिन चीवर का प्रसारण, सिलाई, आवेसन विस्थक, कठिनशाला, स्थविका (थैली) और परिस्रावण (जलगालन) रखना विहित था। मशककुटिका (मसहरी), ओत्थरक, चँक्रम, जन्ताघर में सोपान (ईंट, पत्थर, लकड़ी), किवाड़, पृष्ठसंघाट, उलूखल, उत्तर पाशक, अर्गलवर्तिक, कपिसीसक, सूची, घटक, ताल, छिद्र का निर्माण; धूमनेत्र की रचना, कोष्ठक, उदपान, चन्दनिका (हौज), उदकपुंछन, और पांवड़े का उपयोग भिक्षु के लिए वर्जित नहीं है। घट, कतक, संमर्जनी, पादघंसनि, विधूपन, तालवण्ट, छत्र, सिक्का (छींका), दण्ड नखकाटना, केशकर्तन, कर्ण-मलहरणी, अञ्जनिदानी, रखना, विहित है। संघाटी, आयोगपट्ट, घुंडी, वस्त्रादि पहनने का ढंग भी यहाँ निर्दिष्ट है। बोझ ढोना, दन्तवन करना और अग-पशु से रक्षा करना भी विहित है। पस्सावपत्त, मालावच्छरोपण, बर्तन, पलंग का उपयोग किया जा सकता है। लसुण (लहसुन) खादन निषिद्ध है।

---

1. चुल्लवग्ग, समुच्चयक्खन्धक।

तिरिच्छान विद्याओं का अध्ययन भी वर्जित है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि बुद्धवचनों को छन्द (संस्कृत) में करने की अनुमति बुद्ध ने नहीं दी। प्रत्युत यह कहा कि उन्हें अपनी भाषा (मागधी) में सीखें—न भिक्खवे बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेतब्बं। यो आरोपेय्य, आपत्ति दुक्करस्स। अनुजानामि, भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं।[1]

बिहार निर्माण—सेनासनक्खन्धक में बिहार के निर्माण की प्रक्रिया दी गई है। मूलतः बौद्ध भिक्षुओं के लिए अरण्य, वृक्ष, पर्वत, कन्दरा गिरिगुहा, श्मसान, वनप्रस्थ, मैदान (अब्भोकास) का विधान था। परन्तु बाद में बुद्ध ने बिहार, अड्ढयोग, प्रासाद, हर्म्य तथा गुहा को निवास स्थान के रूप में निश्चित किया। यहाँ द्वार, वातायन, शय्या, आसन, विस्तार आदि के विविध रूप दिये गये हैं। विहार-विधान के प्रसंग में दीवाल की रंगाई, भित्ति-चित्र, सोपान, मञ्चपीठ आलिन्द, उपस्थानशाला, पाठशाला, बिहार, परिवेण, आराम और प्रसाद आदि के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया गया है। अनाथ पिण्डक द्वारा जेतवन को कोटि सन्थारक हिरण्यों से खरीदकर उसे बुद्ध संघ को भेंट किये जाने का उल्लेख है। उसी जेतवन में विहारादि बनाये गये। नये घर के निर्माण (नवकर्म) के समय भिक्षुओं को चीवर, पिण्डपात, शयनासन, और ग्लानप्रत्यय भैषज्यों से सत्कृत किया जाता। पूर्व के उपसम्पन्न भिक्षु को पीछे का उपसंपन्न भिक्षु अवन्दनीय है। आराम, बिहार, चौपाई, चौकी, लोहकुम्भ आदि, तथा वल्ली, वेणु आदि वस्तुयें अदेय और अविभाज्य हैं। संघ के बारह कर्मचारियों की चुनाव पद्धति का भी यहां उल्लेख है—भक्त उद्देशक, शयनासन प्रज्ञापक, भाण्डागारिक, चीवर-प्रतिग्राहक, चीवर भाजक, यवागू भाजक, फलभाजक, खाद्य भाजक, अल्पमात्रविसर्जक, शाटिक ग्रहापक, आरामिक, प्रेषक और श्रामणेर प्रेषक।[2]

संघ-भेद—संघभेदक खंधक में संघभेद का इतिहास दिया हुआ है। बौद्ध संघ के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि शाक्यवंशीय राजकुमारों से ही संघ भेद प्रारम्भ हुआ है। भद्दिय शाक्य राजा, अनुरुद्ध, आनन्द, भृगु, किम्बिल और देवदत्त शाक्य कुमार थे। उन्होंने एक साथ दीक्षा ली। उपालि कल्पक (नाई) भी सम्मिलित हो गया। देवदत्त का प्रारम्भ से ही बुद्ध से विरोध रहा है। लाभ-सत्कार की इच्छा से देवदत्त ने अजात शत्रु को अपने दिव्य चमत्कारों से प्रभावित किया। फलतः देवदत्त के मन में भिक्षु संघ का नेता होने की कल्पना घर कर गई।

---

१. चुल्लवग्ग, खुद्दकवत्थुक्खन्धक हिन्दी।

२. चुल्लवग्ग, सेनक्खन्धक।

उसने बुद्ध से कहा भी कि आप अब जीर्ण-वृद्ध, महल्लक और अध्वगत हैं। अतः भिक्षु संघ मुझे दे दें। पर बुद्ध ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। अधिक बात बढ़ने पर बुद्ध को यह भी कहना पड़ा कि देवदत्त द्वारा कृत कार्यों का उत्तरदायित्व संघ पर नहीं है। जो भी हो, देवदत्त निश्चित ही आकर्षक व्यक्तित्व रहा होगा। उसने अजातशत्रु को बहकाकर पिता से विद्रोह कराया, बुद्ध की हत्या का प्रयत्न किया, बुद्ध पर पत्थर फेंके और उन पर नील गिरी हाथी को छुड़वाया। इन दुष्कृत्यों से देवदत्त का प्रभाव संघ तथा संघ के बाहर अवश्य निस्तेज हो गया। फिर वह संघ से पृथक् हो गया और पांच सौ वज्जिपुत्तक भिक्षुओं को साथ लेकर गया चला गया। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन उसे समझाने गये। उनके उपदेश से सभी भिक्षु वापिस हो गये। यह देखकर कहा जाता है, देवदत्त के मुंह से गर्म रक्त प्रवाहित हो पड़ा। देवदत्त की इस अपायिक असद्धर्मक बात को सुनकर उसके अयोग्य आठ कारण दिये हैं—लाभ, अलाभ, यश, अयश, सत्कार, असत्कार, पापेच्छता और पाप-मित्रता। यहाँ संघ की समग्रता पर चोट करना योगक्षेम नाशक बताया गया है।[१]

व्रतस्कन्धक—व्रतस्कन्धक में नवागन्तुक, आवासिक और गमिक भिक्षु के व्रतों का आख्यान मिलता है। भोजन के समय के नियम, भिक्षाचारी के व्रत, आरण्यक के व्रत, शयनआसन के व्रत, जन्ताघर के व्रत, वच्चकुटी का व्रत, तथा शिष्य-उपाध्याय और अन्तेवासी-आचार्य के कर्तव्यों का भी उल्लेख हुआ है। प्रातिमोक्ष-स्थापन स्कन्धक मे किस भिक्षु के प्रातिमोक्ष को स्थगित करना चाहिए, यह बताया है। इसी प्रसंग में बुद्धधर्म की विशेषताओं के रूप में उसके आठ अद्भुत गुणों का उल्लेख किया गया है—(१) महासमुद्र जैसा क्रमशः गम्भीर, (२) महासमुद्र जैसा स्थिर धर्मशील (३) आचार भ्रष्ट भिक्षु का निष्कासक, (४) प्रव्रजित होने पर पूर्व का नाम छोड़ देना, (५) अनुपधिशेष निर्वाण प्राप्ति, (६) धर्म विनय एक रस है, (७) धर्मविनय बहुरस वाला है (८) धर्म विनय महान् प्राणियों का निवास है। निर्मूलक शील-भ्रष्टता और आचार-भ्रष्टता के कारण प्रातिमोक्ष स्थगित करना नियम विरुद्ध है। पाराजिक दोषी, शिक्षाप्रत्यास्थानीक, धार्मिक सामग्री का प्रत्यादानक आदि ऐसे बन्धक हैं, जिनके कारण प्रातिमोक्ष नियमानुसार स्थगित कर दिया जाता था।

नारी-प्रवेश—भिक्षुणी स्कन्ध में महिलावर्ग को बौद्धधर्म में दीक्षित होने का विधान प्रस्तुत किया गया है। मूलतः बुद्ध महिलावर्ग को धर्म में दीक्षित

---

१. चुल्लवग्ग, संघभेदकक्खन्धक।

करने के पक्ष में नहीं थे। परन्तु महाप्रजापती गौतमी की इच्छा ने आनन्द को प्रेरित किया और आनन्द ने बुद्ध के समक्ष अपना पक्ष प्रस्तुत किया। बुद्ध इस शर्त पर नारी वर्ग को दीक्षा देने के लिए तैयार हुए कि वे निम्न लिखित आठ गुरु धर्मों को स्वीकार करें—(१) पुरानी उपसंपन्न भिक्षुणी को नये उपसंपन्न भिक्षु का भी अभिवादन और सत्कार करना चाहिए, (२) धर्मश्रवणार्थ भिक्षु का उपगमन करना चाहिए। (३) प्रतिपक्ष भिक्षु संघ से उपोसथ की पर्येषणा करे (४) वर्षावास की समाप्ति होने पर भिक्षुणी को दोनों संघों में दृष्ट, श्रुत और परिशंकित स्थानों से प्रवारणा करना चाहिए। (५) गुरुधर्म स्वीकृति संपन्न भिक्षुणी को दोनों संघों में पक्षमानता करनी चाहिए। (६) भिक्षुणी दोनों संघों से उपसंपदा ग्रहण करे। (७) किसी भी प्रकार भिक्षुणी भिक्षु को आक्रोशात्मक शब्द न कहे, और (८) आज से भिक्षुणियों का भिक्षुओं को कहने का मार्ग बन्द हुआ लेकिन भिक्षुओं का भिक्षुणियों को कहने का मार्ग खुला है। महाप्रजापति गौतम ने इन आठ धर्मों को सहर्ष स्वीकार किया। उसी समय बुद्ध ने कहा—आनन्द! यदि तथागत प्रवेदित धर्म-विनय में नारीवर्ग प्रव्रज्या न पाता तो यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष तक ठहरता। लेकिन चूंकि आनन्द! नारी वर्ग प्रव्रजित हुआ अब ब्रह्मचर्य चिरस्थायी नहीं होगा। सद्धर्म पांच सौ वर्ष ही ठहर सकेगा।

न दानि आनन्द ब्रह्मचरियं चिरट्ठितिकं भविस्सति।
पञ्चेवदानि आनन्द वस्स सतानि सद्धम्मो ठस्सति ॥

आठ गुरु धर्म ग्रहण करने पर ही भिक्षुणियों की उपसंपदा हो जाती है। भिक्षुणियां भिक्षुओं से प्रातिमोक्ष सीखतीं और दोष का प्रतिकार करतीं। इसी प्रकार संघकर्म, अधिकरण शमन और विनय वाचन भी भिक्षुणियों के लिए भिक्षु ही करते हैं। भिक्षु प्रातिमोक्ष का विकास घटनाओं के साथ और भी होता गया। भिक्षु-भिक्षुणियाँ परस्पर में कीचड़ और पानी डालते थे, अपना नग्न शरीर दिखाकर कामेच्छाएँ प्रगट करते थे। यह सुनकर तथागत ने ऐसे अभद्र कृत्यों पर रोक लगायी और तत्सम्बन्धित नियमों का निर्माण किया। उपदेश श्रवण के भी नियम बनाये गये। मालिश, शरीर सज्जा, लेप, चूर्ण, तथा नीले-पीले आदि चीवरों के रखने का निषेध किया गया। असन, वसन, उपसम्पदा, भोजन, प्रवारणा, उपोसथ-स्थान, वाहन का विधान हुआ। भिक्षुणिओं को अरण्यवास का निषेध किया गया। उनके लिए विहारों का निर्माण हुआ। गर्भिणी प्रव्रजिता को सन्तान पालन करने का सीमित अधिकार मिला। मानत्व चारिणी को सहवास के लिए एक भिक्षुणी रखने का नियम बना। इसके अतिरिक्त पुनः उपसंपदा ग्रहण, शौच, स्नान आदि सम्बन्धी नियमों का भी विधान किया गया।

विनय पिटक के इस द्वितीय खन्धक (महावग्ग और चुल्लवग्ग) में सम्बोधि से लेकर द्वितीय संगीति तक के विनय का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। यहां प्रत्येक नियम और उपनियम की पृष्ठभूमि में घटनाओं का उपस्थापन हुआ है। अर्थात् बौद्ध विनय की उत्पत्ति और विकास घटनाओं के माध्यम से हुआ है। प्रत्येक घटना का विवरण बुद्ध के समक्ष एक ही प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है और बुद्ध प्राय: एक ही प्रकार की शैली में नियम बनाते दिखाई देते हैं। इस भाग में उत्तरकालीन परम्पराएँ भी मिलती हैं। अत: इसमें प्रक्षिप्तांश होना भी संभव है।

विनय पिटक का परिवार अथवा परिवार-पाठ निश्चित ही एक परिशिष्ट है। अत: उसे उत्तरकाल का होना चाहिए। इसमें शिक्षापद कहां, कैसे और क्यों दिये गये, तत् सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर प्रश्नोत्तर शैली में उपस्थित किया गया है। विषयसूची देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें द्वितीय खन्धक के विषय को ही स्पष्ट तथा संक्षिप्त किया गया है। इस स्पष्टीकरण और संक्षिप्ती-करण में थोड़ा बहुत वैशिष्ट्य आना स्वाभाविक ही है। कुल मिलाकर इसे हम व्याख्या ग्रन्थ कह सकते हैं।

खन्धक और परिवार के अतिरिक्त विनय पिटक का एक और भाग है जिसे सुत्त विभंग कहा गया है। इसमें भिक्खुपातिमोक्ख और भिक्खुणी पाति-मोक्ख का विवरण है। बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों के विनय की दृष्टि से यह एक सुन्दर संग्रह है। सामान्यत: इसमें निदान, पाराजिक, संघादिसेस, अनियत, निस्सग्गिय पाचित्तिय, पाटिदेसनिय, सेखिय और अधिकरण समथ नियमों का विवरण समाहित है। मास की प्रत्येक कृष्ण चतुर्दशी तथा पूर्णिमा को उस स्थान में रहने वाले सभी भिक्षु उपोसथागार में एकत्रित होकर इन प्रातिमोक्ष नियमों की आवृत्ति करते हैं।

भिक्खु पतिमोक्ख—निदान पतिमोक्ख की भूमिका जैसा है। पाराजिक अपराधों के करने से भिक्षु सदैव के लिए भिक्षुत्व अवस्था से दूर हो जाता है। ऐसे अपराधों में मैथुन, चोरी, मानव-हत्या और दिव्य शक्ति (उत्तरि मनुष्यधर्म) का दावा करना प्रधान हैं। संघादिसेस में संघ कुछ समय का परिवास देता है। ये अपराध तेरह हैं—वीर्यमोचन, स्त्री का अंग स्पर्श, कामवार्तालाप, मैथुनेच्छा व्यक्त करना, मैथुन के लिए दूत कार्य, कुटी निर्माण में प्रमाण का अतिक्रमण करना। कठिन स्थान में कुटी बनवाना, पाराजिक का निर्मूल दोष लगाना, ८-९ संघ में मतभेद पैदा करना, संघ में मतभेद करनेवालों का साथ देना। शिक्षापदों को अनसुनी कर देना, और कुलों को दूषित करना।

कुछ ऐसे अपराध हैं जो पाराजिक संघादिसेस, और पाचित्तिय दोषों में किसी एक में नियत नहीं हो पाते। इसीलिए उन्हें अनियत कह जाता है। मैथुन सम्बन्धी ऐसे दो अपराधों का उल्लेख पातिमोक्ख में हुआ है। कुछ ऐसे अपराध होते हैं जिनका प्रतिकार संघ, अधिकांश भिक्षु अथवा एक भिक्षु के सामने स्वीकार कर छोड़ देने पर हो जाता है। ऐसे अपराध निस्सग्गिय-पाचित्तिय कहलाते हैं। इसमें कठिन चीवर और चीवर सम्बन्धी ग्यारह, आसन सम्बन्धी पाँच, स्वर्ण-रजत, पैसे आदि के व्यवहार सम्बन्धी दो, क्रय-विक्रय, पात्र सम्बन्धी दो, भैषज्य, चीवर सम्बन्धी (६) संघ लाभ को अपना बताना, ये २८ दोष गर्भित हैं। पाचित्तिय दोष ९२ हैं—भाषण सम्बन्धी चार, सहवास सम्बन्धी दो, धर्मोपदेश, दिव्यशक्ति प्रदर्शन, अपराध प्रकाशन, भूमि खोदना, वृक्ष काटना, संघ के पूछने पर चुप रहना, निन्दा करना, सांघिक वस्तुओं में असावधानी सम्बन्धी छः, बिना छना पानी पीना, भिक्षुणियों को उपदेश देने आदि सम्बन्धी दस, भोजन सम्बन्धी दस, अचेलक सम्बन्धी दस, मद्यपान, उपहास सम्बन्धी चार, आग तापना, स्नान, चीवर पात्र सम्बन्धी तीन, प्राणातिपात सम्बन्धी दो, कलह करना, अपराध छिपाना, बीस वर्ष से कम व्यक्ति को उपसम्पन्न करना, चोर अथवा स्त्री के साथ यात्रा करना, मिथ्या दृष्टि सम्पन्न होना—३, धार्मिक बात को अस्वीकार करना, प्रातिमोक्ष सम्बन्धी दो, पीटना, धमकाना, संघादिसेस का दोषारोपण करना, भिक्षु को सन्देह उत्पन्न करना, छन्द सम्बन्धी—३, सांघिक लाभ में भाँजी मारना, राजप्रासाद में प्रवेश करना, बहुमूल्य वस्तु को अन्यत्र ले जाना, अपराह्न में गांव जाना, सूचीघर, चौकी, शय्या, वस्त्र सम्बन्धी दोष—६। पाटिदेसनीय में भोजनग्रहण और भिक्षुणी सम्बन्धी चार दोष हैं। सेखिय (शिक्षणीय) नियम वे हैं जिन्हें लोग सीखते हैं। ऐसे नियम ७५ हैं—गृहस्थों के घरों में जाने, उठने, बैठने सम्बन्धी—२६, भिक्षान्न ग्रहण और भोजन सम्बन्धी—३०, कैसे व्यक्ति को उपदेश नहीं देना चाहिए—१६, और मलमूत्र सम्बन्धी—३। अधिकरण समथ में विवाद शान्ति के सात उपाय बताये गये। इस प्रकार भिक्खुपातिमोक्ख के ४+१३+२+३०+९२+४+७५+७=कुल २२७ नियम-अधिनियम हैं।

भिक्खुणी पातिमोक्ख–भिक्खुणी पातिमोक्ख भी लगभग भिक्खु पातिमोक्ख का अनुगामी है। यहाँ पाराजिक के ८ दोष हैं—मैथुन, चोरी, मानवहत्या, दिव्यशक्ति का प्रदर्शन, कामासक्ति के विविध कार्य, संघ से निष्कासित भिक्षु का अनुगमन तथा कामासक्ति से पुरुष का स्पर्श करना। संघादिसेस सम्बन्धी १७ दोष हैं—पुरुषों के साथ विहार करना, चोरनी या वध्या को भिक्षुणी बनाना, अकेले घूमना, संघ से निष्कासित भिक्षुणी का साथ करना, कामासक्ति

के कार्य, पाराजिक का दोषारोपण, धर्म का प्रत्याख्यान, भिक्षुणियों की निन्दा करना, दुराचारिणियों का सम्पर्क करना, संघ में मतभेद पैदा करना, सुनी बात को अनसुनी करना, और कुलदूषित करना। तीस अपराध निस्सग्गिय पाचित्तिय सम्बन्धी हैं—पात्र-संचय, चीवर, वस्तुग्रहण, कठिन चीवर और चीवर, स्वर्ण, रजत पैसे आदि का व्यवहार, क्रय-विक्रय, पात्र बदलना, भैषज्य, चीवर, संघलाभ सम्बन्धी दोष। पाचित्तिय में १६६ दोषों का समाहार है। लहसुन भक्षण, कामासक्ति के कार्य, भिक्षु सेवा, कच्चा अनाज, मल-मूत्र विसर्जन, नृत्य-गान, पुरुष के साथ एकान्त में रहना, गृहस्थों के आवासों में जाना-बैठना, भिक्षुणी को सन्देहग्रस्त बना देना, अभिशाप देना, देहपीटकर क्रन्दन करना, स्नान, चीवर, दो भिक्षुणियों के साथ सोना, भिक्षुणी को तंग करना, रोगी शिष्या की सेवा न करना, उपाश्रय देकर निष्कासित करना, विचरना, तमाशा देखना, कुर्सी-पलंग का उपयोग करना, सूत कातना, गृहस्थों जैसे कार्यकलाप करना, विवादशान्त न करना, स्वयं भोजन देना, आश्रय की वस्तुओं में असावधानी करना, तिरच्छीन विद्याओं का पढ़ना-पढ़ाना, भिक्षुवाले आराम में प्रवेश करना, निन्दा करना, तृप्ति के बाद भी खा लेना, गृहस्थों से डाह करना, भिक्षुओं रहित स्थान में वर्षावास करना, प्रवारणा, उपदेश-श्रवण और उपोसथ, गुह्यस्थान के गण्डक को भिक्षु से निकलवाना, भिक्षुणी बनाना, छाता, जूता, वाहन, आभूषण आदि का शृङ्गार, भिक्षु के समक्ष आसन पर बैठना, प्रश्न पूछना, कंचुक बिना गाँव में जाना, भाषण की अनियमता, उपसंपदाहीन भिक्षुणी के साथ सोना, पुरुषों को धर्मोपदेश देना, दिव्यशक्ति का प्रदर्शन, अपराध प्रकाशन, जमीन खोदना, वृक्ष काटना, संघ के पूछने पर चुप रहना, निन्दा करना, बिना छना पानी ग्रहण करना, भोजन सम्बन्धी दोष, सोना, मद्यपान, उपहास, आग तापना, स्नान, चीवर-पात्र, प्राणिहिंसा, कलहवृद्धि, यात्रा के साथ चलना, मिथ्यादृष्टि धारण करना, धार्मिक बातों को अस्वीकृत करना, प्रातिमोक्ष, मारना, धमकाना, संघादिसेस का दोषारोपण, छन्ददान, सूचीघर, चौकी, चारपाई, और वस्त्र सम्बन्धी दोष। पाटिदेसनीय दोष केवल चार हैं। इनमें भक्षणीय वस्तु को माँगकर रखना विशिष्ट है। सेखिय ७५ हैं ही। अधिकरण समथ भी चार ही हैं। इस प्रकार भिक्खुनी पातिमोक्ख के कुल ८+१७+३०+१६६+८+७५+७ = ३११ दोष-नियम बताये गये हैं।

तुलना—भिक्खु पातिमोक्ख और भिक्खुणी पातिमोक्ख देखने से यह स्पष्ट है कि दोनों के विनय-नियमों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जो भी अन्तर है, वह उनकी मर्यादा और स्थिति के कारण है। विनय पिटक के अध्ययन से

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक नियम किसी घटना विशेष की पृष्ठभूमि में स्थापित किया गया है। घटनाओं के आधार पर ही उनका उत्तरकाल में विकास हुआ है। कुछ नियम ऐसे भी हैं जो मात्र उसी समय के लिए थे। शायद इसीलिए तथागत ने कहा था "इच्छा होने पर संघ मेरे बाद छोटे-मोटे (क्षुद्रानुक्षुद्र) शिक्षापदों को छोड़ दें।"[1] विनय पिटक में द्वितीय संगीति तक का विकसित विनय तो मिलता ही है। तृतीय संगीति के काल की परिस्थितियाँ और उनसे उत्पन्न होनेवाले विनय नियमों की भी रूपरेखा विनय पिटक में उपलब्ध है। पातिमोक्ख को विनय पिटक का संक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है अथवा उसे खन्धक के बाद का और परिवार के पूर्व का भी माना जा सकता है। बाद के भिक्षु सम्प्रदाय के लिए यही विनय पिटक प्रस्थानक ग्रन्थ बन गया। उत्तर कालीन सम्प्रदायों में भी हर नियम बुद्ध के मुख से निर्धारित कराया गया है।

पालि विनय पिटक के अतिरिक्त चीनी भाषा में इसके छह संस्करण और मिलते हैं—१. जुजुरित्सु (सर्वास्तिवादी विनय), २. शिबुन-रित्सु (धर्मगुप्तिक विनय), ३. मकसोगि-रित्सु (महासांघिक विनय), ४. कोन-पोन-सेत्सु-इस्से-उबु (सर्वास्तिवादी विनय), ५. गोबुन-रित्सु (महिंसासक विनय), और ६. विनय (सामान्य)। चीनी भाषा में इनकी व्याख्यायें भी मिलती हैं—१. विनि-मो-रोन् (विनय माता वण्णना), २. मोती-रोग-रोग् (मातिका वण्णना) ३. जेन्-केन्-रोन् (पाकट वण्णना), ४. सब्बत-रोन् (विभाषा वण्णना), और ५. म्यो-र्यो-रोन् (पाकट वण्णना)। इनमें शिबुन-रित्सु (धर्मगुप्तिक विनय) चीनी और जापानी बौद्धधर्म विनय की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। आकार-प्रकार भी इसका बड़ा है। पालि विनय से इसी की तुलना की जा सकती है। शेष संस्करण तो अल्पकायिक हैं। इनके अतिरिक्त सर्वास्तिवादियों के विनय का एक तिब्बती संस्करण (सो-सोर-थर्-पा) भी उपलब्ध है। इन तीनों संस्करणों में उपलब्ध शिक्षापदों की तुलना इस प्रकार है[2]—

शिक्षापद	पालि सं०	चीनी सं०	तिब्बती सं०
१. पाराजिका	४	४	४
२. संघादिसेसा	१३	१३	१३
३. अनियत धम्मा	२	२	२
४. निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा	३०	३०	३०
५. पाचित्तिया धम्मा	९२	९०	९२

---

१. दीघनिकाय, महापरिनिब्बाण सुत्त।

२. उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. ३४३-४४.

सिक्खापद	पालि सं०	चीनी सं०	तिब्बती सं०
६. पटिदेसनिया धम्मा	४	४	४
७. सेखिया धम्मा	७५	१००	१०६
८. अधिकरणसमथा धम्मा	७	७	७
कुल	२२७	२५०	२५८

इस तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि केवल शैक्ष्य सम्बन्धी (सेखिया धम्मा), और पातयन्तिक (पाचित्तिया धम्मा) विनय में तीनों संस्करणों में अन्तर है। इनमें सेखिय धम्मा तो मात्र बाह्य शिष्टाचारों से सम्बन्धित नियम हैं। उनमें विभेद होना स्वाभाविक है। अतः यह विभेद विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। महाव्युत्पत्ति में शायद इसीलिए इन नियमों को 'संबहुलाः शैक्ष्यधर्माः' कहा गया है। इनका निर्माण देश, काल, और परिस्थितियों के अनुसार होता है। पाचित्तिय धम्मा का विभेद अवश्य महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इतनी लंबी परम्परा में यह विभेद होना स्वाभाविक भी है। वैसे कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध विनय में उनके विभिन्न सम्प्रदायों के बीच विशेष अन्तर नहीं है। जो अन्तर है भी वह समय, सीमा और परिस्थितियों के सन्दर्भ में अनपेक्षित नहीं कहा जा सकता। हाँ, वज्रयान आदि उत्तरकालीन ह्रासोन्मुख बौद्ध सम्प्रदाय मूल विनय से अवश्य अधिक पतित हो गये थे।

सूत्रकृतांग की टीका व विवरण में बौद्ध धर्म व दर्शन की लगभग ९–१० वीं शती तक की गतिविधियों का परिचय उपलब्ध होता है। इन गतिविधियों को हम स्थूल रूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

बौद्धाचार और बौद्ध विचार

उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदाय मूल बौद्ध धर्म के आचार-विचार से बहुत कुछ भिन्न हो गये थे। आवश्यकता पड़ने पर आचार शिथिलता को बुद्ध ने क्षम्य माना था। यही शिथिलता अग्रिम आचार शिथिलता की जननी रही और एक दिन बौद्ध सम्प्रदायों के परस्पर आचार–विचार में पूर्व–पश्चिम व उत्तर–दक्षिण जैसा भेद उत्पन्न हो गया। जैनाचार्य बौद्धों की इस शिथिलता के विरोधी प्रारम्भ से ही रहे हैं। सूत्रकृतांग में भी इसी विरोध के स्वर सुनाई पड़ते हैं।

सूत्रकृतांग में बौद्धों पर प्राणातिपात, अदिन्नादान, मृषावाद, मैथुन व परिग्रह रखने का दोषारोपण किया गया है। इन दोषों का मुख्य कारण यह था कि बौद्ध अत्यन्त असंयत हो गये थे। उनका कहना था—सुख से सुख की प्राप्ति होती है, दुःख से सुख नहीं मिलता। अतः कुञ्चन आदि से मुक्ति-प्राप्ति सम्भव नहीं। यह आचार धारणा बन जाने पर वे उक्त

पंच पापों में अभिरत हो जाते हैं।[1] जिनदास गणि और शीलांकाचार्य ने इस मत को एकमत से बौद्धमत माना है। शीलांक ने तो बौद्धों पर सावद्य अनुष्ठान करने तथा गो, महिष्यज, उष्ट्र, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पदादि परिग्रह रखने का दोषारोपण स्पष्ट रूप से किया है। आगे की गाथा में 'एवमेगे उपासत्था' में आये हुए पासत्थ शब्द का अर्थ पार्श्वस्थ किया गया है और इन पार्श्वस्थों में शीलांक ने बौद्धों को भी सम्मिलित किया है। ये पार्श्वस्थ कुशील सेवक तथा स्त्री परिग्रह से पराजित बनाये गये हैं। इसलिए अनार्य कर्मकारी होने के कारण उन्हें अनार्य भी कह दिया गया। उनके अनुसार प्रियादर्शन सदैव बना रहे। उसके समक्ष अन्य दर्शनों की क्या आवश्यकता! उसी सराग चित्त से निर्वाण प्राप्ति होती है।

प्रियादर्शन मेवास्तु किमन्यै दर्शनान्तरैः।
प्राप्यते येन निर्वाणं, सरागेणापि चेतसा ॥[2]

आगे की गाथाओं में कहा गया है कि बौद्धों के अनुसार जैसे पके हुए फोड़े को फोड़ने पर राध, रुधिर निकालने से मुहूर्त मात्र में आराम हो जाता है वैसे ही विषय भोग की प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ सम्पर्क करने में कौनसा दोष है? और भी अनेक उदाहरण दिए गये हैं। यथा—जैसे कंपिजल पक्षी आकाश में उड़ता हुआ जल-पान करता है, पर जल को कष्ट नहीं देता उसी प्रकार प्रार्थना करने वाली स्त्री से कामभोग सेवन करने में क्या दोष! जैसे भेड़ अपने घुटनों को पानी में झुकाकर पानी को गन्दा किये बिना ही धीरे-धीरे स्थिरता पूर्वक पीता है उसी प्रकार राग रहित चित्त वाला मनुष्य अपने चित्त को दूषित किये बिना स्त्री के साथ संभोग करता है। इसमें कोई दोष नहीं। वृत्तिकार ने यह मत नीले वस्त्र वाले बौद्ध विशेषों (बौद्ध विशेषाः नीलपटादयो) का माना है।[3] बौद्धों में कौनसा सम्प्रदाय नीले वस्त्र पहनता था, अज्ञात है। सम्भव है कोई वज्रयानादि बौद्ध शाखा रही हो।

अन्यत्र कहा है कि वे शाक्यादिक सचित्त जलपान, (अप्रासुक जल) सचित्त बीजभक्षण तथा उद्दिष्ट भोजन कर आर्तध्यान करते हैं। वे धर्म अवेदज्ञ तथा

---

१. इह मेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती।
जे तत्थ अरियं मग्गं, परमं च समाहिए (यं) ॥ ३. ४. ६.
पाणाइवाते वट्टंता, मुसावादे असंजता।
अदिन्नादाणे वट्टंता, मेहुणे य परिग्गहे ॥ ३. ४. ८.

२. सूत्र. वृत्ति, पृ. ९७।१ (शीलांकाचार्य कृत विवरण सहित आगमोदय समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित, १९१७)

३. वही, ३. ४. १०-१३ वृत्ति, पृ. ९७-९८; मिलाइये, चित्तविशुद्धिप्रकरण, ४७

माधिवन्त हैं।'[1] शीलांक ने लिखा है कि शाक्य भिक्षु मनोहर आहार, वसति, आसनादिक राग के कारणों का ध्यान करते हैं, उपयोग करते हैं। संज्ञान्तर आश्रमण के कारण वे इसे निर्दोष मानते हैं।[2] जैसे ढंक, कंक, कुलल, मंगु आदि पक्षी मत्स्य गवेषण के लिए कलुषता युक्त ध्यान करते हैं वैसे ही ये मिथ्यादृष्टि अनार्य साधु दुष्ट ध्यान करते हैं।[3]

'सातं सातेण' युक्ति का आधार लेकर बौद्ध मानते हैं कि जिस प्रकार शालि बीज से शाल्यङ्कुर ही होता है, यवांकुर नहीं, उसी प्रकार सुख से ही मुक्ति मिल सकती है, दुख से नहीं। कहा है—मनोज्ञ भोजन कर मनोज्ञ शय्या पर सोकर तथा मनोज्ञ घर में रहकर मुनि ध्यान करता है—

मणुण्णं भोयणं भोच्चा मणुण्णं सयणासणं।
मणुण्णंसि अगारंसी मणुण्णं झायए मुणी॥

यह उल्लेख किस ग्रन्थ से शीलांकाचार्य ने किया है, अज्ञात है। यदि यह किसी बौद्ध ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है तो और भी महत्वपूर्ण है। यह असंभव भी नहीं। उत्तरकाल में बौद्धों ने भी अपना साहित्य प्राकृत भाषा में निबद्ध करना प्रारम्भ कर दिया था। प्राकृत धम्मपद इसका प्रमाण है।

उक्त आलोचना जैसी आलोचना और भी की गई है कि बौद्ध भिक्षु अत्यन्त कोमल शय्या पर सोते हैं। प्रातःकाल उठकर दुग्धादि का पान करते, दोपहर को भोजन करते, अपरान्ह में पुनः कोई पेय द्रव्य लेते तथा अर्धरात्रि में द्राक्षा खण्ड और शर्करा लेते। इसी दिनचर्या से शाक्यपुत्र मुक्ति की प्राप्ति मानते हैं—

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया भक्तं मध्ये पानकं चापरान्हे।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः॥[4]

आगे इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है और सम्यक्ज्ञान पूर्वक कृत तपस्या को मुक्ति का साधन माना गया है। परमार्थ चिन्तक महापुरुष के लिए दुःख कष्ट भी सुख का कारण है।[5]

---

१. ते य बीओदकं चेव तमुद्दिस्सा य जं कडं।
भोच्चा झाणं झियायंति, अखेयन्ना असमाहिया॥ सूत्र. ११. २६

२. मणुण्णं भोयणं भुज्जे..............।
मंसनिवति काण्डं सेवइ दंतिक्क गंति धणिमेया।
इय च चइउणारम्भं परववएसा कुणइ बालो। वही

३. वही, ११. २७. २८.

४. वही, १. ३. ४. ६. की वृत्ति पृ. ९६.

५. वही

तण संथारनिवण्णो वि मुनिवरो यड रागमय मोहो।
जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टी वि ?॥

तथा—

दुःखं दुष्कृत संक्षयाय महतां क्षान्ते पदं वैरिणः।
कायस्याशुचिता विराग पदवी संवेग हेतुर्जरा॥
सर्वं त्याग महोत्सवाय मरणं जातिः सुहृत्प्रीतये।
संपद्भिः परिपूरितं जगदिदं स्थानं विपत्तेः कुतः॥

बौद्ध भिक्षुओं की आचार-शिथिलता देखकर सूत्रकृतांग में उन्हें अनार्य मिथ्यादृष्टि कहा गया है तथा यह कहा गया है कि जिस प्रकार जात्यन्ध पुरुष छिद्र वाली नौका में चढ़कर जब समुद्र पार करने की इच्छा करता है तो समुद्र में ही डूब जाता है वैसे ही कितने ही मिथ्यादृष्टि अनार्य साधु कर्मास्रव की अधिकता से नरकादिक के दुःख प्राप्त करते हैं। वे मुक्ति पथ से विमुख हो जाते हैं।[1]

बौद्ध साधुओं का यह आचार निश्चय ही उत्तर कालीन बौद्ध भिक्षुओं का आचार रहा होगा जिसका उल्लेख शीलांकाचार्य ने विशेष रूप से किया है। यह नवीं-दसवीं शती के बौद्ध जीवन का आँखों देखा वर्णन होगा। उस समय बौद्ध धर्म व दर्शन विकृत हो गया था। अतः यह आचार शैथिल्य असंभव नहीं। थेरगाथा में भविष्य के भिक्षुओं की आस्था व दिनचर्या का वर्णन किया गया है जो उक्त वर्णन से मिलता-जुलता है। थेरगाथा के प्रणयन काल में बौद्ध भिक्षुओं में यह शिथिलता आ चुकी होगी जिसकी चरम परिणति का आभास यहाँ प्रस्तुत किया गया है। वहाँ कहा गया है कि पुरुषोत्तम बुद्ध के रहते भिक्षुओं की चर्या दूसरी थी पर अब कुछ और ही हो गई है। पहिले के भिक्षु अधिक नम्र और कर्मास्रव को दूर करने में दत्तचित्त रहते, पर अब ऐसे भिक्षु अत्यल्प हैं।[2]

---

१. जहा आसावणं नावं जाई अंधो दुरुहिया।
इच्छई परमागं तु अन्तराय विसीयं॥
एवं तु समणा एगे मिच्छादिट्ठी अणारिया।
सोयं कसिणमावन्ना आगंतारो महाब्भयं॥ सू. १. ११. ३०-३१.

२. अञ्ञथा लोपनाथम्हि तिट्ठन्ते पुरिसुत्तमे।
इरियं असि भिक्खूनं अञ्ञथा दानि दिस्सति। थेरगाथा ९२१
सब्बासवपरिक्खीणा महाझायी महाहिता।
निब्बुता दानि ते थेरा परित्ता दानि तादिसा॥ थेरगाथा ९२८

हीं यह शंका भी व्यक्त की गई है कि यदि ऐसी ही विचिकित्सा बनी रही
शासन विनष्ट हो जायगा। ये पाप वासनाएँ उनके अन्दर उन्मत्त राक्षसों
ल रही हैं। वासनाओं के वश में होकर वे सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति
तत्र दौड़ लगा रहे हैं। सद्धर्म को छोड़कर असद्धर्म को श्रेष्ठ मानते
ला के लिए कुकृत्य का आचरण करते हैं। वे सभी शिल्प सीखते हैं और
से अधिकाधिक प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। वे भिक्षु औषध के विषय
की तरह हैं, कामधाम में गृहस्थों की तरह हैं, विभूषण में गणिकाओं
ह हैं और प्रताप में क्षत्रियों की तरह है। वे धूर्त हैं, वाञ्चनिक हैं, ठग
असंयमी हैं तथा आमिष का उपभोग करने वाले हैं।[1] लोभ के वशीभूत
धनसंग्रह करते, स्वार्थ के लिए धर्मोपदेश देते, संघ के भीतर संघर्ष करते
ाभ से जीविका करते हुए लज्जित नहीं होते।[2]

ांस भक्षण—सूत्रकृतांग में जिनदासगणि व शीलांक ने बौद्ध धर्म को
ादी अथवा कर्मवादी दर्शन माना है। उनके इस दर्शन की कर्म विषयक
को दु:खस्कन्ध वर्धक माना है। कम्मचिंतापणट्ठाणं संसारस्स
ं (२. १. २४)। चूर्णिकार ने दु:खस्कन्ध का अर्थ कर्मसमूह माना
कार ने आसातोद परम्परा। दोनों व्याख्याओं में कोई अन्तर नहीं है।

ायु क्तिकार ने बताया कि परिज्ञोपचित (मनोव्यापार) अविज्ञोपचित (शरीर
) ईर्यापथ व स्वप्नान्तिक ये चतुर्विध कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होते—
" कर्म नोपचीयते भिक्षु समय।" इसी प्रसंग में उन्होंने बताया कि प्राणी,
न, घातकचित्त, घातकक्रिया और प्राण वियोग ये पाँच कारण हिंसा के
क चतुर्विध कर्म में ये पाँच कारण नहीं होते। अत: हिंसा नहीं।
से दीवाल पर फेंकी गई धूलि स्पर्श के बाद ही बिखर जाती है इसी तरह
ंध कर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए उन कर्मों का उपचय
ता। कर्म बन्ध के तीन कारण हैं कृत, कारित व अनुमोदन। इनमें भाव-
के कारण कर्म का उपचय नहीं होता। इसके समर्थन में एक उदाहरण
या है कि जैसे राग द्वेष रहित कोई गृहस्थ पिता किसी बड़ी विपत्ति के
सके उद्धारार्थ आहार के लिए अपने पुत्र को मारकर उसका माँस भक्षण

---

1. भेसज्जे सु यथा वेज्जा, किच्चाकिच्चे यथा गिही।
गणिका व विभूसायं इस्सरे खत्तिया यथा॥
नेकतिका वञ्चनिका कूटसक्खी अपाटुका।
बहूहि परिकप्पेहि आमिसं परिभुञ्जरे॥ वही. ६३८.६
2. वही, ६४०-६४२.

करता हुआ भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार साधु भी मांस भक्षण करता हुआ भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता—

पुत्तं पिया समारब्भ आहारेज्ज असं जये।
भुञ्जमाणो य मेहावी कम्मणा नोवलिप्पई ॥[1]

संयुक्त निकाय में इस प्रकार की एक कथा मिलती है जहाँ शरीर सामर्थ्य बढ़ाने के उद्देश्य से एक पिता अपने पुत्र का वध कर उसका मांस भक्षण कर लेता है फिर भी बौद्ध धर्म की दृष्टि से पिता बधक (हिंसक) नहीं। यह आपवादिक नियम है। नायाधम्मा कहाओ के सुंसुमा अध्ययन में भी लगभग ऐसा ही उल्लेख आता है। सूत्रकृतांग केवल मन: प्रद्वेषो अपि अनवद्य कर्मोपचयाभाव" इस मत का खण्डन किया गया है।[2] कहा गया है कि उसके चित्त का विकल्प व्यापार हिंसा का कारण है। परव्यापादित पिशितभक्षणे पर" हस्ताकृष्टाङ्गारदाहाभावपन्न दोष' यह मत भी ठीक नहीं क्योंकि परोक्ष अनुमति तो इसमें रहती ही है।

मानसिक संकल्प ही बौद्ध मत में हिंसा का कारण है। जैसे तिल अथवा सरसों की खली के पिण्ड को पुरुष मानकर कोई उसका नाश करे तो उसे हिंसा का दोष लगेगा इसके विपरीत पुरुष को खली समझकर अथवा कुमार को अलाबु समझकर उसका नाश करने वाला प्राणिबध का दोषी नहीं होता। इतना ही नहीं इस प्रकार की बुद्धि से पकाया गया पुरुष अथवा कुमार का मांस बुद्धों के भोजन के लिए विहित माना गया है। इस प्रकार पकाए हुए मांस द्वारा जो उपासक अपने सम्प्रदाय के दो हजार भिक्षुओं को भोजन कराते हैं वे महान् पुण्यस्कन्ध का उपार्जन करते हैं और उसके द्वारा आरोग्य नामक 'देवयोनि में जन्म लेते हैं। बौद्ध मतावलम्बियों की इस मान्यता को आर्द्रक कुमार खण्डित करते हुए कहते हैं कि खली को पुरुष समझना अथवा अलाबु को कुमार समझना कैसे सम्भव है? ऐसा समझने वाले अज्ञानी हैं। वे औद्देशिक मांस का भक्षण करने वाले हैं, जिह्वा के स्वाद में आसक्त हैं।[3]

सूत्रकृतांग के क्रियास्थान नामक द्वितीयाध्यान में विविध क्रियास्थानों का परिचय दिया गया है। क्रियास्थान का तात्पर्य है—प्रवृत्ति का निमित्त। विविध प्रवृत्तियों के विविध काम होते हैं। इन्हीं कारणों को क्रियास्थान कहा गया है। ये क्रियास्थान दो प्रकार के हैं—धर्मक्रिया स्थान और अधर्मक्रिया स्थान। अधर्मक्रिया के १२ व धर्मक्रिया का एक भेद है। इस प्रकार कुल भेद क्रियास्थान के १३ हैं।

---

१. सूत्र. प. २. २. २८।
२. वही, १. २. २. २९ वृत्ति भी देखिये।
३. वही, २. ६. २. ४२।

ाल के अनुसार हिंसा ५ अवस्थाओं में संभावित है। अतएव अकस्मात
ानर्थ दण्ड वगैरह को वहाँ हिंसा रूप नहीं गिना जा सकता।
त्रकृतांग के इन बौद्धाचार सम्बन्धी उल्लेखों के देखने से स्पष्ट है कि उत्तर
बौद्ध सम्प्रदाय अत्यधिक शिथिल हो गये थे। अपने धर्म के परिपालन में
क्षण उनमें अधिक प्रचलित था। भले ही वह त्रिकोटिपरिशुद्ध रहा हो।
ाहित्य में भी बौद्धों को माँस भक्षण करते हुए देखा गया है। सीह सेनापति
उपासक हो जाने पर बुद्ध संघ के लिए माँस मिश्रित भोजन (सीहसुत्त)
जिसका तीव्र विरोध निगण्ठों ने किया इसका। मूल कारण यह है कि
र्मों में माँस-भक्षण अथवा अहिंसा की परिभाषा ही भिन्न रही है।
ाद्ध विनय की शिथिलाचार वृत्ति के इतिहास-दर्शन से यह स्पष्ट है कि
की विकास परम्परा महायान में एकायक नहीं आयी प्रत्युत उसके सूत्र
ऽ से ही जुटते रहे। भिक्खुपातिमोक्ख और भिक्खुणी पातिमोक्ख की
ा जिन घटनाओं के आधार पर हुई है उससे यह अनुमान लगाना सहज
ा है कि बौद्ध संघ में आचारहीनता प्रारम्भ हो चुकी थी। वहाँ प्राय:
य भिक्षु और सत्तरसवर्गीय भिक्षुओं तथा थुल्लनन्दा, सुन्दरीनन्दा और
य भिक्षुणियों के माध्यम से विनयशैथिल्य के प्रसंग एकत्रित किये गये
: थेरगाथा के पारापरिय और फुस्स जैसे भिक्षुओं का भविष्य के बौद्ध
के आचारदर्शन के प्रति अनुमान—कथन हमें यह कहने को बाध्य
है कि तबतक संघ में पर्याप्त भ्रष्टाचार चल पड़ा था। वज्रयान आदि
ों में उसी आचार का वृद्धिकृत रूप उपलब्ध होता है।
थविरवाद के बाद सर्वास्तिवाद भी एक प्रभावक बौद्ध सम्प्रदाय हुआ है।
ु उनका विनय ग्रन्थ माना जाता है (पृ. ३)। परन्तु पूरे ग्रन्थ के
से यह सही नहीं लगता। वह विनय नहीं बल्कि भगवान् बुद्ध की
रवादी जीवनगाथा है। इसका लेखक और काल भी एक नहीं माना
ता। इस महावस्तु (पृ. १) में बोधिसत्व की चार प्रकार की चर्यायें
यी हैं—प्रकृतिचर्या (कुशलमूलों का अवरोपण), प्रणिधानचर्या (कुसलमूल
न), अनुलोमचर्या (चक्रवर्तीभूत) और अनिवर्तनचर्या (तथागत होने
ज्ञा)। इसी प्रकार चार उपसम्पदाओं का भी उल्लेख है—स्वामी
दा, एहिभिक्षुकाय उपसम्पदा, दशवर्गेन गणेन उपसम्पदा, और पञ्चवर्गेन
उपसम्पदा।
थविरवाद की अपेक्षा मूलसर्वास्तिवाद में विनय-नियमों की संख्या अधिक है।
पिटक (हिन्दी अनुवाद) की भूमिका में श्री महा-राहुल सांकृत्यायनने स्थविर-
ार मूलसर्वास्तिवाद में आगत विनय नियमों की तुलना से भी यह स्पष्ट है।

१. भिक्षु नियम	स्थविरवाद	मूलसर्वास्तिवाद
१. पाराजिक	४	४
२. संघादिसेस	१३	१३
३. अनियत	२	२
४. निस्सग्गिय-पाचित्तिय	३०	३०
५. पाचित्तिय	९२	९०
६. पाटिदेसनिय	४	४
७. सेखिय	७५	११२
८. अधिकरण-समथ	७	७
	२२७	२६२

२. भिक्षुणी नियम	स्थविरवाद	मूलसर्वास्तिवाद
१. पाराजिक	८	८
२. संघादिसेस	१७	२०
३. निस्सग्गिय-पाचित्तिय	३०	३३
४. पाचित्तिय	१६६	१८०
५. पाटिदेसनिय	८	८
६. सेखिय	७५	११२
७. अधिकरण-समथ	७	७
	३११	३७१

उक्त तुलना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भिक्खुणी विनय में भिक्खुविनय की अपेक्षा नियमों की संख्या अधिक है। स्थविरवाद भिक्खुणी विनय में पाराजिक चार, संघादिसेस चार, पाचित्तिय चोहत्तर, और पटिदेसनीय चार, नियम अधिक हैं। अनियत नियम भिक्खुणी विनय में हैं ही नहीं। निस्सग्गिय-पाचित्तिय, सेखिय और अधिकरणसमथ दोनों में समान हैं। मूलसर्वास्तिवादी विनय में नियमों की यह संख्या और अधिक हो गई है। लगता है, भिक्षुणियों के स्वतन्त्रता देने के बावजूद उन पर प्रतिबन्ध अपेक्षाकृत अधिक थे। निष्पक्ष रूप से यदि विचार किया जाय तो भगवान् बुद्ध भी नारी वर्ग के प्रति अधिक उदार नहीं हो सके। पार्श्वनाथ और महावीर भी नहीं हुए। इसका कारण शायद यही रहा हो कि नारी की जन्मजात कमजोरियों से ये महापुरुष अपरिचित नहीं थे।

बौद्ध विनय के अधिकांश नियम जैन विनय से प्रभावित जान पड़ते हैं। वर्षावास आदि के नियम स्पष्ट रूप से जैन नियमों को देखकर बनाये गये हैं। निसीथसूत्र और पातिमोक्ख की भाषा, शैली और विषय की समानता इस सन्दर्भ में उपेक्षणीय नहीं है। आवश्यकता यह है कि जैन और बौद्ध विनय का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। श्रमण संस्कृति के विवेचन के समय हमने ऐसा प्रयत्न किया है।

१. उपासक विनय

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणी विनय के साथ बौद्ध उपासक विनय के सन्दर्भ में भी विचार करना आवश्यक है। अनेक भारतीय एवं विदेशी विद्वानों का मत है कि बौद्धधर्म में उपासक का कोई स्थान नहीं। तथागत की धर्मोपदेशना तो मात्र सन्यस्तों के लिए ही रही। परन्तु बौद्ध साहित्य के देखने से यह विचारणा पूर्णतया भ्रान्तिकारी सिद्ध हो जाती है। गृहस्थ का कर्तव्य क्या है और उसके जीवन की उन्नति किन उपायों से हो सकती है, इन प्रश्नों का उत्तर भगवान् बुद्ध ने अपने व्यावहारिक दृष्टिकोण से बड़ी सरल शैली में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

उपासक का महत्त्व—कोई भी धर्म केवल भिक्षु-भिक्षुणियों पर जीवित नहीं रह सकता। उसके जीवन के लिए उपासक का दायित्व कहीं अधिक गुरुतर है। संघ, विहार आदि की व्यवस्था का सम्पूर्ण भार उपासक अथवा श्रावक पर ही अवलम्बित रहता है। बुद्ध ने अनाथपिण्डिक से कहा कि आर्य श्रावक को यशो-लाभ व स्वर्ग की प्राप्ति होती है क्योंकि वह भिक्षुसंघ का चीवरदान, पिण्डदान (भोजनदान), शयनासन तथा औषधिदान से परिपालन करता है—

> गिहिसामीचिपटिपदं पटिपज्जन्ति पण्डिता।
> सम्मगते सीलवन्ते चीवरेन उपट्ठिता॥
> पिण्डिपातसयनेन गिलानप्पच्चयेन च।
> तेसं दिवा च रत्तो च सदा पुञ्ञं पवड्ढति॥
> सग्गं च कमतिट्ठानं कम्मं कत्वान भद्दकं॥[1]

भिक्षु की आचारिक व वैचारिक शिथिलता को दूर करने का भी दायित्व उपासक के कन्धों पर है। वर्षाकाल में भिक्षुओं द्वारा तृणस्कन्ध के कुचले जाने पर प्राणातिपात होता था। उनके इस दुष्कृत्य की आलोचना कर उपासकों ने उन्हें हिंसा से बचाया। और भी अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जहाँ उपासकों ने भिक्षु व संघ को सन्मार्ग दिखाया[2]। इसीलिए शायद यह विधान किया गया है कि भिक्षु गृहस्थों के प्रति क्रोधित न हो और यदि क्रोधित हो जाये तो वह प्रतिसारणीय कर्म करे तथा गृहस्थ से क्षमायाचना करे[3]।

---

१. गिहिसामीचिसुत्त, अंगुत्तर निकाय।
२. वर्षोपनायिका स्कन्धक, विनयपिटक।
३. चुल्लवग्ग, विनयपिटक।

कुछ शिलालेखों में बौद्धगोठी[1] और सीहगोठी[2] (सिहगोष्ठी) के आते हैं। ऐसी गोष्ठियों के अध्यक्ष व सदस्यों के नाम भी प्राप्त होते हैं[3]। बोटिम लेखों में (द्वितीय-प्रथम शती ई० पू०) बोधगोठी[4] तथा विदिश में बकुलमिसानगोठी[5] का भी उल्लेख मिलता है। डॉ० बूलर के अनु गोष्ठियाँ बिहारों आदि की व्यवस्था किया करती थीं[6]। डॉ० अजयमित्र का मत है कि इन बौद्ध गोष्ठियों में एक भिक्षु भी सदस्य के रूप में र जो विहारादि धार्मिक संस्थानों की व्यवस्था में सहयोग देता था[7]। यह भी है इसलिए कि एक भिक्षु अपने धर्मायतनों की जितनी अच्छी व्यवस सकता है, उतनी अच्छी व्यवस्था और कोई दूसरा नहीं कर सकता। अ उद्धरणों[8] से यह स्पष्ट है कि संघ के लिए उपासक की उपयोगिता कम न

तथागत के अधिकांश उपदेश भिक्षुओं को सम्बोधित कर दिये गये हैं भी चूंकि सभी जन घर-परिवार नहीं छोड़ सकते थे, इसलिए उन्ह धर्मदेशना गृहस्थों के लिए भी दी है। बौद्ध गृहस्थों की यह धर्मदेश गृहस्थों के लिए निर्धारित जैसी सुव्यवस्थित आचार-विचार देशना नहीं है भिक्षु के निमित्त दिया गया उपदेश तो गृहस्थों के लिए भी कार्यकारी परन्तु यहाँ हम उन्हीं कुछ विचारों को रखेंगे जो विशेष रूप से एक व्यक्ति के उत्थान से सम्बद्ध रहे हैं। इस दृष्टि से सिगालोवाद आदि सुत्त महत्वपूर्ण हैं। सुत्तनिपात में भी गृहस्थ धर्म का वर्णन मिलता है।

बौद्ध उपासक के कर्तव्य—बौद्ध उपासक का प्रमुख कर्तव्य य वह निम्नलिखित चार प्रकार के पाप कर्मों से विमुख रहे[9]—

---

१. एपिग्राफिया इन्डिका, भाग २, पृ. २२६।
२. वगणि निगमपुतानं राजपामुखो च इबपुतो कुबिरको राजा सि पामुखो [।] तेषं अन्नं नजूसं फालिगषमुगो च पषाणषमुगो च पृ. २२८।
३. गोठि हिरञबधवा बुडालको कालहो बिसको ....उपोसथपु कारहपुतो, वही पृ. ३२८।
४. वही, पृ. ९९-१००। ५. वही, पृ. १०२।
६. डॉ० अजयमित्र शास्त्री, Early Budhism, पृ. १२६।
७. वही, १२७। ८. वही, पृ. १२६-१२७।
९. पाणातिपातो अदिन्नादानं मुसावादो च वुच्चति।
परदारगमनञ्चेव नप्पसंसन्ति पण्डिता॥ सिगालोवादसुत्त, दी. ८.

१. पाणातिपात (हिंसा करना) ।
२. अदिन्नादान (चोरी करना) ।
३. कामेसु मिच्छाचार (स्त्री सम्बन्धी दुराचार करना) ।
४. मुसावाद (असत्य बोलना) ।

जैनधर्म में श्रावक के लिए पञ्चाणुव्रत पालने का विधान किया गया है। इस विधान में उक्त चार पापकर्मों के साथ परिग्रह से भी विरत रहना सम्मिलित है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने 'कामेसु मिच्छाचार' के स्थान पर 'परिग्रह' की गणना की थी जिसमें मिथ्याचार भी गर्भित था। इसे चातुर्याम कहा गया है। बौद्ध साहित्य में इसके पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। बुद्ध ने अशुद्ध तपस्या को बताते हुए शुद्ध तपस्या का व्याख्यान किया और वास्तविक तपस्या में चार भावनाओं का परिपालन प्रशंसनीय माना। इन चारों भावनाओं को 'चातुर्याम संवर' कहा गया है। इसके अनुसार तपस्वी प्राणातिपात, अदत्तादान, मृषावाद तथा कुशील (कामगुणों में मिथ्याचार) से कृत, कारित व अनुमोदन पूर्वक दूर रहता है[1]।

उक्त चारों पापकर्म हिंसा में अन्तर्भूत हो जाते हैं अतः स्थूल रूप से हिंसा का त्याग करना उपासक का मुख्य कर्तव्य है। सुत्तनिपात में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम करने का उपदेश दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि शान्त पद (निर्वाण) की प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य को चाहिए कि वह योग्य तथा अत्यन्त सरल बने। उसकी बात मृदु, सुन्दर और विनम्रता से आपूर हो। वह सन्तोषी हो, अल्पकृत्य व अल्पवृत्तिवान् हो, इन्द्रियसंयमी व अप्रगल्भ हो। सर्वथा निर्दोष रहने का प्रयत्न करे। उसकी यह प्रयत्नमय भावना रहे कि सभी प्राणी सुखी हों, सभी का कल्याण हो और सभी सुखपूर्वक रहें, (सुखिनो वा खेमिनो होन्तु सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता) जंगम या स्थावर, दीर्घ या महान्, मध्यम या ह्रस्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या उत्पत्स्यमान् जितने भी प्राणी हैं, सभी सुखपूर्वक रहें[2]। एक दूसरे की प्रवञ्चना न करे, अपमान न करे, वैमनस्य के कारण परस्पर में दुःख देने की भावना न करे। माता

---

१. उदम्बरिकसीहनाद सुत्त, दीघनिकाय।
विशेष देखिये, मेरा प्रबन्ध—Jainism in Budhist Literature.

२. ये केचि पाणभूतत्थि तसा वा थावरा वा अनवसेसा।
दीघा वा ये महन्ता वा मज्झिमा रस्सकाणुकथूला॥
दिट्ठा वा येव अदिट्ठा ये च दूरे वसन्ति अविदूरे।
भूता वा संभवेसी वा सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता॥ मेत्तसुत्त, ४-५

जिस प्रकार स्वयं की चिन्ता न कर अपने इकलौते पुत्र का संरक्षण करती उसी प्रकार का असीम प्रेम व्यक्ति प्राणिमात्र के प्रति करे[1]। शत्रुता को सं कर अखिल संसार के प्रति असीम प्रेम बढ़ाये। खड़े रहते, चलते, बैठते, सं व जागृत रहते समय इसी प्रकार की स्मृति सजग रखनी चाहिए। य ब्रह्मविहार है। ऐसा प्रेमभावी व्यक्ति विशुद्ध शीलवान् हो पुनर्जन्म से मुक्त जाता है[2]।

कितना विशुद्ध व सात्विक प्रेम बनाये रखने के लिए निर्देशन दिया ग है! संयुक्तनिकाय में "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" से मिलते जु विचार उपलब्ध होते हैं। वहाँ कहा गया है कि जो शरीर, मन व वचन हिंसा नहीं करता व पर को नहीं सताता वही अहिंसक है[3]। अहिंसक की परिभाषा बड़ी व्यापक व मानवता से भरपूर है। चतुःशतक (१२.२३) कहा है—"धर्मो समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागता।"

भगवान् बुद्ध ने यज्ञ व बलिकर्म का घोर विरोध किया था। उनके अनुस अश्वमेध, पुरुषमेध, वाजपेय्य आदि महारम्भी यज्ञ महाफलदायी नहीं होते ऐसे यज्ञों में गायों, बकरी-भेड़ों आदि पशुओं की घनघोर हिंसा होती है। प्रकार के यज्ञों में सम्यग्मार्गगामी महर्षिजन नहीं जाते। यज्ञ ऐसे हों जि किसी भी प्रकार की हिंसा न हो। दानपुण्य करना सबसे बड़ा यज्ञ है। य प्रशंसनीय है। बुद्ध ने ऐसे ही यज्ञ को करणीय माना है[4]। संयुत्तनिकाय यञ्ञसुत्त में भी इसी प्रकार के विचार अभिव्यक्त किये गये हैं।

हिंसा, चौर्य, असत्यभाषण, मिथ्याचार तथा सुरा, मेरय, मद्य आदि नशी चीजों से विरत रहना—ये उपासकों के पञ्चशील माने गये है। इन्हीं पञ्चशिक्षापद भी कहा गया है। इन पंचशिक्षापदों की पृष्ठभूमि में दस उद्दे निहित हैं—१. संघ की भलाई, २. संघ की सुविधा, ३. दुष्ट व्यक्तियों निग्रह, ४. शीलवान् भिक्षुओं का सुखपूर्वक विहार, ५. आश्रमों का संयम ५. श्रद्धावानों में अधिक श्रद्धा की जाग्रति, ७. अश्रद्धावानों मे अधिक श्र सम्पन्नता, ८. भावी जन्मों के आस्रवों का प्रतिघात, ९. सद्धर्म की स्थिति ह १०. विनय पर अनुग्रह। इन दस उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रातिमोक्ष के नियम बनाये गये हैं[5]।

---

१. माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवं पि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं॥ वही, ७

२. मेत्तसेत्त, सुत्तनिपात, १-१०। ३. अहिंसक सुत्त।

५. दसमनिपात, उपालिसुत्त, अंगुत्तरनिकाय। ४. चतुक्कनिपात, अंगुत्तरनिका

पंचशिक्षापदों के माध्यम से पंच शैक्ष्यबल की प्राप्ति होती है—श्रद्धाबल, लज्जाबल, पापभीरुताबल, वीर्यबल और प्रज्ञाबल। इन पाँचों बलों से कुशल कर्मों में दृढ़ आस्था हो जाती है। काम भोगों के प्रति लालसा समाप्त हो जाती है। चार आर्यसत्य, भावना, चार स्मृति प्रस्थान भावना, चार सम्यक्प्रधान भावना, चार ऋद्धिपाद भावना, पंचेन्द्रिय भावना, सप्तबोध्यंग भावना, आर्य अष्टाङ्गिकमार्ग भावना, आठ विमोक्ष भावना, आठ अभिभू आयतन भावना, दस कृत्सनायतन भावना एव चार ध्यान भावना का अभ्यास उपासक करने लगता है। इस अभ्यास से उपासक का चित्त अत्यन्त निर्मल और ऋजु हो जाता है[1]। श्रावक इन भावनाओं को भाकर चार प्रत्यक्ष सुखानुभव स्वरूप चैतसिक ध्यानों को प्राप्त करता है तथा बुद्ध, बुद्धधर्म, बुद्धसंघ में निश्चल श्रद्धा कर श्रेष्ठ शीलों से युक्त हो जाता है।

भगवान् बुद्ध का प्रथम उपासक वाराणसी का यश गृहपति था जिसे उन्होंने दान, शील, स्वर्गकथा, काम वासनाओं का दुष्परिणाम, निष्कामना का माहात्म्य तथा चार आर्य सत्य का उपदेश दिया था। वत्सगोत्र परिव्राजक को दस कुशल और दस अकुशल धर्मों का व्याख्यान दिया। प्राणातिपात, अदत्तादान, मिथ्याचार मृषावाद, पिशुनवचन, परुषवचन, संप्रलाप अभिध्या (लोभ), व्यापाद व मिथ्यादृष्टि—ये अकुशल धर्म हैं और इनके विपरीत धर्म कुशल धर्म कहे गये हैं। उपासकों को अकुशल धर्मों का परित्यागकर कुशल धर्मों को धारण करना चाहिए। इसी प्रसंग में यहाँ यह भी कहा गया है कि बुद्ध के भिक्षु, भिक्षुणियाँ, ब्रह्मचारी उपासक, सुब्रह्मचारिणी उपासिकायें, कामभोगी उपासक, कामभोगिनी उपासिकायें आदि सभी आराधक हैं। इसलिए बौद्धधर्म अपने आप में परिपूर्ण है[2]।

कौसलवासियों के बीच एक बार बुद्ध ने उपदेश देते हुए कहा था कि अधर्माचरण से दुर्गति प्राप्त होती है और धर्माचरण से सद्गति मिलती है। इस धर्माचरण व अधर्माचरण के मुख्य तीन भेद हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। प्राणातिपात, अदत्तादान व मिथ्याचार ये तीन भेद कायिक अधर्माचरण के हैं। मिथ्यावाद, पैशून्य, परुषभाषण, एवं प्रलाप ये चार वाचिक अधर्माचरण हैं। अभिध्या (लोभ), व्यापन्नचित्त, मिथ्यादर्शन ये तीन मानसिक अधर्माचरण हैं। इस अधर्माचरण के कारण प्राणी नरकगामी होते हैं। इनसे

---

१. महासकुलदायिसुत्त, मज्झिमनिकाय।
२. महावच्छगोत्तसुत्त, मज्झिमनिकाय।

विरक्त होकर जीवन यापन करने से स्वर्ग प्राप्ति होती है। बुद्ध के मुख से इस प्रकार उपदेश सुनने के बाद सभी गृहस्थ उनके उपासक बन गये[१]।

बुद्ध ने प्रज्ञा की वृद्धि के चार कारण दिये हैं—सत्पुरुषों की सेवा, सद्धर्म का श्रवण, तथा योग्य विचार और धर्मानुसार आचरण। ये चार बातें सर्वसाधारण के लिए भी अत्यन्त उपकारी हैं। साथ ही यह भी आवश्यक है कि कोई अदृष्ट को दृष्ट न कहे, अश्रुत को श्रुत न कहे। अनाघ्रात, अनास्वादित व अस्पृष्ट को आघ्रात, आस्वादित तथा स्पृष्ट न कहे व अज्ञात को ज्ञात न कहे[२]। उसका चित्त किसी से वैर करने वाला न हो, अक्रोधी हो, असंक्लिष्ट हो और शुद्ध हो। इससे आर्य श्रावक को सद्गति, सुख-साधन, पाप कर्मों से विदूरता तथा हर दृष्टि से विशुद्धि प्राप्त होती है। कालाम यही उपदेश सुनकर बुद्ध का उपासक बन गया था[३]। बुद्ध ने जीवन की अवनति के कारणों मे साधारणत: तीन प्रकार के मद माने हैं—यौवनमद, आरोग्यमद और जीवनमद। तीनों मद दुर्गति, पतन और नरक के कारण हैं[४]।

भगवान् बुद्ध ने सदैव संयम पर बल दिया है। मागन्दिय परिव्राजक को उन्होंने स्वयं भुक्त भोगों का आख्यान करते हुए काम, तृष्णा आदि से दूर रहने का उपदेश दिया। यह प्राणी विषय सुखों में निमग्न रहकर उनमे सुख है ऐसी विपरीत धारणा रखता है। परन्तु यह वस्तुत: संसार-भ्रमण का कारण है। कामगुणों का सुख वास्तविक सुख नहीं। वह तो मात्र सुखाभास है। इस मार्मिक और तथ्ययुक्त उपदेश को श्रवणकर मागन्दिय गद्‌गद हो गया और तत्काल बुद्ध का शिष्य बन गया[५]।

भगवान् बुद्ध व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक चिन्तन करते थे। यही कारण था कि जनता को उनकी बात रुचिकर हुआ करती थी। कौसलवासियों को अपर्णक (द्विविधारहित) धर्म के सन्दर्भ मे बताते हुए उन्होंने मुख्य रूप से अन्य तीर्थङ्करो के दो मतों का उल्लेख किया। प्रथम वह जिसमें सत्य भाषण आदि पुण्य क्रियाओं में पुण्यबन्ध नहीं माना गया और द्वितीय वह जिसके अनुसार दान, यज्ञ आदि की मान्यता सही है। प्रथम मत मे सत्कर्मों के स्थान पर असत्कर्मों का बाहुल्य है और द्वितीय मत उसके प्रतिकूल है। द्वितीय मत

---

१. सालेय्यक सुत्त, मज्झिमनिकाय।
२. आपत्तिभयवग्ग, चतुक्कनिपात, अंगुत्तरनिकाय।
३. तिकनिपात, अंगुत्तरनिकाय।
४. तिकनिपात (अंगुत्तरनिकाय)।
५. मागन्दिय सुत्त, मज्झिमनिकाय।

: पोषक बुद्ध स्वयं है। उन्होंने परलोक की अपेक्षा इहलोक को सुधारने पर
धिक जोर दिया है। तदर्थ अष्टाङ्गिक मार्ग का उपदेश वर्तमान जीवन को
धिकाधिक सक्षम और कुशल कर्मयुक्त बनाने के निमित्त एक सफल
यास है। ऐहिक जीवन में सुधार हो जाने से पारलौकिक जीवन स्वतः सुधर
जाता है[1]।

अंगुत्तर निकाय में चार चक्र बताये गये हैं, जिनसे देव व मनुष्यों का जीवन
ल्प समय में ही भोग्य पदार्थों से आपूर हो जाता है। ये चार चक्र हैं—
नुकूल देशवास, सत्पुरुष आश्रय, चित्त की स्थिरता तथा पूर्वजन्मकृत पुण्य। इसी
संग में बुद्ध ने लोकसंग्रह की भावनाओं का भी उल्लेख किया है और यह
र्देशन दिया है कि उपासक व भिक्षु को दान, प्रियवचन, उपकार तथा समानता
ा व्यवहार करना चाहिए। ये चारों लोकसंग्रहमयी भावना पुत्र, माता-पिता
ादि परिजनों के साथ मधुर सम्बन्ध बनाये रखने में कारणभूत रहती हैं।

> दानं च पेय्यवज्जञ्च अत्थचरियाय च या इध।
> समानता च धम्मेसु तत्थ तत्थ यथा रह॥
> एते खो सङ्गहा लोके रथस्सानीव यायते।[2]

महानाम शाक्य ने भगवान् से पूछा कि उपासक का प्रधान कर्तव्य क्या
? भगवान् ने उत्तर दिया कि बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण ग्रहण करना
पासक का प्राथमिक कर्तव्य है। उसके उपरान्त उसे प्राणातिपातादि से विरत
हना चाहिए। उसका यह भी दायित्व है कि वह स्वयं प्रज्ञा, श्रद्धा, शील,
माधि, त्याग आदि भावनाओं को स्वयं धारण करे तथा दूसरे को भी धारण
राये। आत्महित तथा परहित दोनों में उसे रहना चाहिए[3]। उपासक व
भक्षु सर्वोत्तम दर्शन, श्रवण, लाभ, शिक्षा, परिचर्या और अनुभूति का अभ्यास
रे। बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग तथा देवता की अनुस्मृति करे। अनित्य
ज्ञा का, अनित्य के प्रति दुःख संज्ञा का, दुःख के प्रति अनात्म संज्ञा का,
हाण संज्ञा का, वैराग्य संज्ञा का तथा निरोध संज्ञा का अभ्यास करे। इस
भ्यास से राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, मात्सर्य आदि दोष परिक्षीण हो जाते
[4]। जीवन की सफलता के लिए मेधावी व्यक्ति को बुद्धानुशासन का ध्यान
र धर्मदर्शी बनना चाहिए।

---

१. अपण्णक सुत्त, मज्झिमनिकाय।
२. चतुत्थ निपात, अंगुत्तर निकाय।
३. गहपतिवग्ग, अंगुत्तरनिकाय।
४. रागपेय्याल, वही।

यस्स सद्धा तथागते अचला सुप्पतिट्ठिता ।
सीलञ्च यस्स कल्याणं अरियकन्तं पसंसितं ।
संघे पसादो यस्सत्थि उजुभूतञ्च दस्सन ।
अदलिद्दो ति त आहु अमोघ तस्स जीवितं ॥
तस्मा सद्धञ्च सीलञ्च पसादं धम्मदस्सन ।
अनुयुञ्जेथ मेधावि सर बुद्धानसासन ॥[1]

भगवान् बुद्ध विविध प्रकार से जनसमुदाय को सद्धर्म की ओर आकर्षि करने का प्रयत्न करते थे। अनाथपिण्डिक से उसके पूछने पर बुद्ध ने कहा कि संसार में चार वस्तुएँ दुर्लभ हैं—१. धर्मानुसार योग्य वस्तुओं की प्राप्ति २. यश प्राप्ति, ३. दीर्घायु तथा ४. सद्‌गति। इन चारों श्रेय वस्तुओं को प्रा करने के लिए श्रद्धा, शील, त्याग और प्रज्ञा सम्पत्ति से युक्त होना चाहिए प्रज्ञा सम्पत्ति से करणीय-अकरणीय का भेद स्पष्ट हो जाता है। वह विषयलोभ थीनमिद्ध (आलस्य) व चित्त के उपक्लेशों से दूर रहता है। स्वयं अजि सम्पत्ति से परिवारादि का सम्यक्परिपालन करता, आत्मरक्षा करता, पञ्चबलिक करता, क्षमाशील होता और परसेवा करता[2]। भिक्षु और उपासक के सा धन भी प्राय: उक्त सम्पत्तियों से मिलते-जुलते हैं। सात धन ये हैं—श्रद्धा शील, लज्जा, पापभीरुता, श्रुति, त्याग तथा प्रज्ञा[3]। दुश्शीलता, ईर्ष्या मात्सर्य ये तीनों दुर्गुण नरक तुल्य हैं[4]।

तृष्णा जन्म मरण को बढ़ाने वाली है। उसके होने से वस्तुओं की खोज प्राप्ति की जाती है। प्राप्ति होने से तृष्णा का निश्चय होता है। निश्चय होने आसक्ति, आसक्ति से ममत्व, ममत्व से मात्सर्य, मात्सर्य से सुरक्षा, सुरक्षि वस्तु के लिए खींचतान, दण्डादण्डी, शस्त्रप्रयोग, कलह, विवाद, पैशून्य तथ असत्य भाषण जैसे दोष पैदा हो जाते हैं[5]।

अवनति के कारण—भगवान् ने व्यक्ति की अवनति के कारणो पर अत्यन्त व्यावहारिक बुद्धि से विचार किया है। उन्होंने कहा है कि कार्यबहुलत बचन-बहुलता, निद्रा-बहुलता, मण्डली-बाहुल्य (अत्यधिक सामाजिक होना दुर्वचनीयता व कुसंगति ये छ: कारण हैं जिनसे व्यक्ति की उन्नति नहीं हो पाती (छक्क निपात, अंगुत्तर निकाय)। इसी प्रकार भिक्षुओं का दर्शन छोड़ना, सद्ध में प्रमाद करना, पंचशीलों का अभ्यास न करना, अश्रद्धावान् होना, भिक्षुओं व

---

१. चतुक्कनिपात, वही।
२. चतुक्कनिपात, वही।
३. सत्तकनिपात, धनवग्ग, वही।
४. तिकनिपात, वही।
५. नवमनिपात, तण्हामूलकसुत्त, वही।

निन्दा करना, छिद्रान्वेषी होना एवं बौद्धेतर साधुओं को दान देना ये सात अवनति के कारण हैं (सत्तक निपात, अंगुत्तर निकाय)। दरिद्रता, ऋण, सूद, दोषारोपण आदि भी जीवन के लिए अत्यन्त दुःखदायी होते हैं (छक्क निपात, अंगुत्तर निकाय)। भिक्षुओं को हानि पहुँचाना, उनका अहित करने का प्रयास करना, निवास स्थान से हटाना, अशिष्ट शब्द कहना, परस्पर में वैमनस्य पैदा करना, धर्म की निन्दा करना तथा संघ की निन्दा करना ये आठ दुर्गुण जिस उपासक में होते हैं, उसकी अवनति अवश्यम्भावी है,, (अट्ठकनिपात, अंगुत्तरनिकाय)।

श्रावस्ती में भगवान् ने व्यक्ति की अवनति के और भी कारण प्रदर्शित किए हैं जिनमें प्रमुख हैं—१. धर्मद्वेष, २. असत्पुरुष प्रियता, ३. निद्रा, अधिक सम्पर्क, अनुद्योग, क्रोध, ४. वृद्ध माता-पिता की अशुश्रूषा, ५. मिथ्या भाषण, ६. मात्र स्वादिष्ट भोजन, ७. जाति, धन तथा गोत्र का गर्व व बन्धुओं का अपमान ८. मिथ्याचार व मद्यपान, ९. पर-स्त्री संसर्ग, १०. अनमेल विवाह, ११. लालची भृत्य तथा १२. अल्पसाधन सम्पन्न पर महालालची पुरुष द्वारा राज्य की इच्छा। ये पराभव के कारण ऐसे हैं, जिन्हें कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता[१]।

धर्म व कर्तव्य मे सुप्रतिष्ठित रहने के लिए व्यक्ति बड़ों का आदर करे, ईर्ष्यालु न हो, सम्मान के साथ धर्मकथा सुने, धृष्टता को दूर कर विनम्र भाव से गुरुजनों के पास पहुँचे और अर्थ, धर्म, संयम तथा ब्रह्मचर्य का स्मरण कर उनका आचरण करे, धर्मोपदेश को सुस्थिर हो श्रवण व मनन करे, अट्टहास, विलाप, कपट, लोलुपता, अभिमान, मोह आदि दुर्गुणो से दूर रह कर स्थिरचित्त हो विचरण करे, ज्ञान और श्रुति की वृद्धि करे[२]।

इन व्यक्तियों के अतिरिक्त बुद्ध ने प्रतिदिन के जीवन में उपस्थित होने वाली बातों पर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उदाहरणार्थ, समागत अतिथि का प्रसन्न मन से उठकर स्वागत करना, अभिवादन करना, बैठने के लिए आसन देना, किसी रखी हुई वस्तु को नहीं छिपाना, बहुत रहने पर थोड़ी नहीं देना, प्रणीत (उत्तम कोटि का) पदार्थ रहने पर भी रूखा (घटिया) न देना, जो भी दे आदरपूर्वक देना। जिस गृहस्थ कुल में ये सात बातें न हों वहाँ कभी नहीं जाना चाहिए[३]।

---

१. वसल सुत्त, सुत्तनिपात।
२. किसील सुत्त, सुत्तनिपात।
३. सत्तक, अंगुत्तर निकाय।

उपासक दो प्रकार के बताये गये हैं—चाण्डाल उपासक और मलिन उपासक। चाण्डाल, मलिन अथवा निकृष्ट उपासक वह है जो अश्रद्धावान् हो, दुश्शील हो, भले-बुरे शकुनों में विश्वास करने वाला हो, भले-बुरे शकुनों की ओर देखता रहता हो तथा दक्षिणा के पात्रों को बौद्धेतर दर्शनों में खोजता हो। जिस उपासक में ये पाँच बातें नहीं रहतीं, वह उपासकरत्न कहलाता है। उपासकरत्न के लिए पाँच प्रकार के व्यापार वर्जित हैं—अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार, मांस का व्यापार, मद्य का व्यापार तथा विष का व्यापार। ऐसा उपासक संयतेन्द्रिय होता है तथा चेतसिक ध्यानों को प्राप्त करता है[१]। उपोसथ प्रकारों में से उसे भगवान् द्वारा निर्दिष्ट आर्य उपोसथ का पालन करना चाहिए जिससे उसका मलीन चित्त निर्मल हो सके।[१] इसके पाणातिपात वेरमण आदि आठ अंग होते हैं।[२]

चार प्रकार के सहवास—मथुरा व वरंजा के किनारे चलते समय भगवान् से कुछ गृहपतियों-गृहपत्नियों की भेंट हुई। भगवान् ने उन्हें चार प्रकार के सहवास बताए—

१. दोनों पति-पत्नी दुश्शील होते हैं, कृपण होते हैं व कृपण ब्राह्मणों को भला-बुरा कहने वाले होते हैं। इसे लाश-लाश के साथ रहने वाला दम्पति वर्ग कहा है।

२. पति दुश्शील होता है और पत्नी सदाचारिणी। इसे पत्नी का पतिरूपी लाश के साथ रहना कहा है।

३. पति शीलवान होता है और पत्नी दुराचारिणी। इसे स्वयं लाश रूप होकर देवता पति के साथ रहना कहा है। और

४. दोनों पति-पत्नी श्रद्धावान, उदार व संयत होते हैं। धर्मानुसार आचरण करने वाले व प्रियभाषी होते हैं।

इनमें दुश्शील व्यक्ति पंच पापों का कर्ता, मिथ्यादृष्टि तथा मात्सर्य आदि दोषों से संयुक्त रहता है और सदाचारी इन दोषों से विमुक्त रहता है। उक्त चार प्रकार के सहवासों में स्पष्टतः अन्तिम सहवास सर्वोत्तम है। परस्पर सुखी व समृद्ध होने का उपाय यही है कि दम्पति समान श्रद्धावान् हो, शीलवान् हो, त्यागी हो व प्रज्ञावान् हो।[३]

---

१. पंचकनिपात, वही।

२. अंगुत्तर, तिकनिपात।

३. वही, चतुक्कनिपात (हिन्दी अनुवाद)।

उभो च होन्ति दुस्सीला कदरिया परिभासका ।
ते होन्ति जानिपतयो इवासंवासमागता ॥
सामिको होति दुस्सीलो कदरियो परिभासको ।
भरिया सीलवती होति वदञ्ञू वीतमच्छरा ॥
सापि देवी संवसति छवेन पतिना सह ॥[1] इत्यादि

सात प्रकार की भार्यायें—अनाथ पिण्डिक से भगवान् ने पूछा—हे
ति ! तुम्हारे घर में इतना अधिक शोरगुल क्यों हो रहा है मानों मछुवे
लियों के लिए संघर्ष कर रहे हों ? गृहपति ने कहा—भन्ते ! वह सुजाता
वधू धनी घर की है । न वह सास का आदर करती है और न श्वसुर का,
वामी का आदर करती है और न भगवान् का । तब भगवान् ने सुजाता को
बोध दिया और उसे भार्याओं के सात प्रकार बताये—

१. प्रथम प्रकार की भार्या दूषित चित्तवाली होती है, अहित चाहने वाली
ी है, पति की उपेक्षा कर अन्यों के प्रति अनुरक्त रहती है, धन द्वारा क्रीत के
के लिए उत्सुक रहती है । पुरुष की इस प्रकार की भार्या बधक जैसी भार्या
लाती है । (वधा च भरिया)

२. दूसरे प्रकार की भार्या वह है जो शिल्प, वाणिज्य व कृषि से प्राप्त
मी के धन में से कुछ नहीं छोड़ती । पुरुष की इसी प्रकार की भार्या
रेणी जैसी भार्या कहलाती है । (चोरीया भरिया)

३. निकम्मी रहने वाली, आलसी, अधिक खाने-पीने वाली, कठोर स्वभाव
ी, प्रचण्ड अपशब्द बोलने वाली तथा पति के उत्साह को दबाने वाली भार्या
किन जैसी भार्या है । (अय्या च भरिया)

४. जो सदैव हित चाहने वाली होती है, जो पति की इस प्रकार देखभाल
ती है जैसे माता पुत्र की, जो पति के कमाये हुए धन का संरक्षण करती है ।
ाता च भरिया)

५. जो छोटी या बड़ी बहिन के समान अपने स्वामी के प्रति गौरव का भाव
ती है, लज्जाशील होती है, पति की आज्ञा में रहने वाली होती है । पुरुष की
प्रकार की भार्या बहन जैसी भार्या (भगिनी च भरिया) कहलाती है ।

६. जैसे चिरकाल के अनन्तर सखा को देखकर कोई सखी प्रसन्न होती है,
ी प्रकार जो कुलीन, शीलवान् पतिव्रता नारी अपने पति को देखकर प्रमुदित
ी है । पुरुष की इस प्रकार की भार्या सखी जैसी भार्या (सखी च भरिया)
लाती है ।

---

१. वही, चतुक्कनिपात ।

७. जो मारने-पीटने का डर दिखाये जाने पर भी क्रोधित न होने शान्त रहने वाली, निर्द्वेष चित्त से पति की हर बात को सहन करती। क्रोध नहीं आता, जो स्वामी के वश में रहने वाली है—पुरुष की इस प्र भार्या दासी जैसी भार्या कहलाती है (दासी च भरिया)।

इनमे प्रथम तीन प्रकार की भार्यायें भाषा में दुश्शील व कठोर स्व होती हैं। वे पति का आदर नहीं करतीं। ऐसी भार्यायें नरकगामिनी हो शेष प्रकार की भार्यायें शीलवती होती हैं व दीर्घकाल तक संयत जीवन करने के कारण स्वर्गगामिनी होती हैं।[1]

उग्गह ने भगवान् से यह निवेदन किया कि मेरी ये लड़कियाँ पति जाएँगी। भगवान् इन्हें ऐसा उपदेश दें जो दीर्घकाल तक इनके हित त का कारण हो। भगवान् ने कहा—कुमारिओ! माता-पिता तुम्हें जिस भी पति को सौंपे, उसके सोकर उठने से पूर्व उठो, उसके सोने के बाद आज्ञाकारिणी रहो, अनुकूल व्यवहार करो तथा प्रियवादिनी बनो। गौरव भाजन जनों—माता-पिता, श्रमणों ब्राह्मणों—का सत्कार करो। स्व जो भी शिल्पकार्य हो, चाहे ऊन का हो या कपास का हो, उसमें पू प्राप्त करो, अप्रमादी होकर उसकी व्यवस्था करने में यथोचित सहयोग स्वामी के भृत्यगणों के कार्य की पूर्ण जानकारी रखो। रोगियों की सेवा-सुश्रूषा करो। स्वामी के धन-धान्य आदि का यथाशक्य संरक्षण ऐसी नारी धर्मस्थिता, सत्यवादिनी, शीलवती कहलाती है।

यो न भरति सब्बदा निच्चं आतापि उस्सुको।
सब्बकामहरं पोसं भत्तारं नातिमञ्ञति॥
न चापि सोत्थि भत्तार इस्साचारेन रोसये।
भत्तु च गरुनो सब्बे परिपूजेति पण्डिता॥
उट्ठाहिका अनलसा संगहीत परिज्जना।
भत्तु मनापा चरति सम्भतं अनुरक्खति॥
या एवं वत्तती नारी भत्तु छन्दवसानुगा।
मनापा नाम ते देवा यत्थ सा उपपज्जति।[2]

नकुल के पिता का अन्तिम समय आ जाने पर नकुल की माता उससे हो जाने को कहती है। इस सन्दर्भ में गृहपत्नियों के विशेष रूप से पति कवलित हो जाने पर क्या कर्तव्य होना चाहिए, इसकी अच्छी झाँकी मि

१. वही. सत्तकनिपात। २. वही, पंचक-अट्ठकनिपात।

१. गृहपत्नियाँ कपास कातने में कुशल हों व भेड़ के बालों की बेड़ियाँ बनाने में दक्ष हों, ताकि पति के न रहने पर वे बच्चों का पालन-पोषण कर सकें।
२. द्वितीय विवाह न करे।
३. बुद्ध तथा संघ का दर्शन करे।
४. शीलों का परिपालन करे।
५. शान्तचित्त हो।
६. धर्मविनय में प्रवेश करे।

जिस प्रकार भगवान् ने यहाँ पत्नियों के लिए कर्त्तव्य बोध दिया उसी प्रकार सन्तान के लिए भी माता-पिता के प्रति क्या उत्तरदायित्व है, इसका अनेक बार स्पष्टीकरण किया है। भगवान् ने कहा है कि वह कुल सब्रह्मकुल है जिसमें माता-पिता का आदर-सम्मान होता है क्योंकि उन्होंने सन्तान पर बड़ा उपकार किया है। सन्तान के लिए माता-पिता ही ब्रह्मा हैं, माता-पिता ही पूर्वाचार्य हैं और माता-पिता ही पूज्य हैं। इसलिए बुद्धि सम्पन्न सन्तान को चाहिए कि उन्हें नमस्कार करे, उनका सत्कार करे। अन्न, पान, वस्त्र, शयनासन, मालिश, स्नान पादप्रक्षालन आदि क्रियाओं से उनकी सेवा करे। जो पण्डित परिचर्या से माता-पिता को सन्तुष्ट करता है, उसकी यहाँ भी प्रशंसा होती है और मृत्यु होने पर वह स्वर्ग में भी आनन्दित रहता है।

> ब्रह्मा ति माता-पितरो पुब्बाचरिया ति वुच्चरे।
> आहुणेय्या च पुत्तानं पजाय चानुकम्पका॥
> तस्मा हि ते नमस्सेय्य सक्करेय्याथ पण्डितो।
> अन्नेन अथ पानेन वत्थेन सयनेन च॥
> उच्छादेन न्हापनेन पादानं धोवनेन च।
> नायं नं परिचरियाय माता पितुसु पण्डिता॥
> इधेव नं पसंसन्ति पेच्च सग्गे पमोदति॥[1]

दो व्यक्तियों का प्रत्युपकार करना सहज नहीं—माता का और पिता का। भगवान् ने कहा है कि सौ वर्ष तक एक-एक कन्धे पर माता को ढोए तथा एक-एक कन्धे पर पिता को ढोए और उनकी उबटन, मर्दन, स्नान आदि से सेवा करे, और वे भी उसके कन्धे पर ही मल-मूत्र करें तो भी उसके माता-पिता का न कोई उपकार होता है और न कोई प्रत्युपकार। इसके अतिरिक्त जो कोई

---

१. वही, तिकनिपात।

अश्रद्धावान् माता-पिता को श्रद्धा में प्रतिष्ठित करता है, दुराचारी माता-पिता को सदाचारी बनाता है, कृपण माता-पिता को त्यागमार्ग में प्रतिष्ठित करता है, दुष्प्रज्ञ माता-पिता को प्रज्ञावान् बनाता है, यही यथार्थ में उसका उपकार व प्रत्युपकार है। अर्थात् माता-पिता को सम्यक्मार्ग पर आरूढ़ करना पुत्र या सन्तान का मुख्य कर्तव्य है। तथा उनके प्रति अनुचित व्यवहार करने वाला मूर्ख, अव्यक्त, असत्पुरुष वा अवगुणी, सदोष, निन्दनीय और अपुण्य का हेतु होता है।[1]

ऐश्वर्य प्राप्ति का मुख्य उद्देश्य—ऐश्वर्य प्राप्ति संसार को बढ़ाने वाली है। और वह ऐहिक सुख प्रदान करने का एक साधन है। भगवान् ने अनाथपिण्डिक को उस ऐश्वर्य-प्राप्ति के मुख्य उद्देश्य बताए—अपने व अपने परिवार को सुखी बनाना, मित्रों को सुखी बनाना, आत्मरक्षा करना, पंचबलिकर्म (ज्ञातबलि, अतिथिबलि, पूर्वप्रेतबलि, राजबलि तथा देवता बलि) करना व सत्पात्र में दान देना। यह ऐश्वर्य सम्पत्ति अपने ही पुरुषार्थ से धार्मिक विधि पूर्वक अर्जित की जानी चाहिए।

मुत्ता भोगा भता भच्चा वितिण्णा आपदासु मे।
उद्धग्गा दक्खिणा दिन्ना अथो पंचबलीकता॥
उपट्ठिता सीलवन्तो सञ्ञता ब्रह्मचारयो।
यदत्थ भोगं इच्छेय्य पण्डिता घरमावसं॥ इत्यादि[2]

व्यापारी के सफल होने के उपाय—भगवान् ने व्यापारी को भी व्यापार में सफलता प्राप्ति के साधन बताए हैं। उनके अनुसार व्यापारी में तीन बातें होनी आवश्यक हैं—चक्षुमत्ता, विधुरता और आश्रययुक्तता। चक्षुमत्ता से तात्पर्य है कि व्यापारी को इस बात का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए कि वस्तु किस भाव आयी है और उसे किस भाव बेचने से लाभ होगा। विधुरता का अर्थ है कि व्यापारी वस्तु के खरीदने-बेचने में अत्यन्त दक्ष हो। तथा आश्रययुक्तता का यह आशय है कि व्यापारी अपने लेन-देन अधिक स्पष्ट रखे। वह दूसरे को ऐसा विश्वास पैदा कर सके कि वह सव्याज पैसा वापिस करने में समर्थ है।[3]

सम्पत्ति के विनाश के कारण—गृहस्थ की सम्पत्ति के विनाश के कुछ कारण भगवान् ने इस प्रकार दिये हैं :—

---

२. वही, तिकनिपात।
१. वही, पंचकनिपात, मुण्डराजवर्ग।
२. वही, तिकनिपात।

ले पदार्थों का सेवन—नशीले पदार्थों के सेवन से अनेक दुष्परिणाम
ाल सम्पत्ति की हानि, आ. कलह-वृद्धि, इ. रोग-वृद्धि,
।, उ. लज्जा निवारक तथा, ऊ. प्रज्ञानाशक।
स्ते की सैर—विकाल में गृहपति को चौरस्ते की सैर नहीं करनी
ाके छह दुष्परिणाम हो सकते हैं—१. स्वयं अरक्षित होना।
ादि परिवार जनों का अरक्षित होना, ३. धन सम्पत्ति का संरक्षण
बुरी बातों की शंकाएँ होना, ५. मिथ्यारोपण की सम्भावना
खदायी अन्य कारणों का उपस्थित हो जाना।
ज्याभिचरण (नृत्य, तमाशा)—नृत्य, तमाशा आदि देखने में छह
ाँ नृत्य है ? कहाँ गीत है ? कहाँ वाद्य है ? कहाँ आख्यान है ?
र है ? कहाँ कुम्भथूण है ? इसकी चिन्ता दर्शक को बनी रहती है।
—द्यूतक्रीड़ा को प्रत्येक धर्म में वर्जित माना गया है। भगवान्
छह दोष दिये हैं—१. जय होने पर वैर की उत्पत्ति होती है, २.
पर हारे धन का शोक होता है, ३. तत्काल सम्पत्ति की हानि,
अविश्वस्तता, ५. मित्रों व अमात्यों द्वारा तिरस्कार, ६. कन्या
ाधाएँ।
की मित्रता—दुष्ट प्रकृति वाले मित्र के साथ मित्रता रखने में छह
धूर्त, शौण्ड, पियक्कड़, कृतघ्न, वंचक और गुण्डे (साहसिक, खूनी)
इसके मित्र होते हैं। (सिगालोवादसुत्त, दीघनिकाय)
लस्य—आलसी व्यक्ति में निम्नलिखित दोष उत्पन्न हो जाते हैं—
ा बहुत ठण्डा है, सोचकर वह काम नहीं करता, २. बहुत गर्म है,
ा नहीं करता, ३. बहुत शाम हो गई, सोचकर काम नहीं करता,
ह है, ५. बहुत भूखा है, ६. बहुत भोजन किया है, इत्यादि प्रकार
णीय कार्यों को उपेक्षित कर देता है प्रमादी व्यक्ति। इससे अनुत्पन्न
ा नहीं होती और उत्पन्न सम्पदा नष्ट हो जाती है।
ौर अमित्र—भगवान् ने शृगाल गृहपति को बताया कि निम्नलिखित
के व्यक्ति यदि मित्र हों तो उनकी मित्रता शत्रुता के रूप में समझना
. परधनहारक, २. केवल बात बनाने वाला, ३. सदा प्रिय वचनवादी
ाा), ४. हानिकारक कृत्यों मे सहायता करने वाला। परधनहारक
सम्पत्ति द्वारा बहुत अधिक सम्पत्ति पाना चाहता है, भय (विपत्ति)
ार्य करता है तथा स्वार्थ के लिए परसेवा करता है। वावदूक व्यक्ति
विष्य में सम्भावित वस्तु की प्रशंसा करता है और उसकी यह प्रशंसा
हती है। इसके अतिरिक्त उसके कारण वर्तमान कार्यों में विपत्तियों

के आने की भी सम्भावना बनी रहती है। चाटुकारिता से व्यक्ति बुरे कार्यों में भी अनुमति प्रदान करता है, अच्छे कार्यों में अनुमति देता है, सामने प्रशंसा के पूल बाँधता है और पीठ पीछे निन्दा करता है। जो मद्यपान, असमय भ्रमण, समज्याभिचरण व द्यूतक्रीड़ा करते हैं, वे सम्पत्ति के विनाश का कारण उपस्थित करते हैं।

निम्नलिखित चार प्रकार के मित्रों को सच्चा मित्र समझना चाहिए—उपकारी, समान सुख-दुःखभागी, अर्थ प्राप्ति में सहायक व अनुकम्पक। जो व्यक्ति प्रमत्त (भूल करने वाले) की रक्षा करता है, उसकी सम्पत्ति की रक्षा करता है, भयभीत का रक्षक होता है और समय आने पर दुगुना लाभ उत्पन्न करवाता है। समान सुख-दुःखी वह है जो गोप्य बात बतलाये। गोप्य बात को छिपाकर रखे, आपत्काल मे उसे न छोड़े तथा यथावसर प्राण निछावर करने के लिए भी तैयार रहे। जो पाप का निवारण करे व पुण्य मार्ग में ले जाये तथा अश्रुत व श्रुत को स्वर्ग का मार्ग दिखाये, वह हितवादी है। अनुकम्पक मित्र वह है जो मित्र की धन-सम्पत्ति होने पर प्रसन्न नहीं होता, मित्र की निन्दा करने वाले को सहता नहीं तथा मित्र की प्रशंसा करने पर प्रशंसा करता है।

अंगुत्तरनिकाय में कहा है जो प्रिय हो, अनुकूल हो, गौरव-भाजन हो, पूज्य हो, वक्ता हो, वचनक्षम हो, गम्भीर बात करने वाला हो तथा अनुचित मार्ग से दूर करने वाला हो, उसकी संगति करनी चाहिए।

पियो गरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खमो।
गम्भीरं च कथं कत्ता नो चट्ठाने नियोजको ॥
यम्हि एतानि ठानानि, संविज्जन्तीध पुग्गले।
सो मत्तो मित्तकामेन, भजितब्बो तथाविधो ॥[1]

सेवा करना—उपासक का कर्तव्य है कि वह माता-पिता, आचार्य, पत्नी, मित्र, सेवक तथा साधु की सेवा करे। माता-पिता ने हमारा भरण-पोषण किया, काम किया, कुल परम्परा बनाये रखी, दायज्ज (विरासत) दी, श्राद्ध दान दिया, यह सोचकर उपासक उक्त सभी कार्य माता-पिता के प्रति करे क्योंकि माता-पिता पुत्र को पाप से निवारित करते हैं, पुण्य पथ पर आरूढ़ करते हैं, शिल्प शिक्षण देते हैं, योग्य विवाह सम्बन्ध करते हैं, दायज्ज निष्पादन करते हैं।

आचार्य की सेवा के सन्दर्भ में उत्थान (तत्परता) उपस्थान (उपस्थिति), शुश्रूषा, परिचर्या व सत्कारपूर्वक शिल्प प्रशिक्षण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य

---

१. वही, सत्तनिपात।

शिष्य को विनीत बनाता, सुन्दर शिक्षा देता, सभी प्रकार शिल्प सिखाता, मित्र का सुप्रतिपादन करता व दिशा की सुरक्षा करता।

पत्नी की सेवा उसके सम्मान से, अपमान न करने से, मिथ्याचार न करने से, ऐश्वर्य प्रदान करने से तथा अलंकार प्रदान करने से करनी चाहिए। क्योंकि भार्या द्वारा कर्मान्त भले प्रकार के होते हैं, परिजन वश में रहते हैं, वह स्वयं अनाचारिणी नहीं होती, अर्जित सम्पत्ति आदि की रक्षा करती है तथा सभी कामों में निरालस और दक्ष होती है।

मित्रों की सेवा दान, प्रिय वचन, अर्थचर्या, समानता तथा विश्वास प्रदान करने से होनी चाहिए। क्योंकि वे प्रमाद कर देने पर रक्षा कर देते हैं, भय के समय शरण देने वाले होते हैं, प्रमत्त की सम्पत्ति की रक्षा करते हैं, आपत्काल में नहीं छोड़ते तथा दूसरे लोग भी ऐसे मित्र का सम्मान करते हैं।

सेवक की सेवा करके उसके बल के अनुसार कार्य देने से, भोजन-वेतन प्रदान करने से, भोगि-सुश्रूशा से, उत्तम संरक्षक पदार्थ देने से, और समय पर अवकाश (वोसग्ग) देने से करनी चाहिए। सेवक स्वामी से पूर्व बिस्तर से उठ जाने वाले होते हैं, प्रदत्त वस्तु को ही ग्रहण करने वाले होते हैं, सुव्यवस्थित कार्य करने वाले होते हैं तथा कीर्तिविस्तारक होते हैं।

साधु-ब्राह्मण की सेवा मैत्री भावयुक्त कायिक, वाचिक व मानसिक कर्म से, उनके लिए द्वार खुला रखने से, खाद्य वस्तु प्रदान करने से होनी चाहिए। ये श्रमण-ब्राह्मण गृहस्थों को पाप कार्यों से दूर रखते हैं, कल्याण-पथ दिखाते हैं, कल्याण प्रदान करते हैं, विद्यादान देते हैं तथा स्वर्ग का पथ-दर्शन कराते हैं।

पुण्य का मूल—उपासक के लिए पुण्य का मूल स्रोत यह है कि वह सर्वप्रथम बुद्धधर्म और संघ की शरण जाय तथा पाँच प्रकार का दान करे क्योंकि श्रावक के दान पर ही भिक्षु-संघ आधारित है—अतिथि को दान देना, पथिक को दान देना, रोगी व दरिद्र को दान देना तथा नई उपज व नये फल शीलवानों को भेंट करना।[2] दान देने से बहुजनप्रिय, सत्संगति, वंशवृद्धि, गृहस्थधर्म का परिपालन तथा सुगति प्राप्त होती है। (वही)। दाता दायक के लिए आयु, वर्ण, सुख, बल और प्रतिभा का दान करता है—

आयुदो बलदो धीरो वण्णदो पटिभाणो।
सुखस्स दाता मेधावी सुखं सो अधिगच्छति॥
आयु दत्वा बलं वण्णं सुखं च पटिभाणकं।
दीघायु यसवा होति यत्थ यत्थुप पज्जति॥[1]

---

१. वही, पंचक निपात। २. पंचक निपात, अंगुत्तर।

मांगलिक बातें—बौद्ध साहित्य के हर पृष्ठ में मांगलिक बातें भरी हुई हैं। परन्तु मैं यहाँ सुत्तनिपात का महामङ्गलसुत्त ही उद्धृत कर रहा हूँ जिसमें भगवान् बुद्ध ने 'उत्तम मंगल क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर दिया है।

मूर्खों की संगति न करना, पण्डितों की संगति करना और पूज्यों की पूजा करना, यह उत्तम मंगल है। अनुकूल स्थानों में निवास करना, पूर्व जन्म का संचित पुण्य होना, स्वयं को सन्मार्ग पर लगाना, बहुश्रुत होना, शिल्प सीखना, शिष्ट होना, सुशिक्षित होना, मिष्टभाषी होना, माता-पिता की सेवा करना, स्त्री-पुत्र का पालन करना, निराकुल होकर कार्य करना, दान देना, धर्माचरण करना, बन्धु-बान्धवों का आदर-सत्कार करना, निर्दोष कार्य करना, मन, वचन व काय से पापकृत्यों को त्यागना, मद्यपान न करना, धार्मिक कार्यों मे तत्पर रहना, विनम्र रहना, सन्तुष्ट रहना. कृतज्ञ होना, यथावसर धर्मश्रवण करना, क्षमाशील होना, आज्ञाकारी होना, श्रमणों का दर्शन करना, धार्मिक चर्चा करना, तप, ब्रह्मचर्य का पालन करना, आर्यसत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार ये उत्तम मंगल है। प्रत्येक जीवन के उत्थान की दृष्टि से ये मांगलिक बातें यथार्थ में अत्यन्त कल्याणकारी हैं।

असेवना च बालानं पण्डितान च सेवना।
पूजा च पूजनीयान तं मंगलमुत्तमं ॥
पटिरूपदेसवासो च, पुब्बे च कतपुञ्ञता।
अत्तसम्मा पणिधि च एतं मङ्गलमुत्तमं ॥
बाहुसच्च च सिप्प च, विनयो च सुसिक्खितो।
सुभासिता च या वाचा एत मगलमुत्तमं ॥ इत्यादि

उपासक इन सब बातों का पालन कर श्रोतापत्ति, सकदागामि, अनागामि और अर्हत् अवस्था प्राप्त कर लेता है। भगवान् के उपदेशों का मनन-चिन्तन कर उस पर दृढ़ आस्थावान होना स्रोतापत्ति का प्रमुख साधन है। इससे प्राणातिपातादि पंच पापों से निवृत्ति हो जाती है तथा नरकगमन, तिर्यञ्चयोनि प्रेतयोनि मे जन्मग्रहण करना क्षीण हो जाता है।[१] स्रोतापत्ति अवस्था का परिणाम यह होता है कि वह सद्धर्म में स्थिर हो जाता है, पतनोन्मुख नहीं होता, मर्यादित जीवन होने से दुःख को प्राप्त नहीं होता, तथा प्रतीत्यसमुत्पाद धर्म का ज्ञान हो जाता है।[२]

---

१. दसमसुत्त, अंगुत्तरनिकाय।
२. वही, छक्कनिपात, अभिसंसवग्ग।

लोभ, राग और मोह रूप दोषों के दूर हो जाने पर सकृदागामि अवस्था प्राप्त हो जाती है। इससे जीव को एक बार जन्म-ग्रहण करने के बाद निर्वाण प्राप्ति हो जाती है। अनागामि अवस्था में यह जन्म-ग्रहण भी दूर हो जाता है। अश्रद्धा, निर्लज्जता, पाप कार्यों में निर्भयता, आलस्य, मूढस्मृति तथा दुष्प्रज्ञता को छोड़ना अनागामि अवस्था प्राप्त करने के लिए अपेक्षित है।

उक्त तीन श्रेणियों को पार करने पर व्यक्ति श्रमण बनता है और बाद में अर्हत्व अवस्था उसे प्राप्त हो जाती है। तदर्थ उसे सुस्ती, आलस्य, उद्धतपन, कौकृत्य, अवरुद्ध तथा प्रमाद को छोड़ना पड़ता है। साथ ही मान, हीनमान, (ओमान), अतिमान, अधिमान, स्तब्धता तथा अतिनिपात (स्वयं को तुच्छ समझना) से दूर रहना भी अत्यावश्यक है।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म में उपासक की दैनन्दिनी उसके साधारण जीवन के उत्थान से अधिक सम्बद्ध है। बौद्धधर्म के अनुसार धर्म चूँकि सांदृष्टिक है इसीलिए भगवान् ने व्यक्ति के ऐहिक जीवन को सुधारने की ओर ध्यान अधिक दिया है। उपासिकाओं के लिए भी इन्हीं धर्मों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था की गई है।

परिवर्त ७

बौद्ध योग-साधना की उत्पत्ति और विकास

स्थविरवादी अथवा हीनयानी साधना

१—(क) योग का स्वरूप

विनय और योग-साधना का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित रूप से जुड़ा हुआ है। भारतीय सांस्कृतिक साधना में योग का विशेष महत्त्व है। वैसे योग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में मिलता है पर प्रस्तुत सन्दर्भ में योग वह साधना है जो मोक्ष की प्राप्ति का कारण हो। जैन, बौद्ध एवं वैदिक सम्प्रदाय में इस प्रकार की योग-साधना प्रचलित रही है। ऋग्वेदकाल में योग को सम्भवत: मोक्षप्रापक नहीं माना गया। उत्तरकाल में जो योग-प्रक्रिया मिलती है वह मूलत: श्रमण संस्कृति की मूल शाखा जैन साधना से अधिक प्रभावित दिखाई देती है। अतएव योग को पूर्ववैदिक और आर्येतरजन्य माना जाना चाहिए। मोहिंजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खननों में प्राप्त योगियों और साधकों का अंकन और चित्रण योग परम्परा के अस्तित्व को ईसा पूर्व के लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व सिद्ध कर देते हैं। ऋग्वेद (१०. १३६; २–३) का "मुनियो वातरशना: पिशंगा वसते मला" और भागवतपुराण (५, ३, २०) का "वातरशनानां श्रमणानां ऋषीनाम्" उल्लेख इसी का सूचक है।

बौद्ध धर्म में योग शब्द का प्रयोग चित्त चेतसिक क्रियाओं को केन्द्रित करने के अर्थ में हुआ है। मूलत: पालि त्रिपिटक में इस शब्द का उपयोग इस अर्थ में नहीं हुआ। अरियपरियेसन सुत्त (म.२६) में आलारकालाम और उद्दकरामपुत्त की योग साधना का वर्णन अवश्य हुआ है पर बुद्ध ने उसे अनुपयोगी मानकर छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त जैन सच्चक के माध्यम से जैनयोग साधना का भी उल्लेख हुआ है, जहाँ कामभावना और चित्तभावना को विवाद का विषय बनाया गया है। बौद्ध ध्यान का उद्देश्य सम्मासमाधि की प्राप्ति करना है। यह सम्मासमाधि अष्टाङ्गिक मार्गों की उपलब्धि से होती है जो धम्मचक्कपवत्तन के नाम से भी प्रचलित है। इसे "मज्झिम पटिपदा भी कहा गया है। सील, समाधि और पञ्ञा में इसके आठों अंग विभक्त हैं। "तिविधा सिक्खा" भी

इसे कहा गया है। समाधि और विपस्सना के आधार पर विकसित होनेवाला बौद्धयोग जैनधर्म के समान मानसिक और चारित्रिक शुद्धि पर आधारित है।

बौद्ध योग के सन्दर्भ में अनेक पारिभाषिक शब्द पालि वाङ्मय में प्रयुक्त हुए हैं। उनमें कुछ प्रमुख ये हैं[1]—

१. समाधि—सम् + आ + धा एकत्रित करने के अर्थ में। धम्मदिन्ना और विसाखा के बीच हुए संवाद में इसका स्पष्ट रूप मिलता है। धम्मदिन्ना ने यहाँ "चित्तस्य एकग्गता" समाधि का स्वरूप दिया है।[2] धम्मसंगणि (१०) में इसका स्वरूप इस प्रकार मिलता है—ये चित्तस्स ठिति, स्थिति, अवट्ठिति, अविसाहारो, अविक्खेपो, अविसाहटमनसता, समथो, समाधिन्द्रियं, समाधिबलं सम्मा समाधि। अट्ठसालिनी (११८) में बुद्धघोष ने इसकी व्याख्या में चित्तस्स एकग्गभावो लिखा है।

२. चित्तेकग्गता—'समाधिस्स एतन्नामं' भी इसका समानार्थक है। विसुद्धिमग्ग में उन्होंने 'कुशल' शब्द देकर और अधिक स्पष्टता ला दी है—"कुसल चित्तेकग्गता समाधि"। अट्ठसालिनी में इसे 'सम्मासमाधि' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि बौद्धसाधना में मन की पवित्रता को प्रमुख स्थान दिया गया है। यह समाधिभावना सम्मावायाम और सम्मासति पूर्वक मिलती है। समाधि विपस्सना का पूर्व रूप है। यह विपस्सना चित्त की एकाग्रता का क्रमिक अन्तिम विकास है।

३. चेतोसमाधि—(दी–१, १३) इसमें पुब्बेनिवासानुस्मृति आ जाती है। अत: यह सम्मासमाधि के बाद की स्थिति है। चेतो विमुत्ति अथवा फलसमाधि समाधि की अंतिम स्थिति है। महालिसुत्त (दी. २-२६५) में इसे अर्हत् के चित्त से सम्बद्ध किया गया है। चेतो समथ (दी–३, २७३, म. १, ४६४), चित्तभावना, चित्तविसुद्धि और अधिचित्त संज्ञाओं का प्रयोग भी इस सन्दर्भ में हुआ है। विपस्सना (विविध प्रकार से देखना) पञ्ञा, ञाण–दस्सन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अनिच्च, दुक्ख और अनत्ता को दूर करने पर इसकी प्राप्ति होती है।

४. झान—इस शब्द का प्रयोग ध्यान अर्थ में आया है। बाद में यह पच्चनीकधम्मे झायेतीति झानं (ध्यान की प्रतिकूल अवस्थाओं को भस्म करने) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह झान दो प्रकार का है—आरम्मण–उप–निज्झान और लक्खण उप–निज्झाण। आरम्मण में चार रूप और चार अरूप की स्थितियाँ आती हैं। इन्हें समापत्ति और उपचार भी कहा गया है। लक्खण तीन प्रकार का है—विपस्सना, मग्ग और फल।

---

१. बुद्धिस्ट मेडीटेसन, पृ. १७–३४

५. भावना—भाने के अर्थ में आया है—कुसलं चित्तं भावेति, ञानं भावेति, समाधिं भावेति। बुद्धघोष ने भावेति शब्द को भू धातु से निष्पादित्कर उसका अर्थ उप्पादन और वड्ढन किया है। मज्झिमनिकाय के महास-कुलुदायीसुत्त में भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। संयुत्त की अट्ठकथा में पुनप्पुनं जनेति के अर्थ में 'भावेति' का प्रयोग मिलता है। वस्तुत: भावना का अर्थ सद्भाव अथवा सद्गुणों से आया है जो समाधि के लिए आवश्यक है।

६. योग—त्रिपिटक में योग शब्द का प्रयोग जोड़ने के अर्थ में आया है—पटिसल्लानयोग। बाद में योग का प्रयोग ध्यान के सन्दर्भ में प्रयत्न करने के अर्थ में किया गया है। योगा वे जायति भूरि, अयोगा भूरि संख्यो (धम्मपद, २८२) में योग से ज्ञानप्राप्ति बतायी है। इसकी अट्ठकथा में इसका सम्बन्ध ३८ प्रकार के कर्मस्थानों से किया गया है (धम्म. अट्ठ. ३·४२१)। योगी और योगाचार शब्दों का प्रयोग अट्ठकथा में ध्यान करने वाले के अर्थ में आया है।

७. पधान—मज्झिमनिकाय मे विशिष्ट आध्यात्मिक प्रयत्न के अर्थ मे इसका प्रयोग मिलता है। बुद्धवंस में इसका प्रयोग ध्यान के अर्थ में हुआ है। इसके अतिरिक्त कम्मट्ठाण, आरम्मण, निमित्त, अभिञ्ञा, समापत्ति, विमोक्ख, अभिभायतन आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

जैन संस्कृति में भी योग, भावना, समाधि, चित्तेकग्गता, ध्यान, भावना आदि जैसे शब्दों का प्रयोग ध्यान के प्रसंग में आता है। उमास्वामी ने मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहा है। यह योग शुभ रूप और अशुभ रूप होता है। प्रवचनसार मे अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग ये तीन भेद किये गये हैं। मुक्ति प्राप्त करने के लिए श्रमण भिक्षु को शुद्धोपयोगी होना आवश्यक है।[1]

ध्यान और समाधि—झान का अर्थ ध्यान करना और बाधायें दूर करना (झायेति) है। सामञ्ञफलसुत्त में वितक्क, विचार, पीति, सुख और एकग्गता ये ५ श्रेणियाँ ध्यान की हैं। सांसारिक व्यामोह के कारण मन एकायक केन्द्रित नहीं किया जा सकता। अत: सर्वप्रथम आवश्यक है कि योगी पञ्चनीवरणों को दूर करे। वितक्क (सम्मासंकप्प, विभंग, २५७) सम्यक् संकल्प के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। विचार अनुपेक्खनता (बारम्बार परीक्षण अथवा चिन्तन) के अर्थ में आया है। इससे साधक संदेहविमुक्त हो जाता है और प्रीति (वत्थु

---

१. विस्तार से देखिये, लेखक का निबन्ध—जैन योग साधना, जैन मिलन १९७१।

के प्रति रुचि) जाग्रत हो जाती है। विसुद्धिमग्ग में इसके पाँच भेद किये गये हैं—खुद्दकापीति, खणिकापीति, अवेक्कंतिकापीति, उब्बेगापीति एवं फरणापीति। सुख को "सुखिनो चित्तं समाधियति" (दी. १·७५) कहा गया है। इस प्रकार नीवरणों को दूर कर एकग्गता प्राप्त होती है।

पञ्चनीवरणों और वितक्क आदि को दूर करने पर प्रथम ध्यान की प्राप्ति होती है। इस स्थिति में साधक रूपावचर (ब्रह्मलोक) में उत्पन्न होता है। निकायों में प्रथम ध्यान में एकग्गता की प्राप्ति नहीं बतायी, परन्तु विभंग (पृ. २५७) में स्पष्टत: पाँचों अंगों का होना बताया है। सारिपुत्त और महाकोट्ठित (मज्झिम. २९४) के बीच हुए संवाद में भी यही झलक मिलती है।

प्रथम ध्यान की प्राप्ति के बाद ध्यान के विषय (कसिण) पर चिन्तन का अभ्यास झायी (ध्यानी) करता है। इसे वसिता कहते हैं। यह पाँच प्रकार का है—आवज्जना (प्रतिबिम्ब), समापज्जना (प्रवेश), अधिट्ठान (प्रस्थापना), वुट्ठान (उत्थान) और पच्चवेक्खना (अनुवीक्षण)। चित्त की एकाग्रता की प्राप्ति के लिए वितक्क और विचार जब बाधक लगते हैं तब द्वितीय ध्यान की प्राप्ति होती है। 'एकोदिभाव' से वितक्क, विचार दोनों नष्ट हो जाते हैं और एकग्गता स्थायी हो जाती है। इससे भी आगे बढ़ने पर तृतीय ध्यान प्राप्त होने पर झायी सुखविहारी हो जाता है। चतुर्थ ध्यान पाने पर चेतोविमुत्ति प्राप्त होती है और इससे ध्याता तटस्थ हो जाता है तथा दु:ख और प्रसन्नता का भाव समाप्त हो जाता है। संयुत्तनिकाय (४·२१७) के अनुसार झायी प्रथम ध्यान में वचन से दूर होता, द्वितीय ध्यान में वितक्क-विचार से दूर होता (वचीसंखार) तृतीय ध्यान में सांसारिक मोह से दूर होता और चतुर्थ ध्यान में अस्सासपस्सास से दूर होता। इसे कायसंखार कहा गया है। इसके बाद झायी अत्तनि धम्मं सम्पस्समानो विहरति (अ. ५.२०९) हो जाता है। इस चतुर्थ ध्यान को अट्ठकथाओं में 'पादक' कहा गया है। इस स्थिति में आसवों से विमुक्ति होती है।

अभिधम्म में वितक्क और विचार को पृथक् कर देने पर पाँच ध्यान हो जाते हैं। बुद्ध ने यहाँ तीन प्रकार की समाधि बतायी है—(१) वितक्क विचारयुक्त समाधि, (२) वितक्क रहित और विचारयुक्त समाधि, और (३) वितक्क विचार रहित समाधि। इनमें प्रथम और तृतीय समाधि का समाहार चार ध्यानों में हो जाता है, द्वितीय का नहीं। यह अरूपध्यान है, जहाँ विचार तो रहता है, पर वितक्क नहीं। अभिधम्म में ध्यान का विकास हुआ। वहाँ पाँच ध्यान वितक्क और विचार से युक्त होकर १५ ध्यान रूपावचर में और ४० ध्यान लोकुत्तर में हो जाते हैं (अभिधम्मत्थसंगह, पृ. ३–४)। बाद में

चार प्रकार का अरूपावचर ध्यान प्राप्त होता है। इस प्रकार आठ प्रकार का भी ध्यान हो जाता है।

जैन संस्कृति—में ध्यान के चार प्रकार हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। बौद्ध साधना में पञ्चनीवरणों से दूर होने पर प्रथम ध्यान प्राप्त होता है, पर जैन साधना ने पञ्चनीवरणों की प्राप्ति के प्रयत्नों में ही प्रथम दो ध्यानों को लगा दिया—आर्त और रौद्र ध्यान। इसलिए यहाँ दोनों में कोई समानता नही दिखती। धर्मध्यान सर्व प्राणियों के प्रति करुणाभाव, पंचेन्द्रियक विषयों से दूर, उपशान्त भाव, बन्ध और मोक्ष, गमन और आगमन के हेतुओं पर विचार, पञ्चमहाव्रतों का ग्रहण आदि धर्मध्यान है। यह चार प्रकार का है—आज्ञाविचय (जिनाज्ञा के गुणों का चिन्तन), अपायविचय (रागद्वेषादिजन्य दोषों की पर्यालोचना करना), विपाकविचय (कर्मफल का चिन्तन करना), और संस्थानविचय (जीवलोक आदि के संस्थान पर विचार करना)। शुक्ल ध्यान के चार लक्षण हैं—विवेक, व्युत्सर्ग, अव्यथा और असंमोह। यह ध्यान चार प्रकार का है—पृथक्त्ववितर्कसविचारी, एकत्ववितर्क अविचारी, सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति, और समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती। धर्म और शुक्लध्यान को ध्यानतप कहा गया है।

बौद्धधर्म में ध्यान के फल की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। उसकी सूक्ष्मता पर उतना गहन चिन्तन नहीं किया, गया जो जैनधर्म में मिलता है। जैनधर्म में ध्यान के प्रकार, लक्षण, अवलंबन और अनुप्रेक्षाओं के माध्यम से ध्यान का सुन्दर और गम्भीर विश्लेषण उपलब्ध होता है। वितर्क शब्द दोनों में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयुक्त हुआ है। कुल मिलाकर धर्मध्यान को प्रीति के समकक्ष रखा जा सकता है और शुक्लध्यान के अन्तर्गत बौद्धधर्म के शेष ध्यान समाहित हो जाते हैं। जैनधर्म में अन्तिम दो ध्यान तप के अंग हैं, परन्तु बौद्धधर्म में चारों ध्यान तप के अंग माने गये हैं।

निकायों में समाधि की परिभाषा "चित्तस्स एकग्गता" की गई है। अभिधम्म में जब इसका विकास हुआ तो इसका प्रयोग पंचेन्द्रियजन्य विषय भोगों को मन से दूर करने के अर्थ में होने लगा। व्याख्यात्मक ग्रन्थों में एकग्गता के साथ कुशल और अकुशल शब्दों का उपयोग हुआ—कुशलचित्तेकग्गता और अकुशलचित्तेकग्गता। समाधि हमेशा अनुचिन्तन से प्राप्त होती है—योनिसो मनसिकारा। इसके अभ्यासकाल में बोधिपक्षीय धर्मों का अभ्यास करना अपेक्षित है। समाधि का समुचित अर्थ है—सम्+आ+धान अर्थात् मन को एक पदार्थ पर केन्द्रित करना।

समाधि के दो भेद हैं—उपचार और अर्पणा। अर्पणा और ध्यान लगभग समानार्थक हैं। धम्मसंगणि में अर्पणा और वितर्क को समानार्थक माना गया है। समाधि के अन्य दो भेद भी मिलते हैं—लौकिक और लोकुत्तर। लोकुत्तर का सम्बन्ध निर्वाण से है। समाधि प्रीति से उत्थित होती है। सप्पीतिक और निप्पीतिक भेद भी समाधि के किये गये हैं। इसके चार, पाँच आदि भेदों का भी वर्णन विसुद्धिमग्ग आदि ग्रन्थों में मिलता है।

जैनधर्म में समाधि शब्द का उपयोग चित्त की चंचलता पर संयमन करने के अर्थ में हुआ है। नायाधम्मकहाओ (८.६९) की अभयदेवटीका में समाधि का अर्थ चित्तस्वास्थ्य किया गया है। दसवैकालिक (९.४.७–९) में समाधि के दो भेद मिलते हैं—तपसमाधि और आचारसमाधि। कर्मक्षय के लिए किया गया तप तपसमाधि है, और कर्मक्षय के लिए ही किया गया आचार का पालन आचारसमाधि है। ये भेद बौद्धधर्म में प्राप्त समाधि के अर्थ से भिन्न नहीं। चित्त की एकाग्रता से दोनों संस्कृतियों का सम्बन्ध है। बोधिपक्षीय धर्मों का पालन जैनधर्म के आचार–तपसमाधि की समकक्षता में आता है। तप के माध्यम से ही उपचार–अर्पणात्मक स्थिति जैनधर्म में बताई गई है।

(ख) समाधि के विषय और प्रणालियाँ

१. समाधि का विषय—समाधि का मूल आधार चित्त की विशुद्धि है जो विचारों पर आधारित रहती है। विचारों के विषय (आरम्मण) जैसे होंगे, चित्त की प्रकृति भी वैसी ही होगी। अतः समाधिस्थ व्यक्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसका लक्ष्य और लक्ष्य-प्राप्ति का मार्ग पूर्णतः शुद्ध हो। बौद्ध साहित्य में इस पर विविध दृष्टियों से विचार किया गया है। यह वैविध्य हम पालि निकाय, अभिधम्म, विसुद्धिमग्ग और परवर्ती ग्रन्थों के माध्यम से देखने का प्रयत्न करेंगे।[१]

१. निकाय—निकायों में दो प्रकार से विचार किया गया है—प्रथमतः व्यक्तिगत रूप से समाधि के विषय और उसकी उपलब्धि की प्रणालियों का निर्देशन है और द्वितीयतः सर्वसाधारण व्यक्तित्व की दृष्टि से इस पर विचार किया गया है। ये दोनों दृष्टियाँ कहीं पृथक् और कहीं समन्वित रूप में उपस्थित की गई हैं। अंगुत्तर निकाय का एककनिपात इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यहाँ निकायों में उपलब्ध समाधि के विषयों का उल्लेख किया गया है—

१. चार ध्यान—योगी वितर्क-विचार, प्रीति, सुख और समाधि को प्राप्त करता है।

---

१. बुद्धिस्ट मेडीटेसन, पृ. ५७-७९

२. चार ब्रह्मविहार—मेत्ता, करुणा, मुदिता और उपेक्खा।

३. चार सतिपट्ठान—कायानुपस्सना, वेदनानुपस्सना, चित्तानुपस्सना और धम्मानुपस्सना।

४. चार सम्मप्पधान।

५. चार इद्धिपाद—छन्द, विरिय, चित्त और वीमंसा।

६. पाँच इन्द्रियाँ—सद्धा, विरिय, सति, समाधि और पञ्ञा।

७. पाँच बल—सद्धा, विरिय, सति, समाधि और पञ्ञा।

८. सात बोज्झंग—सतिसंबोज्झंग, धम्मविचयसंबोज्झंग, विरियसं. पीतिसं. पस्सद्धिसं. और समाधिसंबोज्झंग।

९. अरिय अट्ठङ्गिकमग्ग—सम्मादिट्ठि, संकप्प, वाचा, कम्मन्त, आजीव, वायाम, सति, और समाधि।

चार ध्यान और चार ब्रह्मविहार को छोड़कर शेष सभी धर्म बोधिपक्खिय धम्म कहे जाते हैं—आनापानसति।

१०. आठ विमोक्ख।

११. आठ अभिभायतन।

१२. दस कसिण—पठवी, अप, तेजो, वायो, नील, पीत, लोहित, ओदात, आकास, विञ्ञाण।

१३. बीस सञ्ञा—असुभ, आलोक, आहारे पटिक्कूल, सब्बलोके अनभिरत, अनिच्च, अनिच्चे दुक्ख, दुक्खे अनत्त, पहाण, विराग और निरोधसञ्ञा। ये संज्ञायें बाह्य विषय हैं जिन पर योगी ध्यान करता है। अनिच्च, अनत्त, मरण, आहारे पटिक्कूल, सब्बलोके अनभिरत, अट्ठिक, पुलवक, विनीलक, विच्छिद्दक, और उद्धमातक संज्ञायें हैं—जिन पर योगी चिन्तन करता है।

१४. छः अनुस्सति और चार सति बुद्ध, धम्म, संघ, सील, चाग और देवतानुस्सति, तथा अनायात मरण, कायगत, और उपसमानुस्सति इन छः स्मृतियों का ध्यान करना।

निकायों में योगी के लिए यत्र तत्र १०१ विषयों पर मनन करने को कहा गया है। महासकुलदायी सुत्त (मज्झिमनिकाय) में एक वृहत् सूची दी गई है जिसमें ७५ विषयों को उन्नीस भागों में वर्गीकृत किया गया है। ये विषय ध्यान की प्रणालियों से सम्बद्ध हैं—सेतीस बोधिपाक्षिक धर्म, आठ विमोक्ख, आठ अभिभायतन, दस कसिणायतन, चार ध्यान, विपस्सना, पञ्च अभिञ्ञा, असवक्खयमाण, और चेतोविमुत्तिञाण।

१. विपस्सना ञाण—मज्झिमनिकाय के रथविनीत सुत्त में पुण्ण की सात प्रकार से विसुद्धि (निर्वाण) प्राप्त करने का मार्ग बताता है—सील, चित्त, दिट्ठि, कंखावितरण, मग्गामग्गञाणदस्सन, पटिपदाञाणदस्सन, और ञाणदस्सन विसुद्धि। विसुद्धिमग्ग और अभिधम्मत्थसंगह में भी इसका वर्णन आया है।

२. अभिधम्म साहित्य—अभिधम्म साहित्य में चित्त के आधार पर समाधि के विषयों एवं प्रणालियों पर विवेचन किया गया है—आठ कसिण, आठ अभिभायतन, विमोक्ख (प्रथम तीन), चार ब्रह्मविहार, दस असुभ—उद्धमातक, विनीलक, विपुब्बक, विच्छिद्दक, विक्खायितक, विक्खित्तक, हतविक्खित्तक, लोहितक, पुलवक, और अट्ठिक तथा चार अरूप ध्यान (शेष विमोक्ख)। इनमें दस कसिण के स्थान पर 'आठ कसिण का उल्लेख आया है। इसलिए कि अन्तिम दो कसिण अरूप से सम्बन्धित हैं। दस अशुभों का उल्लेख भी यहाँ है जो निकाय की सूची में नहीं दिखते। उनमें पाँच अशुभ पाँच संज्ञाओं (१६–२०) के समानान्तर हैं। महासतिपट्ठानसुत्त में भी शव के सन्दर्भ में विविध रूप से चिन्तन करने का निर्देशन मिलता है। इस तरह इस विषय सूची में ध्यान के ३७ विषय, रूप ध्यान के ३३ विषय और अरूप ध्यान के चार विषयों का आख्यान है।

३. विसुद्धिमग्ग—विसुद्धिमग्ग में बुद्धघोष ने कम्मट्ठान के रूप में चालीस विषयों का निर्धारण किया है—दस कसिण, दस असुभ, दस अनुस्मृतियाँ, चार ब्रह्मविहार, चार अरूपआकास, विञ्ञाण, आकिञ्चन, और नेवसञ्ञा नासञ्ञायतन, आहारे पटिक्कूल सञ्ञा एवं चतुधातुववत्थान। यहाँ बुद्धघोष ने दस कसिणों में विज्ञान कसिण के स्थान पर आलोक कसिण को रखा है और आकास कसिण के स्थान पर परिच्छिन्नाकास शब्द का उपयोग किया है। चतुधातुववत्थान का वर्णन महाहत्थिपदोपम धातु विभंग आदि जैसे सुत्तों में उपलब्ध होता है। विमोक्ख और अभिभायतनों को बुद्धघोष ने पृथक् स्थान नहीं दिया। विपस्सना के विकास के सन्दर्भ में पञ्ञाभावना के प्रकरण में पाँच विसुद्धियों का विवेचन किया है। पटिपदा ञाणदस्सना नामक छठी विसुद्धि में नव प्रकार का अन्तर्ज्ञान होता है—उदय वयानुपस्सना, भंगानुपस्सना, भयतुपट्ठान, आदीनवानुपस्सना, निब्बिदानुपस्सना, मुञ्चितुकम्यताञाण, पटिसंखानुपस्सना, संखारुपेक्खा एवं अनुलोमञाण। पटिसंभिदामग्ग में दस प्रकार का ज्ञान बताया गया है। वहाँ ञाणदस्सनविसुद्धि का स्थान पृथक् वर्णित है।

बुद्धघोष ने अट्ठसालिनी (१६८) में ३८ प्रकार के कर्मस्थान बताये हैं। थेरवाद परम्परा में ४० कर्मस्थानों का वर्णन आता है जो समाधि-प्राप्ति के लिए

सहायक होते हैं। धम्मसंगणि में अन्तिम दो कसिणों को स्थान नहीं दिया गया। शायद इसीलिए बुद्धघोष ने ३८ कर्मस्थान कहे हों। अभिधम्मत्थ संगह में अनुरुद्ध ने भी प्रायः विसुद्धिमग्ग का ही अनुसरण किया है।

४. उत्तरवर्ती साहित्य—सिंहली भाषा में लिखे गये विदर्सनापोत नामक उत्तरवर्ती ग्रन्थ में विसुद्धिमग्ग का ही अनुकरण दिखाई देता है पर विषय विभाजन में कुछ अन्तर है पारिभाषिक शब्दावली भी कुछ भिन्न है। दसकसिण, (प्रथम चार भूतकसिण और शेष वण्ण कसिण), दस असुभ, कायगतासति (३२ प्रकार), दस अनुस्सति, चार अरूप, चार ब्रह्मविहार। इन १८ प्रकारों में आनापानसति को प्रथम स्थान दिया गया, कायगतासति को ३२ प्रकारों में सम्मिलित कर दिया गया तथा आहारेपटिक्कूलसंञा और चतुधातुववत्थान को अनुस्सति के रूप में स्वीकार किया गया।

२. शीलविसुद्धि

शील अथवा चारित्रिक विसुद्धि बौद्धधर्म की आधारशिला है। संयुत्तनिकाय में इसी को पूर्ण विशुद्धि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसकी दो प्रमुख विशेषतायें हैं (१) समाधान—चित्त को केन्द्रित करना और (२) उपधारण—श्रेष्ठ गुणों को धारण करना। विधेयात्मक प्रवृत्तियों का पालन करना और निषेधात्मक प्रवृत्तियों को दूर करना योगी का विशिष्ट कर्तव्य है। शील का प्रारम्भ भी यहीं से होता है।

श्रमण को सर्वप्रथम सील विसुद्धि, इन्द्रिय संवरण, सति संप्रज्ञा, और सन्तुट्ठि का अभ्यास करना चाहिए। निकायों का वर्णन विशेषतः इन्हीं गुणों पर आधारित है। विसुद्धिमग्ग में इन्हीं को पातिमोक्खसंवरण, इन्द्रियसंवरण, आजीवपरिसुद्धि, और पच्चयसन्निसित के नाम से व्याख्यायित किया गया है।

१. पातिमोक्ख—जैसा हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, श्रमण भिक्षु के लिए निर्धारित नियम पातिमोक्ख कहलाते हैं। इनकी संख्या २२७ है। इनका सम्बन्ध, शब्दों, कृत्यों और विचारों की पवित्रता से है। आचार-गोचर की सम्पन्नता भिक्षु की विशेषता है।

२. इन्द्रिय संवरण—निर्धारित नियमों में शुद्धि प्राप्त करने के बाद भिक्षु का कर्तव्य है कि वह चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन रूप द्वारों के क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म रूप आलम्बनों पर संयमन करे।

३. आजीवपारिसुद्धि—पातिमोक्ख नियमों का पालन करते हुए जो भिक्षु इन्द्रिय संयमन करता है उसकी आजीव-भरण-पोषण विषयक परिशुद्धि

आवश्यक है। इस दृष्टि से भिक्षु को पाराजिक ('अलौकिक शक्तियों का प्रदर्शन), संघादिसेष (स्त्री-पुरुष के प्रेम के बीच दूतकार्य करना), थुल्लच्चय (अर्हत् न होने पर भी अर्हत् बताना), पाचित्तिय (अस्वस्थ का बहाना कर उत्तम कोटि का भोजन ग्रहण करना), पाटिदेसनीय, और दुक्कट दोषों से विनिर्मुक्त रहना चाहिए। कुहन (प्रवञ्चना), लपन (चाटुकारिता), नैमित्तिकता (किसी का बहाना लेकर कहना), निप्पेसिकता (अवज्ञा करना), और लिजिगिसनता (आमिष से आमिष की खोज करना—लाभ से लाभ खोजना) लाभ, सत्कार आदि की प्राप्ति के लिए ही प्राय: किये जाते हैं। इन कारणों से स्वयं को दूर रखना बौद्ध भिक्षु का कर्तव्य है। उलाहना, उक्कासना, अक्कोसना, सम्पापना आदि दोष भी इन्हीं कारणों के अन्तर्गत आते हैं।

४. पच्चय सन्निस्सित सील—चीवर आदि पर विचार करना। भिक्षु यह विचार करे कि वह चीवर का उपयोग मात्र इसलिए करता है कि उससे शीत, डांस, मच्छड़ आदि से अपने को बचाया जा सके तथा गुह्यांगों को ढांका जा सके। इसी प्रकार पिण्डपात का उपयोग द्रव (क्रीड़ा), मद, मण्डन, विभूषण के लिए नहीं प्रत्युत रूपकाय की स्थिति के लिए, यापन और बुभुक्षा-शान्ति के लिए किया जाता है। शयनासन का प्रयोग ऋतु-परिश्रम को वर्णलित करने तथा गिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खार का उपयोग रोग की शान्ति के लिए किया जाता है।

इस प्रकार बौद्धधर्म में भिक्षु अपने जीवन को अधिक से अधिक शुद्ध और आलम्बनविहीन बनाने का प्रयत्न करता है। चीवर, पिण्डपात, शयनासन तथा भैषज्य का ग्रहण उसे वर्जित नहीं।

चीवर—प्राचीन काल में वैदिक भिक्षु वल्कल पहनते और जैन भिक्षु नग्न रहते। बुद्ध ने इन दोनों प्रकारों को अस्वीकार किया और बौद्ध भिक्षु के लिए पांसुकूल धारण करने का नियम निर्धारित किया। बाद मे इस नियम को ढीला किया गया। बुद्ध ने चिथड़ों से निर्मित काषाय अथवा गेरुए वस्त्र धारण करने को कहा। इन वस्त्रों मे दो अधर वस्त्र (उत्तरासंग और अन्तरवासक) और एक संघाटी सम्मिलित है। इन्हें कासाव कहा जाता है। भिक्षु के पास कुल आठ चीजें होनी चाहिए—तीन वस्त्र, कमरबन्ध, पिण्डपात्र, रेजर, सुई, और जलपात्र। यही उनकी सम्पत्ति है। अपवाद की स्थिति में यष्टिका, चप्पल, चटाई, छतरी भी वे धारण कर सकते हैं। परन्तु इन सभी का उपयोग तत्त्वज्ञानपूर्वक होना चाहिए।

पिण्डपात—भोजन अथवा आहार ग्रहण करने का उद्देश्य जीवन की स्थिति और प्रवाह को बनाये रखना है।' इस दृष्टि से पिण्डपात की महती

उपयोगिता है। रोग की शान्ति, जीवन यात्रा की सुसंगति, निर्दोष प्रासुविहार, और ईर्यापथ को अनुकूल बनाना पिण्डपात ग्रहण का लक्ष्य है।

शयन और आसन ऋतु-परिश्रम को दूर करने तथा चित्त को एकाग्र करने के लिए (उतुपरिस्सयविनोदनपटिसल्लानारामत्थ) उपयुक्त होता है। परिश्रय (उपसर्ग) दो प्रकार के होते हैं—प्रगट परिश्रय और प्रतिच्छन्न परिश्रय। प्रगट परिश्रय सिंह, व्याघ्र आदि द्वारा कृत उपसर्ग है और प्रतिच्छन्न परिश्रय में राग, द्वेष आदि भावों द्वारा उत्पन्न विघ्न आते हैं। उत्पत्तिजन्य या व्याधिजन्य (धातु प्रकोप से उत्पन्न होने वाले रोग) एवं वेदनाजन्य दुःखों से मुक्त होने के लिए ग्लान, प्रत्यय और भैषज्य सेवन से भिक्षु परिरक्षित होता है।

इस प्रकार चीवर, पिण्डपात आदि का उपयोग प्रज्ञापूर्वक निरासक्त भाव से किया जाना चाहिए। जिस प्रकार टिटहरी अपने अण्डे की, चमरी अपने पूँछ की, माता अपने एकलौते प्रिय पुत्र की और एक नेत्रविहीन अपनी अकेली शेष एक आँख की मनोयोग पूर्वक रक्षा करती है उसी प्रकार शील की भलीभाँति रक्षा करते हुए भिक्षु को सदैव कोमल, प्रेम और गौरववान् होना चाहिए—

> किकी व अण्डं चमरीव वालधिं, पियं व पुत्तं नयनं व एककं।
> तथेव सीलं अनुरक्खमानका सुपेसला होथ सदा सगारवा॥

प्रातिमोक्ष-संवर-शील की प्रपूर्ति एवं संरक्षण की दृष्टि से अथवा उसे चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से शील का परिपालन किया जाना चाहिए। एतदर्थ इन्द्रियों का संयमन उसी प्रकार उपयोगी है, जिस प्रकार गोपुरों के सुसंवृत्त हो जाने से नगरवासी संरक्षित हो जाते हैं।

कुछ नियमों में विनयधर और सूत्रधर अथवा विनयपिटक और सूत्रपिटक के बीच मतभेद भी दिखाई देते हैं। उदाहरणतः प्रत्यय, निमित्त, अवभास अथवा परिकथा के माध्यम से प्राप्त भैषज्य आदि को ग्रहण करना विनयधरों की दृष्टि से अनुचित नहीं। परन्तु सूत्रान्तिक इसे स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार अपेक्षित सामग्री को इन माध्यमों से एकत्रित करने में आजीव की परिशुद्धि नहीं होती। उन्हें मृत्यु प्राप्त करना स्वीकार है परन्तु आजीव को निन्दित करने का कार्य स्वीकार्य नहीं—

> वची विञ्ञत्ति विप्फारा उप्पन्नं मधुपायासं।
> सचे भुत्तो भवेय्याहं साजीवो गरहितो मम॥
> यदिपि मे अन्तगुणं निक्खमित्वा बहि चरे।
> नेव भिन्देय्यमाजीवं न च जहानोपि जीवितं॥[1]

---

१. विसुद्धिमग्ग, पृ. २८, मिलिन्दपञ्ह, ६. १. ५

परिभोग चार प्रकार का होता है—स्तेय, ऋण, दायाद और स्वामी परिभोग। इनका परिभोग करते समय भिक्षु को प्रत्यवेक्षण करना अपरिहार्य है। प्रत्यवेक्षण के साथ ही उसे चार शुद्धियों का भी ध्यान रखना चाहिए—देशनाशुद्धि, पर्येष्टिशुद्धि, संवरशुद्धि और प्रत्यवेक्षणशुद्धि। इनके अतिरिक्त अपर्यन्तशुद्धि और प्रतिप्रश्रब्धिपारिशुद्धि का भी उल्लेख है। प्रतिप्रश्रब्धि-पारिशुद्धि की प्राप्ति के लिए पञ्चशीलों का अनुकरण, पञ्चनीवरणों से दूरीकरण चतुर्ध्यान की प्राप्ति आदि आवश्यक है। इस प्रकार के शील का परिपालन पश्चात्तापकारी नहीं होता। उससे तो वस्तुतः प्रमोद, प्रीति, प्रश्रब्धि, सौमनस्य, ध्यानाभ्यास, भावना, आधिक्य, अलंकार, परिष्कार, परिवार, परिपूर्ति, एकान्त निर्वेद, विराग, निरोध, उपशमन, अभिज्ञा, ज्ञात और निर्वाण की प्राप्ति होती है।

जिस प्रकार जैनाचार में व्रतों के अतिचार गिनाये जाते हैं, उसी प्रकार बौद्धाचार में ऐसे अतिचारों की गणना की गई है जिनसे व्रत खण्डित हो जाते हैं। इसे 'संक्लेस' शब्द कहा गया है। लाभ, यश अथवा सप्तप्रकार के मैथुन भोग से शील खण्डित हो जाता है। शील के खण्डन से भिक्षु को अप्रेम, निन्दा, पश्चात्ताप, दुर्वर्ण, संताप, जन्म-मरण की परम्परा, नरक गमन आदि से उत्पन्न दुःखों को भोगना पड़ता है।

२. विघ्न-निवृत्ति

शील परिशुद्धि के बाद योगी का यह प्रयत्न हो कि लक्ष्यप्राप्ति में समुपस्थित विघ्न (पलिबोध) उसे किसी भी प्रकार विचलित न कर सकें। पालि साहित्य में ऐसे दस प्रकार के विघ्नों का उल्लेख आया है—आवास, कुल, लाभ, गण, कम्म, अद्धान, ञाति, आबाध, गन्थ, और इद्धि।[1]

आवास—का तात्पर्य है गृह, परिवेण अथवा संघाराम। सांसारिक पदार्थों के इच्छुक योगी के लिए यह आवास एक विघ्न ही है। योगी के लिए एकान्तवास अपेक्षित है, जो इस प्रकार के आवास में सम्भव नहीं। ब्रह्मचर्य की पूर्ति भी यहाँ नहीं हो पाती। अतः योगी आवास को छोड़कर परिव्राजक बन जाता है। बुद्धवंस (३२-३४) में गृहावास के आठ दुर्गुण बताये गये हैं—निर्माण, पुनर्नवीनीकरण, आतिथ्य, सुकुमारता, अशुभकर्मग्रहणता, ममत्वबुद्धि, दुःखदायित्व और सामाजिकता। इन दोषों के कारण योगी केशादि मुड़ाकर एकान्त में वृक्ष के नीचे रह कर ध्यान करता है। जातक अट्ठकथा (पृ. ९-१०) में वृक्ष के नीचे रहने के दस गुण प्रस्तुत किये गये हैं—सुलभता, सहजता,

---

१. अवासो च कुलं लाभो गणो कम्मञ्च पञ्चमं।
अद्धानं ञाति आबाधो गन्थो इद्धीति ते दस॥ विसुद्धिमग्ग, पृ. ६१

निर्बाधता, अकुशल कर्मों की असंभाविता, शरणप्राप्ति, निर्ममत्व,
असंरक्षण, संतोष एवं निःशङ्कुत्व। योगी के लिए शान्त और निश्चिन्त
अपेक्षित है जो निस्परिग्रही होने के कारण उसे यहाँ उपलब्ध हो जाता

कालान्तर में बिहारों का निर्माण होने लगा। बुद्ध ने विविध
बिहार बनाने की अनुमति दी। यह शायद इसलिए कि एकाएक गृहावास
आने वालों को कठिनाई न हो। बिहार-निर्माण से निर्वाण की प्राप्ति में
एवं भिक्षुणियों को भिक्षुओं से शिक्षा लाभ होता है। इसके आवश्यक
को ही प्राधान्य दिया गया है।[1]

कुल—का तात्पर्य सम्बन्धियों से है। सम्बन्धियों के सुख-दुःख मे
सुख-दुःख बंधा रहता है। जब कभी उसे बुद्धोपदेश सुनने का
नहीं मिल पाता। इसके लिए बुद्ध ने रथविनीत (मज्झिम. १-३-
(सुत्त. ३-११), तुवटक (सुत्त. ४-१४) और महार्यवंश (अंगु. ४-
उपदेश दिया है। फलस्वरूप योगी का ममत्व निःशेष हो जाता
प्रकार लाभ—सामाजिक संसर्ग भिक्षुत्व अवस्था में लक्ष्य-प्राप्ति के
बना रहता है। गण से तात्पर्य है उन श्रमण भिक्षुओं से जो सुत्त
आदि की शिक्षा-ग्रहण करने आये। उनको पढ़ाने में स्वभावतः
लिए समय कम मिल सकेगा। बिहार आदि के सुधारने का काम, दीक्षा
लिए की गई यात्रा, रोगग्रस्त होने वाले ज्ञातिजन, रोग, ग्रन्थ-स्वाध्
ऋद्धियाँ शमथ भावना की प्राप्ति में विघ्नकारी होती हैं। अतः योग
यह आवश्यक है कि वह ये सभी परिबोध दूर करने का प्रयत्न करता

४. कल्याण मित्र की खोज

योगी परिबोधों से दूर रहकर कर्मस्थान को देने वाले कल्याण
पर्येषणा करता है। कल्याण मित्र वह है जो प्रिय, गौरवनीय,
वक्ता, वचन सहने वाला, गम्भीर उपदेश देने वाला और अनुचित का
करने वाला हो।

> पियो गरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खमो।[1]
> गम्भीरञ्च कथं कत्ता नो चट्ठाने नियोजये॥

भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने आपको कल्याण मित्र माना है।[2]
में कल्याण मित्र की प्राप्ति, चित्तविशुद्धि, निर्वाण-प्राप्ति में सहायक

---

१. मिलिन्दपञ्ह, ३-१२
२. अंगुत्तर, ४-३२; विशुद्धि पृ. ९१

अभिज्ञानुसार निर्वृत्ति, और जनवृत्ति—ये छः साधन चित्त की विमुक्ति-प्राप्ति में साधक बताये गये हैं।[1] प्रथम साधन के प्राप्त होने पर शेष साधन स्वतः उपलब्ध हो जाते हैं। एतदर्थ मोहादि दूर करने के लिए असुभ, मैत्री, आनापानसति और अनित्यसंज्ञा की भावना करनी चाहिए। विसुद्धिमग्ग में बुद्ध को सर्वश्रेष्ठ कल्याण मित्र के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके बाद क्रमशः अस्सी महाश्रावक, क्षीणास्रवप्राप्त व्यक्ति, अनागामी, सकदागामी, सोतापन्न, ध्यान प्राप्त पृथग्जन त्रिपिटकधारी, द्विपिटकधारी, एकपिटकधारी, एकनिकायधारी लज्जी, और स्वयंकल्याणी परम्परागत आचार्य को सर्वश्रेष्ठ कल्याणमित्र समझना चाहिए। उस कल्याण मित्र के पास जाकर कर्मस्थान ग्रहण करना चाहिए। उसके बाद उसे व्रत-प्रतिव्रत करना चाहिए।[2]

चरित भेद—व्यक्ति के छः प्रकार के व्यक्तित्व होते हैं—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित और वितर्कचरित। ये चरित प्रकार पूर्वकर्म पर आधारित रहते हैं। इसके साथ ही निम्नलिखित विशेषताओं के माध्यम से उनके व्यक्तित्व को पहचाना जाता है[3]—

(१) चलना, खड़े होना, बैठना और सोना जैसी क्रियायें।

(२) शारीरिक क्रियायें—स्वच्छ करना, झाड़ना अथवा वस्त्र धारण करना।

(३) भोजन का चुनाव और भोजन करने की प्रक्रिया।

(४) दर्शन प्रकार—प्रशंसा, निन्दा आदि।

(५) मानसिक क्रियायें—क्रोध, ईर्ष्या, राग, धर्मोपदेशश्रवण।

इन सभी चरित प्रकारों के विशिष्ट लक्षणों का भी उल्लेख मिलता है जिनसे वे पहचाने जा सकते हैं।[4]

(ग) कर्मस्थान का चुनाव

कर्मस्थान दो प्रकार के होते हैं—अभिप्रेत और परिहरणीय। भिक्षुसंघ के प्रति मैत्री और मरणस्मृति आदि प्रथम वर्ग में आते हैं तथा वर्जनीय कार्य द्वितीय वर्ग में आते हैं। विसुद्धिमग्ग में इस सन्दर्भ में सुन्दर विवेचन प्राप्त होता है। वहाँ कर्मस्थान का विनिश्चय दस प्रकार से बताया गया है—संख्या, उपचार

---

१. अंगुत्तर, निकाय, ४.३५४–३५८

२. विसुद्धिमग्ग, पृ. ६६–६७

३. पपञ्च सूदनी, मागन्दियसुत्त।

इरियापथतो किच्चा भोजना दस्सनादितो।

धम्मप्पवत्तितो चेव चरियायो विभावये। विसुद्धिमग्ग, पृ. ७१

४. विसुद्धिमग्ग पृ. ७१–७४

अर्पणा ध्यान (समाधि), ध्यान, समतिक्रमण, परिवर्धनपरिहीन, आलम्बन, भूमि, ग्रहण, प्रत्यय एवं चर्या।

१. संख्या के निर्देश से चालीस कर्मस्थानों को सात भागों में विभाजित किया गया है—

(१) दस कसिण—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नील, पीत, लोहित, अवदात आलोक और परिच्छिन्नाकाश।

(२) दस अशुभ—ऊर्ध्वमातक, विनीलक, विपुब्बक, विच्छिद्दक, विक्खायितक, विक्षिप्तक, हत-विक्षिप्तक, लोहितक, पुलुवक, एवं अस्थिक।

(३) दस अनुस्मृतियाँ—बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग, देवता मरण, कायगता, आनापान और उपशम।

(४) चार ब्रह्मविहार—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा।

(५) चार आरूप्य—आकाश, विज्ञान, आकिञ्चन्य, और नैवसंज्ञानासंज्ञा।

(६) एक संज्ञा—आहार में प्रतिकूलता, एवं

(७) एक व्यवस्थान—चारों धातुओं का व्यवस्थान।

२. उपचार अर्पणा ध्यान (समाधि)—कर्मस्थान के विषय दो प्रकार के हैं—उपचार समाधि से सम्बन्धित और उपचार तथा अर्पणा समाधि से सम्बन्धित। उक्त ४० विषयों में दस उपचार से सम्बन्धित हैं—कायगता और आनापान स्मृति को छोड़कर शेष आठ स्मृतियाँ तथा आहार में प्रतिकूलता की संज्ञा और चारों धातुओं का व्यवस्थान। शेष ३० कर्मस्थान अर्पणा से सम्बन्धित हैं।

३. ध्यान—अनापान स्मृति के साथ दस कसिण, चार ध्यान वाले होते हैं। कायगता स्मृति के साथ दस अशुभ विषय प्रथम ध्यान से सम्बन्धित हैं। प्रथम तीन ब्रह्मविहार (मैत्री, करुणा एवं मुदिता) तृतीय ध्यान से सम्बन्धित हैं। चतुर्थ ब्रह्मविहार तथा चारों आरूप्य चतुर्थ ध्यान से सम्बन्धित हैं।

४. समतिक्रमण—समतिक्रमण दो प्रकार का होता है—अङ्ग का समतिक्रमण और आलम्बन का समतिक्रमण। उनमें सभी तीसरे चौथे ध्यान वाले कर्मस्थानों मे अङ्ग का समतिक्रमण होता है। चारों आरूप्यों मे आलम्बन का समतिक्रमण होता है।

५. परिवर्धन-परिहीन—में दस कसिणों का परिवर्धन करना चाहिए और कायगता स्मृति तथा अशुभ को नहीं बढ़ाना चाहिए। दस कसिण, दस अशुभ, अनापान स्मृति, कायगता स्मृति ये बाईस प्रतिभाग निमित्त वाले आलम्बन हैं। इसी प्रकार अन्य निर्देशों के विषय में विवेचन मिलता है।[1]

---

१. विस्तार से देखिये—विसुद्धिमग्ग, पृ. ७८

(ग) धुतांग

उक्त प्रकार के शील का परिपालन करने वाले योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह अल्पेच्छा, सन्तोष, संलेख, प्रविवेक, अलेपनाय, वीर्य, सुभरता आदि गुणों से मण्डित हो। शील की परिशुद्धि के लिए उसे लोकामिष (लाभ-सत्कार आदि) का परित्याग, शरीर और जीवन के प्रति निर्ममत्व तथा विपश्यना भावना की प्राप्ति भी अपेक्षित है। इसकी प्रपूर्ति के लिए बौद्धधर्म में तेरह धुतांगों का पालन करना उपयोगी बताया गया है।[1]

१. पांसुकूलिकांग—श्मशानिक, पापणिक, रथियचोल, संकारचोल, स्वस्तिवस्त्र, स्नानवस्त्र, तीर्थवस्त्र, गतप्रत्यागत, अग्निदग्ध, गोभक्षित, दीमकभक्षित ध्वजाहृत तथा स्तूपवस्त्र आदि को लेकर उन्हें यथोचित फाड़कर अपना चीवर बनाना चाहिए। यह चीवर तीन प्रकार का होता है—उत्कृष्ट, मध्यम और मृदु। पांसुकूलिक चीवर धारण करने से स्वतन्त्रता, निर्भयता, तृष्णाभाव, अल्पेच्छा, सन्तोष आदि गुणों की उपलब्धि होती है। काम को वश करने के लिए उसे कवच माना गया है।[2]

२. चीवरिकांग—संघाटी, उत्तरासंग और अन्तरवासक, ये चीवर के तीन अंग हैं। इन्हें धारण करना चाहिए। इससे लोभादि दोषों का विनाश होता है।

३. पिण्डपातिकांग—भिक्षावृत्ति के माध्यम से उदर-पूर्ति करना। इसके भी कुछ नियम हैं। बौद्ध भिक्षु के लिए उद्देश्य भोजन, निमन्त्रण, शलाका भोजन, पाक्षिक भोजन, उपोसथ भोजन, प्रतिपदा भोजन, आगन्तुक भोजन, गमिक भोजन, ग्लान भोजन, ग्लान सेवक भोजन, विहार भोजन, गृह भोजन, एवं ग्रामिक भोजन से विरक्त रहना चाहिए। इससे प्रमाद, तृष्णा, अनुग्रहवृत्ति, मान आदि दोषों का नाश होता है।

४. सापदानचारिकांग—बिना अन्तर किये प्रत्येक घर से भिक्षाग्रहण करना तथा भिक्षादि पर विचार न करना। इससे समान अनुकम्पा, कुलुपक से उत्पन्न दोषों का अभाव, सन्तोष आदि गुणों की प्राप्ति होती है।

५. एकासनिकांग—यथायोग्य एक आसन पर बैठकर भोजन करना। इससे निरोग, स्फूर्ति, बल, रसास्वादन की तृष्णा का अभाव आदि गुण उत्पन्न होते हैं।

---

१. विसुद्धिमग्ग, धुतङ्गनिद्देस

२. [illegible] पंसुकूलधरो यति।

सन्नद्ध कवचो युद्धे खत्तियो विय सोभति ॥ विसुद्धिमग्ग, पृ. [illegible]

६. पात्रपिण्डिकांग—दूसरे पात्रों को छोड़कर एक ही पात्र में लिये गये भोजन को ग्रहण करना।

७ खलुपच्छाभत्तिकांग—अतिरिक्त भोजन का त्याग करना। इससे अधिक खाने की वृत्ति दूर हो जाती है।

८. आरण्यकांग—गाँव के शयनासन को त्यागकर अरण्यवास करना। अरण्य का प्रारम्भ कहाँ से मानना चाहिए, इस विषय में अनेक मत हैं। साधारणतः गाँव के बाहर अरण्य का प्रारम्भ मानते हैं। एकान्तचिन्तन में लीन, संसर्ग रहित भिक्षु चित्त को वश में करने के योग्य हो जाता है।

९. वृक्षमूलिकांग—सदन अथवा प्रासाद को छोड़कर वृक्ष के नीचे आवास ग्रहण करना। अनित्यता का चिन्तन एवं तृष्णा का उच्छेद इसका फल है।

१०. अभ्यवकाशिकांग—छाये हुए वृक्ष को त्यागकर उन्मुक्त आकाश में रहना। वर्षा आदि का काल इस व्रत का अपवाद है। आवास की बाधाओं का उच्छेद तथा मानसिक और शारीरिक आलस्य से विनिर्मुक्ति इस व्रत के गुण हैं।

११. श्मशानिकांग—श्मशान में वास करना। मरण का ध्यान बना रहना, अप्रमाद के साथ विहार करना, अशुभ निमित्त का लाभ, कामराग का दूरीकरण, शरीर-स्वभाव का चिन्तन, संवेग का आधिक्य, आरोग्यता आदि मदों का त्याग, भय और भयानकता की सहनशीलता, मनुष्येतरों के गौरवनीय होना, अल्पेच्छ वृत्ति आदि गुणों का विकास होता है।

१२. यथासंस्तरिकांग—शयनासन का त्यागकर जो उपलब्ध हो उसमे सन्तुष्ट होना। हीन-उत्तम, अनुरोध-विरोध आदि भावों से निरासक्त हो जाना इस व्रत का उपयोग है।

१३ नैषद्यकांग—शयनासन को त्यागकर बैठने के आसन को स्वीकार करना। शय्यासुख, निद्रासुख, आदि सुखों से आसक्ति का अभाव होना इसका फल है।

धुताङ्ग का तात्पर्य है—क्लेशावरण को दूर करने की ओर ले जाने वाला मार्ग (किलेसधुननतो वा धुतं)। राग और मोह चरित वालों के राग, मोह आदि को दूर करने की दृष्टि से इनका उपयोग निर्दिष्ट है। इन तेरह धुताङ्गों का समावेश चार आर्यवंश में हो जाता है—चीवर से सन्तोष, पिण्डपात से सन्तोष, शयनासन सन्तोष, और भावना रूप। दीघनिकाय, अंगुत्तरनिकाय एवं विसुद्धिमग्ग में इनका विशेष व्याख्यान होता है।

(ख) बोधिपाक्षिक भावना

समाधिस्थ व्यक्ति के लिए निर्वाण-प्राप्ति की दृष्टि से कुछ विशेष भावनाओं का अनुग्रहण करना चाहिए। इन्हीं विशिष्ट भावनाओं को बोधिपक्खिय भावना कहा जाता है। इनकी संख्या सैंतीस है। महासकुलुदायीसुत्त (मज्झिम. ७७) में इन्हें योगी के अभ्यास-योग्य विषयों में गिनाया गया है और महावग्ग (संयुत्तनिकाय) में पृथक् रूप से उनकी गणना की गई है। 'बोधिपक्खिय धम्म' शब्द इस अर्थ में त्रिपिटक में नहीं मिलता। विभंग (पृ. २४४) में "बोधिपक्खियानं भावनानुयुत्तो विहरति" के रूप में इस शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है परन्तु वह सात बोध्यंगों के लिए आया है। वस्तुतः समूचा बौद्धधर्म सैंतीस बोधिपाक्षिक भावना के अन्तर्गत आ जाता है। उपकारक होने के कारण उनको बोधिपाक्षिक कहा जाता है—पक्खे भवत्ता हि उपकार भावे ठितत्ता। बोधिपाक्षिक धर्म इस प्रकार है—

१. चार स्मृति प्रस्थान—(सतिपट्ठान)—काय, वेदना, चित्त और धर्मों में अशुभ, दुःख, अनित्य और अनात्म रूप तत्त्वों पर चिन्तन करना।

२ चार सम्यक् प्रधान—(सम्मापधान)—श्रेष्ठ प्रयत्न होने के कारण सम्यक् प्रधान कहा जाता है। यह प्रयत्न चार प्रकार का है—उत्पन्न और अनुत्पन्न अकुशलों को दूर करना, तथा उत्पन्न न होने देने के कृत्य और अनुत्पन्न एवं उत्पन्न कुशलों को उत्पन्न करने और बनाये रखने के कृत्य को सिद्ध करना। इन्हें 'समाधिपारिक्खार' भी कहा गया है। योगी को राग, द्वेष आदि से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

३. चार ऋद्धिपाद—(इद्धिपाद)—ऋद्धि प्राप्त होने के आधारभूत कारण होने से इन्हें ऋद्धिपाद कहा गया है। ये चार हैं—छन्द, वीर्य, चित्त और मीमांसा। इनको प्रधान रूप से मानकर चित्त की एकाग्रता प्राप्त करना इसका मुख्य उद्देश्य है।

४. पाँच इन्द्रियाँ—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा।

५. पाँच बल—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा।

६. सात बोध्यंग—(सत्त बोज्झङ्ग)—स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा।

७. आर्याष्टांगिक मार्ग—(अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो)—सम्मादिट्ठि, सम्मा संकप्प, सम्मा वाचा, सम्मा कम्मन्त, सम्मा आजीव, सम्मा वायाम, सम्मा सति और सम्मा समाधि।

सम्मासम्बोधि प्राप्त करने के लिए, इन बोधिपाक्षिक धर्मों का अनुसरण आवश्यक है। अभिधम्मत्थ संगह में अन्य प्रकार से इनका वर्गीकरण किया गया है—स्मृति, वीर्य, छन्द, चित्त, श्रद्धा, प्रज्ञा, समाधि, प्रीति, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, और सम्यक् आजीविका ये चौदह प्रकार हैं। भाग से ये सात प्रकार के हैं—स्मृति प्रस्थान, सम्यक् प्रधान, ऋद्धिपाद, इन्द्रिय बल, बोध्यंग और मार्ग। प्रभेद से बोधिपाक्षिकधर्म सैंतीस प्रकार के हैं।

(च) समाधि का समय और आसन

समाधि का सर्वोत्तम समय ब्राह्ममुहूर्त माना गया है। उसके बाद योगी को दोपहर तथा सायंकाल का समय भी समाधि के लिए देना चाहिए। चित्त को एकाग्र करने की दृष्टि से ये समय अधिक उपयोगी हैं। इसके लिए योगी कुक्कुटासन अथवा वज्रासन का उपयोग करे। दीघनिकाय (भाग १, पृ. ७१) में कहा है—पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा। पल्लङ्क को हम पद्मासन कह सकते हैं। अट्ठकथा में उसकी व्याख्या पर्यङ्कासन के रूप में की गई है।

(छ) कसिण भावना

कसिण का अर्थ है—कृत्स्न अर्थात् समस्त। समाधि के सन्दर्भ में उसका उपयोग विशेषण और संज्ञा के रूप में हुआ है। उदाहरणार्थ-कसिणायतन, पृथ्वीकसिण आदि। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के लिए भी प्रतीकात्मक रूप में उसका प्रयोग किया गया है। अट्ठकथाओं में 'सकलट्ठेन कसिणं' कहा है जिसका अर्थ है कि प्रतीक पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाला है। इसका अर्थ मण्डल, निमित्त और ध्यान भी है।

कसिण शब्द आयतन के साथ आया है। सुत्तपिटक में आयतन का अर्थ है क्षेत्र) जिसका सम्बन्ध चित्त और विचारों से है। इसका उपयोग कारण, आवास आदि के अर्थ मे भी हुआ है। उनकी संख्या दस है। धम्मसंगणि (२०२) के अनुसार रूप ध्यान मे आठ कसिण सूचक हैं, अन्तिम आकाश और विज्ञानायतन नहीं। विसुद्धिमग्ग मे इन दो कसिणों के स्थान में आलोक और परिच्छिन्नाकाश शब्द आये हैं। मण्डल वृत्ताकार को कहते हैं।

आरम्मण का अर्थ है—आलम्बन अथवा निमित्त। अभिधम्मत्थसंगह में निमित्त को तीन भागों में विभाजित किया गया है—परिकम्म, उग्गह और पटिभाग। कम्मट्ठान के विषय को परिकम्म निमित्त कहा गया है। उग्ग निमित्त को चित्त में वस्तु का अभिज्ञान कहा जाता है। यहाँ कसिण दोष—(नीला, पीला, लाल, श्वेत) विद्यमान रहते हैं। पटिभाग निमित्त में बाह्य-आकार

निमित्त ग्रहण कर ध्यान करने से नीवरण दूर हो जाते हैं और उपचार समाधि से चित्त एकाग्र हो जाता है। वह परिशुद्ध निमित्त की प्राप्ति पटिभाग निमित्त कही जाती है। विसुद्धिमग्ग के अनुसार चालीस कर्म स्थानों (समाधि के विषयों) में से बत्तीस विषय पटिभाग निमित्त बन जाते हैं—दस कसिण, दस अशुभ, आनापानसति और कायगता सति। अट्ठकथाओं में प्रथम चार कसिण को भूतकसिण, और उसके बाद के चार को वण्णकसिण कहा है। अंगुत्तरनिकाय में दस कसिण समथ्यान, विपस्सना, अभिज्ञान एवं निरोध को उत्पन्न करने वाले कहे गये हैं।

विसुद्धिमग्ग में कसिण भावना की सुन्दर व्याख्या की गई है। उसके आधार पर यह विवेचन प्रस्तुत है—

पृथ्वी—(पठवि) कसिण—साधक कर्मस्थान को बनाकर आचार्य की अनुमति पूर्वक योग्य विहार में वास करे। योग्य विहार वे हैं जो गाँव से न बहुत दूर हों और न पास हों, शयनासन आदि उपलब्ध हों, मच्छड़ आदि की बाधायें न हों। अठारह दोषों से युक्त विहार अयोग्य होते हैं—महाविहार, नया विहार, पुराना विहार, मार्गवर्ती, प्याऊ के पास वाला, पत्ती, पुष्प, फलयुक्त, पूजनीय स्थान, नगरवाला, दारुवाला, खेतों से घिरा, अनमेल व्यक्तियों वाला, बन्दरगाह और स्टेशन, निर्जन प्रदेश, राज्यसीमा, अननुकूल स्थान और कल्याणमित्र का अभाव।

अनुकूल विहार पाने के बाद योगी केश और नख काटे, भोजन के बाद भोजन से उत्पन्न परिश्रम को दूरकर एकान्त स्थान में आराम के साथ बैठ गोल बनाये हुए या नहीं बनाये हुए पृथ्वी के निमित्त को ग्रहण करे। अरुण रंग की मिट्टी से कसिण को निर्मित करे। आकार में वह गोल हो। उसे खूंटों को गाड़कर लताओं से बाँधकर स्थापित करे। उससे ढाई हाथ की दूरी पर स्थित चौकी पर स्वयं बैठे और चिन्तन करे। चिन्तन करते समय वह पृथ्वी आदि शब्दों का उच्चारण करे। प्रतिभाग निमित्त तक पहुँच कर योगी उपचार समाधि से चित्त एकाग्र करे। इसके लिए वह आवास, गोचर, वार्तालाप, व्यक्ति, भोजन, ऋतु एवं ईर्यापथ इन सात विपरीत बातों का त्याग करे। तदन्तर अर्पणा समाधि (अपरूणीय समाधि) को वह प्राप्त करेगा। कदाचित् वह प्राप्त न हो तो साधक अर्पणा की कुशलता को दस प्रकार से प्राप्त करे—

(१) वस्तुओं को स्वच्छ करना, (२) पञ्चेन्द्रियोंको एक समान करना, (३) निमित्त की कुशलता, (४) चित्त को यथासमय वश में करना, (५) चित्त को यथासमय दबाना, (६) चित्त को यथासमय हर्षित करना, (७) यथासमय

उपेक्षा करना, (८) चंचल चित्तवान् व्यक्ति का त्याग करना, (९) एकाग्रचित्त वाले व्यक्ति की संगति करना, और (१०) समाधि में चित्त लगाये रखना।

वीर्य—सम्बोध्यंग की उत्पत्ति निम्न प्रकार से होती है—अपाय आदि के भय का सम्यक् विचार करना, लौकिक एवं लोकोत्तर विशिष्ट गुणों को प्राप्त करना, बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मार्ग को देखना, पिंडपात का सत्कार करना, शास्ता के महत्व पर विचार करना, उत्तराधिकार के महत्व को समझना, प्रमाद दूर करना, आलसी व्यक्ति का मनन, योगाभ्यासी की संगति करना, सम्यक् प्रधान को भली प्रकार देखना, वीर्य में चित्तसंगति करना।

प्रीति सम्बोध्यंग प्राप्ति का मार्ग—बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग, देवता और उपशम अनुस्मृतियों का पालन, निर्दयी व्यक्ति का त्यजन, स्निग्ध व्यक्ति का साहचर्य, हर्षोत्पादक सुत्तों का श्रवण, और प्रीति मे चित्त का विस्फालन। इन भावनाओं से चित्त एकाग्र कर लिया जाता है।

प्रश्रब्धि सम्बोध्यङ्ग की उत्पत्ति के मूल कारण हैं—उत्तम भोजनग्रहण, ऋतु—सुख—सेवन, ईर्यापथसुखसेवन, नियोग, परितप्त चित्तवान् व्यक्ति का त्याग, शान्तकाय व्यक्ति का साहचर्य, प्रश्रब्धि (शान्ति) में चित्त की अनुरक्ति। समाधि बोध्यंग की उत्पत्ति ग्यारह कारणों से होती है—वस्तु की पवित्रता, निमित्त की कुशलता, इन्द्रियों का वशीकरण, चित्त को यथासमय वश मे करना, उसे पकड़ना, उसे श्रद्धा, संवेग युक्त करना, उपेक्षा करना, विक्षिप्त चित्तवान् का त्याग, एकाग्र चित्तवान् का साहचर्य, ध्यान और विमोक्ष का दर्शन तथा समाधि में चित्त को एकाग्र किये रखना। उपेक्षा सम्बोध्यंग की प्राप्ति के मूल कारण ये हैं—समस्त प्राणियों के प्रति तटस्थ भाव रखना, ममत्ववान् व्यक्ति का त्याग, तटस्थ चित्तवान् व्यक्ति का साहचर्य, और उपेक्षा मे चित्त को झुकाना।

आठ कारण ऐसे हैं जिनसे संवेग उत्पन्न होता है—जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, अपाय दुःख, भूतकालीन जन्म-मरण दुःख, भविष्यत्कालीन जन्म-मरण दुःख, एवं वर्तमान में आहार अन्वेषणज दुःख।

इन निमित्तों की ओर मनको केन्द्रित कर, भवाङ्गचित्त को काटकर, पृथ्वी कसिण का आलम्बन करे। इसमें रूप और अरूप में भवाङ्ग का परिमाण नहीं है। इसके बाद एक चित्तक्षणवाली अर्पणा, भवाङ्गपात, आवर्जन और ध्यान का प्रत्यवेक्षण किया जाता है। तदनन्तर साधक क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम ध्यान प्राप्त करता है।

इसके उपरान्त साधक अप्, तेज, वायु, नील, पीत, लोहित, अवदात, आलोक, परिच्छिन्नाकाश, और प्रकीर्णक कर्मस्थानों का आधार लेकर भी ध्यान करता है।

बौद्धधर्म में ध्यान का स्वरूप

जैनधर्म के समान बौद्धधर्म में भी ध्यान का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। साधना ध्यान से विलग होकर नहीं की जा सकती। बौद्ध साधना में ध्यान के साथ ही समाधि विमुत्ति, समथ, भावना, विसुद्धि, विपस्सना, अधिचित्त, योग, कम्मट्ठान, पधान, निमित्त, आरम्मण आदि शब्दों का भी उपयोग और विश्लेषण किया गया है। इनमें ध्यान और समाधि प्रधान पारिभाषिक शब्द माने गये हैं। वस्तुतः ध्यान का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि उसमें समाधि का विषय भी अन्तर्भूत हो जाता है।

ध्यान का अर्थ—ध्यान (पालि-झान) का अर्थ है—चिन्तन करना। बुद्धघोष ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—झायति उपनिज्झायतीति झानं अथवा इमिना योगिनो झायन्ती ति झानं अर्थात् किसी विषय पर चिन्तन करना। इसका दूसरा अर्थ भी किया गया है—पच्चनीकधम्मे झायेतीति झानं अथवा "पच्चनीकधम्मे दहति, गोचरं वा चिन्तेती ति अत्थो।" यहाँ ध्यान का अर्थ अकुशल कर्मों का दहन करना (क्षापन करना) भी किया गया है।[1]

समाधि (सम्+आ+धा) शब्द का प्रयोग चित्त की एकाग्रता (चित्तस्स एकग्गता) के सन्दर्भ में किया गया है।[2] बुद्धघोष ने इस परिभाषा में कुसल शब्द और जोड़ दिया है—कुसलचित्तेकग्गता। यहाँ "सम्मा समाधी ति अथवा समाधि, कुसलसमाधि"[3] कहकर बुद्धघोष ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि समाधि का सम्बन्ध शुभ भावों को एकाग्र करने से है।

ध्यान और समाधि की उक्त व्याख्या से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जहाँ समाधि मात्र कुशल (शुभ) कर्मों से ही सम्बद्ध है वहाँ ध्यान कुशल और अकुशल (शुभ और अशुभ) दोनों प्रकार के भावों को ग्रहण करता है। अतः समाधि की अपेक्षा ध्यान का क्षेत्र बड़ा है।

ध्यान के भेद और उनकी व्याख्या—बौद्धधर्म में ध्यान के मूलतः दो भेद किये गये हैं—आरम्मण उपनिज्झान (आलम्बन पर चिन्तन करने वाला) और लक्खण उपनिज्झान (लक्षणों पर चिन्तन करने वाला)[4] आरम्मण उपनिज्झान आठ प्रकार का है—चार रूपावचर और चार अरूपावचर।

---

१. समन्तपासादिका, पृ. १४५-६
२. धम्मसंगणि, पृ. १०
३. विसुद्धिमग्ग,
४. दीघनिकाय, ३. पृ. २७३; मज्झिम, १, पृ. ४९७; संयुत्त, पृ. २६० इत्यादि।

इन्हें समापत्ति भी कहा जाता है। उपचार समाधि की प्रारम्भिक भूमिका है और शेष उसकी विकसित अवस्थायें हैं।

लक्खण उपनिज्झान के तीन भेद हैं—विपस्सना, मग्ग और फल। विपस्सना में प्रज्ञा, ज्ञान और दर्शन होता है। साधारणतः त्रिपिटक में विपस्सना का प्रयोग समथ के साथ मिलता है—समथो च विपस्सना।[1] इसमें विषय-वस्तु के लक्षणों पर विचार किया जाता है, मार्ग मे उसका कार्य पूर्ण होता है और उसकी निष्पत्ति फल में होती है। इसी को लोकोत्तर ध्यान कहते हैं जो निर्वाण का विशिष्ट रूप माना गया है।[2] विपस्सना मे सात प्रकार की विशुद्धि पायी जाती है—शीलविशुद्धि, चित्त विशुद्धि, दृष्टि विशुद्धि, काङ्क्षावतरण विशुद्धि, मार्गामार्ग ज्ञान दर्शन विशुद्धि, पतिपदाज्ञान दर्शन विशुद्धि तथा ज्ञान दर्शन विशुद्धि।[3]

ध्यान का भेद-भेदाङ्ग विवाद का विषय रहा है।। सुत्त पिटक में ध्यान के चार भेद मिलते हैं, जबकि अभिधम्म पिटक मे उसे पाँच भागों में विभाजित किया गया है। रूपालम्बन पर चित्त की ये विभिन्न अवस्थायें है जिन्हें वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और समाधि कहा गया है।

वितर्क का अर्थ है—तर्क-वितर्क करना, चित्त का अभिनिरोपण करना तथा सम्यक् संकल्प करना। आरम्मण में चित्त का आरोपण करना इसका मुख्य विषय है। ध्यान में इसका उसी प्रकार का उपयोग है जिस प्रकार भूपति के पास पहुँचने के लिए उसके किसी निकट सम्बन्धी का उपयोग होता है।[4]

आलम्बन के विषय में विचार करना विचार है। चित्त बार-बार विचार करता हुआ विषय के पास अनुमज्जन करता रहता है और वितर्क के द्वारा आरूढ सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन के समीप रखकर उसी के पास घूमता रहता है।[5] अर्थात् आलंबन में चित्त का संयुक्त हो जाना वितर्क है और उसका वहीं बना रहना विचार है। वितर्क का जन्म विचार के पूर्व होता है और वह विचार की अपेक्षा स्थूल भी है। विचार का स्वभाव भ्रमण करना है, सूक्ष्म होने के कारण। उदाहरणार्थ-पक्षी का आकाश में उड़ना वितर्क है तथा आकाश में पंख फैला देना विचार है।

---

१. सद्धम्मपकासिनी, पृ. ११६
२. अभिधम्मत्थ संग्रह, कम्मट्ठान संग्रह।
३. धम्मसंगणि, पृ. १६, अट्ठसालिनी, पृ. ६४
४. अट्ठसालिनी, पृ. ६४

प्रीति का अर्थ प्रफुल्लित होना है।[1] प्रीति होने पर चित्त विकसित कमल की तरह प्रसन्न हो जाता है। वह प्रीति पाँच प्रकार की है—क्षुद्रिका प्रीति, क्षणिका प्रीति, आवक्रान्तिका प्रीति, उद्वेगा प्रीति, और स्फुरणा प्रीति।[2]

सुख भी एक मानसिक आनन्द की अनुभूति का नाम है। इसमें सभी प्रकार की मानसिक और शारीरिक बाधायें दूर हो जाती हैं। इस विषय की उपलब्धि से समुत्पन्न तुष्टि से प्रीति होती है और उस प्रीति से अनन्त सुख होता है।

कुशल चित्त की एकाग्रता समाधि है। इसे एकाग्रता, समाधि अथवा उपेक्षा भी कहा जाता है। यहाँ कुशल चित्त का सम्बन्ध रूपावचर, अरूपावचर एवं लोकुत्तर चित्तों से ही है। कुशल चित्त के आलम्बन को कम्मट्ठान भी कहा गया है। कम्मट्ठानों (कर्मस्थानों) की संख्या बौद्धधर्म में चालीस कही गयी है—दस कसिण (कृत्स्न), दस अशुभ, दस अनुस्मृति, चार ब्रह्मविहार, एक संज्ञा, एक व्यवस्थान तथा चार आरूप्य हैं। इनकी प्राप्ति में बाधक तत्त्व हैं पाँच—कामच्छन्द, व्यापाद, थीनमिद्ध, उद्धच्च, कुक्कुच्च एवं विचिकिच्छा।[3] इनका उपशम क्रमशः समाधि, प्रीति, वितर्क, सुख और विचार से होता है।[4]

नीवरणों के उपशमन और ध्यान की प्राप्ति मे साधक चित्त को एक निश्चित आरम्मण मे केन्द्रित करता है। उस विषय को परिकम्म निमित्त कहा गया है और उस अभ्यास को परिकम्म समाधि कहा जाता है। अभ्यास के बल पर परिकम्म निमित्त के बिना भी मात्र अन्तर्मन मे प्रतिष्ठापित उसकी प्रतिकृति पर चित्त एकाग्र किया जाता है। इस अवस्था को उग्गह निमित्त कहा गया है। निमित्त का अनुचिन्तन-अनुमनन करने पर नीवरणों और क्लेशों का उपशमन होने लगता है तथा उपचार समाधि से चित्त एकाग्र होने लगता है। तब प्रतिभाग निमित्त उत्पन्न होता है। उग्गह निमित्त और प्रतिभाग निमित्त

१. धम्मसंगणि, पृ. २२
२. अट्ठसालिनी, पृ. ६५
३. अभिधम्मत्थ संगह, नवनीत टीका
४. नीवरणानि हि झानंगपच्चनीकानि तेसं झानंगा नेव पटिपक्खानि। विद्धंसकानि विघातकानी ति वुत्तं होति। तथाहि समाधि कामच्छन्दस्स पटिपक्खो, पीति ब्यापादस्स, वितक्को थीनमिद्धस्स, सुखं उद्धच्चकुक्कुच्चस्स विचारो विचिकिच्छाया ति पेटके वुत्तं, विसुद्धिमग्ग, पृ. ९७

में अन्तर यह है कि उग्गह निमित्त में कसिण का दोष बना रहता है जबकि प्रतिभागनिमित्त दर्पण के समान सुपरिशुद्ध होता है।

बौद्धधर्म में समाधि के दो भेद हैं—उपचार समाधि और अर्पणा समाधि। इन्हें चित्त को एकाग्र करने के दो साधन भी माने जा सकते हैं। उपचार में नीवरणों का प्रहाण हो जाता है और अर्पणा में ध्यान प्राप्ति हो जाती है। उपचार ध्यान में चित्त कभी निमित्त का आलम्बन करता है और कभी भवांग में उतर जाता है परन्तु अर्पणा (ध्यान) में यह स्थिति दूर हो जाती है। उसकी प्राप्ति होने पर चित्त की एकाग्रता में स्थिरता आ जाती है। इसके लिए साधक को आवास, गोचर, संलाप (भस्सं), व्यक्ति, भोजन, ऋतु और ईर्यापथ इन सात विपरीत बातों का त्याग करना चाहिए।

> आवासो गोचरो भस्सं पुग्गलो भोजनं उतु।
> इरियापथो ति सत्तेते असप्पाये विवज्जये॥[1]

अर्पणा (ध्यान) का संस्कार करने वाला परिकर्म (परिकरोति अप्पनं अभिसंखरोति ति परिकम्मनं) होता है। परिकर्म हो जाने पर हमारा चित्त ध्यान की ओर प्रवृत्त हो जाता है। अर्पणा के बाद उपचार, अनुलोम और गोत्रभू होता है। इसके बाद चित्त एकाग्र हो जाता है।

१. रूपावचर ध्यान

प्रथम ध्यान—चित्त जब रूप का ध्यान करता है, तब उसे रूपावचर चित्त कहा जाता है। इस अवस्था में ध्यान के बाधक तत्त्व नीवरणों का प्रहाण हो जाता है और वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और उपेक्षा ये ध्यान के पाँचों अंग चित्त को अपने आलम्बन पर स्थिर बनाये रखते हैं। इसी को द्वितीय ध्यान कहा जाता है (विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमं झानं उपसंपज्ज विहरति)[2]। नीवरणों और अकुशल धर्मों से दूर चित्त वितर्क के माध्यम से रूपालम्बन पर अपने को स्थिर किये रहता है। विचार से वह अनुसंचरण करता है। प्रीति से तुष्टि और सुख से हर्षाधिक पैदा करता है। इन सभी के माध्यम से वह अपने को चंचलता से दूर किये रखता है। यहीं वह चित्त कायप्रश्रब्धि और चित्त प्रश्रब्धि को पूर्ण करता है तथा क्षणिक समाधि, उपचार समाधि और अर्पणा

---

१. विसुद्धिमग्ग, पृथ्वीकसिण निर्देश

२. विसुद्धिमग्ग, पृथ्वीकसिण निर्देश; वितक्क विचार पीतिसुखेकग्गता सहितं पठमज्झानं सुखसहितं, अभिधम्मत्थसंगहो, पृ. १९

के हो जाने पर उपेक्षा भाव धारण करने वाला होता है, समयोगी हो जाता है। यह उपेक्षा दस प्रकार की है—षडंगोपेक्षा, ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यंगोपेक्षा वीर्योपेक्षा, संस्कारोपेक्षा, वेदनोपेक्षा, विपश्यनोपेक्षा, तत्रमाध्यस्थोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा और परिशुद्ध्युपेक्षा।

क्षीणास्रव भिक्षु अथवा साधक की वृत्ति उदासीन नहीं होती। वह स्मृति और सम्प्रजन्य युक्त होकर उपेक्षक हो जाता है। सर्व प्रथम छः इन्द्रियों के प्रिय-अप्रिय आलंबनों के प्रति परिशुद्ध रूप से उपेक्षा भाव रखता है। यह षडंगोपेक्षा है। प्राणियों के प्रति मध्यस्थ भाव रखना ब्रह्मविहारोपेक्षा है। अपने साथ संप्रयुक्त धर्मों के प्रति मध्यस्थ भाव रखना बोध्यंगोपेक्षा है। अत्यधिक और शिथिल भाव से विरहित उपेक्षासदृश वीर्य (प्रयत्न) उपेक्षा है। नीवरणों के प्रहाण हो जाने पर संस्कारों के ग्रहण करने मे उपेक्षा संस्कारोपेक्षा है। यह संस्कारोपेक्षा समाधि से उत्पन्न होने वाली आठ (चार ध्यान और चार अरूप्य) तथा विपश्यना से उत्पन्न होने वाली दस (चार मार्ग, चार फल, शून्यताविहार और अनिमित्तकविहार) प्रकार की है। दुःख और सुख की उपेक्षा वेदनोपेक्षा है। पंचस्कन्धों आदि के विषय मे उपेक्षा विपश्यनोपेक्षा है। छन्द, अधिमोक्ष आदि येवापनक धर्मों में उपेक्षा वृत्ति तत्रमध्यस्थोपेक्षा है। तृतीय ध्यान में अग्र सुख मे उपेक्षा भाव ध्यानोपेक्षा है। नीवरण, वितर्क आदि विरुद्ध धर्मों के उपशम के प्रति भी उपेक्षा भाव परिशुद्ध्युपेक्षा है।

इन उपेक्षा के प्रकारों में षडंगोपेक्षा ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यंगोपेक्षा, मध्यस्थोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा और परिशुद्ध्युपेक्षा अर्थतः एक है, मात्र अवस्थाओं का भेद है। संस्कारोपेक्षा और विपश्यनोपेक्षा भी ऐसी ही हैं। यहाँ ध्यानोपेक्षा अधिक अभिप्रेत है।

चतुर्थ ध्यान—ध्याता की चतुर्थ अवस्था में तृतीय ध्यान भी सदोष दिखाई देने लगता है। इसमें भी पाँच प्रकार से वशी का अभ्यास किया जाता है। उस समय साधक विचारता है कि तृतीय ध्यान का सुख स्थूल है, अन्य सभा दुर्बल है और चतुर्थ ध्यान शान्तिदायी है, उपेक्षा, वेदना तथा चित्त की एकाग्रता शान्तिकर है। यह विचारकर स्थूल अंगों का प्रहाण और शान्त अंगों की प्राप्ति के लिए पृथ्वीकसिण का अनुचिन्तनकर उसे आलम्बन बनाकर मनोद्वारावर्जन उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् उसी आलम्बन में चार या पाँच जवन दौड़ते हैं, जिनके अन्त में एक रूपावचर चतुर्थध्यान का रहता है।

विसुद्धिमग्ग में चतुर्थ ध्यान का लक्षण इस प्रकार मिलता है—सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेव सोमनस्सदोमनस्सानं अत्थङ्गमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासतिपारिसुद्धिं चतुत्थं झानं उपसम्पज्ज विहरति। चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति

के पूर्व ही कायिक सुख–दुःख नष्ट हो जाता है, सौमनस्य-दौर्मनस्य समाप्त हो जाता है। सौमनस्य चतुर्थ ध्यान के उपचार के क्षण में प्रहीण होता है और दुःख, दौर्मनस्य, सुख प्रथम उपचार के क्षण में।

विविध आवर्जनों में प्रथम ध्यान के उपचार में शान्त हुई दुःखेन्द्रियों की उत्पत्ति डांस मच्छड़ आदि के काटने से हो सकती है, पर अर्पणा से नहीं होती। द्वितीय ध्यान के उपचार क्षण मे यद्यपि चैतसिक दुःख का प्रहाण होता है तथापि वितर्क और विचार के कारण चित्त का उपघात हो सकता है, पर अर्पणा में वितर्क और विचार के अभाव से इसकी कोई सम्भावना नही है। इसी प्रकार यद्यपि तृतीय ध्यान के उपचार-क्षण मे कायिक सुख का निरोध होता है, तथापि सुख के प्रत्यय रूप प्रीति के रहने से कायिक सुख की उत्पत्ति संभव है। पर अर्पणा मे प्रीति के अत्यन्त निरोध से इसकी संभावना नहीं रह जाती। इसी तरह चतुर्थ ध्यान के उपचार क्षण में अर्पणा प्राप्त उपेक्षा के अभाव तथा भलीभाँति चैतसिक सुख का अतिक्रम न होने से चैतसिक सुख की उत्पत्ति संभव है पर अर्पणा मे इसकी संभावना नही है।[1]

यह चतुर्थ ध्यान अदुःख और असुख रूप है। उपेक्षा भी इसे कहा जा सकता है। इसी उपेक्षा से स्मृति मे परिशुद्धि आती है। यद्यपि प्रथम तीनों ध्यानों मे भी यह उपेक्षा रहती है, पर परिशुद्ध अवस्था में नही रहती।

इस प्रकार प्रथम ध्यान में सुत्तपरम्परा की दृष्टि से वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता ये पाँचों अंग विद्यमान रहते हैं। द्वितीय ध्यान मे वितर्क और विचार समाप्त हो जाते हैं। तृतीय ध्यान में प्रीति नहीं रहती और चतुर्थ में सुख का अभाव होकर मात्र एकाग्रता शेष रह जाती है।

ध्यान भेद की एक अन्य परम्परा—बौद्ध साहित्य मे ध्यान के भेदों की एक अन्य परम्परा भी मिलती है। अभिधर्म के अनुसार ध्यान के पाँच भेद होते हैं। उसका प्रथम भेद ध्यान के चतुष्क भेद की परम्परा से पृथक् नहीं है। चतुष्क ध्यान परम्परा का द्वितीय ध्यान पञ्चक ध्यान परम्परा मे द्वितीय और तृतीय भेद में विभक्त हो जाता है। इस तरह चतुष्क ध्यान का तृतीय और चतुर्थ ध्यान पञ्चक ध्यान का चतुर्थ और पञ्चम ध्यान है।

२. अरूप ध्यान

रूपावचार ध्यान की चतुर्थ अथवा पञ्चम ध्यान की अवस्था के बाद यद्यपि निर्वाण का साक्षात्कार सम्भव हो जाता है फिर भी साधक निर्वाण और

---

१. बौद्धधर्म दर्शन, पृ. ७४; विसुद्धिमग्ग (हिन्दी), भाग १, पृ. १४९

पूर्वतर आलम्बन पर ध्यान करता है यही अरूपावचर ध्यान है। इसकी चार अवस्थायें होती हैं। प्रथम अवस्था में साधक अनन्त आकाश पर विचार करता है। द्वितीय अवस्था में अनन्त आकाश को स्थूल प्रतीत होने लगता है और विज्ञान सूक्ष्म लगने लगता है। अरूप ध्यान की विज्ञानायतन रूप यह द्वितीय अवस्था है। तृतीय अवस्था में आकिञ्चन्यायतन और चतुर्थ अवस्था में नेवसञ्ञानासञ्ञायतन पर ध्यान किया जाता है। साधक यहाँ क्रमशः पूर्वतर आलंबन को स्थूल और पश्चात्तर आलंबन को सूक्ष्म मानता चला जाता है।

३. लोकोत्तर ध्यान

उपर्युक्त रीति से रूपध्यान और अरूपध्यान के माध्यम से साधक परिशुद्ध समाधि को प्राप्त करता है। इसके निर्वाण रूप फल को लोकोत्तर ध्यान से उपलब्ध किया जाता है। इसी सन्दर्भ में लोकोत्तर भूमि अथवा अपरियापन्न का कथन किया गया है।

रूपावचर और अरूपावचर ध्यान में संयोजन के बीजों का सद्भाव संभावित रहता है जो लोकोत्तर ध्यान में उसका प्रहाण कर दिया जाता है। सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा शीलव्रतपरामर्श, कामच्छन्द, प्रतिघ, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य एवं अविद्या ये दस संयोजन हैं। यद्यपि उनका प्रहाण नीवरण के रूप में हो जाता है फिर भी जो बीज शेष रह जाते हैं उनका विनाश लोकोत्तर ध्यान से हो जाता है। लोकोत्तर ध्यान में ही क्रमशः स्रोतापत्ति सकृदागामि, अनागामि और अर्हत् अवस्था प्राप्त होती है। लोकोत्तर भूमि में चित्त की आठ अवस्थाओं में प्रत्येक अवस्था में पाँच प्रकार के रूप ध्यान का अभ्यास साधक करता है। इस प्रकार लोकोत्तर चित्त के चालीस भेद हो जाते हैं। लोकोत्तर ध्यान ही परिशुद्ध ध्यान कहा जाता है।

जैन एवं बौद्धमतों के ध्यान-स्वरूप की तुलना—बौद्धधर्म में वर्णित उक्त ध्यान के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म में ध्यान को मात्र निर्वाण साधक माना है। जैनधर्म में भी यद्यपि ध्यान के चार भेद किये गये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान, पर ये संसार और निर्वाण दोनों के साधक हैं। प्रथम दो ध्यान, संसार के परिवर्धक हैं और अन्तिम दो ध्यान निर्वाण के साधक हैं। धर्मध्यान शुभध्यान है और शुक्ल ध्यान शुद्ध ध्यान है।

शुक्लध्यान के चार भेद हैं—पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति। पृथक्त्ववितर्क ध्यान मन, वचन और

हैं और मरणालम्बन की स्मृति उत्पन्न हो जाती है। जिस योगी को इसका
र पर्याप्त नहीं होता वह वधक, संपत्ति, उपसंहरण, शरीर, आयु, अनिमित्त,
परिच्छेद एवं अल्पस्वल्पता के आधार पर मरण का अनुस्मरण करता है।
प्रकार से उपसंहरण (दूसरे के साथ अपने मरण को देखता) करते हुए
का अनुस्मरण होता है—यश, पुण्य, स्थाम, ऋद्धि, प्रज्ञा, प्रत्येकबुद्ध एवं
क् सम्बुद्ध। अनिमित्त के अन्तर्गत जीवन, व्याधि, काल, शरीरत्याग, और
आते हैं।

तदनन्तर योगी कायगता स्मृति करता है। वह केश, लोम, नख, दाँत,
मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, वृक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस,
उदरस्थ वस्तुएँ, मल-मूत्र, मस्तिष्क, पित्त, कफ, पीब, लोहू, स्वेद, मेद,
वसा, थूक, लासिका, आदि पर विचार करता है।

आनापानस्मृति मे अरण्य मे वृक्ष के नीचे पद्मासन लगाकर श्वासोच्छ्वास
और ध्यान करना वर्णित है। इसमें योगी चित्त को स्मृति रूप आलम्बन
कर उसे रूपालम्बन से हटाकर काय संस्कार को शान्त करता है। उग्गह,
पृच्छा, उपट्ठान, अप्पना और लक्खणा रूप पाँच कर्मस्थानों को
ता है। त्रिरत्न का गुणानुस्मरण कर आनापानस्मृति कर्मस्थान का मनसिकार
है तथा गणना, अनुबन्धना, स्पर्श, स्थापन, संलक्षण, विवर्तन, पारिशुद्धि
उनका प्रत्यवेक्षण करता है।

आनापानस्मृति के पश्चात् साधक समस्त दुखों के उपशमस्वरूप निर्वाण के
का अनुस्मरण करता है। संस्कृत अथवा असंस्कृत धर्मों के प्रति विराग
र्वाण) मद को विनष्ट करने वाला होता है, तृष्णा को बुझाने वाला और
एवं संसारचक्र का उपच्छेद करने वाला होता है। उपशमानुस्मृति मे
सुख पूर्वक विहार करता है तथा शान्त इन्द्रिय और शान्त मन वाला
है।

(ञ) ब्रह्मविहार निर्देश

अनुस्मृति के उपरान्त विघ्न दूरकर, कर्मस्थान ग्रहणकर, भोजनकर, आसन
ठकर प्रारम्भ में द्वेष में अवगुणों और क्षान्ति में गुणों का प्रत्यवेक्षण करे
ब्रह्मविहार की भावना करे। ब्रह्मविहार चार हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता
उपेक्षा। सारे सत्व सुखी, कल्याणप्राप्त हों, एवं सुखी चित्तवाले हों—
ती वा खेमिनो होन्तु, सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता, यह मेत्ता की मूल
है। वैदधर्म में भी "सब्बे भवन्तु सुखिनः सब्बे सन्तु निरामयः" कहा गया

है। क्षमा (खन्तिबल) इसका आधार है। 'खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमन्तु मे' जैन संस्कृति का भी अभिवचन है। क्रोध से मुक्त होने के लिए जीव यह विचार करे कि वह कर्मस्वक है, कर्मदायाद, कर्मयोनि, कर्मबन्धु, और कर्मप्रतिशरण है। शान्त व्यक्ति एकाग्रता जल्दी प्राप्त करता है। मैत्री के गुणों का स्मरण करते हुए धातु का विभाजन कर उसे दान का संविभाग करना चाहिए।

करुणा की भावना की इच्छावाले को करुणा रहित होने के दोष और करुणा के आनृशंस का प्रत्यवेक्षण करके करुणा भावना का आरम्भ करना चाहिए। विसुद्धिमग्ग में करूणा के पात्र क्रमशः ये हैं—सुखी, प्रिय, मध्यस्थ, और शत्रु। अंगुत्तर अट्ठकथा में यह क्रम दूसरा है—वैरी, निर्धन, प्रिय और स्वयं। इसी प्रकार मुदिता और उपेक्षा भावनाओं की प्राप्ति भी साधक करें।

(ट) आरूप निर्देश

ब्रह्मविहारों के बाद चार आरूप्यों में प्रथम आकाशानन्त्यायतन की भावना करे। रूप (दण्ड, अस्त्र आदि) दोष कारक है, अतः साधक उनके प्रति निर्वेदी होकर उनके समतिक्रमण के लिए परिच्छिन्न आकाश-कसिण को छोड़कर नव पृथ्वी-कसिण आदि मे से किसी एक में चतुर्थ ध्यान को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार विज्ञानन्त्यायतन में विज्ञान की अनन्तता पर, आकिञ्चन्यायतन मे वस्तु की अनित्यता एवं शून्यता पर, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन मे संज्ञा-असंज्ञा के दोषों पर वह योगी विचार करता है।

(ठ) समाधि निर्देश

आहार में प्रतिकूल-संज्ञा—समाधिस्थ व्यक्त के लिए यह आवश्यक है कि वह लालच आदि दोषकारक दुर्गुणों से दूर रहे। आहार इन दुर्गुणों का उत्पादक है अतः योगी को इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। आहार का अर्थ है आहरण करनेवाला। वह आहार चार प्रकार का है—कवलीकाराहार, (ग्रास करके खाने योग्य आहार), स्पर्शाहार, मनोसञ्चेतनाहार, और विज्ञानाहार। इनमें मुख्य है कवलीकाराहार जिसमें निम्न दस प्रकार से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिए—गमन, पर्येषण, परिभोग, आशय, निधान, अपरिपक्व, परिपक्व, फल, निष्यन्द और संम्रक्षण।

योगी कर्मस्थान का ग्रहणकर, अरण्य-वन को छोड़कर कर्मस्थान को ग्रहणकर आहार के लिए गाँव में प्रवेश करे। कपाल को हाथ में लिये घर की परिपाटी से गाँव की गलियों में भ्रमण करे। आहार का पर्येषण कर गाँव के बाहर उचित स्थान पर बैठकर उसे ग्रहण करे। इन सभी के प्रतिकूल होने का

काय, इन तीन योगों के धारी आठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीवों के होता है। द्वितीय एकत्व वितर्कध्यान तीनों में से किसी एक योग के धारी बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव के होता है। तृतीय सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान मात्र काय योग के धारण करने वाले तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम भाग में होता है। और चतुर्थ व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यान योग रहित (अयोगी) जीवों के चौदहवें गुणस्थान में होता है।

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामि ने वितर्क को श्रुतज्ञान कहा है[1] और अर्थ व्यञ्जन और योग का बदलना विचार बताया है।[2] प्रथम पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान वितर्क-विचार युक्त होता है और द्वितीय एकत्ववितर्क विचार रहित और वितर्क सहित मणि की तरह अचल है। प्रथम भेद शुक्लध्यान प्रतिपाति और अप्रतिपाति, दोनों होता है। बौद्धधर्म में वितर्क की अपेक्षा विचार का विषय सूक्ष्म माना गया है। उसकी वृत्ति भी शान्त मानी गई है। प्रथम शुक्लध्यान मे वितर्क और विचार दोनों का ध्यान किया गया है। द्वितीय शुक्लध्यान में विचार नहीं है। बौद्धधर्म में सभी ध्यान प्रतिपाति कहे गये हैं। जबकि जैनधर्म मे प्रथमध्यान ही प्रतिपाति और अप्रतिपाति, दोनों हैं।

इस प्रकार श्रमण संस्कृति की जैन एवं बौद्धधर्म इन दोनों शाखाओं मे ध्यान को साधना के क्षेत्र मे पर्याप्त महत्व दिया गया है। जैनधर्म में ध्यान को संसार तथा निर्वाण, इन दोनों के क्षेत्र मे नियोजित किया गया है पर बौद्धधर्म मे उसे निर्वाण प्राप्ति तक ही सीमित रखा है। इसके बावजूद दोनों साधनाओं में ध्यान की परिपूर्ण उपयोगिता और उसका विश्लेषण किया गया है।

(ज) अशुभ कर्मस्थान

संसारी जीव संसार से जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। राग, द्वेष, मोह आदि दोषों के वश से उसका चित्त और कलुषित होता रहता है। चित्त की उस कलुषता को दूर करने के लिए अशुभ वस्तुओं पर तात्त्विक ध्यान किया जाता है। विनय पिटक के अनुसार अशुभ कर्मस्थानों की भावना पर प्रारम्भ से ही ध्यान किया गया है। धम्मसंगणि में इसके १० भेद बताये गये हैं—उद्धमातक, विनीलक, विपुब्बक, विच्छिद्दक, विक्खायितक, हतविक्खित्तक, लोहितक, पुलवक, एवं अट्ठिक। ये मृत एवं जीवित शरीर की स्थिति के विषय में विविध रूप से चिन्तन प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ—यह काय दुर्गन्धित है, अपवित्र है,

---

१. वितर्कः श्रुतम्, तत्त्वार्थसूत्र, ६-४३

२. वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः, वही, ६-४४

मलगृह के समान है, प्रज्ञावानों से निन्दित है, आर्द्र चर्माच्छादित है, नवद्वारों से महाव्रण वाला यह काय चारों ओर से दुर्गन्ध प्रवाहित करता है—

> दुग्गन्धो, असुचि कायो कुणपो उक्करूपमो ।
> निन्दितो चक्खुभूतेहि कायो बालाभिनन्दितो ॥
> अल्लचम्मपटिच्छन्नो नवद्वारो महावणो ।
> समन्ततो पग्घरति असुचि पूति गन्धियो ॥[1]

(ग) अनुस्मृति भावना

साधक अशुभ कर्मस्थानों की अनुस्मृति के पश्चात् पूर्व निर्दिष्ट बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग, देवता, मरण, कायगता, आनापान एवं उपशम के विषय में बार-बार चिन्तन करता है। यही अनुस्मृति है। जैनधर्म मे इसे अनुप्रेक्षा शब्द दिया गया है।

बुद्धानुस्मृति—मे अर्हत्, सुगत, लोकवित्, अनुत्तर, पुरुषदम्यसारथी, शास्ता, बुद्ध, भगवान्, सम्मासम्बुद्ध, विज्जाचरण सम्पन्न, सुगत, तथागत, आदि शब्दों पर विशेष चिन्तन किया जाता है। विसुद्धिमग्ग (परिच्छेद ६) मे इन शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं। इसी प्रसंग मे लोक की जो परिकल्पना बौद्ध दृष्टि से की गई है वह जैन गणना से मिलती-जुलती है। योजन आदि शब्दो का भी यहाँ उपयोग मिलता है।

भगवान् का धर्म स्वाख्यात (आरम्भ, मध्य एवं अन्त में कल्याण कारक) है, सान्दृष्टिक (तत्कालफलदायक) है, समयानन्तर मे नहीं, यहीं दिखाई देनेवाला है, निर्वाण तक पहुँचाने वाला है, और विज्ञों द्वारा स्वतः जानने योग्य है—स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको एहिपस्सिको ओपनेय्यको पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही ति। इसी प्रकार अन्य स्मृतियों के विषय में भी साधक चिन्तन करता है।

इसके बाद योगी मरण पर अनुचिन्तन करता है। जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद मरण है। भवचक्र का निरोध समुच्छेद मरण है। संस्कारों का क्षणभंगुर हो जाना क्षणिकमरण है। वृक्ष मर गया आदि में संवृतिमरण है। पुण्य अथवा आयु का क्षय होना कालमरण है तथा चित्तप्रवाह अथवा कर्मच्छेदजन्य मरण अकालमरण है। मृतक व्यक्ति को देखकर योगी स्मृति, संवेग, और ज्ञानपूर्वक 'मरण होगा' यह विशेष विचार करता है। ऐसा करने से उसके नीवरण दब

---

1. विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद ६

ध्यान को अवितर्क-विचार मात्र कहते हैं । चार की परिगणना के द्वितीय ध्यान में और पाँच की परिगणना में तृतीय ध्यान में वितर्क और विचार दोनों का अतिक्रम होता है । पाँच की परिगणना के चतुर्थ ध्यान में और चार की परिगणना के तृतीय ध्यान में प्रीति का अतिक्रम होता है, केवल सुख और समाधि अवशिष्ट रह जाती है । दोनों प्रकार के अन्तिम ध्यान में सुख का अतिक्रम होता है । अन्तिम ध्यान की समाधि उपेक्षा-सहगत होती है ।[1]

विसुद्धिमग्ग में प्रज्ञा को विपस्सना के माध्यम से स्पष्ट किया गया है । वहाँ कुशलचित्त से युक्त विपश्यना-ज्ञान को प्रज्ञा कहा है । आलम्बन को जानना मात्र संज्ञा है । उसके लक्षण को जानना विज्ञान है तथा मार्ग का ज्ञान होना प्रज्ञा है । प्रज्ञा चरम उपलब्धि है । इसके स्वरूप को हेरञ्ञिक (सराफ) के उदाहरण से समझाया गया है । एक अबोध बालक कार्षापण के चित्र-विचित्र रूप को ही जानता है, पर ग्रामीण उसे उपभोग-परिभोग के साधन के रूप मे भी समझता है । इन दोनों से भी अधिक ज्ञान हेरञ्ञिक को है जिसे कार्षापण के उक्त दोनों रूपों के साथ ही उसके चोखे, खोटे होने का भी सम्यग्ज्ञान है । प्रज्ञा की भी यही स्थिति है । वह आलम्बन के आकार और लक्षण का ज्ञाता होने के साथ ही मार्ग का भी ज्ञाता होता है । इसीलिए प्रज्ञा का प्रयोग प्रजानन के अर्थ में हुआ है ।

प्रज्ञा के भेद अनेक प्रकार से किये गये हैं । प्रज्ञा स्वत. एक प्रकार की है । लौकिक और लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार की है । चिन्ता, श्रुत और भावना के भेद से उसके तीन प्रकार हैं तथा चार आर्यसत्यों के ज्ञान और चार प्रतिसम्भिदा से वह चार प्रकार की है । स्कन्ध, धातु, आयतन, इन्द्रिय, सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि के सम्यक्चित्त ज्ञान से प्रज्ञा का विकास होता है । प्रज्ञा के इस विकसित रूप से आश्रवों का क्षय होता है ।

विपस्सना प्राप्ति के लिए तथा कर्मस्थान के अभ्यास के लिए यह आवश्यक है कि साधक पदार्थ के स्वरूप को भलीभाँति समझे । बौद्धधर्म की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ अनित्य, दुःख और अनात्मक है—यदनिच्चं तं दुक्खं, यं दुक्खं तदनत्ता, यदनत्ता, तन्न मम यथा भूतं ।

१. अनित्य का लक्षण—पदार्थ अनित्य है । पञ्चस्कन्ध भी अनित्य हैं । पञ्चस्कन्ध रूप पदार्थ मे उत्पाद, व्यय, और परिवर्तन दिखाई देते हैं । उसे सत्त, पुग्गल अथवा जीव कहा जा सकता है ।

---

१. बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ. ४१–५५, देखिये पीछे "बौद्धधर्म में ध्यान का स्वरूप" प्रकरण ।

२. अनित्य का लक्षण—उपादान स्कन्ध दुःख रूप माने गये हैं। रूप वेदना, संज्ञा संस्कार एवं विज्ञान ये पाञ्चस्कन्ध हैं। रूप निष्पन्न और अनिष्पन्न दो प्रकार का है। निष्पन्न रूप अठारह हैं—चार भूत रूप (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु), पाँच प्रसाद रूप (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय), चार विषय (रूप, शब्द, गन्ध, रस), दो भाव (स्त्रीत्व और पुरुषत्व), एक हृदय, एक जीवितेन्द्रिय और एक कवलिङ्कारहार, और अनिष्पन्न रूप दस हैं—एक परिच्छेद (आकाशधातु), दो विज्ञप्ति रूप (काय और वची विज्ञप्ति), तीन विकार रूप (लघुता, मृदुता, कर्मण्यता), चार लक्षण रूप (उपचय, सन्तति, जरता, अनित्यता)।

विज्ञान जानने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। विज्ञान, चित्त मन ये इसके समानार्थक शब्द हैं। कुशल, अकुशल और अव्याकृत ये वेदना के तीन भेद है। कुशलभूमि के चार भेद हैं—कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर। अकुशल तीन प्रकार का है—लोभ, द्वेष और-मूल। अव्याकृत के दो भेद हैं—विपाक और क्रिया। कुल मिलाकर २१ कुशल, १२ अकुशल, ३६ विपाक, और २० क्रिया—सभी नवासी विज्ञान होते हैं। ये प्रतिसन्धि, भवाङ्ग, आवर्जन आदि चौदह प्रकार स प्रवर्तित होते हैं।

वेदना अनुभवात्मक होती है। उसके सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य और उपेक्षा ये पाँच भेद हैं। संज्ञा पहचानने रूप होती है। वह कुशल, अकुशल और अव्याकृत के भेद से तीन प्रकार की है। संस्कार राशि रूप हैं। उसके ३६ प्रकार हैं—स्पर्श, चेतना, वितर्क, विचार, प्रीति, वीर्य, जीवित, समाधि, श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अमोह कायप्रश्रब्धि, चित्तप्रश्रब्धि, कायलघुता, चित्तलघुता, कायमृदुता, कायकर्मण्यता, चित्तकर्मण्यता, कायप्रागुण्यता, चित्तप्रागुण्यता, एवं कायऋजुता, ये २७ संस्कार स्वरूपतः आये हुए, छन्द, अधिमोक्ष, नमस्कार, तत्रमध्यस्थता ये चार संस्कार येवापनक, करुणा, मृदुता, काय-वाक्-मिथ्या-आजीव से विरति, ये ५ अनियत संस्कार संस्कार को अभिधम्म में संचेतना तथा चेतना कहा गया है।

३. अनत्त का लक्षण—आत्मा (अनत्त) नाम का कोई पदार्थ नहीं। उसकी प्रतीति भ्रम मात्र है। अभिधानप्पदीपिका में अत्त शब्द के चार अर्थ दिये हैं—चित्त, काय, स्वभाव, और परमत्त चित्ते काये स्वभावे च सो अत्ता परमत्तनि। सम्भव है, यहाँ अनत्त शब्द का अर्थ मेरा नहीं अथवा क्षणभंगुर रहा हो।

विपस्सना की प्राप्ति के लिए साधक को आयतन, धातु तथा इन्द्रियों का भी समुचित ज्ञान होना चाहिए। आयतन १२ हैं—चक्षु, रूप, श्रोत, शब्द, घ्राण, गन्ध, जिह्वा, रस, काय, स्पर्श, मन और धर्म। धातु १८ हैं—चक्षु,

प्रत्यवेक्षण करे। अन्न, पेय, खादनीय, भोजन एक द्वार से प्रवेश कर नव द्वारों से निकलता है।[१] "आहार में प्रतिकूल संज्ञा" में संलग्न भिक्षु का चित्त रस-तृष्णा से वियुक्त हो जाता है। उसके पाँच काम-गुण सम्बन्धी राग दूर हो जाता है। फलतः योगी भिक्षु रूपस्कन्ध का परिज्ञानकर कायगता स्मृति की भावना में परिपक्वता प्राप्त करता है। इसके बाद वह चातुर्धातु के स्वभाव पर विचार करता है। इस विचार से उसे शून्यता का ज्ञान हो जाता है। सत्त्व की अस्तित्वहीनता का भान होने से भय, अरति, रति, खेद, इष्ट, अनिष्ट, हर्ष आदि को सहने की शक्ति उसमे बढ़ जाती है। सुगति प्राप्ति का यही मार्ग है। इस प्रकार समाधि की भावना भाने से उपचार और अर्पणा, दोनों समाधियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

(ड) विपस्सना भावना

बौद्ध साधना में समाधि भावना (चित्त की एकाग्रता) और विपस्सना भावना (अन्तर्ज्ञान) का विशेष महत्त्व है। विपस्सना का तात्पर्य है वह विशिष्ट ज्ञान और दर्शन जिनके द्वारा धर्मों की अनित्यता, दुःखता और अनात्मता प्रगट होती है—अनिच्चादिवसेन विविधाकारेन पस्सतीति विपस्सना (अभिधम्मत्थसंगह टीका)। विपस्सना सङ्खारपरिग्गाहकञाणं (अंगुत्तरनिकायट्ठकथा, बालवग्ग, सुत्त ३)। विसुद्धिमग्ग में भी कहा है—सङ्खारे अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो विपस्सति।

मुक्ति प्राप्ति के दो यान हैं—शमथयान और विपस्सनायान। इनका सम्बन्ध दो प्रकार के व्यक्तियों से है—तण्हाचरित और दिट्ठिचरित। तण्हाचरित वाले शमथपूर्वक विपस्सना के माध्यम से अर्हत् की प्राप्ति करते हैं और दिट्ठिचरितवाले विपस्सना पूर्वक शमथ के माध्यम से अर्हत् की प्राप्ति करते हैं। यहाँ श्रद्धा और प्रज्ञा तत्त्व का महत्त्व है। श्रद्धा तत्त्व के माध्यम से समाधि की प्राप्ति होती है। ऐसा साधक कर्मस्थान का अभ्यास करते हुए, ऋद्धियों की प्राप्ति पूर्वक विपस्सना मार्ग की उपलब्धि करता है और प्रज्ञा प्राप्ति कर अर्हत् बनता है। प्रज्ञाप्रधान साधक विपस्सना मार्ग का अभ्यास करता है और अन्त में प्रज्ञा-प्राप्त कर अर्हत् प्राप्ति करता है। इससे स्पष्ट है कि विपस्सना का सीधा सम्बन्ध अर्हत्प्राप्ति एवं निर्वाणप्राप्ति से है। समाधि का उनसे सीधा सम्बन्ध नहीं। शमथ

---

१. अन्नं पानं खादनीयं भोजनञ्च महारहं।
एकद्वारेन पविसित्वा नवहि द्वारेहि सन्दति॥ विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद ११.

से रहित वीथि में प्रतिपन्न विपश्यनाज्ञान मार्ग है, ऐसे मार्ग और अमार्ग का निरूपण करता है।

६. प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि—उपक्लेश से रहित, विधि में लगे हुए विपश्यना वाले उदय-व्यय, भङ्ग, भयतोपस्थान, आदीनव, निर्वेद, मुञ्चितुकम्यता, प्रतिसंख्या और संस्कारोपेक्षा, इन आठ ज्ञानों का जानकार योगी को अवश्य होना चाहिए। इनके अतिरिक्त सत्य का अनुलोमात्मक नवां ज्ञान भी उसे होना चाहिए। यह ज्ञान होने पर योगी अनिमित्त, अप्रणिहित और शून्यता इन तीन विमोक्षसुख को प्राप्त करता है।

७. ज्ञानदर्शनविशुद्धि—स्रोतापत्ति, सकदागामी, अनागामी और अर्हत्, इन चार मार्गों का ज्ञान ज्ञानदर्शन विशुद्धि है। इसके लिए बोधिपक्षिकधर्मों का परिपूर्ण होना, उत्थान और बल का समायोग, प्रहातव्यधर्म और उनका प्रहाण (संयोजन, क्लेश, मिथ्यात्व, लोकधर्म, मात्सर्य, विपर्यास, ग्रन्थ, अगति, आस्रव, ओघ, योग, नीवरण, परामर्श, उपादान, अनुशय, मल, अकुशल कर्मपथ, अकुशल चित्तोत्पाद), तथा परिज्ञा आदि कृत्य की परिपूर्ण जानकारी होनी चाहिए।

विपश्यना प्राप्त योगी के सात सोपान हैं—श्रद्धाविमुक्त, कायसाक्षी, उभतोभागविमुक्त, धर्मानुसार ही, दृष्टि प्राप्त और प्रज्ञाविमुक्त। उनका विभाजन संस्कारोपेक्षा ज्ञान पर आधारित है।

(ख) पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति

सप्त विशुद्धियों की प्राप्ति से योगी का ज्ञान विशुद्ध हो जाता है और उसके समस्त आस्रवों का क्षय हो जाता है। विपश्यना का यही परिपाक है। चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति हो जाने पर साधक ऋद्धिविध, दिव्यश्रोत्र, चेतोपर्यज्ञान, पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञान, तथा सत्वों की च्युति-उत्पत्तिज्ञान का अनुभव करता है।

ऋद्धिप्राप्ति—विसुद्धिमग्ग मे दस ऋद्धियों का उल्लेख है—अधिष्ठान, विकुर्वण, मनोमय, ज्ञानविस्फार, समाधिविस्फार, आर्य, कर्मविपाकज, पुण्य, विद्यामय, और सम्यग्प्रयोग। पटिसम्भिदामग्ग में भी इनका वर्णन आया है। छन्द, वीर्य, चित्त और मीमांसा, ये ऋद्धि के चार पाद विशारदता की प्राप्ति की दिशा म योगी को आगे बढ़ाते हैं। आलस्य, औद्धत्य, राग, द्वेष, निश्रय, प्रतिबन्ध, कामराग, क्लेश आदि सोलह कारणों मे चित्त प्रकम्पित हो जाता है। अत: ऐसे कारणों को दूर रखना चाहिए और उनपर विजय प्राप्त करना चाहिए।

त्रिपिटक, अट्ठकथाओं तथा विसुद्धिमग्ग आदि ग्रन्थों में विभिन्न ऋद्धियों का वर्णन किया गया है—एक से अनेक होना, प्रगट और अन्तर्धान होना, दीवाल, प्राकार, गृह, विहार, पर्वत आदि के पार जाना, पृथ्वी में गोता लगाना,

रूप, चक्षु विज्ञान, श्रोत्र, शब्द, श्रोतविज्ञान, घ्राण, गन्ध, घ्राणविज्ञान, जिह्वा, रस, जिह्वाविज्ञान, काय, स्पर्श, कायविज्ञान, मन, धर्म, और मनोविज्ञान। इन्द्रियाँ २२ हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा काय, मन, स्त्री, पुरुष, जीवित, सुख, दु:ख सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा अनज्ञात, आज्ञा और आज्ञात।

योगी को चार शब्दों का ज्ञान भी अपेक्षित है। चतुरार्यसत्य बौद्धधर्म की आधारशिला है। दु:ख, दुखसमुदय, दु:खनिरोध और दु:खनिरोधगामिनीप्रतिपदा ये चार आर्यसत्य हैं। जरा, मरण, शोक, परिदेव, दु:ख, दौर्मनस्य, उपायास, अप्रिय का सम्प्रयोग, प्रिय का वियोग इत्यादि दु:ख हैं। तृष्णा, अविद्या आदि के कारण दु:ख की उत्पत्ति होती है। दु:ख की उत्पत्ति के कारणों का निरोध होने से दु:खनिरोध होता है। इस दु:खनिरोध का उपाय है सम्यक् दृष्टि-संकल्प-वचन-कर्मान्त-आजीव-व्यायाम-स्मृति-समाधि रूप आष्टाङ्गिक मार्ग का पालन।

इसी सन्दर्भ मे प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान भी आवश्यक है। इसका समावेश चतुरार्यसत्य में हो जाता है। परन्तु इसका विशेष महत्त्व होने के कारण पृथक् वर्णन ही प्राय: किया गया है। प्रतीत्यसमुदाय का तात्पर्य है कारण पूवक उत्पत्ति होना और निरोध होना। अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप, नामरूप के प्रत्यय से षडायतन, षडायतनों के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति (जन्म), जाति के प्रत्यय से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दु:ख, दौर्मनस्य, उपायास उत्पन्न होते हैं। यह दु:खसमुदय का अनुलोमात्मक ज्ञान है। इसी प्रकार दु:ख निरोध का भी ज्ञान होना चाहिए। प्रत्ययों की संख्या २४ बतायी गई है—हेतु, आलम्बन, अधिपति, अनन्तर, समानन्तर, सहजात, अन्योन्य, निश्रय, उपनिश्रय, पुरेजात, पश्चात्जात, आसेवन, कर्म, विपाक, आहार, इन्द्रिय, ध्यान, मार्ग, सम्प्रयुक्त, विप्रयुक्त, अस्ति, नास्ति, विगत और अविगत। प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्धधर्म का कर्म सिद्धान्त है। उसका सम्यग्ज्ञान होने पर निर्वाण सद्य:प्राप्त हो जाता है।

(ढ) विपस्सना और सत्तविसुद्धि

विसुद्धिमग्ग के अनुसार चित्त और ज्ञान की परम विशुद्धि निर्वाण-प्राप्ति का मूल कारण है। रथविनीतसुत्त (मज्झिम निकाय) में निम्न सात प्रकार की परिशुद्धियाँ निर्दिष्ट हैं जिनके पालने से 'अनुपादा परिनिर्वाण' की प्राप्ति होती है—सीलविसुद्धि, चित्तविसुद्धि, दिट्ठिविसुद्धि, कांखावितरणविसुद्धि,

समागत बोधिसत्व उसके परिमण्डल में बैठ जाते हैं। उसके कायों से उत्थित महारश्मियों से साधक बोधिसत्व का अभिषेक होता है। तदनन्तर वह महाज्ञान से परिपूर्ण होकर धर्मचक्रवर्ती बन जाता है और संसारियों का उद्धार करना प्रारम्भ कर देता है। उक्त भूमियों में क्रमशः दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपाय कौशल, प्रणिधान, बल और ज्ञान पारमितायें प्रधान रहती हैं। इन भूमियों को जैन परिभाषा में गुणस्थान कहा जा सकता है।

महायानी साधक का तृतीय रूप है, त्रिकायवाद। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद बुद्ध अवेणिक आदि धर्मों से परिमण्डित हो जाते हैं और संसारियों के उद्धार करने का कार्य बुद्धकाय के माध्यम से प्रारम्भ कर देते हैं। बुद्धकाय अचित्तता एवं शून्यता धर्मों का एकाकार रूप है। कायभेद से उसके तीन भेद हैं— स्वभावकाय, सम्भोगकाय, और निर्माणकाय। स्वभावकाय बुद्धकी विशुद्धकाय का पर्यायार्थक है।[1] ज्ञान की सत्ता को स्वभावकाय से पृथक् मानकर काय के चतुर्थ भेद का भी उल्लेख मिलता है। इस भेद को ज्ञान धर्मकाय कहा गया है। इसका फल है—मार्गज्ञता, सर्वज्ञता और सर्वाकारज्ञता की प्राप्ति। स्वभावकाय और ज्ञानधर्मकायके संयुक्तरूप को ही धर्मकाय की संज्ञा दी गई है। सम्भोगकाय के माध्यम से बुद्ध विभिन्न क्षेत्रों मे देशना देते हैं, अतः उनकी संख्या अनन्तानन्त भी हो सकती है। निर्माणकाय के द्वारा इहलोक मे जन्म लिया जाता है। बुद्ध इन त्रिकायों द्वारा परमार्थकार्य करते हैं—

करोति येन चित्राणि हितानि जगतः समम्।
आभवान् सोऽनुपच्छिन्नः कायो नैर्माणिको मुनेः ॥[2]

तन्त्रिक साधना—

साधारणतः तान्त्रिक साधना के बीज त्रिपिटककालीन बौद्धधर्म में मिलने लगते हैं पर उसका व्यवस्थित रूप ईसा पूर्व लगभग द्वितीय शताब्दी से उपलब्ध होने लगता है। गुह्यसमाज आदि तन्त्रों का अस्तित्व इसका प्रमाण हैं। सुचन्द्र, इन्द्रभूमि, राहुलभद्र, मैत्रेयनाथ, नागार्जुन, आर्यदेव आदि आचार्यों की परम्परा बौद्ध तान्त्रिक साधना से जुड़ी हुई है। श्रीधान्यकूट, श्रीपर्वतः, श्रीमलयपर्वत आदि इसी साधना से सम्बद्ध हैं।

---

१. Tibetan Yoga, लेखक—W. Y. Evams. Wentz,
Buddhism is Tibet, लेखक—सुशील गुप्त आदि ग्रन्थ।
२. Japani Buddism Essays in Zen Buddhism आदि ग्रन्थ।

जल पर चलना, आकाश से जाना, चन्द्र सूर्य का स्पर्श करना, ब्रह्मलोकगमन, दूर को पास करना, बहुत को थोड़ा करना, थोड़े को बहुत करना, प्रभृति। इनमें कुछ विकुर्वण और कुछ मनोमय ऋद्धियाँ हैं।

अभिज्ञाप्राप्ति—अभिज्ञा की प्राप्ति ज्ञान की पूर्णता का प्रतीक माना जाता है। दीघनिकाय में षड् अभिज्ञाओं का वर्णन मिलता है। त्रिपिटक में विविध प्रसंगों पर इनका विविध रूप से निर्देश हुआ है। विशेष रूप से अभिज्ञा की वहाँ दो सूचियाँ मिलती हैं। प्रथम को प्रज्ञा कहा है जो समाधि से सम्बन्धित है। वे ५ हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। ये बोधिसत्त्वों और साधारण ऋषियों द्वारा भी प्राप्य हैं। दूसरी विषय सूची में षड्अभिज्ञायें हैं। जो विपश्यना से सम्बन्धित हैं उनकी प्राप्ति आस्रवक्षयजन्य है। इसे अर्हत् साधना भी कहा है। इन अभिज्ञाओं को साक्षात्कार (सच्छिकातब्ब) किया जाता है। प्रथमा ऋद्धि अथवा अभिज्ञा ऋद्धिविध का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त २. दिब्बसोतधातु, ३. चेतोपरिञ्ञाण, और ४. पुब्बेनिवासानुस्सतिञाण हैं। चतुर्थ ज्ञान के अन्तर्गत संवर्त और विवर्त का परिज्ञान भी सम्मिलित है। संवर्तकल्प में प्रलय और बुद्धक्षेत्रों का ज्ञान तथा विवर्तकल्प में सृष्टि का ज्ञान अन्तर्भूत है। पञ्चम अभिज्ञा सत्त्वों की च्युति और उत्पत्ति का ज्ञान (सत्तानं चुतूपपातञाण) है। इसमें यथाकर्मोपगज्ञान और अनागतवंशज्ञान गर्भित है।

(त) समापत्ति और निर्वाण

विपश्यना की प्राप्ति और अभिज्ञा की उपलब्धि के उपरान्त योगी समापत्ति सुख का अधिकारी होता है। ध्यान समापत्ति, फलसमापत्ति, एवं निरोध समापत्ति के बाद योगी निर्वाण प्राप्त करता है। शरीर के रहने पर वह सोपधिशेष और शरीर नष्ट हो जाने पर निरूपधिशेष कहा जाता है।

निर्वाण (पालि निब्बान) भौतिक इच्छाओं की समाप्ति का सूचक है। यह निर्वाण का निषेधात्मक रूप है। उसका विधेयात्मक रूप मोक्ख, निरोध, सन्त, सच्च, सिव, अमत, ध्रुव सरण, परायण, अकन्त, खेम, केवल, पद, पणीत, अच्चुत, मुत्ति, विमुत्ति, सन्ति, विसुद्धि, निब्बुति आदि शब्दों में व्यक्त होता है।

निर्वाण की प्राप्ति योगी की चरम उपलब्धि है और समस्त क्लेशों का उपशमन उसका साध्य है। साधनायें उसके साधन हैं।

स्थविरवादी योग साधना का यह रूप हीनयान सम्प्रदाय में भी हीनाधिक रूप से प्रचलित रहा है। सिद्धान्तों और साधनाओं के विकास में स्थविरवाद के अतिरिक्त हीनयान के अन्य सम्प्रदायों में विकास के सोपान द्रष्टव्य हैं। उनकी चरम परिणति महायानी साधना में दिखाई देती है।

२. महायानी साधना

स्थविरवादी (हीनयानी) साधना में साधक आत्मकेन्द्रित रहता है पर महायानी साधना इस सीमा को स्वीकार नहीं करती। उसमें तो साधक बहुमुखी व्यक्तित्व सम्पन्न और लोकपरायण हो जाता है। बौद्ध साधना का यह आध्यात्मिक क्रान्तिकारी दर्शन निःसन्देह आकर्षक, सुखदायक और अनुभूतिजनक था। उसकी लोकप्रियता का प्रधान कारण भी यही है।

महायानी विचारधारा के साथ ही उसकी साधना का उदय हुआ। यह समय ई० पू० की लगभग तृतीय शताब्दी निश्चित किया जा सकता है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापरमिता महायानी साधना का सम्भवतः आद्यग्रन्थ होगा। उसके बाद तो महावस्तु, दिव्यावदान, अवदानशतक, बोधिचर्यावतार, शिक्षा-समुच्चय आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सृजन हुआ। विज्ञानवाद और शून्यवाद नाम की दो शाखाओं में उसका विभाजन किया गया। इन दोनों शाखाओं में नागार्जुन, आर्यदेव मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, अर्चट और शान्तरक्षित प्रधान हैं।

महायानी साधना के प्रमुखतः तीन भेद हैं—बोधिचित्त के द्वारा पारमिताओं की प्राप्ति, दशभूमियां तथा त्रिकायवाद। महायानी साधना को बोधिसत्वसाधना भी कहा गया है।

बोधिसत्व—साधना में बोधिसत्व समस्त विश्व का परोपकार और परित्राण करने का प्रणिधान करता है। यह प्रणिधान उसे अचित्तता अथवा परार्थचित्तता की स्थिति में लाकर खड़ा कर देता है। अचित्तता के अन्तर्गत महाकरुणा और महाप्रज्ञा का समन्वित रूप विद्यमान रहता है। बुद्धत्व की प्राप्ति का यह आधार स्तम्भ है। अचित्तता का सामान्यतः अर्थ पदार्थ के अस्तित्व को अस्वीकार करना अथवा उसे शून्य मानना है या यही शून्यतामयी दृष्टि महायान की विशेषता है। उपायकौशल तथा पुण्यसंभार और ज्ञानसंभार से से इस दृष्टि में अधिक विशुद्धि आती है। पुण्यसंभार की प्राप्ति कुशलकर्मों की विशेषता तथा अकुशल कर्मों की निरोधता अथवा प्रहाणता पर निर्भर है। दृढ़ अध्यवसाय और दृढ़ आशय इसके लिए अपेक्षित हैं। ज्ञानसंभार की उपलब्धि असंगता, निःस्वभावता एवं नैरात्म्य चिन्तन पर आधारित है। प्रज्ञापारमिता ज्ञानसंभार है और दान, शील, क्षान्ति, वीर्य एवं ध्यान पारमितायें पुण्य संभार

तन्त्र साधना का प्रमुख लक्ष्य दैवी शक्तियों को वश में करके बुद्धत्व प्राप्ति करना है। इसमें प्रायः किसी शक्ति विशेष की उपासना की जाती है और उसे अत्यन्त गोपनीय रखा जाता है। इससे अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। आटानाटीयसुत्त में इस प्रकार के अलौकिक प्रदर्शन दिखाई देते हैं। वैसे मूल बौद्धधर्म में मन्त्र, जप अथवा प्रतिष्ठा का कोई भी उल्लेख नहीं है पर वहाँ बुद्ध की चार ऋद्धियाँ अवश्य बताई गई हैं। छन्द (इच्छा), वीर्य (प्रयत्न), चित्त (विचार) तथा वीमंसा (परीक्षा)। इसके अतिरिक्त प्राण एवं चित्त के साधन भी बताये गये हैं। इन्हीं भावनाओं एवं विकसित अवस्थाओं को यहां विभिन्न नाम दे दिये गये हैं। उनमें तन्त्रयान, वज्रयान, मन्त्रयान, सहजयान प्रमुख हैं।

तान्त्रिक साधना के अनुसार दुष्कर और तीव्रतप की साधना करनेवाला सिद्धि नहीं पाता। सिद्धि वही पाता है जो यथेष्ट कामोपभोगों के साथ साधना भी करे। यही उसका योग है।[1] साधना की दृष्टि से तन्त्रों के चार भेद हैं - क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर योग। क्रियातन्त्र कर्मप्रधान साधना है। इसमें धारणी तन्त्रों का समावेश हो जाता है। यहाँ बाह्य शारीरिक क्रियाओं का विशेष महत्त्व है। चर्यातन्त्र समाधि से सम्बधित है। वैरोचन अभिसम्बोधि नामक ग्रन्थ में इस साधना का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। सनैमित्तक एवं अनैमित्तिक योग इसके विशिष्ट प्रकार हैं। योगतन्त्र में महामुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा और कर्ममुद्रा योग अधिक प्रचलित हैं। अनुत्तरतन्त्र वज्रसत्त्वसमाधि का दूसरा नाम है। साधना की दृष्टि से इसके दो भेद हैं—मातृतन्त्र और पितृतन्त्र। इन तन्त्रों की विधियों में प्रधान हैं - विशुद्धयोग, धर्मयोग, मन्त्रयोग और संस्थानयोग। इनको वज्रयोग भी कहा जाता है।

तिब्बत और चीन में प्रचलित बौद्ध साधना

बौद्ध तान्त्रिक साधना भारत के बाहर अधिक लोकप्रिय हुई। तिब्बत, चीन और जापान ऐसे देश हैं जिनमें महायानी साधना का विकास अधिक हुआ है। तिब्बत में ईसा की सप्तम शताब्दी में सम्राट् स्रोङ्चन गम्पो के राज्यकाल में बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। थोनमी सम्भोट आदि अनेक तरुण

---

१. दुष्करै र्नियमस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्धयति
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्धयति।
सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानै र्यथेच्छतः
अनेन खलुयोगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात्॥
गुह्यसमाज, पृ० २७,

तिब्बत से भारत आये और आचार्य विमलमित्र आदि अनेक विद्वान भारत से तिब्बत पहुँचे। यहीं से तिब्बत में भाषा, लिपि, धर्म और साधना का प्रचार प्रारम्भ होता है। सम्राट् स्रोङ्चन स्वयं प्रथम धर्मज्ञ और तन्त्रज्ञ थे। उन्हीं के काल में 'मणिकाबुम' नामक तिब्बती साधना का ग्रन्थ लिखा गया।[1]

तिब्बती साधना की दो प्रणालियाँ हैं--पारमितानय और तान्त्रिकनय। पारमितानय में करुणा और प्रज्ञा का आधार होता है तथा तान्त्रिकनय में महाकरुणा का ही आधार होता है। इन साधनाओं से तिब्बती साधकों का मुख्य उद्देश्य वज्रपद प्राप्त करना बताया गया है। कुछ और भी साधनाएँ हैं। महामुद्रायोग, हठयोग, पञ्चाङ्गयोग, षड्योग, सहजयोग, उत्पत्ति-क्रमयोग, प्रत्याहारयोग आदि। लोकेश्वर, अक्षोभ्य, कालचक्र, लामाई नलजोर आदि नाम की साधनाएँ भी प्रचलित हैं।

जापान में प्रचलित बौद्ध साधना

सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की सप्तम शताब्दी में ही बौद्धधर्म जापान में सम्भवतः कोरिया से पहुँचा। वहां सम्राट् शोतोकु ने उसे अशोक के समान संरक्षण प्रदान किया। कालान्तर में जापान में बौद्धधर्म का पर्याप्त विकास हुआ और फलतः ग्यारह सम्प्रदाय खड़े हो गये—कुश (अभिधार्मिक) और जोजित्सु (अभिधार्मिक) थेरवादाश्रयी हैं तथा सनरान (शून्यतावादी) होस्सो (आदर्शवादी), केगोन (प्रत्येक बुद्धानुसारी), तेण्डई (प्रत्येक बुद्धानुसारी) , जेन (प्रत्येक बुद्धानुसारी), जोड़ो (सुखावती व्यूहानुसारी), शिशु (सुखावतीव्यूहानुसारी और निचिरेन (सद्धर्मपुण्डरीकानुसारी) । इन में शिंगोन, जेन और निचिरेन सम्प्रदाय साधना की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। ये सभी साधनायें भारत में प्रचलित बौद्ध साधना के समानान्तर अथवा किञ्चित् विकसित रूपान्तर लिये हुए हैं।[2]

बौद्ध योगसाधना के उक्त समग्ररूप[3] को देखने से यह स्पष्ट है कि वह मूल बौद्धधर्म की भित्ति पर प्रस्थापित एक योग प्रक्रिया है। उसका विकसित रूप तत्तद्देशीय संस्कृति और सभ्यता के तत्वों पर आधारित रहा है। भारतीय बौद्धेतर संस्कृतियों में स्वीकृत योगसाधना से भी बौद्धयोग साधना का आदान-प्रदान हुआ है। इसकी परिधि और विश्लेषण अभी शेष है। इस दृष्टि से पातिमोक्ख की सभी परम्पराओं का विशेष अध्ययन अपेक्षित है।

---

१. तिब्बतन योग, बुद्धिज्म इन तिब्बत आदि ग्रन्थ देखिये।

२. Japani Buddism Essays in Zen Buddhism

३. बौद्ध साधना का विकास, पृ. २३–७३

पातिमोक्ख की विभिन्न परम्परायें—पातिमोक्ख के नियमों की विभिन्न परम्परायें साहित्य में उपलब्ध होती हैं।[१]

	पाराजिक I	संघादिसेष II	अनियत III	निःसर्गिक IV	पाचि. V	प्रतिदे. VI	शैक्ष्य VII	अधिकरण. VIII	कुल
सर्वातिवादिन्	४	१३	२	१३	९०	४	११३	७	२६३
संस्कृत	"	"	"	"	"	"	"	"	२६३
विनय निदान सूत्र	"	"	"	"	"	"	"	"	२६३
सर्वास्तिवाद विनय	"	"	"	"	"	"	१०७	"	२५७
सर्वास्तिवाद विनय विभाषा	"	"	"	"	"	"	९१	"	२४१
मूल सर्वास्तिवादिन् और व्याख्या	"	"	"	"	"	"	९८	"	२४८
तिब्बतन	"	"	"	"	"	"	१०८	"	२५८
महाव्युत्पत्ति	"	"	"	"	"	"	१०५	"	२५५
धर्मगुप्त और टीका	"	"	"	"	"	"	११०	"	२५०
महीशासक और व्याख्या	"	"	"	"	९१	"	१००	"	२५१
काश्यपीय	"	"	"	"	९०	"	९६	"	२४६
उपालि परिपृच्छा	"	"	(२)	"	९२	"	७२	(७)	(२२४)
सूत्र			...				...	...	२१५
पालि	"	"	२	"	"	"	७५	७	२२७
महासांघिक	"	"	"	"	"	"	६६	"	२१८

१. A comparative study of the pratimoksa, pichow Ph. D., शान्तिनिकेतन, १९५५।

रचना काल—प्रातिमोक्ष के इन नियमों की संख्या से यह स्पष्ट है कि सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में भिक्षु नियमों की संख्या सर्वाधिक थी–२६३ और महीसांघिकों में सबसे कम थी–२१८। बुद्ध के समय में इनमें से कितने नियम प्रचलित थे, कहना कठिन है। इनके सन्दर्भ में सुत्तविभंग में जो कथायें दी गई हैं वे प्राय: कल्पनात्मक मानी गई हैं। पर उनमें तथ्यांश तो अवश्य होना चाहिए। पालि प्रातिमोक्ष से सम्बद्ध घटनाओं ने ही पातिमोक्ख का निर्माण किया है। अत: इसकी रचना में एक नहीं, अनेक भिक्षुओं का हाथ है। अशोक के समय तक पातिमोक्ख स्थिर हो चुका होगा क्योंकि भाब्रू शिलालेख में जिन सात ग्रन्थों का उल्लेख है, उनमें विनय समुकस का प्रथम स्थान है। इसका सम्बन्ध पातिमोक्ख से ही होना चाहिए। अत: पातिमोक्ख की रचना की ऊपरी सीमा ५०० ई. पू. और निचली सीमा २५० ई. पू. मानी जा सकती है।

पातिमोक्ख का उद्भव और विकास—पातिमोक्ख का उद्भव परम्परानुसार विपस्सी से माना जा सकता है। उनके कथन को ही आगे के बुद्धों ने दुहराया है। पञ्ञत्ति कथा में पूछा गया है कि विपस्सी आदि तथागतों के समक्ष ब्रह्मचर्य चिरकाल तक क्यों नहीं ठहरा? भगवान् बुद्ध ने इसका उत्तर दिया कि उन लोगों ने श्रावकों को विस्तार से उपदेश दिया, संक्षेप से नहीं। अत: तथागतों के अन्तर्धान हो जाने पर वह सब विस्मृत हो जाता था। प्रातिमोक्ष भी नहीं बताया जाता था। तब सारिपुत्त ने भगवान् से संक्षेप में शिक्षापदों एवं प्रातिमोक्ष सूत्रों को बताने का आग्रह किया। प्रस्तुत पालि पातिमोक्ख उसी परम्परा पर आधारित है। वैसे इसका प्रादुर्भाव विपस्सी की निम्न गाथाओं मे खोजा जा सकता है।

> खन्ति परमं तपो तितिक्खा
> निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा।
> सब्बा पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
> सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥

पातिमोक्ख का विकास संगीतियों के माध्यम से हुआ है। भाषा और संस्कृति की विभिन्नता भी इसमे एक बड़ा कारण रहा होगा। इसी सन्दर्भ में स्वर्ण आदि रखने के १० नियमों की कहानी भी जुड़ी है। रजत और स्वर्ण का विधान यश ने संगीति में उठाया था जो मान्य कर लिया गया था। यह नि:सर्गिक–पात्यन्तिक का १८ वां नियम है। महासांघिकों के शेष ९ नियमों का कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। सम्भव है वे ९ नियम उत्तरकालीन रहे हों।

१. महावग्ग, (रोमन), भाग २, ३. २.

द्वितीय संगीति में महादेव के सिद्धान्त भी इसी प्रकार के विघटन के कारण बने। अत: लगता है, आचार की अपेक्षा विचार वैभिन्न्य संघभेद का मूल कारण रहा होगा। लोकोत्तरवाद, सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, आदि सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव भी विचारों की विविधता की पृष्ठभूमि में ही हुआ है।

पातिमोक्ख का संकलन क्रमिक रूप से नहीं हुआ बल्कि अपराधों की गम्भीरता के आधार पर हुआ है। सबसे बड़ा अपराध पाराजिक है जिसके कारण भिक्षु संघ से निष्कासित कर दिया जाता है। इसी प्रकार उससे कम गम्भीर अपराध क्रमश: संघादिशेष, अनियत, नि:सर्गिक-पात्यन्तिक, प्रातिदेशनीय, शैक्ष और अधिकरणशमथ। पर यह निष्कर्ष भी सही नहीं क्योंकि अनियत, शैक्ष और अधिकरणशमथ नियम परिस्थितियों आदि पर निर्भर करते हैं। शायद यही कारण है कि अन्य सम्प्रदायों में पातिमोक्ख के नियमों का यही क्रम नहीं रखा गया।

वर्ग विभाजन—पातिमोक्ख के नियमों को वर्गों में भी विभाजित कर दिया गया है। भिक्खु पातिमोक्ख का वर्ग विभाजन इस प्रकार है। पाराजिक, संघादिशेष और अनियत में कोई वर्ग नहीं। निस्सग्गिय-पाचित्तिय में ३ वर्ग हैं—

१. चीवरवग्ग (१०), २. कोसियवग्ग (१०), और ३. पत्तवग्ग (१०)। पाचित्तिय में ६ वर्ग हैं—१. मुसावादवग्ग (१०), २. भूतगामवग्ग (१०), ३. भिक्खुनोवादवग्ग (१०), ४. भोजनवग्ग (१०), ५. अचेलकवग्ग (१०), ६. सुरापानवग्ग (१०), ७. सप्पाणकवग्ग (१०), ८. सहधम्मिकवग्ग (१२), और ९. रतनवग्ग (१०)। पाटिदेसनीय में कोई वर्ग नहीं। सेखिय में ७ वर्ग हैं—१. परिमंडलवग्ग (१०), २. उज्जग्घिकवग्ग (१०), ३. खम्भकवग्ग (१०), ४. सक्कच्चवग्ग (१०), ५. कबलवग्ग (१०), ६. सुरुसुरुवग्ग (१०), और ७. पादुकावग्ग (१५)। अधिकरणसमथ में कोई वर्ग नहीं।

भिक्खुनी पातिमोक्ख—में पाराजिक और संघादिशेष में वर्ग विभाजन नहीं है। निस्सग्गिय-पाचित्तिय मे ३ वर्ग हैं—१. पत्तवग्ग (१०), २. चीवरवग्ग (१०), और जातरूपवग्ग (१०)। पाचित्तिय में १६ वर्ग हैं—१. लसुनवग्ग (१०), २. रत्तन्धकारवग्ग (१०), ३. नग्गवग्ग (१०), ४. तुवट्टवग्ग (१०), ५. चित्तागारवग्ग (१०), ६. आरामवग्ग (१०), ७. गब्भिनीवग्ग (१०), ८. कुमारिभूतवग्ग (१३), ९. छत्तवग्ग (१३), १०. मुसावादवग्ग (१०), ११. भूतगामवग्ग (१०), १२. भोजनवग्ग (१०), १३. चरित्तवग्ग (१०), १४. जोतिवग्ग (६), १५. दिट्ठिवग्ग (११), और १६. धम्मिकवग्ग (१०)।

इन दोनों प्रातिमोक्षगत नियमों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भिक्षुओं और भिक्षुणियों के नियमों के विधानक्रम में एकरूपता अथवा समान क्रम नहीं रखा गया है। मूलसर्वास्तिवाद सम्प्रदाय में यह विभाजन अधिक वैज्ञानिक है। अन्य सम्प्रदायों में भी क्रमवैभिन्न्य है। यह ठीक भी है, क्योंकि उत्तरकाल में हर सम्प्रदाय के अपने-अपने केन्द्र बन चुके थे। जैसे सर्वास्तिवाद कश्मीर में, महासांघिक पाटलिपुत्र में, स्थविरवाद राजगृह में। विशेष रूप से बौद्ध धम्मों में विभिन्नता आना स्वाभाविक थी। इसका कारण था, जैसा ऊपर कह दिया गया है, उस समय स्थविर नियमों के अर्थों में और परम्पराओं में परिवर्तन कर रहे थे। भाषा और संस्कृति की विविधता भी इसमें कारण थी। विनीतदेव (८ वीं शती) ने लिखा है कि सर्वास्तिवादी संस्कृत महासांघिक प्राकृत, सम्मितीय अपभ्रंश और स्थविरवादी सम्प्रदाय पैशाची का उपयोग किया करते थे। शैक्षधर्म कभी भी नियतसंख्यक नहीं रहे। उनमें यथासमय लोकव्यवहार की दृष्टि से परिवर्धन होता रहा है। सामान्यतः भिक्षुशीलनिर्देश से प्रातिमोक्ष का विकास मानने पर उपोसथ आदि का विकासक्रम भी संगत बन जाता है।

अन्य विनय नियमों का प्रभाव--बौद्ध विनय पर जैन और वैदिक विनय का पर्याप्त प्रभाव रहा है। प्रातिपक्ष विनयपाठ जीवन की शुद्धि के लिए किया जाता था। इसके लिए भिक्षु–भिक्षुणी को संघ के समक्ष जाना आवश्यक था पर कुछ ऐसे भी उद्धरण मिलते हैं जहां अपवित्र अथवा पापकृत भिक्षु को संघ में इस निमित्त प्रवेश नहीं दिया गया।[१] जैनविनय में प्रायश्चित आदि की विधि इस सन्दर्भ मे स्मरणीय है।

पंचशील बौद्धों में बहुत प्रचलित है। पर वह केवल उसी की सम्पत्ति नहीं। जैन और वैदिक सम्प्रदाय मे भी लगभग उसी प्रकार के आचार का विधान है। जैनधर्म के पांचव्रत तो बिलकुल वैसे ही हैं---अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। बुद्ध बहुत भी पूर्व उनका विधान जैन धर्म में हो चुका था।[२] वर्षावास का विधान जैन भिक्षुओं में स्वीकृत विधान के आधार पर हुआ ही था। खान-पान आदि सम्बन्धी विधान भी इसी प्रकार हैं जो जैन विनय से भावित रहे हैं। संघ विधान भी मिलता-जुलता सा है। इसका विशेष अध्ययन आगे प्रस्तुत किया जायगा।

---

१. महापदान सुत्त, ३–२८

२. देखिए लेखक का प्रबन्ध—Jainisn in Buddhist Literature.

बौद्ध विनय सम्बन्धी प्राचीन साहित्य

बौद्ध विनय (पातिमोक्ख) पर पालि, संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में बहुत साहित्य लिखा गया है। उसका किञ्चित् विवरण निम्न प्रकार है—

स्थविरवाद (पालि) विनयपिटक—सं० Oldenberg, ५ भाग, P. T. S., लन्दन आदि १८७६–१८७३। अंग्रेजी में अनुवादित—I. B. Horner, ६ भाग, P. T. S., १९३८–५२। नागरी संस्करण–सं० भिक्षु जगदीश कश्यप, १९५६, हिन्दी अनु. राहुल सांकृत्यायन, सर्वास्तिवादी विनय पिटक–(संस्कृत) प्रातिमोक्ष, सं० Finot, JA., १९१३, Waldschmidt भिक्षुप्रातिमोक्ष, Leipzig, १९२६, Rosen (विनयविभंग), Berlin, १९५६, Hartel (विनयवस्तु: कर्मवाचना), Berlin, १९५६, Ridding, (विनयवस्तु, भिक्षुणी कर्मवाचना), JA. १९३८, Rouren ने विनयोत्तरग्रन्थ की उपालिपरिपृच्छा को भी सम्मिलित किया है। सर्वास्तिवादिन्—(चीनी) T. १४३५, T. १४३६, T. १४३७ और T. १४४१। मूलसर्वास्तिवादिन–(संस्कृत)—प्रातिमोक्षसूत्र—सं० बनर्जी, I. H. Q. १९५३, विनयविभंग—सं० Rosen; विनयवस्तु—सं० दत्त (गिलगिट मेन्सक्रप्ट्स), कलकत्ता, १९४२–५०, चतुष्परिषत्सूत्र—सं० Tucci। तिब्बतन्—Rockhill द्वारा The life of the Buddha में अनुदित। चीनी—T. १९४२–५१, और १४५४–५, धर्मगुप्तक (संस्कृत)—Ritsuzo no kenkyu में कुछ भाग Hirakawa द्वारा उल्लिखित। चीनी—T. १४२८–३१। महीसासक (चीनी) T. १४२१–४। काश्यपीय (हैमवत, चीनी, केवल विनयमात्रिका) T. १४६३, महासांघिक (चीनी) T. १४२५–७, सारिपुत्रपरिपृच्छा, T. १४६५। लोकोत्तरवादिन्—(संस्कृत)—प्रातिमोक्षसूत्र—सं० Pa-chow और मिश्र, इलाहाबाद; १९५६. महावस्तु—सं० Senart, पेरिस, १८८२–९७। अनु. Jones P.T.S. १९४९–५६ (तीन भाग)। टीकायें–अट्ठकथा–समन्तपासादिका (बुद्धघोष), सं०—Takakusu आदि, ७ भाग, P. T. S. १९२४–४७. भूमिका भाग का अनुवादन Jayawickrama ने Inception of Discipline के नाम से किया है, P. T. S. १९६२। टीका—पोराण (वजिरबुद्ध) सं० Rangoon, १९४९–२१. नया संस्करण; १९६१ छट्ठसंगायन। सारत्थदीपनी (सारिपुत्त), ४ भाग; १९०२–

T. का तात्पर्य है Taisho. (Hobogirin; इन्डेक्स) संस्करण, महायान त्रिपिटक भी देखिए।

२४. देवरक्खित और मेधंकर द्वारा अपूर्व टीका, कोलम्बो, १९१४–१९३३। विमतिविनोदनी (काश्यप)—सं० Rangoon, २ भाग, १९१३, धम्माधरक्खित द्वारा १ भाग, कोलम्बो १९३५। अट्ठयोजना (नानकित्ति), Bangkot १९२७–८। विनयत्थमञ्जूसा (बुद्धनाग), सं० एकनायक, कोलम्बो, १९१२।

खुद्दकसिक्खा (धर्मश्री), सं० Muller J. P. T. S. १८८३। पोराण (धर्मश्री)—अप्रकाशित। नव (संघरक्खित), अप्रकाशित। सुमंगलप्पसादनी (वचिस्सार), अप्रकाशित। मूलसिक्खा (धर्मश्री), सं० Muller, J. P. T. S. १८८३ पोराण (विमलसार), अप्रकाशित। अभिनव (वचिस्सार), अप्रकाशित, विनयविनिच्छय (बुद्धदत्त), सं० बुद्धदत्त, P. T. S. १९२८ और उत्तर विनिच्छय (बुद्धदत्त)—सं० बुद्धदत्त, P. T. S. १९२८। पोराण (उपतिस्स), अप्रकाशित। विनयसंघ (सारिपुत्त), अप्रकाशित। विनय समुट्ठानदीपनी (सद्धम्मजातिपाल), अप्रकाशित। पातिमोक्खविसोधनी (सद्धम्मजोतिपाल) अप्रकाशित। विनयविभंगपदव्याख्यान (विनीतदेव) तिब्बतन। विनयवस्तुटीका (कल्याणमित्र), तिब्बतन। विनयसंग्रह (विशेषमित्र), श्रामणेरकारिका (शाक्यसुभ) आदि टीकायें प्रातिमोक्षसूत्र पर तिब्बती भाषा में उपलब्ध हैं। समन्तपासादिका (बुद्धघोष), सारत्थदीपनी, निदान कथा आदि ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। विनयसूत्र (गुणप्रभ) विनयसूत्रटीका (धर्ममित्र) आदि महायानी विनय के ग्रन्थ हैं।

ये सभी विनय ग्रन्थ मूलतः पालि विनयपिटक के अन्तर्गत पातिमोक्ख पर आधारित हैं। उत्तरकालीन सम्प्रदायों का विनय स्वभावतः उत्तरकालीन साहित्य में प्रतिबिम्बित होगा ही। उपर्युक्त विनय साहित्य में भी बौद्ध सम्प्रदाय के लगभग सभी प्रमुख सम्प्रदायों का आचार विधान उल्लिखित है। सांस्कृतिक वातावरण की पृष्ठभूमि में उनकी उत्पत्ति और विकास हुआ है। इस दृष्टि से पातिमोक्ख (प्रातिमोक्षसूत्र) विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है।

प्रस्तुत संस्करण—

परिवर्त ॥ ८

अहिंसा के प्राचीन सन्दर्भ

अहिंसा श्रमण-संस्कृति की आधारशिला है। उसका प्रत्येक सिद्धान्त अहिंसात्मक भावना से अनुप्राणित है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, और माध्यस्थ भावों का अनुवर्तन, समता और अपरिग्रह का अनुचिन्तन, नय और अनेकान्त का अनुग्रहण तथा संयम और सच्चरित्र का अनुसाधन अहिंसा के प्रधान स्तम्भ हैं। श्रमण-संस्कृति का समूचा साहित्य अहिंसा की साधना से आपूर है। उसकी पुनीत पृष्ठभूमि अहिंसा से अनुरंजित है।

अहिंसा और धर्म—अहिंसा और धर्म ये दोनों शब्द पर्यायार्थक कहे जा सकते हैं। वे परस्पर सम्मिलित और अवलम्बित हैं। धर्म का स्वरूप विविध आचार्यों ने विविध प्रकार से किया है। शायद इसीलिये किसी विवेचक ने उसकी भिन्नता को स्वीकारते हुए उसे रहस्यमय बताया और महापुरुष द्वारा अपनाये गये मार्ग को ही धर्म माना।

श्रुतिर्विभिन्ना: स्मृतिर्विभिन्ना: नैको मुनिर्यस्य वच: प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्वं निहित गुहायां महाजनो येन गत: स पन्था॥

धर्म तत्त्व विवादग्रस्त भले ही बना रहे पर उसकी सभी व्याख्याएँ अहिंसा एवं सर्वधर्मसमभाव के आसपास मड़राती हैं। ऋग्वेद में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह के सामासिक रूप को धर्म कहा है।[1]

धर्मे रत: सत्पुरुषै: समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधाना:।
अहिंसा वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या: मुनय: प्रधाना:॥[2]

धर्म और सत्य की एकाकारता भी आचार्यों ने प्रदर्शित की है। "यो वै स धर्म:, सत्यं वै तत्" (मनुस्मृति १-४-१४) "सत्याद्धर्मो दमश्चैव सर्वे सत्ये

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:।
एतत् सामासिको धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मुनि:।
यन्नूनमस्या गतिं मित्रस्य यायां पथा
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे॥ ऋग्वेद ५-६४-३.

२. वाल्मीकि रामायण ३६–१०६.

प्रतिष्ठितम्'' (महाभारत, शान्तिपर्व) आदि जैसे कथन इस एकाकारता के ही पोषक हैं। भगवान् महावीर और बुद्ध ने धर्म को और अधिक सार्वभौमिक बनाया। महावीर ने धर्म को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, इन तीनों तत्वों का समन्वित रूप माना है[1] और इसी को संसार को पवित्र करने वाला बताया है।[2] दान, सत्य, तप, शौच, कारुण्य आदि मानवीय गुण व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध सुदृढ़ करने मे सहायक सिद्ध होते हैं।[3] अशोक का सातवाँ स्तम्भ-लेख भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है, जहाँ उसने दया, दान, सत्य, शौच, मार्दव, साधन आदि गुणों की प्राप्ति के साधन निर्दिष्ट किये हैं। ये साधन मुख्यतः धर्मनियम और धर्ममनन (धम्मनिज्झति) हैं। 'अभिहिंसाभूतानां, अनारम्भप्राणानां' का उद्घोष यहाँ किया गया है। आचार्य उमास्वामी ने भी ''उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपत्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः''[4] लिखकर इसी उदार कथन का समर्थन किया है।

भगवान् बुद्ध ने 'धम्मचक्कपवत्तन' कर विश्व नियम (Universal truth) को स्पष्ट किया है। भिक्षुओं को 'धम्मदायाद' का आदेश दिया है और इसके निमित्त सम्पत्ति, अंग, जीवन आदि सब कुछ छोड़ देने का निर्देश दिया है।

धनं चजे अंगवरस्य हेतु अंगं चजे जीवितं रक्खमाणि।
अंगं धनं जीवितचापि सब्बं चजे नरो धम्ममनुस्सरन्तो ॥[5]

धर्म के इस प्रकार के सम्बन्ध से ही सभी सम्पर्क उत्तरदायित्वपूर्ण तथा स्नेहमय बने रहते हैं। अन्यथा पिता पुत्र का और पुत्र पिता का वधक हो जाता है। सभी सामाजिक नियमों को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिये धर्म (अन्तःकरणप्रसूत मानवता) का आश्रय नितान्त आवश्यक है। सामाजिकता की स्वीकृति का भी यह आश्रयस्थल है।

---

१. सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः—रत्नकरण्ड, समन्तभद्र
२. पवित्री क्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयाद्राय धर्मकल्पाङ्घ्रियाय वै ॥ वही.
३. नित्यं दानं तथा दाक्ष्यमार्जवं चैव नित्यदा।
उत्साहोऽथानहंकारः परमं सौहृदं क्षमा ॥
सत्यं दानं तपः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्रेषु चानभिद्रोहः सर्वतेष्वभवत् प्रभो ॥ महा० शान्तिपर्व
४. तत्वार्थसूत्र, ९—६
५. जातकट्ठकथा, विसुद्धिमग्ग, सीलनिद्देस में उद्धृत।

धर्म की उक्त व्याख्या के साथ ही उसका एक सार्वजनिक रूप भी उपलब्ध होता है, जिसमें वस्तु (पदार्थ) के स्वभाव पर गम्भीरता से विचार एवं चिन्तन किया गया है। धर्म का यह सार्वजनिक रूप है।

धम्मो वत्थुसहाओ खमादि भावो दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो॥[1]

इस परिभाषा में धर्म की चार विशेषताएँ प्रस्तुत की गई हैं—१. वस्तु-स्वभाव धर्म है, २. क्षमादिक दस गुण धर्म है, ३. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय का पालन धर्म है, और ४. जीवों का संरक्षण धर्म है। वस्तु का स्वभाव अपरिवर्तनीय रहता है। जल का शीतत्व व अग्नि का उष्णत्व कभी बदला नहीं जा सकता। जितने समय के लिए उसमें विकार भाव आता है, वह किसी बाह्य वस्तु के संसर्ग का परिणाम है। इसी प्रकार मनुष्य का स्वभाव मनुष्यता है। अहिंसक होना है। उसमें हिंसा के भाव जाग्रत होना राग, मोह, द्वेष, लोभ आदि परिणामों का विकार है जो आत्मा का मूल रूप नहीं है। आत्मा का मूल रूप तो है समभाव होना व स्वरूप में रमण करना (चारित्तं)। यही मोह-क्षोभ से विरहित आत्मा का परिणाम है।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥
चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागदोसरहिओ जीवस्स अणण्ण परिणामो॥[2]

मोक्खपाहुड, गा, ५०

बुद्ध ने भी 'सब्बे धम्मा अनिच्चा' कहकर धर्म का अर्थ पदार्थ किया है। "ये धम्मो हेतुप्पभवो" में धर्म का अर्थ *स्वभाव, अवस्था, गुण, कर्तव्य,* विचार आदि किया गया है। बौद्धधर्म में धर्म को त्रिरत्नों में परिगणित किया है। बाद में बुद्ध और उनके धर्म में तादात्म्य स्थापित किया गया—"यो धम्मं पस्सति सो मम पस्सति, यो मम पस्सति सो धम्मं पस्सति।" महायान सम्प्रदाय में धर्मकाय की स्थापना कर बुद्ध और धर्म को और भी अधिक एकाकार कर दिया गया। आचार्य बुद्धघोष ने धर्म के चार अर्थ किये हैं—१. परियत्ति या सिद्धान्त, २. हेतु ३. गुण और ४. निस्सत्त-निज्जीवता (विसुद्धिमग्ग)।

इस प्रकार धर्म वस्तुतः आत्मा का एक स्पन्दन है जिसमे कारुण्य, सहानुभूति, सहिष्णुता, परोपकार वृत्ति आदि जैसे गुण विद्यमान रहते हैं। वह किसी जाति

---

१. कत्तिगेयाणुवेक्खा, गाथा ४७६.

२. प्रवचनसार १-७. तुलनार्थ देखिये।

या सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं। उसका स्वरूप तो सार्वजनिक, सार्वभौमिक और लोकमाङ्गलिक है। व्यक्ति समाज व राष्ट्र का अभ्युत्थान ऐसे ही धर्म की परिसीमा में सम्भव है।

अहिंसा का स्वरूप—धर्म और अहिंसा में शब्दभेद है, गुणभेद नहीं। धर्म अहिंसा है और अहिंसा धर्म है। क्षेत्र उसका व्यापक है। अहिंसा एक निषेधार्थक शब्द है। यह अधिक संभव है कि वह विधिपरक हिंसा के अनन्तर प्रयुक्त हुआ होगा। इसलिए संयम, तप, दया, आदि जैसे मानवीय शब्दों का प्रयोग पूर्वतर रहा होगा। क्योंकि विधेयावस्था के बाद ही निषेधावस्था का उदय होता है।

हिंसा का मूल कारण है प्रमाद अथवा कषाय। इसी के वशीभूत होकर जीव के मन, वचन, काय मे क्रोधादि एवं रागादि भाव प्रकट होते हैं, जिनसे स्वयं के शुद्धोपयोग रूप भावप्राणों का हनन होता है। कषायादिक की तीव्रता के फलस्वरूप उसके आत्मघात रूप द्रव्य प्राणों का भी हनन संभव है। इसके अतिरिक्त दूसरे को मर्मान्तिक वेदनादान अथवा परद्रव्यव्यपरोपण भी इन्हीं भावों का कारण है।[1] इस प्रकार हिंसा के चार भेद हो जाते हैं।—स्वभाव-हिंसा, स्वद्रव्यहिंसा, परभावहिंसा और परद्रव्यहिंसा। आचार्य उमास्वामी इसी को संक्षेप में 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यरोपणं हिंसा' कहते हैं[2] इसलिये भिक्षुओं को कैसे चलना फिरना चाहिये, कैसे बोलना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि उसे यत्नपूर्वक-अप्रमत्त होकर उठना बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन-भाषण करना चाहिए।

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे कहं सए ?
कथं भुञ्जन्तो भासन्तो ? पावं कम्मं न बंधई ?
जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुञ्जन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बंधई ॥[3]

---

१. यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, ४३

२. तत्वार्थ सूत्र, ७.१३, तुलनार्थ देखिये
हिंसायामविरमणं हिंसा परिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ४८

३. दशवैकालिक ४.७–८

गीता में इस प्रश्न की भाषा है ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधी: किं प्रभाषेत् किमासीत् व्रजेत् किम् ।।२५४।।

इतिवुत्तक (१२) में इस प्रश्न का उत्तर दशवैकालिक से मिलता-जुलता दिखाई देता है—

यतं चरे यतं तिट्ठे यतं अच्छे यतं सये ।
यतं सम्मिज्जये भिक्खू यतमेनं पसादए ।।

हिंसा का प्रमुख कारण रागादिक भाव है ।[1] उनके दूर हो जाने पर स्वभावत: अहिंसा भाव जाग्रत हो जाता है । दूसरे शब्दों में समस्त प्राणियों के प्रति संयम भाव ही अहिंसा है—"अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूयेसु संजमो ।"[2] जगत् का हर प्राणी अधिकाधिक सुख प्राप्ति के साधन जुटाता है । उसे मरने की आकांक्षा नहीं होती ।[3] उसके ये सुख प्राप्ति के साधन अहिंसा व संयम की पृष्ठभूमि में जुटाये जाने चाहिये । व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए यह आवश्यक है कि वे परस्पर एकात्मक कल्याण मार्ग से आबद्ध रहें । उसमें सौहार्द, आत्मोत्थान, स्थायी शान्ति, सुख और समृद्धि के पवित्र साधनों का उपयोग होता रहे । यही यथार्थ में उत्कृष्ट मंगल है ।

धम्मो मंगलमुक्किकट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवावितं नमंसंति जस्स धम्म सया मणो ।।[4]

अहिंसा के एक देश का पालन गृहस्थ वर्ग करता है और सर्व देश का पालन मुनि वर्ग करता है । उसी को जैन शास्त्रीय परिभाषा में क्रमश: अणुव्रत और महाव्रत कहा गया है । सकलचारित्र और विकलचारित्र इसी के पर्यायार्थिक शब्द हैं । गृहस्थ वर्ग संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी रूप स्थूल हिंसा का त्यागी नहीं रहता जबकि मुनिवर्ग सूक्ष्म और स्थूल, दोनों प्रकार की हिंसा से दूर रहता है ।

मन, वचन और काय से संयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणों का आगार होता है । शील-संयमादि गुणों से आपूर व्यक्ति ही सत्पुरुष

---

१. अप्रादुर्भाव: खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्ति: हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप: ।। पुरुषार्थ; ४४

२. दशवैकालिक, ६.८

३. वही, ६.१०, संयुत्तनिकाय, १.३.८

४. वही, १.१, देखिए, धम्मपद, १६.६

है। जिसका चित्त मलीन व पापों से दूषित रहता है वह अहिंसा का पुजारी कभी नहीं हो सकता। जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना और ताड़ना इन चार उपायों से सुवर्ण की परीक्षा की जाती है उसी प्रकार श्रुत, शील, तप और दयारूप गुणों के द्वारा धर्म एवं व्यक्ति की परीक्षा की जाती है।

संजमु सीलु सउच्चु तवु जसु सूरि हि गुरू सोई।
दाह छेदक सघायकषु उत्तमु कंचणु होई॥[१]

जीवन का सर्वाङ्गीण विकास करना संयम का परम उद्देश्य रहता है। सूत्रकृतांग में इस उद्देश्य को एक रूपक के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया गया है। वहाँ बताया गया है कि जिस प्रकार कछुआ निर्भय स्थान पर निर्भीक होकर चलता-फिरता है किन्तु भय की आशंका होने पर शीघ्र ही अपने अंग-प्रत्यंग प्रच्छन्न कर लेता है और भय विमुक्त हो जाने पर पुनः अंग-प्रत्यंग फैलाकर चलना-फिरना प्रारम्भ कर देता है उसी प्रकार संयमी व्यक्ति अपने साधनामार्ग पर बड़ी सतर्कतापूर्वक चलता है। संयम की विराधना का भय उपस्थित हो जाने पर पंचेन्द्रियों व मन को आत्मज्ञान-अंतर में ही गोपन कर लेता है।[२]

बुद्ध ने सुत्तनिपात में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम करने का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा है कि शान्तपद (निर्वाण) के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह योग्य तथा अत्यन्त सरल बने। उसकी बात मृदु, सुन्दर और विनम्रता से भरपूर हो। वह सन्तोषी व इन्द्रियसंयमी हो। उसकी यह सप्रयत्न भावना रहे कि सभी प्राणी सुखी हों, सभी का कल्याण हो और सभी सुखपूर्वक रहें (सुखिनो वा खेमिनो होन्तु सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता।[३] संयुत्तनिकाय में कहा है कि जो शरीर, मन और वचन से हिंसा नहीं करता और पर को नहीं सताता, वही अहिंसक है।[४] अहिंसक की यह परिभाषा बड़ी व्यापक व मानवता से आपूर है। हिंसामय यज्ञों का विरोध कर दान-पुण्य

---

१. भावपाहुड़, गाथा १४३ की टीका

२. जहा कुम्मे सअंगाइं सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी अज्झप्पेण समाहरे॥ सू. १.८–१६

३. ये केचि पाणभूतत्थि तसा वा थावरा वा अनवसेसा।
दीघा वा ये महान्ता वा मज्झिमा रस्सकाणुकथूला॥
दिट्ठा वा येव अदिट्ठा ये च दूरे वसन्ति अविदूरे।
भूता वा संभवेसी वा सब्बे सत्ता भवन्ति सुखितत्ता॥ मेत्तसुत्त ४–५

४. अहिंसक सुत्त।

कर्म को ही सबसे बड़ा यज्ञ उन्होंने बताया।[1] अंगुत्तरनिकाय में यह कहा गया है कि व्यक्ति को तीन प्रकार की शुचिता प्राप्त करनी चाहिए।[2]

१. शरीर शुचिता—प्राणिहिंसा, चोरी, मिथ्याचार से विरति।

२. वाणी शुचिता—मृषावाद, पैशून्य, कठोर वचन तथा व्यर्थ वचन से विरति।

३. मानसिक शुचिता—क्रोध, लोभ, मिथ्यादृष्टि, आलस्य, औद्धत्य, कौकृत्य, विचिकित्सा आदि से विरति।

संयमी व्यक्ति सदैव इस बात का प्रयत्न करता है कि दूसरे के प्रति वह ऐसा व्यवहार करे जो स्वयं को अनुकूल रहता हो।[3] सदर्थ इसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना का पोषक होना चाहिए। सभी सुखी और निरोग रहें, किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो, ऐसा प्रयत्न करे।

> सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सन्तु सर्वे निरामयः।
> सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥
> मा कार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत कोऽपि दुःखितः।
> मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते॥[4]

विशिष्ट ज्ञानी और तपस्वियों के शम, दम, धैर्य, गांभीर्य आदि गुणों में पक्षपात करना अर्थात् विनय, वन्दना, स्तुति आदि द्वारा आन्तरिक हर्ष व्यक्त करना प्रमोद भावना है।[5] इस भावना का मूल साधन विनय है। जिस प्रकार मूल के बिना स्कन्ध, शाखायें, प्रशाखायें, पत्ते, पुष्प, फल आदि नहीं हो सकते उसी प्रकार विनय के बिना धर्म व प्रमोद भावना में स्थैर्य नहीं रह सकता।[6] इसी प्रकार मज्झिमनिकाय में भी आर्य विनय का उपदेश दिया गया है।[7]

कारुण्य अहिंसा भावना का प्रधान केन्द्र है। उसके बिना अहिंसा जीवित नहीं रह सकती। समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करना इसकी मूल भावना है।

---

१. चतुक्कनिपात, अंगुत्तर निकाय। २. तिकनिपात, अंगुत्तर निकाय।

३. जं इच्छसि अप्पणत्तो जं च न इच्छसि अप्पणत्तो।
तं इच्छ परस्स वि मा वा एत्तियगं जिणसासणयं॥ बृहत्कल्पभाष्य

४. यशस्तिलकचम्पू, उत्तरार्ध।

५. अपास्तशेषदोषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो यः सः प्रमोदः प्रकीर्तितः॥ योगशास्त्र, ४.११.

६. एस धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मुक्खो, दशवैकालिक, ९–७.

७. पोतलियसुत्त।

हेयोपादेय ज्ञान से शून्य दीन पुरुषों पर, विविध सांसारिक दुःखों से पीड़ित पुरुषों पर, स्वयं के जीवन-याचक जीव-जन्तुओं पर, अपराधियों पर, अनाथ, बाल, वृद्ध, सेवक आदि पर तथा दुःख-पीड़ित प्राणियों पर प्रतीकात्मक बुद्धि से उनके उद्धार की भावना ही कारुण्य भावना है। यह योगशास्त्र का कथन है। आर्यदेव ने समासतः अहिंसा को ही धर्म स्वीकार किया है।[1]

माध्यस्थ्य भावना के पीछे तटस्थ बुद्धि निहित है। निःशंक होकर क्रूर कर्मकारियों पर, देव, धर्म व गुरु के निन्दकों पर तथा आत्मप्रशंसकों पर उपेक्षा भाव रखने को माध्यस्थ्य भावना कहा गया है।[2]

इसी को समभाव भी कहा है। समभावी व्यक्ति निर्मोही, निरहंकारी, निष्परिग्रही, त्रस—स्थावर जीवों का संरक्षक तथा लाभ-अलाभ में, सुख-दुःख में, जीवन-मरण में, निन्दा-प्रशंसा में, मान-अपमान में विशुद्ध हृदय से समद्रष्टा होता है। समभावी व्यक्ति ही मर्यादाओं व नियमों का प्रतिष्ठापक होता है। वही उसकी समाचारिता है।[3] बौद्ध दर्शन में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार भावनाओं को ब्रह्मविहार कहा है।[4] जैन दर्शन में वर्णित चार, भावनाओं और इन ब्रह्मविहारों में कोई विशेष अन्तर नहीं।[5]

जैन दर्शन ने पाँच महाव्रतों को स्वीकारा है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मविहार और अपरिग्रह। अन्य व्रतों का अन्तर्भाव इन्हीं पाँचों में किया जा सकता है। बौद्ध दर्शन में भी लगभग ऐसे ही व्रत स्वीकार किये गये हैं—प्राणातिपात वेरमण, अदिन्नादान वेरमण, कामेसु मिच्छाचार वेरमण, मुसावाद वेरमण, सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठानादिवेरमण।

श्रमण-संस्कृति की निगण्ठ (जैन), सक्क (बौद्ध) तावस, गेरुय और आजीव-ये ५ प्रधान शाखायें मानी जाती है।[6] इनमें से आज प्रथम दो शाखायें जीवित है। इन पाँच शाखाओं में जैनधर्म प्राचीनतम है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पालि साहित्य उपलब्ध श्रमण साहित्य में प्राचीनतम साहित्य है। अतः अहिंसा के प्राचीन सन्दर्भ उसमें द्रष्टव्य हैं।

---

१. धर्मः समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः, चतुःशतक, २९८।

२. योगशास्त्र ४. १२१, ३. दशवै.५-१३,मूला.१२३, ४. मज्झिम २-५-६।

३. दशवैकालिक ५. १३ ५. मूलाचार, गाथा १२३.

४. सुभ सुत्तन्त, मज्झिमनिकाय २.५.६.

५. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यभावाः सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमान
विनयेषु, तत्त्वार्थसूत्र, ७-११।

६. ठाणांग, पृ० ९४९

सामञ्ञफलसुत्त में पार्श्वनाथ के चातुर्याम संवर का उल्लेख है पर उसे निगण्ठनातपुत्त के नाम पर चार महाव्रत दिये हैं :—

१. सब्बवारि वारितो, २. सब्बवारि युतो, ३. सब्बवारि धुतो, ४. सब्बवारि फुटो।

यह उल्लेख निःसन्देह भ्रमपूर्ण है। सामञ्ञफलसुत्त के विभिन्न रूप मिलते हैं। तिब्बती दुल्वा में निगण्ठ नातपुत्त के अनुसार कर्मों की निर्जरा कैसी होनी चाहिए इसका उल्लेख है, जब कि चीनी साहित्य के एक पाठ में (४१२-१३ A. D.) निगण्ठनातपुत्त अपने सर्वज्ञत्व को सिद्ध करने में लगे दिखाई देते हैं और दूसरे पाठ में (३८१-३९५ A. D.) उन्हें कर्म सिद्धान्त से सम्बद्ध बताया गया है।

वस्तुत: पार्श्वनाथ के चातुर्याम निम्न प्रकार से थे—

१. सर्वप्राणातिपाति विरति, २. सर्वमृषावाद विरति, ३. सर्वादत्तादान-विरति, ४. सर्वबहिद्धादान विरति।[1]

यहाँ अन्तिम व्रत में मैथुन और परिग्रह, दोनों से विरत रहना सम्मिलित था। किन्तु शिथिलतावश उसे मात्र सम्पत्ति आदि से सम्बद्ध कर दिया गया। महावीर ने इस शिथिलता को दूर करने के लिए चतुर्थव्रत में से ब्रह्मचर्यव्रत पृथक् कर दिया और इस प्रकार पंच महाव्रतों का निर्देश किया जाने लगा।

पालि साहित्य इन पाँच महाव्रतों से भी परिचित है। असिबन्धक पुत्त गामिनी ने बुद्ध को निगण्ठ नातपुत्त के अनुसार पापों को कर्माश्रय के रूप में बताया है। वहाँ कामेसु मिच्छाचार भी नियोजित है। इससे स्पष्ट है कि महावीर द्वारा किये गये परिवर्तन से पालि साहित्य अपरिचित नहीं।[2] अंगुत्तरनिकाय में भी लगभग ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[3] यहाँ भी परिग्रह का उल्लेख नहीं। उसके स्थान पर सुरा, मद्य, मांस आदि का उल्लेख है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पालि साहित्य पार्श्वनाथ और महावीर दोनों महापुरुषों की परम्पराओं से परिचित रहा है। बुद्ध ने भी इसे स्वीकारा है। उन्होंने अशुद्ध तपस्या को बताते हुए शुद्ध तपस्या का व्याख्यान किया और वास्तविक तपस्या में चार भावनाओं के परिपालन को प्रशंसनीय माना।[4]

अनेकान्तवाद—किसी पदार्थ अथवा व्यक्ति के विषय में छद्मस्थ जीव परिपूर्ण रूप से नहीं जान सकता। चिन्तक अपने-अपने दृष्टिकोण से उसके विषय

---

१. ठाणांग, पृ. ४.१. टीका। २. संयुत्त. (रो.) ४, पृ. ३१७।
३. अंगुत्तर. (रोमन संस्करण) भाग ३, पृ. २७६-७.
४. देखिये लेखक का प्रबन्ध—Jainism in Buddhist Literature.

में सकते हैं। विचारों में भिन्नता होने पर विचार-संघर्ष जन्म लेता है जो अनेक नये संघर्षों का जन्मदाता सिद्ध होता है। इन्हीं संघर्षों को दूर करने के लिए स्याद्वाद (भाषागत) और अनेकान्तवाद (विचारगत) की प्रस्थापना की गई है। इसमें प्रत्येक दृष्टिकोण का समादर है। हठ और कदाग्रह इससे दूर है। पालि साहित्य में इसके बीज उपलब्ध होते हैं।[1] सूत्रकृतांग में इसे 'विभज्यवाद' कहा गया है।[2] बुद्ध ने भी चतुष्कोटिक प्रश्नों मे एक शैली 'विभज्यव्याकरणीय' की रखी है।[3] यह स्याद्वाद और अनेकान्तवाद का पालन अहिंसा की साधना के लिए अत्यावश्यक है।

इन चारों भावनाओं को यहाँ चातुर्यामसंवर कहा गया है। उसके अनुसार तपस्वी प्राणातिपात, अदिन्नादान, मृषावाद तथा कामगुणों मे मिथ्याचार के लिए कृत, कारित व अनुमोदनपूर्वक दूर रहता है।

सापेक्ष दृष्टि से विचारों को स्वीकारते हुए किसी का आदर करने पर संघर्ष स्वयमेव दूर हो जाता है। इस सिद्धान्त में संशयवाद को कोई स्थान नही। हर दृष्टि अपनी सीमा तक निश्चित है।

अपरिग्रह और समाजवाद—जैनधर्म की यह अन्यतम विशेषता है कि उसमें अपरिग्रह को व्रत के रूप मे स्वीकार किया गया है। अपरिग्रह का तात्पर्य है आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना। पदार्थ विशेष में आसक्ति रखना परिग्रह है।[4] इच्छा, प्रार्थना, कामाभिलाषा, आकांक्षा, गृद्धि, मूर्च्छा ये सभी शब्द एकार्थक हैं।[5] किसी भी पदार्थ से ममत्व न रखे, यही अपरिग्रह है।[6] यहाँ दीन-दुःखी जीवों के प्रति कारुण्य जाग्रत करना और उनके प्रति कर्तव्य बोध कराना मुख्य उद्देश्य है। समाजवाद का भी यही सिद्धान्त है कि सम्पत्ति किसी एक व्यक्ति या वर्ग विशेष मे केन्द्रित न होकर समान रूप से हर घटक मे विभाजित हो। यह समाजवाद जैनाचार्यों ने २५०० वर्ष पहले लाने का प्रयत्न किया था। समन्तभद्र ने इसी को "सर्वात्मवद्

---

१. उदुम्बरिक सीहनाद सुत्त, दीघनिकाय। विशेष देखिए, इस प्रकरण के लिए मेरा निबन्ध—The Rudiments of Anekantavada in Early Pali Literature—Nagpur University Journal.
२. विभज्जवायं च वियागरेज्ज, १. ४. २२.
३. अंगुत्तर निकाय (रोमन संस्करण) भाग २. पृष्ठ ४६.
४. मूर्च्छा परिग्रहः—तत्वार्थसूत्र, ७. १७। ५. तत्वा० ७.१२ भाष्य
६. दशवैकालिक ४.१५

त्यं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव" कहकर सर्वोदयवाद की स्थापना की
त्मक बौद्धधर्म में भी यह अपरिग्रह और समाजवाद था।
ाधान्य—श्रमण-संस्कृति में भावों की प्रधानता पर जोर दिया
जिसके परिणाम हिंसात्मक हो गये हों वह हिंसा भले ही न कर
प का भागी अवश्य होगा और जिसके हिंसा के भाव न हों किन्तु
सी कारणवश हिंसा हो गई हो तो वह हिंसा के फल का भोगी
ोगा।

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात्॥[१]

मनिकाय में निगण्ठनातपुत्त के सिद्धान्त 'दण्ड-दण्ड' पर आधारित
इसमें कायदण्ड (कायिक-हिंसा) सर्वाधिक पापोत्पादक है।[२] इस
व्याख्या यद्यपि यहाँ भ्रमोत्पादक है पर उसका वास्तविक तात्पर्य
भावपूर्वक शरीर से हिंसा करना घोर पाप का कारण है।
संसार जीवों से आपूर है। कोई कितना भी अहिंसक हो, इन सूक्ष्म
हिंसा से विरत नहीं हो सकता। इस स्थिति में भावों की प्रधानता
अहिंसक की विभेदक—रेखा मानी जाती है।

विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोप्य मोक्ष्यत्।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्न भविष्यताम्॥[३]

की प्रधानता को यदि स्वीकार न किया जाय तो एक ही व्यक्ति
ा और दुहिता के साथ की गई चुम्बन—क्रिया में कोई अन्तर नहीं
अतः हमारी सभी क्रियायें शुभ-अशुभ अथवा कुशल अकुशल कर्मों
पर आधारित हैं।[४]
ा पर विचार करते समय एक और प्रश्न खड़ा होता है। वह यह
में युद्ध जब आवश्यक हो जाता है तो उस समय अहिंसा का साधक
म अपनायेगा? यदि युद्ध नहीं करता तो आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा
: में ही जाती है और यदि युद्ध करता है तो अहिंसक कैसा? इस प्रश्न

ुरुषार्थ० ५१. २. मज्झिम० (रोमन संस्करण) भाग १, पृ० ३७२
मिलाइए—जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥
भावशुद्धिर्मनुष्याणां विज्ञेया सर्वकर्मसु।
न्यथा चुम्ब्यते कान्ता भावेन दुहिताऽन्यथा॥ सुभाषितावली, पृ. ४९३
ागारधर्मामृत, ४।२३.

का भी यथावत् आचार्यों ने किया है और कहा है कि आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा करना हमारा पुनीत कर्तव्य है। चन्द्रगुप्त, चामुण्डराय, खारवेल आदि जैसे धुरन्धर जैन अधिपति योद्धाओं ने शत्रुओं के अनेकों बार दांत खट्टे किये हैं। जैन-बौद्ध साहित्य में जैन-बौद्ध राजाओं की युद्धकला पर बहुत कुछ लिखा मिलता है। बाद में उन्हीं राजाओं को वैराग्य लेते हुए भी प्रदर्शित किया गया है। अतः यह सिद्ध है कि रक्षणात्मक हिंसा पाप का कारण नहीं। ऐसी हिंसा को तो वीरता कहा गया है।

य: शस्त्रवृत्ति: समरे रिपु: स्याद् य: कण्टको वा निजमण्डलस्य।
तमैव अस्त्राणि नृपा: क्षिपन्ति न दीनकानीनकदाशयेषु ।। यशस्तिलकचम्पू

इस प्रकार श्रमण-संस्कृति की अहिंसा मानवता की आधार-शिला है। इस पर अनेक ग्रन्थ आचार्यों ने लिखे हैं। समूचा जैन और बौद्ध धर्म अहिंसा पर ही आधारित है। इनमें भी अहिंसा की जितनी अधिक गहराई तक जैनाचार्य पहुँचे हैं, उतने बौद्धाचार्य नहीं। जैनों ने मद्य, मांस, मधु, पंचोदुम्बरफल, रात्रिभोजन आदि का भी पंच पापों के साथ-साथ त्याग करने का निर्देश दिया है, जबकि बौद्ध धर्म इतना अधिक सीमाबद्ध नहीं। बौद्ध धर्म में मांस-भक्षण आदि की सीमायें काफी अधिक शिथिल कर दी गई, पर जैनधर्म में यह शिथिलता नहीं मिलती। जैनाचार्यों ने तो प्रत्येक व्रत की भावनाओं तथा उनके अतिचारों का भी सांगोपांग सुन्दर विवेचन किया है। वस्तुत: जैनाचार्यों ने अहिंसा को परम धर्म मानकर शेष धर्मों—व्रतों को उसी के प्रकार के रूप में स्वीकार किया है[1] और उनका परिपालन करने के लिए विविध मार्गों को भी सुझाया है। इन मार्गों पर चलने से नि:सन्देह विश्वशान्ति स्थापित हो सकती है और अधिकांश विश्व समस्याओं का समाधान भी संभव है।

इस सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि साधक धर्म को राजनीतिक हथकण्डा न बनाकर उसे आध्यात्मिक साधन का एक केन्द्रबिन्दु माने। अहिंसा का सही साधक वह है जिसकी समूची साधना मानवता पर आधारित हो और मानवता के कल्याण के लिए उसका मूलभूत उपयोग हो। पूर्वाग्रह मुक्त मस्तिष्क, विशाल दृष्टिकोण, समधर्म समभाव और सहिष्णुता अपेक्षित है। श्रमण-संस्कृति की मूल आत्मा ऐसे ही पुनीत मानवीय गुणों से सिञ्चित है और उसकी अहिंसा वन्दनीय तथा विश्व कल्याणकारी है।

●

---

१. अहिंसा परमो धम्मो, मूलभूतानि एतानि सर्वाणिव्रतानि-अगस्त्य चूर्णि-दशवैकालिक: एक समीक्षात्मक अध्ययन में उद्धृत, पृ. ८९

परिवर्त १

अभिधर्म दर्शन

अभिधर्म दर्शन बौद्ध चिन्तन का प्रधान स्तम्भ है। कर्म उसका धरातल है। आचार और तत्त्वज्ञान उसकी समन्वित साधना से निर्मित एक प्रासाद है जिसकी मनोरम कलात्मक शिखरों में अभिधर्म, कोश, व्याकरण, व्याख्याग्रन्थ, न्याय आदि के हृदयस्पर्शी मणि जटित हैं। उन मणियों का प्रकाश व्यक्ति के व्यक्तित्व की विविध दिशाओं को प्रारम्भ से ही आलोकित करता रहा है।

अभिधर्म की उत्पत्ति—परम्परानुसार प्रस्तुत अभिधर्म बुद्धकालीन है। इसे यदि समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है अभिधर्म दर्शन की भूमिका भगवान् बुद्ध के काल में बन चुकी थी। यह सही भी है क्योंकि सुत्तपिटक और विनयपिटक में, विशेष रूप से सुत्तपिटक में अभिधर्म के प्रारम्भिक स्तर मिलते ही हैं। इस दृष्टि से यह सम्भावना अधिक बढ़ जाती है कि तथागत का ध्यान अभिधर्म पर अवश्य था। और फिर तो अभिधर्म आज का मनोविज्ञान है जिस पर बुद्ध की देशना का प्रकार निर्भर रहा है। तथागत बुद्ध व्यक्ति के अध्याशय, अनुशय और अधिशक्ति आदि को पूर्णरूप से समझकर ही धर्मदेशना दिया करते थे।

उसी भूमिका पर उत्तरकाल में अभिधर्म पर चिन्तन बढ़ता गया और तृतीय संगीति तक आते-आते उसका एक सुचिन्तित रूप हमारे सामने आ गया। इसका उदाहरण है समूचा अभिधर्म पिटक। उसमें सात ग्रन्थ हैं—धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु यमक तथा पट्ठान। इन सभी ग्रन्थों का रचनाकाल एक नहीं है, फिर भी साधारणत: हम यह कह सकते हैं कि अभिधम्म पिटक सुत्त और विनय का उत्तरवर्ती है। बुद्ध के उपदेशों के आधार पर उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों ने उसे विकसित किया है। अतएव वर्तमान में उपलब्ध अभिधम्म को बुद्धवचन नहीं कहा जा सकता।

अभिधम्म पिटक पर बुद्धघोष ने कुछ अट्ठकथायें लिखी हैं। धम्मसंगणि की अट्ठकथा अट्ठसालिनी, विभंग की अट्ठकथा संमोहविनोदनी, और शेष

पाँच ग्रन्थों (धातुकथा, कथावत्थु, पुग्गलपञ्ञत्ति, यमक और पट्ठान) की अट्ठकथाओं का संयुक्त नाम "पञ्चप्पकरणट्ठकथा" है। धम्मसंगणि पर आनन्द की लीनत्थवण्णना अथवा अभिधर्ममूलटीका और धम्मपाल की अनुटीका भी प्रसिद्ध है।

अभिधर्म की आचार्य-परम्परा—आचार्य बुद्धघोष ने अभिधर्म के विषय में उठनेवाले प्रश्नों का समाधान उपस्थित किया है। अट्ठसालिनी में ऐसे प्रश्न और उनके उत्तर दर्शनीय हैं। वहाँ कहा गया है कि अभिधम्म भगवान् बुद्ध का वचन है (भगवतो वचनं अरहतो सम्मा संबुद्धस्स)। उन्होंने सर्वप्रथम त्रायस्त्रिंश स्वर्ग में अपनी माता को उसका उपदेश दिया। तदनन्तर उसे धम्म सेनापति सारिपुत्त के समक्ष अनोतप्त सरोवर पर दुहराया। सारिपुत्त ने बाद में उसी अभिधम्म को अपने ५०० शिष्यों को सिखाया। तृतीय संगीति तक सारिपुत्त, भद्दजि, सोभित, पियजालि, पियपाल, पियदस्सि, कोसियपुत्त, सिग्गव, सन्देह, मोग्गलिपुत्त, विसुदत्त, धम्मिय, दासक, सोणक, रेवत आदि स्थविरों ने अभिधम्म का अध्ययन-अध्यापन कराया। इसके बाद इन आचार्यों की शिष्य-परम्परा ने अभिधर्म के अध्ययन को आगे बढ़ाया। कहा जाता है कि महिन्द भारत से श्रीलंका में अभिधम्म पिटक भी ले गये थे। उन्हीं के अनुकरण पर इद्धिय, उत्तिय, भद्दनाम, और सम्बल ने उसके अध्ययन को लोकप्रिय बनाया। तभी से वर्तमान में उपलब्ध अभिधम्म यथावत् है। बुद्धघोष का यह कथन किसी सीमा तक सही हो सकता है। वट्टगामणि अभय के राज्यकाल में २९ ई–पू. में सम्पूर्ण त्रिपिटक श्रीलंका में लिपिबद्ध हो गया। लगभग प्रथम शताब्दी ई–पू. के मिलिन्दपञ्ह में उक्त सातों ग्रन्थों के नामों का भी उल्लेख मिलता है। अतः अभिधम्म पिटक का वर्तमान रूप लगभग प्रथम शताब्दी ई. पू. तक स्थिर हो चुका था।

अभिधर्म का अर्थ—अभिधम्म में अभि उपसर्ग विशेष अर्थ का सूचक है (अतिरेक विसेसत्थ दीपको हि एत्थ अभिसद्दो)।[1] सुत्तपिटक से अभिधर्म पिटक में यह विशेषता है कि अभिधम्म पिटक में कुशल, अकुशल, अव्याकृत आदि धर्मों का प्रतिपादन विविध विभाजनों एवं नयों से किया गया है। आर्य असंग ने अभिधर्म शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में यह बताया कि अभिधर्म निर्वाण का अभिमुखी है। धर्म के विविध वर्गीकरणों को प्रस्तुत करता है, विरोधी मतों का खण्डन करता है तथा सुत्तपिटक का अनुगमन करता है।[2]

---

१. अट्ठसालिनी, पृ. १

२. अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मः, महा. सूत्रा. ११'३.

अर्थ विनिश्चय सूत्र के अनुसार अभिधर्म पिटक पृथक् पिटक नहीं, अपितु उसका अन्तर्भाव सूत्र पिटक में हो जाता है।[1]

अभिधर्म साहित्य—अभिधम्म पिटक में बौद्ध मनोविज्ञान का वर्णन अधिक क्रमबद्ध नहीं हो पाया। अत: उत्तरकालीन आचार्यों ने उसे अपने अध्ययन का विषय बनाया। फल स्वरूप अभिधम्म पर पालि और संस्कृत में कतिपय टीकायें और मौलिक ग्रन्थ लिखे गये।

१ पालि अभिधम्म साहित्य—सर्वप्रथम अभिधर्म (पालि) साहित्य पर बुद्धदत्त ने अभिधम्मावतार और रूपारूपविभाग नामक ग्रन्थ लिखे। अभिधम्मावतार मूलत: पद्यबद्ध है, यद्यपि यत्र-तत्र व्याख्या के रूप में गद्य का भी वहाँ प्रयोग किया गया है। डा० भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार बुद्धघोष की अभिधम्म सम्बन्धी अट्ठकथाओं के आधार पर इसका प्रणयन हुआ है।[2] परन्तु उनका कथन अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि बुद्धघोसुप्पत्ति के अनुसार उस समय बुद्धदत्त अपनी अन्तिम अवस्था में पहुँच चुके थे। दूसरी ओर बुद्धघोष युवक थे। श्रीलंका में पहुँचकर अध्ययन करना और फिर उतने गम्भीर ग्रन्थों का प्रणयन करना समय सापेक्ष है। अत: यह अधिक सम्भावित है कि बुद्धदत्त बुद्धघोस के ग्रन्थों को इच्छा होते हुए भी नहीं देख सके होंगे। फलत: बुद्धदत्त ने श्रीलंका के अध्ययन के आधार पर अभिधम्म पिटक के विषय को ही संक्षेप में अभिधम्मावतार में निबद्ध कर दिया होगा। रूपारूप विभाग भी इसी प्रकार का ग्रन्थ है। बुद्धघोष के ग्रन्थों की अपेक्षा बुद्धदत्त के ग्रन्थों की भाषा अधिक प्रसादमयी और सरल है। इस दृष्टि से बुद्धदत्त का योगदान अविस्मरणीय है।

२. अभिधम्म पिटक के आधार पर पालि में अभिधम्म साहित्य की सर्जना का विशेष श्रेय आचार्य बुद्धघोष को दिया जा सकता है। उन्होंने अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि की अट्ठकथा), संमोहविनोदिनी (विभंग की अट्ठकथा), और पंचप्पकरणट्ठकथा (शेष ५ अभिधम्म ग्रन्थों पर अट्ठकथा) लिखी हैं। इनके अतिरिक्त विसुद्धिमग्ग को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। इसके लेखन का आधार बौद्ध दर्शन का एक मूलभूत प्रश्न है। श्रावस्ती में विहार करते समय रात्रि में किसी देवपुत्र ने आकर भगवान् बुद्ध से अपना सन्देह दूर करने के लिए प्रश्न पूछा कि अन्तर और बाहर, चारों ओर व्यक्ति अपनी और परायी

---

१. अभिधर्मकोश व्याख्या, १–४, पृ. १३ (Lave) अर्थ वि. पृ. २८।
२. पालि साहित्य का इतिहास, पृ. ५३५।

वस्तुओं की तृष्णा (जटा) में बाँस की शाखा–जाल (जटा) के समान जकड़ा हुआ है। इसलिए हे गौतम ! मैं आपसे यह पूछता हूँ कि इस तृष्णा को कौन काट सकता है ?

अन्तो जटा बहि जटा, जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम ! पुच्छामि, को इमं विजटये जटं ॥[1]

भगवान् बुद्ध ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि जो व्यक्ति प्रज्ञावान् है, वीर्यवान् है, पण्डित है, भिक्षु (संसार से भयभीत होनेवाला) है, वह शील पर प्रतिष्ठित होकर चित्त (समाधि) और प्रज्ञा की भावना करते हुए इस जटा (तृष्णा) को काट सकता है—

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजटये जटं ॥[2]

बुद्धदत्त और बुद्धघोष के बाद और भी अनेक आचार्य हुए जिन्होंने पालि भाषा में अभिधम्म दर्शन को समझाने का अथक प्रयत्न किया है। उनमें प्रमुख ग्रन्थ और ग्रन्थकार इस प्रकार हैं—

३. आनन्द (८–९ वीं शती)—मूल टीका अथवा अभिधम्म मूल टीका (लीनत्थवण्णना)

४. अनिरुद्ध (१०–११ वीं शती)—(i) परमत्थ विनिश्चय, (ii) नामरूपपरिच्छेद और (iii) अभिधम्मत्थसंगहप्पकरण।

५. महाकास्सप (१२वीं शती)—(i) पोराण टीका, (ii) पठमपरमत्थप्पकासिनी अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि की अट्कथा टीका), (iii) दुतिय परमत्थप्पकासिनी—सम्मोहविनोदनी (विभंगणट्ठकथा), (iv) ततिय परमत्थप्पकासिनी—पञ्चप्पकरणट्ठकथा (धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान की अट्ठकथा)।

६. वाचिस्सर (१२ वीं शती)—(i) नामरूपपरिच्छेदटीका, (ii) अभिधम्माव-तारटीका।

७. सुमंगल (१२ वीं शती)—(i) अभिधम्मत्थविभाविनी, (ii) अभिधम्मत्थ-विकासिनी।

---

१. संयुत्तनिकाय, १·३·३,   २. वही, १–३–३,

८. छपद (१२ वीं शती)—( ) मातिकत्थदीपिनी, (ii) पट्ठान गणनानय, (ii) नामचारदीप अथवा नाम—चार—दीपनी, अभिधम्मत्थसंगहसंखेपटीका ।

९. अरियवंश (१५ वीं शती)—(i) मणिसारमञ्जूसा (अभिधम्मत्थविभावनी की टीका, (ii) मणिदीप (अट्ठसालिनी की टीका) (iii) अभिधम्म अनुटीका ।

१०. सद्धम्मालंकार (१६ वीं शती)—पट्ठानसारदीपकी ।

११ महानाम (१६ वीं शती)—अभिधम्ममूल टीका की अनुटीका ।

१२. प्रोम (१७ वीं शती)—वीसतिवण्णना (अट्ठ. की प्रारम्भिक २० गाथाओं की टीका) ।

१३ तिलोकगुरु (१७ वीं शती)—(i) धातुकथा टीका वण्णना (ii) धातुकथा अनुटीका वण्णना (iii) यमक वण्णना, और पट्ठान वण्णना ।

१४. सारदस्सी (१७ वीं शती)—(i)गूळहत्थदीपनी,(ii)विसुद्धिमग्गगण्ठिपदत्थ ।

१५. महाकस्सप (१७ वीं शती)—अभिधम्मत्थ गण्ठिपद ।

१६. सारदस्सी (१८ वीं शती) धातुकथा योजना ।

१७. लेदि सहदाव (१९ वीं शती)—परमत्थदीपनी टीका ।

१८. धर्मानन्द कोसम्बी (२० वीं शती)—(i) विसुद्धिमग्गदीपिका (ii) नवनीत टीका (अभिधम्मत्थसंगह पर) ।

इनके अतिरिक्त गन्धवंश (१९ वीं शती) में कुछ ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का और भी उल्लेख मिलता है—

१९. नवमोग्गलान	अभिधानप्पदीपिकं ।
२०. वाचिस्सरो	रूपारूपविभाग ।
२१. नवविमलबुद्धि	अभिधम्मपण्णरसट्ठान ।
२२. ?	विसुद्धिमग्गगन्थि ।
२३. ?	अभिधम्मगन्थि ।
२४. ?	विसुद्धिमग्गचुल्लनव टीका ।

आचार्य अनिरुद्ध और उनका अभिधर्म दर्शन

पालि भाषा में अभिधर्म पर लिखने वाले इन दार्शनिक आचार्यों में आचार्य अनिरुद्ध का स्थान मूर्धन्य है। उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता और चुम्बकीय व्यक्तित्व का दर्शन उनके ग्रन्थों में उपलब्ध है। दक्षिण भारत का यह स्थविरवादी आचार्य किस शताब्दी में हुआ, यह अभी भी विवाद का विषय बना हुआ है। ५ वीं शताब्दी से लेकर ११–१२ वीं शताब्दी तक का समय अनिरुद्ध के लिए

किया जा रहा है। विद्वानों की धारणा है कि वे इसी समय के बीच हुए होंगे। यह एक लम्बी सीमा है। मेरा मत है कि आचार्य अनिरुद्ध १०-११ वीं शती के होना चाहिए। उन्होंने आचार्य बुद्धघोष का विसुद्धिमग्ग, वसुवन्धु का अभिधर्म कोश, तथा आनन्द की अभिधम्म मूलटीका आदि ग्रन्थों का भलीभाँति पारायण किया होगा। अभिधम्म पिटक का स्वरूप तबतक स्थिर हो ही चुका था। इन सभी के आधार पर उन्होंने **अभिधम्मत्थ संग्रह** की रचना की है। भाषा, शैली तथा विषय के आधार पर उन्हें ४-५ वीं शताब्दी का नहीं माना जा सकता, जैसा कि सर्व श्री भदन्तरेवतधम्म और रामशंकर त्रिपाठी ने निश्चित किया है।[1] उन्हें बुद्धदत्त का 'कनिष्ठभ्राता' कहा गया है यह परम्परा भी इससे प्राचीन नहीं।

ईसा शताब्दी के प्रारम्भिक काल में ही पालि साहित्य के अध्ययन के लिए श्रीलंका ने अपना विशेष स्थान बना लिया था। और भारत में पालि साहित्य के स्थान को बौद्ध संस्कृत साहित्य ने ले लिया था। यही कारण है कि समय-समय पर भारत से बुद्धदत्त, बुद्धघोष जैसे प्रकाण्ड आचार्य पालि के अध्ययन के लिए श्रीलंका पहुँचे। परमत्थविनिच्छय के निगमन वाक्य के आधार पर यहाँ कहा जा सकता है कि अनिरुद्ध दक्षिण भारत के काञ्ची राज्य के अन्तर्गत कावेरी नगर के निवासी थे। उन दिनों कावेरी स्थविरवादी बौद्धधर्म का एक अच्छा केन्द्र था। बुद्धदत्त भी यहीं के निवासी थे और बुद्धघोष ने भी यहाँ अपना कुछ अमूल्य समय व्यतीत किया था। अनिरुद्ध भी उसी परम्परा में आते हैं। ये भी श्रीलंका विशेष अध्ययन के लिए गये थे। उन्होंने अपने अभिधम्मत्थसंगह की रचना श्रीलंका के अनुराधपुर के मूलसोम नामक महाविहार में की थी।

चारित्तसोभितविसालकुलोदयेन
सद्धाभिवुड्ढपरिसुद्धगुणोदयेन।
नम्बव्हयेन पणिधाय परानुकम्पं
यं पत्थितं पकरणं परिनिट्ठितं तं॥
पुञ्ञेन तेन विपुलेन तु मूलसोमं
धञ्ञाधिवासमुदितोदितमायुगन्तं।
पञ्ञावदातगुणसोभितलज्जिभिक्खू
मञ्ञन्तु पुञ्ञविभवोदयमङ्गलाय॥[2]

---

1. अभिधम्मत्थसंगह, हिन्दी अनुवाद; भा. १, प्रस्तावना, पृ. ३३।
2. अभिधम्मत्थसंगह, निगमन वाक्य।

अनिरुद्ध के अभिधर्म सम्बन्धी तीन ग्रन्थ मिलते हैं—परमत्थ विनिच्छय
म परिच्छेद और अभिधम्मत्थ संगह। उनमें अभिधम्मत्थसंगह अधिक
प्रय हुआ है। बर्मा में तो यह गीता के समान घर-घर में पढ़ा जाता है।
द्ध का एक और ग्रन्थ मिलता है अनिरुद्ध सतक।

अनिरुद्ध के इन ग्रन्थों में अभिधम्मत्थसंगह पर सर्वाधिक टीकायें लिखी
। बर्मी और सिंहली भाषाओं के अतिरिक्त पालि में निम्नलिखित लगभग
कायें मिलती हैं।

अभिधम्मत्थ संगहटीका	नवविमलथेर	१२-१३वीं शती
अभिधम्मत्थ विभावनी टीका	सुमंगल	१२वीं शती
अभिधम्मत्थसंगह टीका	धम्मकेतु (छपद)	१२वीं शती
परमत्थदीपनी टीका	लेदी सयाडो	१९वीं शती
अंकुर टीका	विमल सयाडो	१९वीं शती
नवनीत टीका	धर्मानन्द कोसम्बी	१९४१ ई०

संस्कृत अभिधर्म साहित्य

अभिधर्म पर संस्कृत में भी बहुत साहित्य लिखा गया है। टायसो में प्रमुख
इस प्रकार उल्लिखित हैं—

धर्मस्कन्ध	सर्वास्तिवादी	Taisho	१५३०
धातुकाय	,,	,,	१५४०
विज्ञानकाय	,,	,,	१५३९
संगीतिपर्याय	,,	,,	१५३६
सारिपुत्राभिधर्मशास्त्र	,,	,,	१५४८
ज्ञानप्रस्थान (कात्यायनीपुत्र)	,,	,,	१५४३
प्रज्ञप्तिशास्त्रपाद	,,	,,	१५३८
प्रज्ञप्तिपाद (वस्तुमित्र)	,,	,,	१५४१
अभिधर्मसार (धर्मश्री)	,,	,,	१५५०
संयुक्ताभिधर्मसार	,,	,,	१५५२
अभिधर्मसार व्याख्या (उपशान्त)	,,	,,	१५५२
अभिधर्मामृतसार शास्त्र (घोपक)	,,	,,	१५५३
अभिधर्मावतार (स्कन्धिल)	,,	,,	१५५४
सारसमुच्चय			

१५.	न्यायानुसार (संघभद्र)	सर्वास्तिवादी	Taisho	१५६२
१६.	समयप्रदीपिका (संघभद्र)	,,	,,	१५६३
१७.	अभिधर्मदीप और विभाषाप्रभावृत्ति (विमलमित्र)			
१८.	अभिधर्मकोष (वसुबन्धु)	सौत्रान्तिकवादी	,,	१५५८
१९.	अभिधर्म कोश भाष्य	,,	,,	
२०.	सूत्रानुरूपवृत्ति (विनीतभद्र)	,,	,,	
२१.	स्फुटार्थ व्याख्या (यशोमित्र)	,,	,,	
२२.	लक्षणानुसारी टीका (पूर्णवर्धन)	,,	,,	
२३.	उपयिका टीका (समथदेव)	,,	,,	
२४.	मर्मप्रदीपवृत्ति (दिङ्नाग ?)	,,	,,	
२५.	तत्त्वार्थ भाष्य टीका (स्थिरमति)	,,	,,	
२६.	लक्षणानुसार (गोमती)	,,	,,	
२६.	क्रमसिद्धि प्रकरण (वसुबन्धु)	,,	,,	
२८.	क्रमसिद्धि टीका (सुमतिशील)	,,	,,	
२९.	सत्यसिद्धि शास्त्र	बहुश्रुतीय		
३०.	अभिधर्म समुच्चय (नागार्जुन)			
३१.	योगाचारभूमिशास्त्र (असंग)			
३२.	अभिसमयालंकार (मैत्रेय)	माध्यमिक		
३३.	अभिसमयालंकार टीका			
३४.	अभिधर्म समुच्चय (असंग)—	विज्ञानवादी		
३५.	माध्यन्तविभंग और टीका			
३६.	धर्माधर्मविभंग			
३७.	अभिधर्म समुच्चय (स्थिरमति)			
३८.	अभिधर्म समुच्चय टीका (जिनपुत्र)			
३९.	अर्थविनिश्चय सूत्र और टीका			
४०.	अभिधर्म समयालंकारालोक (हरिभद्र)			

अभिधर्म दर्शन

उक्त अभिधर्म साहित्य में आचार्य अनिरुद्ध का **अभिधम्मत्थसंगह** ग्रन्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें ९ परिच्छेद हैं जिनमें स्थविरवादी अभिधर्म की लगभग सभी परम्पराओं का समावेश किया गया है। यहाँ हम उसी के आधार पर अभिधर्म दर्शन के सन्दर्भ में विचार करेंगे।

१. चित्त संगह

अभिधर्म दर्शन में मूलत: चार अर्थ निर्दिष्ट हैं—चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण। उन्हें परमार्थ भी कहा गया है क्योंकि उनका अपलाप नही किया जा सकता। चित्त स्पर्शादिक चेतसिकों द्वारा आलम्बनों का ज्ञान करता है। चेतसिक चित्त में उत्पन्न होने वाले धर्म हैं। रूप शीत, उष्ण आदि विरोधात्मक तत्वों से विकार ग्रस्त हो जाने वाला तत्व है तथा निर्वाण तृष्णा का उपशमन है। चित्त ४ प्रकार का होता है - कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर।

१. कामावचर चित्त—प्राय: काममूमि में उत्पन्न होने के कारण ये चित्त कामावचर चित्त कहे जाते है। कामभूमि में विकार भावों के मूलकारण तीन हैं-लोभ, द्वेष और मोह। इसलिए इन्हें हेतुक चित्त अथवा अकुशल चित्त कहा जाता है। इनकी संख्या १२ है।

१. कामावचर चित्त—५४

१. अकुशल चित्त (१२)

१. लोभमूल चित्त—८

क. सोमनस्स सहगत दिट्ठिगतसम्प्रयुक्त	असङ्खारिक
ख. ,,	सङ्खारिक
ग. सोमनस्स सहगत दिट्ठिगत विप्रयुक्त	असङ्खारिक
घ. ,,	सङ्खारिक
ङ. उपेक्खा सहगत दिट्ठिगत सम्प्रयुक्त	असङ्खारिक
च. ,,	सङ्खारिक
छ. उपेक्खा सहगत दिट्ठिगत विप्रयुक्त	असङ्खारिक
ज. ,,	सङ्खारिक

२. द्वेषमूल चित्त ८

ट. दोमनस्ससहगतपटिघसंपयुक्त	असङ्खारिक
ठ. ,,	सङ्खारिक

३. मोहमूल चित्त— २

क. उपेक्खा सहगतविचिकिच्छसंपयुत्त

ख. उपेक्खासहगत उद्धच्च सम्पयुक्त

जिनमें लोभ, द्वेष और मोह कारण नहीं होते वे कुशलचित्त अथवा अहेतुकचित्त कहे जाते हैं। अहेतुकचित्तों की संख्या १८ है—

२. अहेतुकचित्त (१८)

१. अकुसल विपाकचित्त – ७

अ. उपेक्षासहगत चक्षुर्विज्ञान
आ. ,, स्रोतविज्ञान
इ. ,, घ्राण विज्ञान
ई. ,, जिह्वा विज्ञान
उ. दु:ख सहगत कायविज्ञान
ऊ. उपेक्षासहगत सम्प्रतिच्छन्न चित्त
ए. ,, सन्तीरण चित्त

२. अहेतुक कुशलविपाक—८

प. उपेक्षासहगत कुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान
फ. ,, ,, स्रोत्रविज्ञान
ब. ,, ,, घ्राण विज्ञान
भ. ,, ,, जिह्वा विज्ञान
म. सुखसहगत काम विज्ञान
य. उपेक्षासहगतसंप्रतिच्छन्न चित्त
र. सौमनस्ससहगत सन्तीरण चित्त

३. अहेतुकक्रियचित्त – ३

ट. उपेक्षासहगत पञ्चद्वारावर्जनचित्त
ठ. मनोद्वारावर्जन चित्त
ड. सौमनस्स सहगत हसितोत्पाद चित्त

३. शोभनाचित्त—५९

शोभनचित्त का तात्पर्य है विशुद्ध चित्त। ऐसा चित्त अलोभादि गुणों से संप्रयुक्त हो जाता है। अभिधर्मप्रदीप में शोभन चित्तों का सम्बन्ध चित्त से न कर चेतसिक से किया गया है। पर यह उपयुक्त नहीं क्योंकि चेतसिक का दोष अथवा अदोष चित्त की अशुद्धि अथवा विशुद्धि पर अवलम्बित है। इन शोभनचित्तों की संख्या ५९ है।

२. कामावचर शोभन चित्त २४

१. कामावचर कुशलचित्त ८

य. सौमनस्ससहगत ज्ञान सम्प्रयुक्त		असंस्कारिक
र.	,, ,,	ससंस्कारिक
ल.	,, ज्ञान विप्रयुक्त	असंस्कारिक
व.	,, ,,	ससंस्कारिक
स. उपेक्षा सहगत ज्ञान संप्रयुक्त		असंस्कारिक
ष.	,, ज्ञान विप्रयुक्त	ससंस्कारिक
श.	,, ,,	असंस्कारिक
ह. उपेक्षा सहगत ज्ञान विप्रयुक्त		ससंस्कारिक

विभावनी टीका में कुशलचित्तों की उत्पत्ति श्रद्धा, प्रज्ञा आदि से बतायी गई है। उसकी संख्या अतीत आदि भेद से भिन्न करके असङ्ख्य तक निर्दिष्ट है।

> कम्मेन पुञ्ञवत्थूहि गोचराधिपतीहि च।
> कम्महीनादितो चेव गणेय्य नयकोविदो॥

२. सहेतुक कामावचर विपाकचित्त (८)

१. सौमनस्य सहगत ज्ञान संप्रयुक्त		असंस्कारिक
२.	,, ,,	ससंस्कारिक
३.	,, ज्ञानविप्रयुक्त	असंस्कारिक
४.	,, ,,	ससंस्कारिक
५. उपेक्षा सहगत ज्ञानसंप्रयुक्त		असंस्कारिक
६.	,, ,,	ससंस्कारिक
७.	,, ज्ञान विप्रयुक्त	असंस्कारिक
८.	,, ,,	ससंस्कारिक

सामान्य व्यक्ति के समान अर्हन्त भी दानादिक पुण्य कार्य करते हैं परन्तु उनका फल न होने से उनके कर्म कुशलकर्म नहीं होते, क्रियामात्र होते हैं। ये सहेतुक कामावचर विपाकचित्त आठ कामावचर कुशल चित्तों के विपाक (फल) हैं। वे लोभादि हेतुओं से उत्पन्न होते हैं। इसीलिए उन्हें सहेतुक कहा गया है।

३. सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त (८)

पूर्वोक्त सौमनस्य वेदना सहगत आदि के भेदों के समान सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त भी ८ प्रकार के होते हैं। अर्हन्तों में अविद्या, तृष्णा आदि अनुशयों के अभाव से ये क्रियाचित्त मात्र क्रियात्मक रहते हैं, फलोत्पादक नहीं होते।

इस प्रकार १२ अकुशल चित्तों तथा १८ अहेतुक चित्तों को छोड़कर शेष ५९ चित्त शोभनचित्त कहलाते हैं। उक्त ५४ कामावचर शोभन चित्तों (अकुशल १२, अहेतुक १८, शोभन २४), में विपाक २३ (कुशल ७, अहेतुक कुशल ८, महाविपाक ८), कुशल-अकुशल २० (अकुशल १२, महाकुशल ८,) तथा क्रियाचित्त ११ (अहेतुक ३, महाक्रियाचित्त ८) होते हैं।

२ रूपावचर शोभन चित्त (१५)

रूपावचर का तात्पर्य है रूप अर्थात् आकार का आवलम्बन कर चित्त में एकाग्रता लाना। एकाग्रता का अर्थ है ध्यान। ये ५ हैं वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता। ध्यान के इन पाँच अंगों के आधार पर रूपापवचर कुशलचित्त ५ प्रकार के हैं। इसी प्रकार रूपावचर विपाक चित्त के ५ और रूपावचर क्रियाचित्त के भी ५ भेद होते हैं। कुल मिलाकर रूपावचर शोभनचित्त के १५ भेद हुए।

३. अरूपावचर शोभन चित्त (१२)

अरूपावचर शोभनचित्त चित्त की वह अवस्था है जिसमें चित्त आकारहीन विषयों पर एकाग्र होने लगता है। यह चित्त भी एक विशुद्ध अवस्था का प्रतीक है। अरूपावचर कुशल चित्त में चित्त आकाश, विज्ञान, आकिञ्चन्य एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतन, इन चार निराकार आलम्बनों पर अपना ध्यान एकाग्र करता है। इसी प्रकार अरूपावचर विपाक चित्त और अरूपावचर क्रियाचित्त भी चार-चार प्रकार के होते हैं। इस प्रकार अरूपावचर शोभनचित्त के १२ भेद हुए हैं। ये चित्त आलम्बन के भेद से ४ प्रकार के होते हैं और कुशल, विपाक एवं क्रिया के भेद से १२ प्रकार के होते हैं।

४. लोकुत्तर शोभनचित्त (८)

अरूपावचर चित्त - चित्त के शुद्ध रूप का प्रतीक है। फिर भी उसमें चंचलता बनी रहती है। उस चंचलता को दूर करने के लिए १० संयोजनों का समूल विनाश होन चाहिए। ऐसा ही चित्त निर्वाण का साक्षात्कार करने वाला होता है। स्रोतापत्ति, सकदागामी, अनागामी और अर्हत्, ये चार मार्गचित्त लोकुत्तर कुशलचित्त के चार भेद हैं। इसी प्रकार लोकोत्तर विपाक चित्त के भी चार भेद हैं।

इस प्रकार अकुशल, कुशल एवं अव्याकृत आदि के आधार पर चित्तों की कुल संख्या ८९ होती है।

अकुशल			१२
कुशल	कामावचर	८	२१
	रूपावचर	५	
	अरूपावचर	४	
	लोकोत्तर	४	
विपाक	अकुशल विपाक	७	३६
	अहेतुक कामावचर कुशल विपाक	८	
	सहेतुक कामावचर कुशल विपाक	८	
	रूपावचर विपाक	५	
	अरूपावचर विपाक	४	
	लोकोत्तर विपाक	४	
अव्याकृत (क्रिया)	अहेतुक	३	२०
	कामावचर	८	
	रूपावचर	५	
	अरूपावचर	४	

चित्त की कुल संख्या ८९

भूमियों के अनुसार चित्तों की संख्या इस प्रकार है—

भूमि	चित्त
कामभूमि	५४
रूप भूमि	१५
अरूप भूमि	१२
लोकोत्तर भूमि	८
	कुल ८९

ये ८९ प्रकार के चित्त १२१ भी हो जाते हैं। स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हतमार्ग चित्त के ध्यान के पांच भेदों से ५ × ४ = २० भेद होते हैं। फलचित्त भी इसी प्रकार २० भेद वाला हो जाता है। इस प्रकार लोकोत्तर चित्त के ४० भेद हुए। इस प्रकार पुण्यचित्त ३७ और विपाक चित्त ५२ हुए अथवा कुशलचित्त ३७, अकुशल चित्त १२, विपाकचित्त ५२ तथा क्रियाचित्त २० (३७ + १२ + ५२ + २०)। इस प्रकार कुल १२१ भेद कुशल चित्त के हुए।

२. चैतसिक संग्रह

चैतसिकों के चार लक्षण होते हैं—(१) एकोत्पाद (जिन धर्मों का समान आलम्बन आदि प्रत्ययों से चित्त के साथ उत्पाद होता है) । (२) एकनिरोध (जो चित्त के साथ निरुद्ध होते हैं) (३) एकालम्बन (जो चित्त का आलम्बन होता है), और (४)अवस्तुक (जो पञ्चवोकारभूमि (पञ्चस्कन्ध) में चित्त के साथ रहता है) । इस प्रकार चैतसिक वह है जिसकी एक साथ ही उत्पत्ति एवं निरोध होता है तथा जिसका एक ही आलम्बन एवं वस्तु होती है ।

> एकुप्पाद निरोधा च एकालम्बनवत्थुका ।
> चेतोयुत्ता द्विपञ्ञास धम्मा चेतसिका मता ।।

इन चैतसिकों की संख्या ५२ है । अनिरुद्ध ने इसके तीन भेद किये हैं—अन्यसमान, अकुशल और शोभन स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, एकाग्रता, जीवितेन्द्रिय एवं मनसिकार, ये ७ चैतसिक सर्वचित्तसाधारण (सभी चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होने वाले) कहे जाते हैं । वितर्क, विचार, अधिमोक्ष, वीर्य, प्रीति एवं छन्द, ये ६ प्रकार के चैतसिक प्रकीर्णक हैं । इस प्रकार अन्यसमान चैतसिक (अन्य प्रकार के चैतसिकों के समान) के १३ भेद होते हैं—मोह, आह्रीक्य, अनपत्राप्य, औद्धत्य, लोभ, दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, स्त्यान, मिद्ध एवं विचिकित्सा, ये १४ चैतसिक अकुशल हैं । श्रद्धा, स्मृति आदि, ह्री आदि १९ चैतसिक शोभन साधारण हैं ।

सम्यग् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, एवं सम्यग् आजीव ये तीन विरतियां हैं । करुणा एवं मुदिता नामक दो चैतसिक अप्रामाण्य (प्रमाणाभाव वाले) हैं । तथा प्रज्ञेन्द्रिय को मिलाकर २५ चैतसिक (१९ + ३ + २ + १) शोभन चैतसिक कहे जाते हैं । इस प्रकार चैतसिकों की कुल संख्या ५२ हो जाती है—

अन्यसमान चैतसिक	१३	५२
अकुशल चैतसिक	१४	
शोभन चैतसिक	२५	

(१) सर्वचित्त साधारण चैतसिक सभी ८९ अथवा १२१ चित्तों में सम्प्रयुक्त होते हैं ।

(२) प्रकीर्णक (शोभन-अशोभन, दोनों में संप्रयुक्त होने वाले) चैतसिकों से सम्प्रयुक्त एवं विप्रयुक्त चित्तों की संख्या इस प्रकार है—

चैतसिक	विप्रयुक्तचित्त	सम्प्रयुक्तचित्त
१. वितर्क	६६	५५
२. विचार	५५	६६
३. अधिमोक्ष	११	७८
४. वीर्य	१६	७३
५. प्रीति	७०	५१
६. छन्द	२०	६९

(३) १४ अकुशल चैतसिक १२ अकुशलचित्तों में सम्प्रयुक्त होते हैं।

(४) श्रद्धा, स्मृति आदि, १९ शोभन साधारण चैतसिक सभी ५९ शोभनचित्तों में, ३ विरति चैतसिक १६ चित्तों में, २ अप्रमाण्य चैतसिक २८ चित्तों में, तथा प्रज्ञा ४७ चित्तों में सम्प्रयुक्त होती है। इनमें सम्प्रयुक्तचित्त के उत्पन्न होने पर जो चैतसिक चित्त के साथ उत्पन्न होते हैं वे नियतयोगी हैं और जो चित्त के साथ कभी उत्पन्न होते हैं और कभी उत्पन्न नहीं होते वे अनियत योगी हैं। नय दो प्रकार के होते हैं—सम्प्रयोगनय और संग्रहनय। सम्प्रयोगनय में चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होने वाले चित्तों को बताया जाता है और संग्रहनय में चित्तों से सम्प्रयुक्त होने वाले चैतसिकों को कहा जाता है। संग्रहनय की दृष्टि से चित्त दो प्रकार के होते हैं—सहेतुक और अहेतुक। उनमें चैतसिक इस प्रकार होते हैं—

सहेतुक	अनुत्तर (लोकोत्तर) चित्तों में	३६ चैतसिक
	महग्गत (रूपावचर-अरूपावचर) चित्तों में	३५ चैतसिक
	कामावचर शोभनचित्तों में	३८ चैतसिक
	अकुशल चित्तों में	२७ चैतसिक
अहेतुक	अहेतुक चित्त में	१२ चैतसिक

(५) लोकोत्तर चित्तों में चैतसिक इस प्रकार से होते हैं—

१. प्रथम ध्यान मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त	चैतसिक	३६
२. द्वितीय ध्यान मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त	चैतसिक	३४
३. तृतीय ध्यान मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त	चैतसिक	३४
४. चतुर्थ ध्यान मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त	चैतसिक	३३
५. पंचम ध्यान मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त	चैतसिक	३३

(६) महग्गत चित्तों में चैतसिक इस प्रकार से होते हैं—

१.	महग्गत	प्रथम ध्यान	में	सम्प्रयुक्त	चैतसिक	३५
२.	,,	द्वितीय	,,	,,	,,	३४
३.	,,	तृतीय	,,	,,	,,	३३
४.	,,	चतुर्थ	,,	,,	,,	३२
५.	,,	पंचम	,,	,,	,,	३०

(७) कामावचर शोभनचित्त में चैतसिक।

	कुशल	क्रिया	विपाक
प्रथम द्विक	३८	३५	३३
द्वितीय द्विक	३७	३४	३२
तृतीय द्विक	३७	३४	३२
चतुर्थ द्विक	३६	३३	३१

(८) अकुशल चित्त में चैतसिक।

	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ	पंचम
असंस्कारिक	१९	१९	१८	१८	२०
ससंस्कारिक	२२	२१	२०	२०	२२

(९) अहेतुक चित्तों में चैतसिक।

१.	हसितोत्पाद से सम्प्रयुक्त	१२
२. वोट्ठपन ३. सन्तीरण	से सम्प्रयुक्त	११
४.	मनोधातुत्रय एवं प्रतिसन्धियुगल से सम्प्रयुक्त	१०
५.	द्विपञ्चविज्ञान से सम्प्रयुक्त	७

३. प्रकीर्ण संग्रह

प्रकीर्णक संग्रह में अनिरुद्ध ने स्वभावभूत ५३ (चित्त १ + चैतसिक + ५२ = ५३) धर्मों का ६ प्रकार से संग्रह बताया है---वेदनासंग्रह, हेतुसंग्रह, कृत्यसंग्रह, द्वारसंग्रह, आलम्बनसंग्रह और वस्तुसंग्रह। ये सभी संग्रह परस्पर सम्बद्ध हैं। वीथियों का सम्यग्ज्ञान प्रकीर्णक संग्रह के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। चित्त और चैतसिकों का यहाँ संयुक्त वर्णन किये जाने के कारण इसे प्रकीर्णकसंग्रह कहा गया है।

१. वेदना के साथ चित्त चैतसिकों का सम्प्रयोग।

			सम्प्रयुक्तचित्त	चैतसिक
इन्द्रियों के भेद से	१. सुखावेदना	आलम्बन के भेद से	१	६
	२. दुःखावेदना		१	६
	३. उपेक्षावेदना		५५	४६
	४. सौमनस्य वेदना		६२	४६
	५. दौर्मनस्यवेदना		२	२१

२. मूल हेतु दो प्रकार के हैं---अकुशल हेतु और कुशल हेतु। अकुशल हेतु ३ हैं---लोभ, द्वेष और मोह, तथा कुशल एवं अव्याकृत हेतु ३ हैं---अलोभ,

अद्वेष एवं मोह। वे सहेतुक और अहेतुक दो प्रकार के हैं। इन हेतुओं के साथ चित्तचैतसिकों का सम्प्रयोग इस प्रकार होता है—

	चित्त	चैतसिक
अहेतुक	१८	१२
एकहेतुक	२	२०
द्विहेतुक	२२	४८
त्रिहेतुक	४७	३५

३. कृत्य संग्रह में चित्त-चैतसिकों को प्रतिसन्धि आदि १४ कृत्यों के द्वारा संग्रहीत किया गया है। कृत्य का तात्पर्य है–एक भव से दूसरे भव में जन्मग्रहण आदि करना। कृत्य के १४ प्रकार ये हैं—प्रति–सन्धि, भवङ्ग, आवर्जन, दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन, स्पर्श, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन, तदालम्बन, एवं च्युति। स्थान के भेद से ये कृत्य १० प्रकार के हैं—प्रतिसन्धि, भवङ्ग, आवर्जन, पंचविज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन, तदालम्बन एवं च्युति। स्थान का तात्पर्य है—किन्हीं तीन वीथि चित्तों के मध्यवर्ती चित्त से अविच्छिन्न काल।

४. द्वार ६ हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय एवं मन। वीथिचित्तों के प्रमुख उत्पत्ति के कारण होने से ही इन्हें 'द्वार' कहा जाता है। चक्षुर्द्वार में ४६ चित्त उत्पन्न होते हैं और पाँचों द्वारों में ५४ चित्त होते हैं। प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करने वाले १९ चित्त 'द्वारविमुक्त' कहलाते हैं तथा द्विपञ्चविज्ञानचित्त १०, महग्गत एवं लोकोत्तर जवन २६, इस प्रकार ३६ चित्त 'एकद्वारिक' हैं।

५. आलंबन संग्रह में चित्त चैतसिकों का संग्रह आलम्बन के माध्यम से किया जाता है। ये आलम्बन ६ प्रकार के हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य एवं धर्म। चित्त चैतसिक धर्मों के लिए ये 'रमण स्थान' कहे गये हैं। आलम्बन के चार विभाग हैं—काम, महग्गत, लोकोत्तर एवं प्रज्ञप्ति। उनमें २५ चित्त कामालम्बन, ६ चित्त महग्गतालम्बन, २१ चित्त प्रज्ञप्ति आलम्बन तथा ८ लोकोत्तर चित्त निर्वाणालम्बन करते हैं। वे किसी एक विभाग का ही आलम्बन करने वाले होते हैं। अत: उन्हें 'एकान्तालम्बन चित्त' कहा जाता है। कुछ ऐसे भी चित्त होते हैं जो दो या तीन विभागों का आलम्बन करने वाले होते हैं। उन्हें 'अनेकान्तालम्बनचित्त' कहा जाता है।

६ वस्तु संग्रह में चित्तचैतसिकों का विभाग वस्तु भेद के आधार पर किया गया है। चक्षु, श्रोत्र आदि रूपी धर्मों को चित्तचैतसिक धर्मों के आधार

होने के कारण 'वस्तु' कहा गया है। वस्तुएँ ६ प्रकार की है—चक्षुष, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय एवं हृदय।

४. वीथिसंग्रह

वीथि का तात्पर्य है "द्वारप्पवत्ता चित्तप्पवत्तियो"। अर्थात् नियमानुसार होनेवाली चित्त की प्रवृत्ति को 'वीथि' कहा जाता है। वीथि का अर्थ मार्ग है। अतः यहाँ उन द्वारों अथवा मार्गों का संग्रह किया गया है जिनकी अपेक्षा चित्तसन्तति उत्पन्न होती है। इस वीथिसंग्रह में ६ षट्कों का निर्देश है—६ वस्तुएँ, ६ द्वार, ६ आलम्बन, ६ विज्ञान, ६ वीथियाँ, एवं ६ प्रकार की विषय-प्रवृत्तियाँ। वस्तुएँ, द्वार आदि के भेद पूर्वोक्त अनुसार ही है। अतिमहद् आलम्बन, महद् आलम्बन, परीत्त आलम्बन, एवं अतिपरीत्त आलम्बन, ये पञ्चद्वार में, विभूत आलम्बन एवं अविभूत आलम्बन, दो मनोद्वार में, इस प्रकार कुल ६ प्रकार से विषयों में प्रवृत्तियाँ होती हैं।

ये वीथियाँ चित्त की स्थितियों का सूक्ष्मतम विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। मानव चित्त के व्यापार को जानने के लिए उनका ज्ञान होना अत्यावश्यक है। मुख्यतया ये वीथियाँ दो प्रकार की होती हैं—पञ्चद्वारवीथि और मनोद्वारवीथि। पञ्चद्वारवीथि द्वारा पाँच इन्द्रियों के आलम्बन से विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है और मनोद्वारवीथि द्वारा मन के माध्यम से विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है।

पञ्चद्वारवीथि--में ज्ञात विषयों को देखते ही "यह अमुकवस्तु है" यह ज्ञान चक्षु आदि पंचेन्द्रियों एवं मन की प्रवृत्ति का फल है। यह ज्ञान होने के पूर्व उसे निम्नलिखित ऐन्द्रियक और मानसिक क्रियायें करनी पड़ती हैं—(१) भवङ्ग—रूपालम्बन के दृष्टिगत होने से पूर्व की मानसिक दशा, (२) भवङ्गचलन—रूपालम्बन का प्रादुर्भाव हो जाने पर उत्पन्न चित्तप्रवाह, (३) भवङ्गविच्छेद—चित्तप्रवाह की पूर्व अवस्था की समाप्ति, (४) पञ्चद्वारावर्जन—विषय प्रवृत्ति के लिए पाँचों इन्द्रियों का सजग हो जाना, (५) चक्षुर्विज्ञान—चक्षु द्वारा रूप का दर्शन, (६) सम्पटिच्छन—रूप का सम्यग्ग्रहण, (७) सन्तीरण—दृष्ट विषय पर सम्यग् विचार, (८) वोट्ठपन—दृष्ट विषय पर निर्धारण अथवा व्यवस्थापन, (९) जवन—दृष्ट विषय के परिभोग अथवा त्याग की ओर वेग पूर्वक गया चित्तप्रवाह, तथा (१०) तदारमण—दृष्ट विषय की अनुभूतियों में लग जाना। वस्तु के जानने की यह प्रक्रिया जैनदर्शन में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, इन चार मार्गों से बतायी गयी है।

मनोद्वारवीथि—द्वारा, प्रसाद, सूक्ष्म, रूप, चित्त, चैतसिक, निर्वाण तथा प्रज्ञप्ति रूप विषयों का ज्ञान होता है। यहाँ मन पूर्वज्ञान और सुपरिचित विषयों की ओर ही प्रवृत्ति करता है। अतः इसमें भवंग, भवंगचलन, भवंग-विच्छेद, मनोद्वारावर्जन, जवन तथा तदारमण नामक ६ अवस्थायें होती हैं। मनोद्वारवीथि में दो प्रकार के आलम्बन होते हैं—विभूत (स्पष्ट) और अविभूत (अस्पष्ट)। मन में इन आलम्बनों की प्रवृत्ति के निम्न कारण हैं—दृष्ट, श्रुत, उभयसम्बद्ध, श्रद्धा, रुचि, आकारपरिवितर्क, दृष्टिनिध्यानक्षान्ति, ऋद्धिबल, धातुक्षोभ, अनुबोध आदि। यह कामजवनकार मनोद्वारवीथि है। अर्पणाजवन मनोद्वारवीथि में अर्पणा (वितर्क) सम्प्रयुक्त चित्त को आलम्बन में अभिनिरोपित करता है। अनिरुद्ध ने इन दोनों वीथियों के अतिरिक्त और भी वीथियों के नाम दिये हैं—स्वप्नवीथि, मरणासन्नवीथि, ध्यानवीथि, अवज्ञावीथि, निरोध समापत्तिवीथि, मार्गवीथि, फलवीथि आदि। इन सभी के जवन नियम और तदारमण नियम भी दिये गये हैं।

किस पुद्गल की सन्तान में कौन वीथिचित्त उपलब्ध होते हैं, इसका वर्णन 'पुद्गलभेद' में किया गया है। ये पुद्गल १२ प्रकार के होते हैं—४ पृथक्जन—दुर्गति–अहेतुक, सुगति–अहेतुक, द्विहेतुक, और त्रिहेतुक, तथा ८ आर्यपुद्गल—स्रोतापत्तिमार्गस्थ, सकृदागामि, मार्गस्थ, अनागामिमार्गस्थ, एवं अर्हत्मार्गस्थ तथा स्रोतापत्तिफलस्थ, सकृदागामिफलस्थ, अनागामिफलस्थ एवं अर्हत्फलस्थ। उनमें कौन–कौन वीथिचित्त प्रादुर्भूत होते हैं, इसके ज्ञान के लिए अभिधम्मत्थ संगह में पुद्गलभेद का तथा किस भूमि में कौन–कौन वीथियाँ होती है और उनमें कितने चित्त होते हैं, इसकी जानकारी के लिए भूमिविभाग का प्रतिपादन किया गया है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से यह अध्याय विशेष उपयोगी है। इसमें व्यक्ति की प्रवृत्तियों का परिज्ञान होता है। साथ ही क्षणिकवाद में ये सब किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, इसका ज्ञान भी वीथियों के माध्यम से हो जाता है।

५ वीथिमुक्त संग्रह

प्रतिसन्धि, भवङ्ग और च्युति ये वीथिवाह्य चित्त कहे गये हैं। वीथिमुक्त संग्रह में इन चित्तों की उत्पत्ति का क्रम वर्णित है। इसे चार चतुष्कों में नियोजित किया गया है—भूमिचतुष्क, प्रतिसन्धिचतुष्क, कर्मचतुष्क और मरणोत्पत्ति चतुष्क।

१. भूमिचतुष्क—प्राणी जहाँ उत्पन्न होते हैं वह भूमि कहलाती है। ये भूमियाँ चार प्रकार की हैं—अपाय, कामसुगति, रूपावचर और अरूपावचर।

१. अपाय का अर्थ है—अय (सुख) से विरहित। यह भूमि चतुर्विध है—निरय, तिरश्चीनयोनि, पैत्रविषय एवं असुर। निरय (नरक) आठ प्रकार के होते हैं- १. सञ्जीव (खण्ड-खण्ड किये जाने पर भी पुनः जीवित हो जाने वाला), २. कालसुत्त (जहाँ शरीर छिन्न-भिन्न किया जाता है), ३. संघात (जहाँ सत्त्वों को पीसा जाता है), ४. धूमरौरव (जहाँ नव द्वारों से धूम का प्रकोप होता है), ५. तापन (आग में सन्तप्त होना), ६. पतापन (तीक्ष्ण अस्त्रों पर जहां गिराया जाता है), ७. अवीचि (जहाँ अविराम दुःख होता है), और ८. उस्सद निरय (सर्वाधिक जहाँ दुःख दिया जाता है)।

कामसुगत भूमि—वह है जहाँ काम-तृष्णा के कारण सुख-भोग की सामग्री उपलब्ध होती है। यह भूमि सात प्रकार की है—१. मनुष्य भूमि, २. चातुर्महाराजिक भूमि (धृतराष्ट्र, विरूळ्हक, विरूपाक्ष एवं कुबेर, इन चार देवराजों की निवास भूमि), ३. त्रायस्त्रिंसभूमि (३३ माणवकों का उत्पत्ति स्थान, सुमेरु पर्वत के समीपस्थ), ४. यामाभूमि (दिव्य सुखी देवों का स्थान), ५. तुसिता (संतुष्ट देवों का स्थान), ६. निर्माणरति (अधिकाधिक सुख प्राप्ति का उद्योग और ७. परनिर्मितवशवर्ती। पूर्वोक्त चार अपायभूमि एवं सात काम सुगति भूमि को मिलाकर ११ कामावचर भूमि कहलाती हैं।

रूपावचर भूमि में ३ प्रथम ध्यान भूमि (ब्रह्मपरिषद्या, ब्रह्मपुरोहिता और महाब्रह्मा), ३. द्वितीय ध्यान भूमि (परित्ताभा, अप्रमाणाभा, एवं आभास्वरा), तृतीय ध्यान भूमि (परित्तशुभा, अप्रमाणसुभा, और शुभाकीर्णा), और ४. चतुर्थ ध्यान भूमि (बृहत्फला, असंज्ञिसत्त्वा एवं शुद्धावासा), इस प्रकार रूपावचर भूमि १६ प्रकार की होती हैं। इनमें रहने वाले रूपी ब्रह्माओं को लौकिक कामगुणों के प्रति अनुराग नहीं होता।

इन रूपी ब्रह्माओं के ऊपर ४ अरूपी भूमिका होती है—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानान्त्यायन, अकिञ्चन्यायतन एवं नैवसंज्ञानासंज्ञानायतनभूमि। इन भूमियों में आकाशानन्त्यायन विपाक आदि चित्त चैतसिकों से प्रतिसन्धि होती है।

२. प्रतिसन्धि चतुष्क—प्रतिसन्धि का तात्पर्य है नवीन भवों में चित्त, चैतसिक एवं कर्मज रूपों की उत्पत्ति अर्थात् जन्म ग्रहण करना। प्रतिसन्धि ४ प्रकार की होती है—अपाय प्रतिसन्धि, कामसुगति प्रतिसन्धि, रूपावचर प्रतिसन्धि एवं अरूपावचर प्रतिसन्धि। अपाय भूमि में चूंकि दुर्गति अहेतुक पुद्गल एक अकुशल कर्म विपाक ही होता है अतः प्रतिसन्धि भी यहाँ एक ही है। काम सुगति भूमि में मनुष्यों और असुरों की प्रतिसन्धियों पर विचार किया गया है।

यहाँ सभी का परम्परागत आयुप्रमाण भी दिया गया है। रूपावचर भूमि में ब्रह्माओं–महाब्रह्माओं की प्रतिसन्धि और आयु आदि का वर्णन है असंख्यात कल्पों और महाकल्पों की गणना में। अरूप भूमियों में उत्पन्न होना आरूप्य प्रतिसन्धि है।

३. कर्म चतुष्क—कर्म चार प्रकार के होते हैं। जनक, उपष्टम्भक, उपपीड़क और उपघातक। जनक कर्म कुशल-अकुशल चेतना से उत्पन्न वे कर्म हैं जो जन्म ग्रहण के कारण होते हैं। उपष्टम्भककर्म जनक कर्मों की फलदायक शक्ति को प्रबल बनाता है। उपपीड़क कर्म जनक कर्म की फलदायक शक्ति को कुशल कर्मों से कम करता है और उपघातक कर्म उस शक्ति को समूल नष्ट कर देता है। गुरुक, आनन्तर्य, आसन्न मरणावस्था में कृत), आचिण्ण (बुद्धिगत), औरकटत्ताकर्म ये चार कर्म विपाक दान की दृष्टि से होते हैं। दृष्ट धर्म वेदनीय, उपपद्यवेदनीय, अपर पर्यायवेदनीय और अहोसिकर्म (फल देने से बचे हुए कर्म), ये ४ कर्म पाक काल की दृष्टि से है। इसी प्रकार अकुशल कर्म, कामावचर कुशल कर्म, रूपावचर कुशल कर्म एवं अरूपावचर कुशल कर्म—ये ४ कर्म भेद विपाक स्थान के आधार पर हैं। अकुशल कर्म के ३ भेद हैं—१. कायकर्म (प्राणतिपात, अदिन्नादान, कामेसुमिच्छाचार , २. वाक्कर्म (मृषावाद, पिशुनवाक्, पुरुषवाक्, सम्प्रलाप), और मनोकर्म (अभिध्यालोभ व्यापाद, एव मिथ्यादृष्टि)। इसी प्रकार कामावचर कुशल कर्म भी ३ प्रकार के हैं। उनके १० भेद भी मिलते है दान, शील, भावना, अपचायन (सम्मान करना), वैयावृत्य, पत्तिदान (प्राप्त वस्तुका दान करना), प्राप्तानुमोदन धर्मश्रवण, धर्मदेशना एवं दृष्टि ऋजुकर्म। रूपावचर कुशल कर्म केवल मनःकर्म ही होते हैं। भावनामय होने से ध्यानांगों के आधार पर वे ५ प्रकार के होते है। अरूपावचर कुशल कर्म भी मनःकर्म ही होता है। आलम्बन के भेद से वे कर्म ४ प्रकार के होते हैं।

४. मरणोत्पत्ति चतुष्क—मरण के ४ कारणों की अपेक्षा से इसके ४ भेद हैं। ये चार कारण हैं—आयुक्षय, कर्मक्षय, आयु-कर्मक्षय, एवं उपच्छेदक (उपघातक) कर्म। इन चारों प्रकारों में से किसी एक प्रकार से ही प्राणियों का मरण सम्भव है।

६ रूपसंग्रह

यहाँ रूपों के विविध प्रकार से भेद-प्रभेद किये गये हैं। अभिधर्म दर्शन में साधारणतः चार प्रकार से इनका संग्रह किया गया है—समुद्देश, विभाग, समुत्थान, कलाप एवं प्रवृत्तिक्रम।

रूप समुद्देश—पृथ्वी, अप, तेजस् और वायु, इन४ महाभूत तथा इनसे उत्पन्न रूपों का विभाग ११ प्रकार से किया गया है—

१. निष्पन्न रूप (१८)

१. भूत रूप (४)—पृथ्वी, अप् तेजो और वायु

२. प्रसाद रूप (५)—चक्षुष् स्रोत, घ्राण, जिह्वा एवं काय

३. गोचर रूप (४)—रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा अप् धातुवर्जित भूतत्रय

४. भाव रूप, (२)—स्त्रीत्व और पुरुषत्व

५. हृदयरूप (१)—हृदयवस्तु

६. जीवित रूप (१)—जीवितेन्द्रिय

७. आहाररूप (१)—कवलीकार आहार

ये १८ रूप स्वभावरूप, सलक्षण (अनित्यता, दुःखता, अनात्मता से युक्त) रूप, निष्पन्न (जिनका उत्पादन किया जाता है) रूप, रूपरूप (विकार-जन्य), और सम्मसन (योगियों द्वारा विपस्सन्न ज्ञान से स्पृष्टव्य रूप भी कहे जाते हैं।

२. अनिष्पन्न रूप (१०)

८. परिच्छेद रूप (१)—आकाश

९. विज्ञप्ति रूप (२)—काय विज्ञप्ति और वाग्विज्ञप्ति

१०. विकार रूप (३)—रूप की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता एवं विज्ञप्तिद्वय

११. लक्षण रूप (४)—रूप का उपचय, सन्तति, जरता एवं अनित्यता।

इस प्रकार कुल मिलाकर रूपों के २८ (१८+२८) प्रकार होते हैं।

२. रूप विभाग—यह रूप अहेतुक, सप्रत्यय, साश्रव, लौकिक, कामावचर अनालम्बन एवं अप्रहातव्य ही है। अप्रत्यय, अनाश्रव आदि नहीं। और भी अनेक प्रकार से इनके भेद किये गये हैं—

१. आध्यात्मिक रूप—आत्मा के रूप में व्यवहृत होने वाले पञ्चस्कन्ध रूप पाँच प्रसाद रूप। शेष २३ रूप बाह्य रूप हैं।

२. वस्तु रूप—पाँच प्रसाद और एक हृदय रूप।

३. द्वार रूप—५ प्रसाद और २ विज्ञप्ति।

४. इन्द्रिय रूप—५ प्रसाद, २ भाव, १ जीवित।

५. औदारिक रूप–५ प्रसाद एवं रूपालम्बन आदि विषयगत १२ रूप औदारिक रूप, सन्तिके रूप एवं सप्रतिघरूप हैं।

६. उपादिण्ण रूप—तृष्णा, दृष्टि आदि द्वारा उपादकत्त रूप।

७. सनिदस्सन रूप—रूपायन सनिदर्शन रूप है।

८. गोचर ग्राहक रूप—चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, एवं काय नामक ५ प्रसादरूप आलम्बन का ग्रहण करने वाला।

९. अविनिर्भोग रूप—वर्ण, गन्ध, रस, ओजस, एवं भूतचतुष्क।

३. **रूप समुट्ठान**- रूप समुट्ठान में रूप धर्मों की उत्पत्ति के कारण बताये गये हैं। ये कारण ४ हैं—कर्म, चित्त ऋतु, एवं आहार। इनमें कर्म-समुट्ठान रूपों को २५ प्रकार के कुशल अकुशल कर्म और चित्त समुट्ठान रूपों को ७५ प्रकार के चित्त उत्पन्न करते हैं। ऋतु और आहार यथा समय स्थिति-क्षणको प्राप्त करने पर रूपों को उत्पन्न करते हैं।

४. **रूपकलाप विभाग**—अवयव धर्मों के कलाप (समूह) को रूपकलाप कहा जाता है। रूप की उत्पत्ति अन्योन्याश्रित है। यहां एक शब्द 'एक साथ' तथा 'एक' अर्थ में आया है। अर्थात् इन रूप कलापों की उत्पत्ति, स्थिति और निरोध एक साथ होता है तथा एक रूप कलाप में एक ही उत्पाद स्थिति और भङ्ग होते हैं। ये रूप कलाप २१ प्रकार के होते हैं।

रूपों के उक्त २८ प्रकारों की उत्पत्ति यथायोग्य कामलोक में होती है। प्राणि चार प्रकार के होते हैं—संस्वेदज (पसीने से उत्पन्न होनेवाले) औपपातिक (पूर्व भव से वर्तमान भव में उत्पन्न होने वाले, जैसे देव, नारकी आदि), और गर्भशयक के दो भेद हैं अण्डज और जरायुज। अण्डज में पक्षी वगैरह आते हैं। और जरायुज में मनुष्य, हाथी, घोड़ा, आदि आते हैं।

सत्त्व परम्परा में प्रतिसन्धि के उत्पादक्षण से लेकर कर्मज रूप उत्पन्न होते हैं। उसके बाद भवङ्ग चित्त उत्पन्न होता है। उनमें प्रथम भवङ्गचित्त को द्वितीय चित्त कहा गया है। द्वितीय चित्त के उपादान से चित्तरूपकलाप उत्पन्न होते हैं। उन रूपकलापों में तेजो धातु होती है। उससे ऋतुज रूपकलाप उत्पन्न होते हैं। बाह्य ऋतुज (हवा आदि) से संपर्क होने पर बाह्य ऋतुज रूप उत्पन्न होते हैं और ओस्जकरण के उपादान से आहार रूप उत्पन्न होते हैं। यह क्रम उसी प्रकार से बना रहता है जिस प्रकार से दीपक की लौ अथवा नदी के प्रवाह में अविच्छिन्नता देखी जाती है।

कर्मज रूपों का निरोध होने पर मरण होता है। मरण काल में च्युति चित्त से पूर्व १७ वें चित्त के स्थिति-काल से कर्मज रूप उत्पन्न नहीं होते। स्थिति-काल से पूर्व उत्पन्न कर्मज रूप च्युति चित्त के समकाल ही प्रवृत्त होकर निरुद्ध हो जाते हैं। तदन्तर चित्तज और आहारज रूप भी समाप्त हो जाते हैं। इन तीन प्रकारों से उत्पन्न होने वाले रूपों के निरुद्ध हो जाने पर शरीर मृत मान लिया जाता है। इस प्रकार काम भूमि में २८ असंबर्जित रूप भूमि में २३ एवं असंज्ञि भूमि में १७ रूप होते हैं तथा अरूप भूमि में कुछ भी रूप नही होते।

अन्त में अनिरुद्ध ने **निर्वाण** के विषय में कहा है कि **वान** का अर्थ है—तृष्णा। तृष्णा के विनष्ट हो जाने पर निर्वाण प्राप्त हो जाता है (वानतो निक्खन्तं ति निब्बानं)। वस्त्र अथवा धागे के समान ताना-बाना बुनने के कारण भी तृष्णा को **वान** कहा गया है। उसके दूर होने पर निर्वाण मिलता है। निर्वाण को अमृत, असंस्कृत एवं परमसुख कहा है। इसके दो भेद हैं-सोपधिशेष और निरुपधिशेष। **सोपधिशेष निर्वाण** मार्ग द्वारा क्लेशों का सर्वथा प्रहाण हो जाने पर होता है। अर्हन्तों के पञ्चस्कन्ध ही उपाधिशेष हैं। जब परिनिर्वाण हो जाता है तब यह विपाक विज्ञान और कर्मज रूप समाप्त हो जाता है। इसी को **निरुपधिशेष निर्वाण** कहा गया है। आकार भेद से इस निर्वाण को तीन प्रकार का भी माना गया है—शून्यता निर्माण (राग, द्वेषादि के साथ रूपस्कन्ध का समाप्त हो जाना), अनिमत्ति निर्वाण (निराकार) और अप्रणिहित निर्वाण (तृष्णा से विरहित)। निर्वाण के स्वरूप के विषय में बौद्धधर्म में अनेक कल्पनायें हैं जिन पर आचार्यों ने सयुक्तिक मन्थन किया है।

७ समुच्चय संग्रह

अनिरुद्ध ने इस संग्रह में रूपों का स्वभावानुसार संग्रह कर दिया है। यहां चित्त १, चैतसिक ५२, निष्पन्न रूप १८ एवं निर्वाण १, इन ७२ रूप धर्मों को वस्तुधर्म कहा गया है। इसे उन्होंने अकुशल, मिश्रक, बोधिपक्षीय और सर्व संग्रह के आधार पर चार भागों में विभाजित किया है।

१. अकुशल संग्रह—अकुशल कर्मों की उत्पत्ति में मुख्य रूप से लोभ, दृष्टि और मोह कारण होते हैं। इन्हीं को **आस्रव** कहा गया है। ये चार प्रकार के हैं—कामास्रव, भवास्रव, दृष्टि आस्रव एवं अविद्यास्रव। ऐसे ही ४ **ओघ** होते हैं जो सत्त्व को भवों में घुमाते रहते हैं। इन्हीं को **योग** भी कहा गया है जो सत्त्वों को संसार दुःखों में जुटाते हैं। इसी संदर्भ में ४ **ग्रन्थों** का भी उल्लेख

आया है—अभिध्या, व्यापाद, शीलव्रत परामर्श (मिथ्या धारणा) और इदं सत्याभिनिवेश (यही सत्य है इस प्रकार का सिद्धान्त)। इन्हीं को चार उपादानों के रूप में भी स्मरण किया जाता है। नीवरण ६ हैं—कामच्छन्द व्यापाद, स्त्यानमिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य , विचिकित्सा, एवं अविद्या। ये कुशल धर्मों का निवारण करने वाले धर्म हैं। ७ अनुशय हैं—कामराग, भवराग, प्रतिघ, मान, दृष्टि, विचिकित्सा और अविद्या। ये क्लेशोत्पादक होते हैं। १० संयोजन हैं जो संसार चक्र में बांधने वाले होते हैं कामराग, रूपराग, अरूपराग, प्रतिघ, मानस, दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श, विचिकित्सा, औद्धत्य एवं अविद्या। १० क्लेश हैं - लोभ, द्वेष, मोह, मान, दृष्टि, विचिकित्सा, स्त्यान, औद्धत्य, आह्रीक्य, एवं अनपत्राप्य।

२ मिश्रक संग्रह - यहां कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत धर्मों का मिश्रित रूप में संग्रह किया गया है। इसमें ६ हेतु हैं—लोभ,द्वेष, मोह, अलोभ, अद्वेष, ध्यान, अमोह। ध्यानाङ्गके ७ अवयव,हैं—वितर्क,विचार,प्रीति,एकाग्रता,सौमनस्य, दौर्मनस्य एवं उपेक्षा। मार्गाङ्ग (मार्ग के अङ्ग १२ हैं—सम्यग्यदृष्टि-संकल्प-वाक्-कर्मान्त-आजीव-व्याम-स्मृति-समाधि, मिथ्यादृष्टि, संकल्प, व्यायाम और समाधि। इन्द्रियां २२ हैं, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण जिह्वा, काय, स्त्री, पुरुष, जीवित, मन, श्रद्धा, सुख, दु.ख, सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि,प्रज्ञा, अनाज्ञातमाज्ञास्यामि, आज्ञा, तथा आज्ञात। ९ बल हैं—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि प्रज्ञा, ह्री, अपत्राप्य, आह्रीक्य और अनपत्राप्य। अधिपति (संबद्ध धर्मों के स्वामी) ४ हैं—छन्द, वीर्य, चित्त एवं मीमांसा। आहार (विपाक धर्मों के उपकारक) ४ हैं— कवलीकार, स्पर्श, मन: सञ्चेतना तथा विज्ञान।

३. बोधिपक्षीय संग्रह—बोधि पक्षीय (आर्यसत्यों का ज्ञान कराने वाला मार्ग) धर्म ३७ हैं—४ स्मृति प्रस्थान (काय वेदना, चित्त और धर्मानुपश्यना), ४ सम्यक् प्रधान, ४ ऋद्धिपाद (छन्द, वीर्य, चित्त तथा मीमांसा। ५ इन्द्रियां और ५ बल हैं—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा। ७ बोध्यंग—स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि तथा उपेक्षा। ८ मार्गाङ्ग—सम्यग्दृष्टि आदि। ये धर्म प्राय: लोकोत्तर चित्त में होते हैं।

४. सर्वसंग्रह—इसमें चित्त और चैतसिक, रूप, एवं निर्वाण, इन चारों परमार्थ धर्मोंका संग्रह किया गया है। इस संग्रह में ५ स्कन्ध (राशि) है—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। उपादान स्कन्ध (धर्मों के आलम्बन) ५ हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। आयतन (असाधारण कारण) १२ हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन रूप, शब्द, गन्ध, रस स्प्रष्टव्य, तथा

धर्म। धातु (अपने स्वभाव को धारण करने वाले धर्म, १८ हैं–चक्षु, श्रोत्र,घ्राण, जिह्वा, काय, रूप शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य, चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान जिह्वा विज्ञान, कायविज्ञान, मनोधातु, मनोविज्ञान धातु, एवं धर्म धातु।

आर्य सत्य ४ हैं— दुःख, दुःख समुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोध गामिनी प्रतिपदा। इस प्रकार यहाँ ७२ वस्तुसत् धर्मों का विभाजन किया गया है।

८. पच्चय संग्रह

प्रत्यय (पच्चय) का अर्थ है कारण, जितने संस्कृत धर्म होते हैं, सभी प्रत्यय पूर्वक उत्पन्न होते हैं। कर्म, चित्त, ऋतु, आहार, एवं आलम्बन आदि कारण रूप धर्मों द्वारा अभिसंस्कृत किये जाने वाले चित्त, चैतसिक एवं रूप धर्मों को संस्कृत कहा जाता है। इस संग्रह में दो प्रकार के प्रत्ययों का संग्रह किया गया है— प्रतीत्यसमुत्पादनय और पट्ठाननय। प्रतीत्य समुत्पाद नय में प्रत्यय (कारण) और प्रत्ययोत्पन्न (कार्य) ये दो धर्म हैं। अत: जो कारण सामग्री की अपेक्षा करके प्रत्ययोत्पन्न धर्मों को उत्पन्न करता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद है। पट्ठाननय में प्रत्यय और प्रत्ययोत्पन्न के अतिरिक्त प्रत्यय शक्ति का विशेष सम्बन्ध है (पट्ठान नयो पन आहच्चपच्चयट्ठितिमारब्भ पवुच्चति)।

प्रतीत्य समुत्पाद—में अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा-मरण शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य-उपायास, ये १२ परस्पर कारण होते हैं जिनसे दुःखस्कन्ध की उत्पत्ति होती है। अविद्या की उत्पत्ति में आस्रव कारण होते हैं और आस्रव की उत्पत्ति तृष्णा, उपादान और कर्म भवों से होती है। इनमें अविद्या और तृष्णा प्रधान हैं। इन दोनों में भी अविद्या प्रधान है क्योंकि अविद्या से आच्छन्न होकर तृष्णा की उत्पत्ति होती है।

इस प्रतीत्यसमुत्पाद में तीन अध्य (अतीत-अविद्या और संस्कार, अनागत-जाति और जरामरण, तथा मध्य-विज्ञान, नामरूप आदि ८ धर्म), अविद्या आदि १२ अंग, २० आकार (अतीत और प्रत्युत्पन्न भव में ५ फल और ५ हेतु,) ३ सन्धियां (आदि, मध्य और अन्त, और ३ वर्त (क्लेश, कर्म एवं विपाक) होते हैं। इन सभी में अविद्या और तृष्णा ये सम्पूर्ण प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र के मूल हैं।

पट्ठाननय में—२४ प्रत्यय हैं–हेतु, आलम्बन, अधिपति, अनन्तर, समनन्तर, सहजात, अन्योन्य, निश्रय, उपनिश्रय, पश्चाज्जात, पुरोजात, आसेवन.

कर्म, विपाक, आहार, इन्द्रिय, ध्यान, मार्ग, सम्प्रयुक्त, विप्रयुक्त, अस्ति, नास्ति, विगत और अविगत। इन सभी प्रत्ययों का अन्तर्भाव आलम्बन, उपनिश्रय, कर्म एवं अस्ति में हो जाता है।

६. कम्मट्ठान संग्रह

कर्मस्थान का अर्थ है भावना आदि कर्म का अधारभूत आलम्बन। यह कर्म स्थान दो प्रकार का होता है—शमथ एवं विपश्यना। शमथ कर्मस्थान कामच्छन्द आदि नीवरण क्लेशों को शमन (विनाश) करता है। यहां समाधि की प्रधानता है। महाकुशल एवं रूप कुशल प्रथमध्यान में सम्प्रयुक्त 'समाधि चैतसिक' ही शमथ है। महाकुशल एवं महाक्रिया चित्तों में सम्प्रयुक्त प्रज्ञा विशेष ही विपश्यना है। शमथ और विपश्यना की उत्पत्ति के लिए प्रयत्न करना 'भावना है।

शमथ कर्म स्थान में १० कसिण, १० अशुभ, १० अनुस्मृतियां, ४ अप्रमाण्य, १ संज्ञा, १ व्यवस्थान, एवं ४ आरूप्य होते हैं। ६ चरित (राग, द्वेष, स्नेह, श्रद्धा, बुद्धि एवं वितर्क), ३ भावनायें (परिकर्म, उपचार एवं अर्पणा), ३ निमित्त (परिकर्म, उद्ग्रह एवं प्रतिभाग) होते हैं। विपश्यना कर्मस्थान में शील, चित्त, दृष्टि, काङ्क्षावितरण, मार्गामार्गज्ञानदर्शन, प्रतिपदाज्ञानदर्शन, एवं ज्ञान दर्शन, इन सात विशुद्धियों का वर्णन है। इनके अतिरिक्त ३ लक्षण (अनित्य, दुःख एवं अनात्म), ३ अनुपश्यना (अनित्य, दुःख और अनात्म), १० विपश्यना ज्ञान (सम्मर्शन, उदय, व्यय, भङ्ग, भय, आदीनव, निर्विदा, मोक्तुकाम्यता, प्रतिसंख्या, संस्कारोपेक्षा, एवं अनुलोमज्ञान) को भी साधक के लिए जानना चाहिए। इन सभी का विस्तार से वर्णन योग साधना के सन्दर्भ में किया जा चुका है।

अभिधर्म का तुलनात्मक अध्ययन

बौद्ध धर्म मे दो ही ऐसे सम्प्रदाय हैं जिन्होने अभिधर्म पर सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन किया है। वे हैं थेर वाद और सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय। थेरवादियों के मत को प्रकट करने वाला अभिधर्म का मुख्य ग्रंथ है—'अभिधम्मत्थ संगहो, जो संक्षेपतः अभिधर्म में आए हुए धर्मों का वर्णन प्रस्तुत करता है। सर्वास्तिवादियों का अभिधर्म विषयक सर्वोत्तम ग्रंथ आचार्य वसुबन्धु (५ वी शती) द्वारा रचित 'अभिधर्म कोश' है। 'अभिधर्म कोश' बौद्धधर्म का विख्याततम एवं सर्वाधिक उपयोगी ग्रंथ है। इसमें आठ कोश स्थान और ६०० कारिकाएं हैं। आचार्य वसुबन्धु ने स्वयं इन कारिकाओं पर 'भाष्य' भी लिखा है। आचार्य यशोमित्र ने अभिधर्म भाष्य' पर व्याख्या ग्रंथ भी लिखा है।

जहां 'अभिधम्मत्थसंगहो' का विषय चित्त, चेतासक, रूप और नि
है वहाँ 'अभिधर्म कोश' धातु, इन्द्रिय, लोक, कर्म, अनुशय, आर्य पुद्गल,
एवं ध्यान पर विशद प्रकाश डालता है। इसके अतिरिक्त वात्सीयपु
के पुद्गलवाद के खण्डन के लिए पृथक् कोशस्थान (७ वां कोशस्थान) 'पु
विनिश्चय' नाम से परिशिष्ट के रूप में अन्त में दिया गया है। 'अभिधम्म
संगहो' अपनी विषय वस्तु के अन्तर्गत ही धातु, इन्द्रिय इत्यादि का विवे
प्रस्तुत करता है, जबकि 'अभिधर्म कोश' इन सबका पृथक्-पृथक् व
करता है।

बौद्धधर्म में धर्म की कल्पना उसकी अपनी विशेषता है। धर्म यद्यपि कई
में प्रयुक्त होता है जैसे-सत्य, कर्तव्य, नियम और धर्म विशेष इत्यादि, परन्तु बौद्ध
एवं दर्शन में धर्म शब्द की कल्पना अन्तिम वस्तु के रूप में की गई है। विशेष
से अभिधर्म में धर्मों की गणना की ओर ही अधिक झुकाव है। धर्मों
विभाजन पर ही विभज्यवादी जैसे अनेक सम्प्रदाय खड़े हो गए है।

थेरवादी परम्परा धर्मों को मुख्यतः दो विभागों में विभाजित क
है—संस्कृत एवं असंस्कृत। पुनः थेरवादी संस्कृत धर्मों के तीन विभाग
असंस्कृत धर्मों का एक ही विभाग करते हैं। वे संस्कृत में—चित्त, चैत
और रूप की गणना करते हैं तथा असंकृत में निर्वाण मात्र मानते हैं।

सर्वास्तिवादी परम्परा भी थेरवाद की तरह ही धर्मो के मुख्य दो
करती है। संस्कृत म वे चार प्रकार के धर्म मानते हैं और असंस्कृत मे तीन
को प्रधानता देते हैं। चित्त, रूप, चित्त सम्प्रयुक्त संस्कृत संस्कार एवं चि
विप्रयुक्त संस्कृत संस्कार ये ४ संस्कृत धर्म हैं। अभाव, प्रतिसंख्या निरोध
अप्रतिसंख्या निरोध ये तीन असंस्कृत धर्म है।

धर्मों की कुल गणना में थेरवादी १७० और सर्वास्तिवादी ७५ धर्म मा
हैं जैसे:—

धर्म		थेरवाद मे	सर्वास्तिवाद में
१. असंस्कृत-निर्वाण		१	३
२. संस्कृत	चित्त	८९	१
	चैतसिक	५२	४६ (चित्तसंप्रयुक्त संस्का
	रूप	२८	११
	चित्तविप्रयुक्तसंस्कार	×	१४
	कुल	१७०	७५

उपरोक्त मानचित्र से यह स्पष्ट है कि जहां थेरवादी असंस्कृत निर्वाण को एकविध ही मानते हैं वहां सर्वास्तिवादी असंस्कृतधर्म त्रिविध—आकाश, प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध, बतलाते हैं। थेरवाद में आकाश परिच्छेद रूप माना गया है। अतः यहां यह संस्कृत है। यहां एक और बात ध्यान देने योग्य है। वह है—अभिधम्मत्थसंगहोकार आचार्य अनुरुद्ध ने निर्वाण को एक रूप मानकर भी दो प्रकार का बतलाया है—सोपधि शेष निर्वाण और निरुपधिशेष निर्वाण। सर्वास्तिवाद में प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध उपरोक्त द्विविध निर्वाण के समकक्ष बैठते हैं। प्रतिसंख्या प्रज्ञा विशेष है। प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध दोनों ही जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त की अवस्था विशेष हैं।

जहां सर्वास्तिवादी चित्त को एकविध ही मानते हैं वहां थेरवादी चित्त के ८९ भेद करते हैं। ये सभी चित्त चार भूमियों पर अवलम्बित हैं—कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर चित्त भूमि। कामावचर चित्त अकुशल, कुशल, अहेतुक, विपाक और क्रिया रूप ५४ प्रकार के होते हैं। रूपावचर और अरूपावचर कुशल चित्त हैं। ये कुशलविपाक और क्रिया की अपेक्षा क्रमशः १५ और १२ प्रकार के होते हैं। लोकोत्तर चित्त ८ ही हैं। ये कुशल और विपाक रूप होते हैं। क्रिया रूप नहीं होते हैं। ये ही जब पांच ध्यानों की अपेक्षा से होते हैं तब ४० प्रकार के हो जाते हैं। ४० लोकोत्तर चित्तों को मिलाने पर चित्तों की संख्या १२१ हो जाती है।

थेरवादी चैतसिकों की संख्या ५२ मानते हैं और सर्वास्तिवादी ४६। ५२ चैतसिक में साधारण चैतसिक ७, प्रकीर्ण चैतसिक ६, अकुशल १४, कुशल २५, जिनमें साधारण कुशल १९, विरति ३, और अप्रामाण्य ३ आते हैं। ४६ चित्त सम्प्रयुक्त संस्कारों में चित्त महाभूमिक धर्म १० हैं—वेदना, संज्ञा, चेतना, स्पर्श, छन्द, प्रज्ञा, स्मृति, मनसिकार, अधिमोक्ष एवं समाधि और कुशल महाभूमिक धर्म १०, हैं—श्रद्धा, वीर्य, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अदोष, अहिंसा, प्रश्रब्धि एवं अप्रमाद। क्लेश महाभूमिक धर्म ६ हैं, मोह, प्रमाद, कौसीद्य, अश्रद्धा, स्त्यान और औद्धत्य। अकुशल महाभूमिक धर्म २ हैं, अह्री और अपत्रपा। उपक्लेशभूमिकधर्म १० हैं—क्रोध, म्रक्ष, मात्सर्य, इर्ष्या, प्रदास, विहिंसा, उपनाह, माया, शाठ्य एवं मद। अनियतभूमिक धर्म ८ हैं—कौकृत्य, मृद्धि, वितर्क, विचार, राग, द्वेष, मान एवं विचिकित्सा। यहां हम देखते हैं कि दोनों में चैतसिकों के ६ विभाग किये गये हैं। उनके नामों में कुछ विभिन्नता है, किन्तु विभागों में वर्गीकृत चैतसिक

प्रायः समान हैं। जहां थेरवाद साधारण कुशल चेतसिकों की संख्या १९ है वहां सर्वास्तिवाद में १० कुशल चेतसिक हैं। सर्वास्तिवाद में जहां कायचित्त की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, प्रागुण्य और ऋजुता रूप १० धर्म हैं वहां कुछ नये चैतसिक जैसे वीर्य, अहिंसा, और अप्रमाद मिलते हैं। सर्वास्तिवादी चित्त—संप्रयुक्त संस्कारों में थेरवादी विरतित्रय और अप्रामाण्य आदि तीन चैतसिक बिलकुल ही नहीं मिलते।

सर्वास्तिवादी ११ प्रकार का रूप मानते हैं—५ इन्द्रिय, ५ इन्द्रिय विषय और अविज्ञप्ति। अविज्ञप्ति की कल्पना इनकी सर्वथा अपनी मौलिक देन है जो थेरवाद में नहीं मिलती, थेरवाद परम्परा रूप को ११ प्रकार की मानती है। पुनः वहां इन्हें निष्पन्न रूप १८ प्रकार और अनिष्पन्न रूप १० प्रकार, इस तरह कुल १८ प्रकार स्वीकार किया गया है। ग्यारह भेदों में भूत रूप ४, प्रसादरूप ५, गोचर रूप ४, भाव रूप २ जीवितेन्द्रिय १, हृदयवस्तु १, आहार १, परिच्छेद रूप १, विज्ञप्तिरूप २, विकार रूप ३, और लक्षण रूप ४, कुल २८ रूप गिनाये गये हैं। यहां सर्वास्तिवाद में ५ इन्द्रिय प्रसाद रूप और ५ विषय गोचररूप में गृहीत हैं। इस तरह सर्वास्तिवादी पुरुष इन्द्रिय, आकाश आदि धर्मों को रूप के अन्तर्गत नहीं मानते। थेरवादियों के २८ धर्मों में से कुछ धर्मों को सर्वास्तिवादियों ने अपने चित्त विप्रयुक्त संस्कार विभाग के अन्तर्गत स्वीकार किया है जैसे जीवितेन्द्रिय आदि।

चित्त विप्रयुक्त संस्कार सर्वास्तिवादियों की निजी कल्पना है जो थेरवादियों में नहीं पायी जाती। सर्वास्तिवादियों के १४ चित्त विप्रयुक्त संस्कार हैं - प्राप्ति, अप्राप्ति, आसंज्ञिक, निरोधसमापत्ति, जाति, जरा, स्थिति, अनित्यता, नाम-काय, पदकाय, व्यञ्जनकाय, आसंज्ञिक समापत्ति सभागता, और जीवितेन्द्रिय। ये धर्म चित्त से नितरां असम्प्रयुक्त हैं तथा रूप स्वभाव भी नहीं हैं। इसी से ये चित्त विप्रयुक्त संस्कार कहलाते हैं।

इस प्रकार थेरवादी और सर्वास्तिवादी अभिधर्म दर्शन का सिंहावलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जहां दोनों संप्रदायों के अभिधर्म में धर्मों को लेकर काफी मतभेद है वहां उनके वर्गीकरण में किञ्चित अन्तर को छोड़कर अधिका-धिक समानता ही दृष्टिगोचर होती है। जहां कहीं दोनों की धर्म विषयक वृद्धि और न्यूनता दिखाई देती है वह केवलमात्र अभिधर्म के विकास का ही द्योतक है।

अभिधर्म के समूचे रूप को उक्त पृष्ठभूमि में देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध आचार्यों ने इस विषय को संसार और संसार से मुक्त होने की वास्तविक स्थिति को समझने-समझाने के साथ सम्बद्ध किया है। संसरण का मूल कारण है— मन अथवा भावों में विकार आ जाना। मन एक ऐसा कर्म-स्थल है जहां से कुशल और अकुशल आदि सभी प्रकार के कार्य प्रस्फुटित होते हैं। मृग-मरीचिका तृष्णा का जन्म मूलत: मानसिक स्थिति पर ही आधारित रहता है। इसी तरह विरात की स्थिति भी मन के माध्यम से होती है। यही कारण है कि प्राय: प्रत्येक दर्शन प्रणाली में मन पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया गया है।

बौद्ध परम्परा में, जैन परम्परा के समान, मन के सन्दर्भ में गहन चिन्तन किया गया है। 'मनोपुब्बंगमा धम्मा' और 'फन्दनं चपलं चित्तं' जैसे वाक्य मन के स्वरूप को भली-भांति स्पष्ट कर देते हैं। मन की वृत्ति चपला के समान चंचल बता देने से आधुनिक मनोविज्ञान की परिभाषा के समकक्ष अभिधर्म खड़ा हो जाता है। अभिधर्म के मन को चित्त एवं चैतसिकों का समन्वित रूप कहा जा सकता है।

यहां मन का सन्दर्भ दृष्टि से भी सम्बद्ध है। सत्-असत् कर्मों की उत्पत्ति का कारण यही दृष्टि अथवा भाव है। इसी दृष्टि अथवा भाव से समस्त मानसिक क्रियायें उत्पन्न होती हैं जिनका अध्ययन आज की परिभाषा में हम मनोविज्ञान के अन्तर्गत करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान का क्षेत्र अपेक्षाकृत बढ़ गया है। उसमें संवेदन, स्मृति, कल्पना आदि प्रवृत्तियों का अध्ययन लौकिक सोपान पर खड़े होकर किया जाता है पर बौद्ध मनोविज्ञान का सम्बन्ध विशेष रूप से आध्यात्मिक है। उसमें अकुशल भावों से कुशल भावों की ओर बढ़ने पर विशेष ध्यान दिया गया है। चित-चैतसिक भेदों की गणना उसी पर खड़ी की गई है। प्रतिसन्धि से मरण तक यह क्रम बना रहता है। इस दृष्टि से बौद्ध मनोविज्ञान का अपना महत्त्व है जैन मनोविज्ञान में बौद्ध मनोविज्ञान की अपेक्षा गम्भीरता और स्पष्टता अधिक है। उसमें ई० पू० द्वितीय शताब्दी से ही कर्म पर षट्खण्डागम जैसे विशाल काय ग्रन्थों का निर्माण होने लग गया था। इस विषय में और भी अनेक ग्रन्थों में यत्र तत्र विस्तार से चर्चा की गई है। कर्म के सम्बन्ध में जैन और बौद्धों की मान्यता समान-सी प्रतीत होती है। मात्र उनके भेद-प्रभेदों में शब्दों तथा विश्लेषण पद्धति का अन्तर माना जा सकता है।

जैन और बौद्ध साहित्य के अध्ययन से यह अधिक सम्भव लगता है कि बौद्ध मनोविज्ञान जैन मनोविज्ञान से अधिक प्रभावित रहा होगा। अभी अध्ययन का यह क्षेत्र अधूरा है। विद्वानों को इस पर चिन्तन कर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना चाहिए।

परिवर्त १०

बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार और कला

१. भारत में बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार

भगवान् बुद्ध ने अपना धर्मचक्र प्रवर्तन ऋषिपत्तन (सारनाथ—मृगदाव) से प्रारम्भ किया जहां उन्होंने अञ्ञात कोंडञ्ञ, भद्दिय, वप्प, महानाम एवं अस्सजि नामक पुराने पञ्चब्राह्मण साथियों को चतुरार्यसत्यों का उपदेश दिया। महावस्तु के अनुसार पूर्ण मालक और सभिय ने भी कुछ समय बाद यही दीक्षा ली थी। श्रेष्ठिपुत्र यश भी अपने मित्र-परिवार सहित बौद्धधर्म की शरण मे पहुंचा। अब तक बुद्ध का शिष्य कुल ५६ की संख्या तक पहुंच चुका था।

ऋषिपत्तन से भगवान् बुद्ध ने उरुवेला की ओर बिहार किया। बीच में ही कापासियवन (सासाराम के समीप) में भद्रवर्गीय क्षत्रियों को धर्मोपदेश देकर दीक्षित किया। उरुवेला में उरुवेलकाश्यप, नदी काश्यप और जटा काश्यप अपने लगभग ८०० शिष्यों सहित यज्ञक्रिया में संलग्न थे। बुद्ध ने वहां पहुंचकर अपनी अलौकिक चमत्कृति के बल पर काश्यप बन्धुओं को पराजित किया और सशिष्य उनको अपना अनुयायी बना लिया। इस अद्वितीय शक्ति का उल्लेखन सांची स्तूप के तोरण में भी द्रष्टव्य है।

बुद्ध इस समय तक एक प्रभावक व्यक्तित्व के रूप में सामने आ चुके थे। राजगृह पहुंचने पर राजा बिम्बिसार भी उनके प्रभाव से बच नहीं सके। उन्होंने भी बुद्ध का शिष्य होना स्वीकार किया और वेणुवन दान में समर्पित किया। यहीं राजगृह में संजयबेलट्ठिपुत्त भी अपने धर्म और दर्शन के प्रचार में संलग्न थे। उनके प्रधान शिष्य दो थे—सारिपुत्र और मौद्गल्यायन। बुद्ध के शिष्य अश्वजित् (अस्सजि) से भिक्षाटन काल में सारिपुत्र की भेंट हुई और उससे निम्नलिखित गाथा सुनकर बुद्ध से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि वह अपने मित्र मौद्गल्यायन के साथ बौद्धधर्म में दीक्षित हो गया। कालान्तर में ये दोनों व्यक्तित्व बुद्ध और बौद्धधर्म के प्रधान स्तम्भ बन गये। गाथा इस प्रकार है—

ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो एवं वादी महासमणो॥

तदनन्तर कुछ समय बाद बुद्ध ने नालान्दा की ओर बिहार किया। बीच में ही बहुपुत्रक चैत्य में महाकाश्यप (काश्यप अग्निदत्त, पालि—पिप्फलि माणव) से भेंट हुई। वह उस क्षेत्र का एक प्रभावशाली ब्राह्मण था। वार्तालाप के बीच बुद्ध ने सम्यक् प्रहाण का चतुःसूत्री उपदेश दिया—(१) वर्तमान पाप वासनाओं का क्षय करना, (२) भविष्य में उनकी वृद्धि को रोकना, (३) वर्तमान पुण्यों की सुरक्षा करना, और (४) यथाशक्ति उनकी वृद्धि करना। यह उपदेश सुनकर महाकाश्यप का सारा सन्देह समाप्त हो गया और वह बुद्ध का अनुचर बन गया। बौद्ध साहित्य में महाकाश्यप को बहुत सम्मान दिया गया है। बुद्धधर्म में उनका स्थान सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बाद ही आता है। भगवान् बुद्ध के लिए ये तीनों व्यक्ति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए।

राजा शुद्धोदन उदायी, छन्दक आदि राजपुरुषों के माध्यम से बुद्ध के पास अपना स्नेह निमन्त्रण राजगृह में ही पहुँचा चुके थे। बुद्ध ने इसे सहर्ष स्वीकार भी कर लिया था। राजगृह से ६० दिन में लगभग १६० मील पदयात्रा करते हुए वे कपिलवस्तु मे पहुँचे। वहाँ पूरे नगरवासियों ने उनका स्नेहिल स्वागत किया और उनके पद-चिह्नों पर अपनी आँखें बिछा दीं। बुद्ध के उपदेशों को सुनकर राजा शुद्धोदन और महारानी महाप्रजापति ने उनका धर्म-ग्रहण किया। इनके अतिरिक्त यशोधरा, आनन्द, अनुरुद्ध, भद्दिय, नन्द, देवदत्त, उपालि, छन्दक, और राहुल ने भी बुद्धधर्म की दीक्षा को स्वीकार किया।

भगवान् कपिलवस्तु से लौटे और राजगृह के पास सीतावन चैत्य में श्रावस्तीवासी अनाथपिण्डक से भेंट हुई। सृष्टि, आत्मा, कर्म आदि के विषय में बुद्ध के विचार सुनकर अनाथपिण्डक का मन सहसा उनकी ओर आकर्षित हो गया और श्रावस्ती आने का निमन्त्रण देने के साथ ही वहाँ बुद्धबिहार निर्माण कराने की भी इच्छा व्यक्त की। सारिपुत्त श्रावस्ती गये। और स्थल के चुनाव में उन्हें राजकुमार जेत का वन उपयुक्त दिखाई दिया। राजकुमार जेत की दृष्टि में उस वन की भूमि का कण-कण स्वर्णमुद्राओं के समकक्ष था। अनाथपिण्डक ने इसे सहर्ष स्वीकार किया। इस प्रकार जेतवन बौद्धधर्म का प्रधान स्थल हो गया। प्राचीन मुद्राओं मे भी इसका अंकन हुआ है।

श्रावस्ती पहुँचने पर राजा प्रसेनजित ने बुद्ध का अथक हार्दिक स्वागत किया। बुद्ध ने उसे सांसारिक अनित्यता तथा यज्ञादि की अनुपयोगिता पर सुन्दर विवेचन किया। यहीं शाक्यों और कोलियों के बीच उत्पन्न संघर्ष को शान्त करने का भी अवसर उन्हे मिला। पिता के अन्तिम दर्शन करने के लिए बुद्ध को एक

ुनः कपिलवस्तु आना पड़ा। वहाँ से फिर वैशाली आये और
। में आनन्द के आग्रह से महाप्रजापति के नेतृत्व में भिक्षुणी संघ का
। किया।

ास प्रकार बुद्ध ने ४५ वर्ष तक उत्तर प्रदेश और बिहार में परिभ्रमण
रने धर्म का प्रचार-प्रसार किया। इस बीच उक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त
ाधकपुत्त गामणी, महाकात्यायन, ज्योतिस्क, जीवक, अभयराजकुमार,
, उपालि, पंचशिख, विशाखा, सोणदण्ड, अंगुलिमाल, महालि, सीह,
;, सुनक्खत्त, देवदत्त आदि अनेक और भी व्यक्तियों से उनका सम्पर्क
और जो बाद में उनके शिष्य बने वैशाली से भंडगाम, हत्थिगाम,
म, भोगनगर आदि नगरों में भ्रमण करते हुए पावा पहुँचे। यहाँ तक
-पहुँचते बुद्ध का शरीर जर्जरित हो गया था। और चुन्द द्वारा दिये गये
मद्दव' से उनका काल और निकट आ गया। उसे वे पचा नहीं सके
ाहीं वे कालकवलित हो गये। इस महामानव की यही अन्तिम यात्रा थी।
त्रपिटक के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध ने उत्तरप्रदेश और
, विशेष रूप से, मगध एवं कोशल तक ही अपनी चारिका सीमित रखी
विनय पिटक में इस प्रदेश को 'मज्झिमाजनपदा' कहा गया है और
ीमावर्ती प्रदेश को पच्चन्तिम जनपद (अवन्ति आदि) कहा गया है।

द्ध के परिनिर्वाण के बाद ही संघभेद प्रारम्भ हो गया। फलत:
र्धारण के लिए राजगृह में एक सम्मेलन बुलाया गया जो प्रथम संगति
। से विश्रुत है। लगभग सौ वर्ष बाद दस वस्तुओं की विधेयात्मकता
चार करने के लिए वैशाली में द्वितीय संगति का आयोजन किया
इस समय तक थेरवादी (परम्परावादी) और महासांघिक (सुधारवादी)
दी निकाय के रूप में सामने आ चुके थे। इन्हें पाचेय्यक और पाच्छमक भी
या है। इनके वैशाली, अवन्ती, कौशाम्बी और मथुरा प्रधान केन्द्र
ौद्धधर्म इन प्रादेशिक केन्द्रों के माध्यम से विस्तार पाने लगा। फलस्वरूप
क भेद भी उभरने लगे। कौशाम्बी से अवन्ति-दक्षिणापथ की ओर
वादी, मथुरा से उत्तरापथ की ओर सर्वास्तिवादी और मगध से आन्ध्रपथ
र महासांघिक सम्प्रदाय अपने विचारों के प्रचार-प्रसार में प्रवृत्त हो
महासंघ से ही उत्तरकाल में महायान की उत्पत्ति हुई। चौथी पाँचवीं
ी तक उत्तर भारत में महायान बहुत लोकप्रिय हो गया। लगभग
ाती में महायान से वज्रयान जैसी अनेक शाखायें-प्रशाखायें निकलीं
ान्त्रिक बौद्धधर्म कहा गया। यही तान्त्रिक बौद्धधर्म बौद्धधर्म की अवनति
ा कारण बना।

अशोक के समय (ई० पू० २७४–२३२) तक स्थविरवादी सम्प्रदाय में ही अठारह भेद हो गये थे। अशोक स्वयं बौद्ध था या नहीं इसमें मतभेद हो सकता है पर उसने बौद्धधर्म के प्रचार–प्रसार में जिन विविध उपायों का अवलम्बन लिया, उससे अशोक की बौद्धधर्म के प्रति अभिव्यक्त अभिरुचि तो सर्वमान्य है ही। पाटलिपुत्र में आहूत तृतीय संगति इसका प्रमाण कहा जा सकता है। बौद्ध परम्परानुसार अशोक ने ८४,००० स्तूपों का भी निर्माण कराया। प्रस्तरकला के क्षेत्र में बौद्धधर्म का योगदान यहीं से प्रारम्भ होता है। अशोक के स्तम्भों में भी धर्मचक्र आदि अनेक बौद्ध प्रतीक उत्कीर्ण हैं। इसी समय बिहारों का भी सुव्यवस्थित निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

तृतीय संगीति का महत्व बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से विशेष है। मोग्गलिपुत्त तिस्स ने प्रत्यन्त जनपदों में बौद्ध धर्म को किस प्रकार व्यापक बनाया जाय, इस दृष्टि से एक योजना बनायी जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित भिक्षुओं को यह दायित्व सौंपा गया। मध्यान्तिक स्थविर को कश्मीर और गन्धार, महादेव को महिसकमण्डल, रक्षित को वनवासी, योतक धर्मरक्षित को अपरान्त, महाधर्मरक्षित को महाराष्ट्र, महारक्षित को योनक (ग्रीकराज्य), मध्यम (मज्झिम) को हिमवन्त, सोडाक तथा उत्तर को सुवर्ण भूमि तथा महेन्द्र स्थाविर को इट्टिय उत्तिय, सम्बल और भद्दिय स्थविरों के साथ ताम्रपर्णी (श्रीलंका) द्वीप भेजा गया। इन देशों मे बौद्ध प्रचारकों को सफलता भी मिली।

अशोक के समय में ही बौद्धसंघ की एकता समाप्तप्राय हो चुकी थी। उसको विकास और विस्तार का मूल कारण कहा जा सकता है। पुष्यमित्र शुङ्ग बौद्धों का घनघोर शत्रु था। फिर भी जन साधारण मे बौद्ध धर्म की लोकप्रियता कम नही हुई। भारहुत स्तूप, कार्ले की गुफायें, सांची का स्तूप, भवनी के स्तूप आदि इसके प्रमाण हैं। इतना ही नही, इसने मिलिन्द (Menonder) जैसे ग्रीक राजाओ को भी आकर्षित किया। इसीसे सम्बद्ध प्राचीन अनेक मुद्रायें भी मिलती है। मोग्गलिपुत्त तिस्स ने तो यवन देश जाकर वहां एक ग्रीक को दीक्षित किया जिसका नाम धर्मरक्षित रखा गया। धर्मरक्षित ने अपरान्तक देश मे बौद्धधर्म का कुशलतापूर्वक बहुत प्रचार किया। ग्रीकों ने भारत में बौद्ध कला के क्षेत्र में एक नयी शैली दी जिसका विकास पंजाब और उत्तर पश्चिमी भारत में हुआ।

अशोक के राज्यकाल मे बौद्धधर्म लगभग १८ सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इनमें से बहुत से भेद तो प्रादेशिक स्तर पर रहे। द्वितीय संगीति के

फलस्वरूप महासांघिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसने उत्तरकाल में महायान के रूप में विकास किया। महासांघिकों के अष्टनिकायों में एक व्यवहारिक, लोकोत्तरवाद, अपरशैल और उत्तरशैल विशेष प्रभावक रहे। स्थविरवाद से सर्वास्तिवाद (हैमावत) ये दो संघ पृथक् हुए। महासांघिकों की उत्पत्ति वैशाली में हुई पर उसका दक्षिण मे, विशेष रूप से धान्यकटक पर्वत के आसपास के प्रदेश में, अधिक हुआ। सातवाहनकाल इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। स्थविरवाद की अन्य शाखायें शुङ्ग काल से कुषाण काल तक अर्थात् लगभग ई. पू. २०० से ई. २००–३०० तक विकसित होती रहीं हैं। सर्वास्तिवाद ने मथुरा से नगरहर और तक्षशिला (गन्धार) से कश्मीर तक अपना प्रभाव जमाया तथा महीशासक और सम्मितीय ने दक्षिण भारत, लाट, और सिन्ध में लोकप्रियता प्राप्त की। धर्मगुप्त श्रीलंका भी गया पर वहाँ स्थविरवाद की प्रतिद्वन्दिता में उसे पीछे हटना पड़ा। चैत्यवादी निकाय ने धान्यकटक (आन्ध्र) में पैर जमाये। पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, सिद्धार्थक और राजगिरिक सम्प्रदाय इसी से अविर्भूत हुए हैं। महायान का विकास भी इन्हीं सम्प्रदायों से हुआ है।

कनिष्ककाल भी बौद्धधर्म के प्रचार–प्रसार की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। उसका साम्राज्य काबुल, गन्धार, सिन्ध, उत्तर–पश्चिम भारत, कश्मीर और मध्यदेश तक फैला हुआ था। मूलत: वह ईरानी था। बाद मे उसने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया। चतुर्थ संगति कनिष्क के धर्म–प्रेम का ही फल था। सर्वास्तिवाद की दृष्टि से इस संगीति का विशेष महत्त्व रहा है।

गुप्तकाल में राज्याश्रय न मिलने के बावजूद बौद्धधर्म के प्रचार–प्रसार में कमी नहीं हुई। गुप्तवंशीय राजा यद्यपि भागवत धर्म के विशेष अनुयायी रहे हैं पर उनकी दृष्टि बौद्धधर्म के प्रतिकूल नही रहा। कौशाम्बी, सांची, बोधगया, मथुरा आदि स्थानों पर प्राप्त उत्कीर्ण लेख इसके प्रतीक हैं कि उन्हें राज्य से पर्याप्त अनुदान मिला करता था। मथुरा, सारनाथ, नालन्दा, अजन्ता आदि को कलाओं ने गुप्तकाल के गौरव को दिगदिगन्त तक फैला दिया है। नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना भी इसी समय हुई थी।

फाहियान ने गुप्तकाल में ही भारत की यात्रा की थी। उस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्य था। फाहियान मध्य-एशिया में बौद्ध संस्कृति के प्रचार और प्रभाव को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। लोप–नार का दक्षिणी प्रदेश और कड़ा शहर हीनयानी सम्प्रदाय के गढ़ थे जहाँ हजारों की संख्या में भिक्षु रहते थे। खोतान और काशगर में भी उसने बौद्धधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की स्थिति

को सन्तोषप्रद बताया। बलोरतद्य पर्वत मालाओं के पास से सिन्धु नदी को पारकर फाह्यान भारत आया जहाँ उसने बौद्धधर्म का अच्छा प्रभाव पाया। उद्यान, गन्धार, तक्षशिला, पेशावर, नगरहार, अफगानिस्तान, पजाब, मथुरा, श्रावस्ती, पाटलिपुत्र, वाराणसी, चम्पा, ताम्रलिप्ति आदि देशों–प्रदेशों में फाह्यान घूमा जहाँ उसने हीनयान और महायान के विभिन्न सम्प्रदायों को निकट से देखा। इस बीच उसे बौद्धधर्म फलता–फूलता हुआ नजर आया। गुप्तकाल की दृष्टि से फाह्यान का यात्रा विवरण बहुत उपयोगी है।

सप्तम शताब्दी में हर्ष का साम्राज्य था। राजा हर्षवर्धन अपने जीवन के उत्तरकाल में बौद्ध बन गये थे। इसी समय युआन–च्वांग और ईत्सिग ने भारत यात्रायें की। युआन-च्वांग ने सप्तम शताब्दी के तृतीय–चतुर्थ दशक में भारत का भ्रमण किया। नगरहार (जलालाबाद) में उसने ६३० ई० में प्रवेश किया। गन्धार, प्रवरपुर (श्रीनगर), साकल (स्यालकोट), उत्तर–मध्यभारत, कन्नोज, प्रयाग आदि प्रदेशों में भ्रमण किया। श्रीहर्ष से भी उसकी भेंट हुई। इस समय भी बौद्धधर्म की स्थिति अच्छी थी। ईत्सिग ने सप्तम शताब्दी के सप्तम–अष्टमदशक में भारत यात्रा की। इस समय भी भारत में हीनयान और महायान सम्प्रदायों की स्थिति अच्छी थी। नालन्दा, बलभी आदि स्थानों पर बौद्धधर्म के विशाल ज्ञानकेन्द्र थे।

हर्ष के बाद बौद्धधर्म भारत में अधिक नहीं पनप सका। धीरे–धीरे उसका प्रभाव कम होता गया। बौद्धों में प्रचलित तात्कालिक साधना क्षेत्र शिथिलाचार का गढ़ बन गया था। इसी मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि में बौद्धधर्म का पतन भारत से प्रारम्भ हो गया। यद्यपि पालवंश का राज्याश्रय पाकर बौद्धधर्म अपनी स्थिति पुन: मजबूत बना सकता था पर ऐसा हो नहीं सका। यद्यपि नालन्दा के अतिरिक्त विक्रमशिला, ओदन्तपुरी और सोनपुरा जैसे शिक्षाकेन्द्र बौद्धधर्म के प्रचार–प्रसार में लगे थे पर लगभग १२ वीं शती के बाद वे बौद्धधर्म को भारत में अपनी पुरानी स्थिति में नहीं ला सके।

लगभग १२ वीं शती के बाद बौद्धधर्म प्राय: भारत में अपनी साधना से दूर हो गया। फिर भी उसका प्रभाव बौद्धेतर सम्प्रदायों पर बना रहा। उदाहरण के तौर पर महाराष्ट्र के सन्तों को लिया जा सकता है जिन पर बौद्धधर्म की अक्षुण्ण छाप है। ज्ञानेश्वर, एकनाथ आदि सन्तों ने अपने अधिकांश सिद्धान्त बौद्ध सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में रचे हैं, भले ही वहाँ उनके नामों में परिवर्तन कर दिया गया हो। उड़ीसा आदि प्रदेशों में भी इसी स्थिति को देखा जा सकता है।

२. विदेशों में बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार[1]

लगभग १२ वीं शती के बाद बौद्धधर्म यद्यपि अपनी मातृभूमि से लुप्त प्राय हो गया, पर इसके पूर्व ही उसने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान विदेशों में जमा लिया था। इस दिशा में अशोक का योगदान अविस्मरणीय रहेगा। तृतीय संगीति का फल यह हुआ कि बौद्धधर्म ने भारत की सीमा का उल्लंघन किया। उसने श्रीलंका, बर्मा, थाईलेन्ड, कम्बोडिया आदि दक्षिण देशों और नेपाल, तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान आदि उत्तरदेशों की जनता में अपना अमिट स्थान बना लिया। आज भी बौद्धधर्म की ज्योति इन देशों में फैली हुई है जो करोड़ों व्यक्तियों को आध्यात्मिक शान्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

श्रीलंका में बौद्धधर्म

श्रीलंका और भारत के बीच अतीत काल से ही सांस्कृतिक और राजनीतिक सम्बन्ध रहे हैं। अशोक के शिलालेखों में श्रीलंका का उल्लेख ताम्रपर्णी द्वीप के नाम से मिलता है। परम्परानुसार बुद्ध-परिनिर्वाण के ही वर्ष मे लाट (गुजरात) देश से विजय सिंह अपने मित्र परिवार सहित वहां पहुंचा। इसलिए उसका नाम सिंहल अधिक प्रचलित और ऐतिहासिक है। विजय सिंह ने ताम्रपर्णी द्वीप पर अधिकार किया और वहां की संस्कृति को भारतीय संस्कृति, विशेष रूप से लाटदेशीय संस्कृति से, ओतप्रोत कर दिया। बौद्धधर्म के पूर्व श्रीलंका में जैन धर्म भी प्रचलित था। महावंश से यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

विजय के पहुंचने के बाद लगभग २०० वर्ष तक श्रीलंका वासी बौद्धधर्म से अपरिचित रहे। अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने वहाँ जाकर सिंहलवासियों के मन मे बौद्धधर्म के प्रति आकर्षण पैदा किया। संघमित्रा ने बोधिवृक्ष का आरोपण अनुराधापुर में करके यह कार्य और अधिक प्रभावक बना दिया। देवानंपिय तिस्स (२४७-२०७ ई० पू०) ने इस पुण्य कार्य में अपना सभी प्रकार का सहयोग दिया। स्तूपों, चैत्यो और महाविहारों का निर्माण भी प्रारम्भ हो गया। महेन्द्र और संघमित्रा ने श्रीलंका में लगभग अड़तालीस वर्ष तक धर्म प्रचार किया। और वही उन्होंने सांसारिक शरीर छोड़ा। श्रीलंका के इतिहास में श्री लंका मे बोधिवृक्ष का आरोपण और बुद्धदन्त का आनयन, ये दो घटनायें बड़ी महत्त्वपूर्ण रही हैं।

---

१. यह भाग स्व० महापंडित राहुल सांकृत्यायन की 'बौद्धसंस्कृति' (इलाहाबाद) पर विशेष आधारित है। लेखक तदर्थ उनका आभारी है।

सिंहल और बौद्धधर्म के इतिहास में राजा वट्टगामणी (ई. पू. २९-१७) का समय बहुत महत्त्वपूर्ण है। द्रविणों के आक्रमणों को निष्फल करते हुए उसने बौद्धधर्म को सक्रिय बने रहने में पर्याप्त योगदान दिया। श्रुति परम्परा से चले आये त्रिपिटक को इसी ने लेखबद्ध कराया। यह कार्य चूंकि महाविहार में एकत्रित होकर भिक्षुसंघ ने किया था इसलिए सिंहल के बौद्धधर्म को महाविहार निकाय संज्ञा दे दी गई। कालान्तर में इस निकाय में संघभेद हुआ और वज्जीपुत्तीय आचार्य धर्मरुचि की शिक्षाओं के आधार पर अभयगिरि निकाय की स्थापना हुई। वैपुल्य पिटक को उसने स्वीकार किया। बाद में इसी में से सागलीय नामकी शाखा का जन्म हुआ। अभयगिरि और सागलीय निकाय अधिक समय तक प्रभावक नहीं बने रह सके। ५९८ ई. में उन दोनों निकायों ने महाविहार निकाय को स्वीकार कर लिया। इस समय तक भारत मे वज्रयान फैल चुका था। श्रीलंका भी उसके प्रभाव से बच नही सका। रत्नकूट आदि सूत्रों के साथ मन्त्र-तन्त्र का प्रचार उसी प्रभाव का परिणाम है। मध्यकाल में द्रविड़ आक्रमण अधिक तेज हुए। उसके बावजूद बौद्ध धर्म और साहित्य विकसित होता ही गया। उत्तर काल में बौद्धधर्म का उत्थान और पतन, दोनों देखे जा सकते हैं। सोलहवीं शताब्दी से पोर्तुगीज और डच, के आक्रमण होने लगे। बौद्धधर्म के विकास पर उन आक्रमणों का बुरा प्रभाव पड़ा। १८ वी शताब्दी के मध्यदशकों मे श्रामणेर मिगे तुवत्त गुणानन्द ने ईसाइयों से दार्शनिक लोहा लेकर बौद्धधर्म को पुनरुज्जीवित किया। तदनन्तर महास्थविर धर्माराम, सुमंगल और अनागारिक धर्मपाल जैसे विद्वानों ने श्रीलंका में बौद्धधर्म को अधिक पुष्पित और सुव्यवस्थित कर दिया। आज श्रीलंका बौद्ध देशों मे अग्रणी माना जाता है।

श्री लंका की संस्कृति, भाषा और कला को भारतीय संस्कृति, भाषा और कला से प्रभावित होना स्वाभाविक है। उसकी लिपि भी भारतीय लिपि से उद्भूत है। श्रीलंका के बौद्धधर्म का प्रभाव वर्मा, कम्बोडिया, थाईलेन्ड आदि देशों पर भी पड़ा जहाँ आज भी बौद्धधर्म अपनी प्रभावक स्थिति में है।

स्वर्णभूमि में बौद्धधर्म

मलाया वर्मा से लेकर जावा, सुमात्रा, बोर्नियो द्वीप समूह तक प्राचीन स्वर्णभूमि के अन्तर्गत आता था। महावंस (१२.४४-५५) के अनुसार तृतीय संगीति के फलस्वरूप देवानंपिय अशोक ने सोण और उत्तर को ३५३ ई. पू. में स्वर्णभूमि में बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए भेजा था। सांची में प्राप्त अभिलेख से भी यह प्रमाणित हो जाता है।

बर्मा

दक्षिण बर्मा में ५-६ वीं शती से बौद्धधर्म के अस्तित्व के प्रमाण मिलना प्रारम्भ हो जाते हैं। प्यू जाति की प्राचीन राजधानी श्रीक्षेत्र के समीप मौङ्-गन और ह्मावजा में उपलब्ध स्वर्णपत्रों पर ये धम्मा हेतुप्पभवा जैसे प्रसिद्ध बुद्धवचन उत्कीर्ण मिलते हैं। थेरवाद परम्परा ही इस समय यहाँ प्रचलित रही होगी। तलैङ्, क्रम्म आदि बर्मी जातियों में भी बौद्धधर्म लोकप्रिय हो गया था।

वर्मा में ग्यारहवीं शताब्दी में महायानी साधना का भी प्रचार बढ़ा। दीपंकर का १०५४ ई० में देहावसान होने पर शिन् अर्हन् ने राजा अनुरूद्ध के सहयोग से बौद्धधर्म की तान्त्रिक शाखा का प्रसार किया। राजा अनुरूद्ध ने थातोन के राजा मनोहर (मनुहा) पर आक्रमण कर त्रिपिटक हस्तगत किया। उसे नयी वर्णमाला मे लेखबद्ध किया गया। तलैङ् भिक्षुओं से बर्मी जनता ने हीनयान की दीक्षा ली। तब से यहाँ स्थविरवाद प्रचलित है। सिंहल राजा (१०६५-११२० ई०) के समय अनुरुद्ध ने श्रीलंका को सैन्य सहायता दी और बदले में उससे बुद्ध की दन्तधातु ग्रहण की। इसी दन्तधातु पर स्वेजिगान महास्तूप का निर्माण हुआ। बाद में त्रिपिटक को भी मंगाकर उसकाएक शुद्ध संस्करण तैयार किया गया। पगान में अभी भी बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है। अनिरुद्ध के पुत्र केन्जित्था (१०८४-१११२ ई०) ने भी अपने पिता की भाँति बौद्धधर्म का पर्याप्त संरक्षण किया। बोध गया के मन्दिर का उद्धार, बिहार निर्माण, तथा प्रदीप-रत्नदान का श्रेय केन्जित्था को ही है।

शिन् अर्हन् की मृत्यु (१११५ ई०) के बाद पंथगू संघाधिपति हुए। वे राजा नरत्थू के विरोध में सिंहल चले गये। वहाँ से ११७३ ई० मे वापिस आये। उनके बाद उत्तरजीव संघराज हुए। उत्तरजीव ससंघ सिंहल की यात्रा पर गये। साथ में चपटा श्रामणेर भी था। सिहल भिक्षुओं ने चपटा को सिंहलनिकाय मे दीक्षित किया। चपटा भिक्षु अपने कुछ साथियों के साथ सिहल मे ही रहे। ११८१–८२ ई० मे पगान वापिस पहुँचने पर वर्मा में सिंहल संघ और क्रम्मसंघ नाम के दो संघों की स्थापना हो गई। प्रथम महाविहार निकाय का सदस्य था तो द्वितीय सोण और उत्तर की परम्परा का अनुयायी था। चपटा के साथ राहुल, आनन्द, सीवली और तामलिन्द भिक्षु भी थे। उनमें राहुल ने भिक्षु अवस्था छोड़कर गृहस्थावस्था को स्वीकार कर लिया। शेष भिक्षु सिंहल निकाय का प्रचार करते रहे। सिथु राजा के बाद हृतिलो-मिलेळ,

क्यासवा और नरथिहपते ने राजगद्दी ग्रहण की। किन्तु उस समय तक वहाँ पर मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। १२८७ ई० में कुबले खान् की सेना ने पगान पर अधिकार भी कर लिया था।

म्रम्म और तैलङ् परस्पर विरोधी थे। उन दोनों को एक बर्बर घुमन्तु जाति शान् ने पराजित किया। उनमें से थीहथू ने बौद्धधर्म स्वीकार किया। आगे चलकर बौद्धधर्म का प्रचार बढ़ा। उस समय भिक्षु धम्मचेति (१४७२-७६ ई०) ने गृहस्थावस्था स्वीकारकर शिन्-सा-बू की सुपुत्री से विवाह कर राज्यशासन सूत्र सम्हाला। बौद्धधर्म का प्रभाव धम्मचेति के समय और अधिक बढ़ा। १४७२ ई० में उसने बोधगया जैसा मन्दिर बनवाने की घोषणा की। भिक्षु संघ में व्याप्त आचार-शैथिल्य को दूर करने के लिए उसने २२ भिक्षुओं को सिंहल भेजा। वहाँ से वे उपसंपदा लेकर १४७६ ई० में वापिस आये। और उन्होंने नये भिक्षुओं को उपसम्पन्न किया। म्रम्म संघ सिंहल संघ के समीप आता गया। धम्मचेति ने उसी को मान्यता दी।

धम्मचेति के समय तक वर्मा अनेक राज्यों में विभाजित हो गया था। इसी समय १५२७ ई० में थोहन्-व्या नामक राजा आवा का अधिकारी हुआ। उसने बौद्धधर्म पर घनघोर अत्याचार किये। उसके विरोध में १५४३ ई० में मिन्क्यियानोङ् ने उसकी हत्या कर अत्याचार को समाप्त किया। बयिन्नौङ् (१५५१-८१) ने तलैङ् का विद्रोह शान्तकर वर्मा को एक सूत्र में बाँधने में सफलता पाई। उसने अनेक स्तूप और बिहारों का भी निर्माण कराया। ब‍ापनौङ् के बाद म्रम्म और तैलङ्गों में पुन: संघर्ष प्रारम्भ हो गया। १७४०-४५ ई० में तलैङ्गों ने शिमम्म हृता बुद्धकेति के नेतृत्व में पेगू में अपना अधिकार जमाया। अलौङ्पया (१७५६-५७) ने बाद में इन्हें वर्मा से निकाल बाहर किया। वर्मा को एकसूत्र में बाँधने के लिए उसे बहुत कीमत चुकानी पड़ी।

धम्मचेति के प्रभाव से वर्मा में साधारणत: एक ही संघ रह गया था। उसमें भी मतभेद पैदा हो गया। मतभेद का मूल कारण था चीवर। लगभग १७०० ई० में गुणाभिलंकार भिक्षु ने एकांस चीवर पहिनने की रीति चलाई। इसके पूर्व पारुपण (प्रारोपण) प्रथा थी। जिसमें चीवर से दोनों कंधे ढके जाते थे। एकंसिक चीवर प्रथा का अन्त बोदाबुया (१७८२-१८१६ ई०) ने कराया। मूल त्रिपिटक भी पारुपण प्रथा का पोषक है। फिर भी एकंसिक प्रथा सिंहल की स्यामनिकाय में अभी भी प्रचलित है।

कीर्तिश्री राज सिंह (१७४८-७८ ई०) ने उच्चकुलीन भिक्षुओं को ही सिंहल में उपसम्पदा के योग्य बताया। फलत: १८०० ई० में कुछ भिक्षु वर्मा

गये जहाँ उन्होंने अमरपुर में ज्ञानाभिवंश से दीक्षा ली। सिंहल देश में वापिस आने पर **अमरपुर-निकाय** स्थापना हो गई। ये उभयांसी थे। इसी प्रकार सिंहल में एक और भी **रामञ्ञनिकाय** नाम का सम्प्रदाय है जोउभयांसी है। बाद में मिन-दोन-मिन (१८५२-७७ ई०) ने संगमर्मर की ७२९ पट्टियों पर त्रिपिटक को उत्कीर्ण कराया।

१८८५ ई० में वर्मा पर अंग्रेजों ने अधिकार किया। १९४८ ई० में स्वतन्त्र होते ही बौद्धधर्म वर्मा का राजधर्म बन गया। यहाँ वर्मी संस्कृति का रग-रग बौद्ध संस्कृति से प्रभावित देखा जाता है। महाबोधि सभा को इसका विशेष श्रेय है।

मलयद्वीप

सोण और उत्तर का प्रभाव मलयद्वीप पर भी पड़ा। यहाँ के जन-जीवन में बौद्ध संस्कृति का प्रभाव बहुत अधिक है। केद्दा के समीप ४-५ वीं शती का बौद्धमन्दिर प्रसिद्ध है। यहाँ एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है। इसी समय यहाँ महायान बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। लगभग ८ वीं शती तक यहाँ बौद्धधर्म अच्छी स्थिति में रहा।

सुमात्रा

गुप्तकाल में सुमात्रा भी बौद्धधर्म का प्रधान केन्द्र बन गया था। ६८४ ई० में जयनाग श्रीविजय का शासक था। श्रीविजय हिन्द-द्वीपसमूह में संस्कृति और शिक्षा का आकर्षक स्थान था। यहाँ महायान का विशेष प्रचार था। कहा जाता है कि सुवर्णद्वीप के प्रकाण्ड पण्डित धर्मकीर्ति के पास आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान (९८१-१०५४ ई) बारह वर्ष तक पढ़ते रहे। ७ वी से ११ वीं शती तक स्वर्णद्वीप (इण्डोनेशिया) का बहुत अधिक महत्त्व था। महायानी साधना का भी यहाँ प्रभाव रहा है।

जावा

जावा का भी भारत से सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। जावा का प्रथम राजा अजि-शका (प्रथम शताब्दी) भारतीय ही था। पाँचवी शताब्दी में गुणवर्मा ने बौद्धधर्म का यहाँ अच्छा प्रचार किया। जावा की संस्कृति पर दक्षिण भारतीय कला और संस्कृति का विशेष प्रभाव है। पल्लवों के पूर्व और सातवाहनों के बाद के धान्यकटक और श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंडा) में प्राप्त शिलालेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी तृतीय शताब्दी में सिंहल, चीन,

और किरात (विलात, मलय) तक बौद्धधर्म का प्रचार था। पल्लव लिपि और जावा-हिन्दचीन लिपियों में साम्य दिखाई देता है। श्रीविजय का शैलेन्द्र राजवंश महायानी तथा तान्त्रिक बौद्धधर्म का अनुयायी था। उस समय सातवीं शताब्दी में मगध और नालन्दा तन्त्रयान के प्रमुख केन्द्र थे। शैलेन्द्र वंशीय राजाओं ने दिग्विजयें भी कीं। १२६४ ई० के बाद उनका पतन होने लगा। शैलेन्द्र राजवंशों ने वास्तुकला पर विशेष ध्यान दिया। बरोबुदूर का महाचैत्य, चण्डीसरी, चण्डीसेवू, चण्डी मेन्दुत् और चण्डीपवान मन्दिर बौद्धकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दू संस्कृति का प्रसार भी यहाँ कम नहीं रहा।

बालीद्वीप

बालीद्वीप और जावा के बीच केवल डेढ़ मील की खाड़ी है। चीनी इतिहास से ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी में यहाँ बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय था। यहाँ बौद्धधर्म चीन से नही आया। प्रत्युत भारत से पहुँचा था। उग्रसेन भारतीय राजा था जिसने नवीं शताब्दी में बली पर शासन किया। ११ वीं शताब्दी में बाली पर जावा का शासन हुआ पर कादिरी राज्य का पतन होने पर बाली पुन: स्वतन्त्र हो गया। बाद में मुसलमानों और डचों के आक्रमणों से बाली भी नहीं बच सका। फिर भी यहाँ शैवधर्म के साथ-साथ बौद्धधर्म पल्लवित होता रहा। यहाँ प्राय: शिव और बुद्ध को एक माना जाता है। ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व की कोई वास्तुकला यहाँ उपलब्ध नहीं हुई। उत्तर कालीन मन्दिर अवश्य मिलते हैं।

बोर्नियो

बोर्नियो भी बौद्ध दृष्टि से महत्त्वपूर्ण द्वीप है। यह जावा से अठगुना बड़ा है। यहाँ के इतिहास से ज्ञात होता है कि लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी में बोर्नियों मे ब्राह्मण संस्कृति का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। पश्चिम बोर्नियो में प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट है कि लगभग १० वीं शताब्दी में यहाँ बौद्धधर्म का भलीभांति प्रचार हो गया था। दक्षिण-पूर्वी बोर्नियो मर्तपुर जिले मे गुनुङ्-कुपाङ् के बीच उत्खनन में बोधिसत्त्व मञ्जुश्री की पाषाणमूर्ति मिली है। कुछ बुद्ध मूर्तियाँ कोम्बेङ् में भी प्राप्त हुई हैं। इनकी कला भारतीय है। बोर्नियो में प्राप्त पीतल की एक बुद्ध मूर्ति भी कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। फिलिपीन और सेलीबीज में भी बौद्धकला के निदर्शन प्राप्त हुए हैं। इन सभी स्थानों पर मुसलमानों के आक्रमण हुए जिनसे बौद्धधर्म और कला की विशेष हानि हुई। इन सभी के बावजूद इण्डोनेशिया की

ात्राद्वीप समूह) की संस्कृति पर बौद्धधर्म की अमिट छाप पड़ी हुई है। म (थाईलैण्ड), काम्बुज (कम्बोडिया), और चम्पा (वियतनाम) भी ' के अभिन्न अंग है।

हिन्दचीन में बौद्धधर्म

बर्मा, जावा, सुमात्रा आदि देशों से आगे चलकर बौद्धधर्म ने हिन्दचीन की ा की। चीनी इतिहासकारों के अनुसार चम्पा राज्य की स्थापना १९२ में हुई थी। पर बौद्धधर्म का प्रभाव नौवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। समय इन्द्रवर्मा द्वितीय ने लक्ष्मीन्द्र लोकेश्वर नामक महाबिहार का निर्माण या। ९०२ ई० में यहीं स्थविर नागपुष्प ने 'प्रमुदित लोकेश्वर बिहार' पित किया। यहाँ पर उत्कीर्ण प्रशस्ति से यह ज्ञात होता है कि चम्पा में ाक बौद्धधर्म का प्रचार अधिक था। १३ वीं शती तक बौद्धधर्म यहाँ रहा शैव धर्म अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय था।

चम्पा के पश्चिम में एक प्रदेश था, जिसे चीनी इतिहासकारों ने फोनन् है। यहाँ का कौडिण्य राजा सोमवंशी कहा गया है। उसके बाद फान्-मन् (२२५ ई०) ने अपना राज्य मलाया तक विस्तृत किया। २४०–४५ में फूनान् से पाटलिपुत्र दूत भेजे गये। इसी समय उनका परिचय बौद्धधर्म आ। इस समय तक फोनन् भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत हो गया था। ८ ई० में भिक्षु नागसेन किसी प्रकार फोनन् पहुँचे। राजा जयवर्मा ने ४ ई० में नागसेन को चीन भेजा एक आवेदनपत्र के साथ। उस पत्र में चीन चलित बौद्धधर्म की प्रशंसा की गई थी। फोनन् में उपलब्ध शिलालेखों से स्पष्ट है कि इस समय तक वहाँ बौद्धधर्म का विस्तार हो चुका था। जयवर्मा ाल में अवलोकितेश्वर बुद्ध और वज्रपाणि की प्रतिमायें बन चुकी थी।

कम्बुज चम्पा के समान भारतीय नाम कम्बोज के अनुकरण पर रखा गया ा। यहाँ मूलत: शैवधर्म प्रचलित था। फूनान् पर भववर्मा ने अपना कार किया। उसके बाद महेन्द्रवर्मा, ईशानवर्मा, जयवर्मा प्रथम आदि ाओं ने कम्बुज पर शासन किया। यहाँ सर्वप्रथम जयवर्मा प्रथम (६६५) के शिलालेखों में ही बौद्धधर्म का उल्लेख मिलता है। उसके बाद लगभग शताब्दी तक कम्बुज शैलेन्द्र राजाओं के अधिकार में रहा) उसके बाद र्मा द्वितीय (८०२ ई०) सिंहासन पर बैठा। कुछ बौद्ध मन्दिरों का निर्माण कराया। जयवर्मा तृतीय (८६९–८७७ ई०) के काल में पल्लव शिल्प का अनुकरण दिखाई पड़ता है। यशोवर्मा के बाद सूर्यवर्मा

(१००२–४१ ई०) के राज्यकाल में बौद्धधर्म का उत्कर्ष बढ़ने लगा। आज यहाँ स्थविरवादी बौद्धधर्म प्रचलित है।

थाई वासियों का मूल स्थान युन्–नन् (चीन) था। इसी ओर चिन्दवीन, इरावदी, सालविन, मेकाङ्ग, प्रदेश लाल नदी के तट पर अवस्थित थे। इसी प्रदेश को उन्होंने गन्धार कहा है। परम्परानुसार इस प्रदेश को अशोक ने स्थापित किया था। थाई ने प्रारम्भ से ही अपनी स्वतन्त्रता के लिए चीन से संघर्ष किया। थाई में बहुत नाम भारतीय नामों का अनुकरण करनेवाले रखे गये। १४ वीं शती तक अयोध्या उनकी राजधानी रही। इस बीच बौद्धधर्म का प्रचार–प्रसार बढ़ता ही गया। आज भी थाई में बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय है।

अफगानिस्तान और मध्यएशिया में बौद्धधर्म

अफगानिस्तान और भारत का सम्बन्ध प्रागैतिहासिककाल से रहा है। बुद्ध के समय अफगानिस्तान दारयोवहु के साम्राज्य का अंग था और गन्धार के नाम से पुकारा जाता था। वर्तमान में वहाँ कन्धार और पेशावर (पुरुषपुर) प्रमुख नगर है। बुद्ध के जीवन काल मे ही उनका धर्म–सन्देश गन्धार तक पहुँच चुका था। परम्परानुसार अशोक ने ८४ हजार स्तूप बनवाये थे। उनमें एक तक्षशिला में था। तृतीय संगीति के फलस्वरूप मध्यान्तक को कश्मीर–गन्धार में बौद्धधर्म के प्रचार के लिए भी भेजा गया था। मौर्यवंश के बाद कश्मीर और गन्धार बौद्धधर्म के केन्द्रस्थल हो गये। गन्धार की मूर्तिकला प्रसिद्ध ही है। असंग और वसुबन्धु जैसे प्रकाण्ड बौद्ध दार्शनिक भी गन्धार से ही मिले। कपिशा (कोहदमन) भी भारतीय साहित्य मे बहुर्चचित नगरी रही है। मध्यएशिया के यातायात के लिए गन्धार (अफगानिस्तान) ही एक सरल और सीधा रास्ता था। लगभग दशवीं शताब्दी तक बौद्धधर्म यहाँ रहा है। हर विदेशी को उसने बौद्धधर्म का पाठ दिया है। आज भी यहाँ बौद्धकला अपनी जीवित अवस्था में मिलती है।

चीनी तुर्किस्तान और सोवियत तुर्किस्तान को मिलाकर मध्यएशिया कहा जाता है। पश्चिमी मध्यऐशिया का प्रसिद्ध नगर बुखारा बौद्धधर्म का स्मरण दिलाता है। मंगोलियन आज भी विहार के लिए बुखार कहा करते हैं। इस्लाम के पूर्व यहाँ बौद्ध–विहार था। गन्धारकला की मूर्तियों में बौद्ध मूर्तियाँ ही अधिक मिलती है। वक्षु नदी के दोनों ओर हिन्दुकुश और दरबन्द की पहाड़ियों के बीच बुखार देश था। वर्तमान मे उजबेक जाति के लोग दोनों ओर रहते हैं। उत्तरी भाग सोवियत में है और दक्षिणी भाग अफगानिस्तान में।

पश्चिमी मध्य–एशिया की जरफशां नदी का प्राचीन नाम सोग्द (सुग्ध) है। समरकन्द और बुखारा इसी के किनारे बसे हुए हैं। सोग्दी भाषा और संस्कृति भारतीय भाषा और संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित है। सोग्दी भाषा में कुछ बौद्ध ग्रन्थ भी मिले हैं। मानी के धार्मिक सिद्धान्तों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव अधिक था। २१६ ई० में मेसोपोतामिया में जन्मा मानी ईसाई, जर्थुस्ती और बौद्ध, इन तीन धर्मों का समन्वित रूप जनता के समक्ष रखना चाहता था। पर ईसाइयों ने उसे शैतान का रूप मानकर समाप्त करा दिया। इसके बावजूद मध्यएशिया की संस्कृति पर बौद्धधर्म का प्रभाव अमिट रहा है।

खोतन (संस्कृति कुस्तन) का प्राचीन नगर तरिम के दक्षिण भाग में है। ५७–७५ ई० में खोतन में कई बार विद्रोह हुआ। फलत: द्वितीय शती में खोतन राज्य की स्थापना हुई। तृतीय शती में विजय सम्भव के राज्य में यहाँ बौद्धधर्म आया। राजगुरु आर्यविरोचन ने खोतनी भाषा के लिए एक लिपि बनाई जिसका मूलाधार ब्राह्मी लिपि था। तभी से संस्कृत नामों का प्रारम्भ हो गया। विजय सम्भव की आठवीं पीढ़ी के राजा विजयवीर्य के गुरु भारतीय बौद्ध भिक्षु थे। इसने अनेक बिहारों और स्तूपों का भी निर्माण कराया। विजयवीर्य के पुत्र भी बौद्धधर्म में दीक्षित हुए। विजयवीर्य के पुत्र विजयधर्म और पौत्र विजयसिंह ने बौद्धधर्म की अपूर्व सेवा की। खोतान पर उत्तरकाल में विदेशियों ने अनेक बार आक्रमण किया। इस कारण यहाँ के बौद्धविहार और स्तूप नष्ट–भ्रष्ट हो गये। सप्तम शताब्दी के चतुर्थ दशक में तुर्की राज्य खोतान से समाप्त हुआ और विजयसिंह का राज्याधिकार आया। इसी समय आचार्य धर्मपाल वहाँ पहुँचे। बाद में तो खोतान चीन का अंग हो गया। और चार चीनी छावनियों में अन्यतम माना जाने लगा। आठवीं शताब्दी तक चीन का प्रभाव खोतान पर रहा। इसके बाद भोट का अधिकार हुआ। लगभग २०० वर्षों बाद पुन: चीन से सम्पर्क हुआ पर १० शताब्दी में मुसलिम आक्रमणों के कारण खोतान परतन्त्र हो गया और बौद्धधर्म समाप्त-प्राय हो गया। तत्कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि खोतान में महायानी साधना का प्रचार अधिक था। वहाँ बुद्ध की मूर्ति-पूजा बड़े उत्साह के साथ की जाती थी। ह्वेन-सांग भारत से लौटते समय भी यहाँ रुका। और वहाँ के बौद्धधर्म तथा साहित्य की स्थिति से अवगत कराया।

खरोष्ठी लिपि का प्रयोग गंधार में होता था। पश्चिमोत्तर प्रदेश के मनसहरा और शाहबाज गढ़ी में अशोक के लेख इसी लिपि में उत्कीर्ण मिलते हैं। ये लेख प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। देशी और विदेशी नामों का एक साथ प्रयोग मिलता है। धम्मपद की भाषा और उन प्राकृत अभिलेखों की भाषा में साम्य

दिखाई देता है। पूर्वी मध्य एशिया के दक्षिणी भाग में शकभाषा का प्रचलन था। संस्कृत में उपलब्ध बौद्ध संस्कृत साहित्य का अनुवाद इस भाषा में हुआ है।

काशगर और खोतान पर कनिष्क का भी अधिकार रहा है। उस समय बौद्धधर्म वहाँ अवश्य था। विशेष रूप से सर्वास्तिवाद का प्रचार था। चीन से पश्चिम की ओर कूचा भी बौद्धधर्म का केन्द्र था। सम्भव है कूचा और कुशद्वीप एक ही हो। सूत्रालंकार के अनुसार कनिष्क को कुषा जाति का बताया गया है। तृतीय शताब्दी में कूचा बौद्धधर्म का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ से चीनी सेना कुमारजीव को हठात् चीन ले गयी, जहाँ कुमारजीव ने बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया। सातवीं शताब्दी तक कूचा बौद्धधर्म का केन्द्र रहा है। हीनयान और महायान दोनों साधनायें समान रूप से प्रचलित रही हैं। हुवेनसांग ने यहाँ के बौद्धधर्म की स्थिति बहुत सन्तोषप्रद बतायी है। कूची भाषा और साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। प्रतीत्यसमुत्पाद, स्मृत्युपस्थान, शक्रप्रश्न, महापरिनिर्वाण, उदानवर्ग, उदानालंकार, अवदान, करुणापुण्डरीक, आदि ग्रन्थ कूची भाषा में उपलब्ध हुए हैं। तुखारी भाषा में इसी प्रकार जातक आदि अनेक ग्रन्थ मिलते हैं।

कूचा के पूर्व तूर्फान एक मरुद्वीप है। यहाँ लगभग ८ वीं शताब्दी तक बौद्धधर्म अपनी समृद्ध अवस्था में रहा। यहाँ अनेक हस्तलेख भी मिलते हैं। रूसी और जर्मनी विद्वानों ने उन हस्तलेखों को पढ़ने का अथक परिश्रम किया। तूर्फान के उत्खनन मे बौद्ध मूर्तियाँ, बौद्धचित्र, चीनी–ईरानी सिक्के, बोधिसत्त्वों के मुण्ड आदि विविध प्राचीन सामग्री उपलब्ध हुई। स्तूपों के नीचे मानो ग्रन्थ भी मिले। कूचा के पूर्व मे तुन–ह्वाङ् है, जो चीन की सीमा के सन्निकट है। यहाँ कभी चीन का राज्य रहा तो कभी तिब्बत का। फिर भी बौद्धधर्म का प्रचार–प्रसार बना रहा। यहाँ उपलब्ध बौद्ध गुफाएँ चतुर्थ शताब्दी की हैं। सम्भव है, यह प्रभाव समुद्रगुप्त का रहा हो। क्योंकि चीन मे बौद्धधर्म पाचवीं शताब्दी में पहुँचा। बाद में चीन का भी प्रभाव पड़ा। भित्ति चित्र और बौद्धमूर्तियों पर गन्धारकला का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। सहस्रबुद्ध गुहाविहार सर्वाधिक प्रसिद्ध है। जो चित्र उपलब्ध हुए हैं उनमें कुछ बोधिसत्वों अर्हन्तों और बुद्धमूर्तियों के हैं और कुछ सांसारिक जीवन के सन्दर्भ बताते हैं। उन चित्रों में चीनी और नेपाली कला विशेष रूप से दिखाई देती है। प्रायः सभी चित्र महायान से सम्बद्ध हैं। वे अधिकांश चित्र नवीं शताब्दी के हैं। स्टाइन को नीया के ध्वंसावशेषों में खरोष्ठी लिपि और प्राकृत भाषा की शताधिक पट्टियाँ प्राप्त हुई। एक तावी साधु वङ्–ताऊ को यहाँ का बड़ा भारी पुस्तक भण्डार मिला जिसे पेलियो नामक फ्रेन्च विद्वान ने १९०६–७

ई० में स्वयं देखा। उन्होंने उसकी सूची भी बनाई। हस्तलिखित ग्रन्थों और चित्रकला की दृष्टि से वह भण्डार विशेष महत्वपूर्ण है। जापानी विद्वान काउन्टर ओतानी ने भी १९०२ में कुछ मूल्यवान् सामग्री प्राप्त की।

तुर्की भाषा में बौद्ध साहित्य मिलता है। इसका प्राचीन साहित्य उइगुर-साहित्य के रूप में उपलब्ध होता है। हूणों के अन्तिम समय में खबेकी, तुर्की आदि प्रदेशों में बौद्धधर्म बढ़ा गया था। उइगुर पश्चिमोत्तर मंगोलिया के निवासी थे। उइगुर लिपि से ही मंगोल और मंचु लिपियाँ निकलीं। उइगुरों में बौद्धधर्म का प्रचार ई० पू० प्रथम शताब्दी के पूर्व ही हो गया था। उइगुर साहित्य में उपलब्ध बौद्धग्रन्थ तोखारी, शक, चीनी और तिब्बती से अनुवादित हुए हैं। यहाँ सर्वास्तिवाद और महायान बौद्धधर्म का विशेष प्रचार था। बाद में मुसलमानों के कारण लगभग १२ वी शताब्दी में बौद्धधर्म को बड़ा आघात लगा। पर सोवियत रूस अब उइगुर साहित्य को समृद्ध कर रहा है।

चीन में बौद्धधर्म

जनसंख्या की दृष्टि से चीन विश्व का सबसे बड़ा राष्ट्र है। संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से भी उसे बहुत प्राचीन कहा जाता है। शायद हिमयुग से ही उसका मानव इतिहास प्रारम्भ हो जाता है। सही इतिहास २२१ ई० पू० से प्रारम्भ होता है जब छिन् राजवंश की स्थापना हुई। चीनी लिपि का प्रभाव कोरिया, अनाम, जापान, उइगुर, मंगोल और मंचु लिपियों पर भी पड़ा।

ई० पू० ५ वीं–६ वीं शताब्दी में बुद्ध और महावीर के समान चीन में भी विचार क्रान्ति करने वाले कन्फूसी, मो-ती, और लाउज् हुए जिन्होंने चीन के जन जीवन मे आदर्शवाद और रहस्यवाद की शिक्षा दी। २२१–२०७ ई० पू० में चाउवंश के बाद छिन् वंश की प्रभुसत्ता हुई। चेङ् वहाँ का प्रथम सम्राट् बना। इस काल में चीनी भाषा और साहित्य का विकास उल्लेखनीय रहा। चीनी दीवार का निर्माण भी इसी के राज्यकाल मे हुआ। हूणों के आक्रमणों से बचने के लिए यह १५०० मील लम्बी अभेद्य दीवाल बनाई गई थी। उसकी मृत्यु के बाद चीन से उसके वंश की प्रभुसत्ता समाप्त हो गई। चीन पुन: अनेकता में फंस गया।

छिन् वंश के बाद पश्चिमी हान् (२०२ ई० पू०–९ ई०) वंश आया। पर उसे हूणों से कठोर संघर्ष करना पड़ा। अन्त में क-ती ने हूणों पर विजय पा ली। उसने चाङ्-क्याङ् को भी हूणों से लोहा लेने भेजा था पर हूणों ने

उसे दस साल तक बन्दी रखा। बाद में वह चीन आया ई० १२८ में। उसने बताया कि चीनी वस्तुएं ‌जेकुआन तथा युन् नन् के मार्ग से भारत पहुंचती हैं। इसी मार्ग से बाद में फा-सि-यान् ह्वेनसाङ्, ई-चिङ् वगैरह यात्री भी भारत में आये।

पूर्वी हानवंश ने २५–२२० ई० तक शासन किया। इसी वंश के राजा मिङ्-ती ने बौद्धधर्म ग्रहण किया। ई० ९ में पश्चिमी हानवंश लुप्तप्राय हो गया। सम्राट् ऊ-ती ने फरमाना तक अपना साम्राज्य विस्तृत किया। क्याङ्-क्याङ् के अनुसार इस सम्राट् के पास एक बुद्ध मूर्ति थी। चीन में सर्वप्रथम बौद्धधर्म प्रचारक ६७ ई० में पहुंचा।

कहा जाता है, पूर्वी हान्‌वंश के सम्राट् मिङ्-ती (५८–७५ ई०) ने स्वप्न में एक स्वर्णिम महापुरुष देखा जिसे बुद्ध कहा गया। सम्राट् ने वाङ्-त्सुन् के नेतृत्व में १७ व्यक्तियों के दल को बुद्ध के धर्म की खोज में भेजा। यह दल काश्यप मातङ्ग तथा शान्तिभिक्षु (धर्मरत्न) और धार्मिक ग्रन्थों के साथ राजधानी वापिस आया। काश्यप मातङ्ग तक्षशिला के आचार्य थे। उन्होंने सर्वप्रथम चीनी भाषा में 'द्वाचत्वारिंशत सूत्र' का अनुवाद किया शान्तिभिक्षु ने भी कुछ बौद्ध साहित्य का सृजन किया। इसके अतिरिक्त मिङ्-ती ने श्वेताश्व विहार बनवाकर बौद्धधर्म के अस्तित्व को और भी सक्षम बना दिया। मातङ्ग के बाद भी अनुवाद-परम्परा अक्षुण्ण बनी रहती है। इस परम्परा में पार्थिया लोगों ने अपना बौद्धधर्म-प्रेम प्रदर्शित किया। सोकाउ उनमें प्रमुख थे। उन्होंने लगभग ९५ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। कुछेक वर्ष बाद लोकक्षम् हुए जिन्होंने २३ ग्रन्थों का अनुवाद किया चीनी भाषा में। कुछ और भी अनुवादक थे। इन हानवंशीय विद्वान अनुवादकों ने ४३४ ग्रन्थों का अनुवाद किया। बौद्धधर्म की दृष्टि से हानवंश का राज्यकाल बहुत ही महत्वपूर्ण था। इस काल में बौद्ध साहित्य और कला का पर्याप्त विकास हुआ है।

हान्‌वंश के बाद चीन की एकसूत्रता नष्टप्राय हो गई। उसे शू (२२१–६४ ई०), वेई (२२०–६५ ई०) और ऊ (२२२–८० ई०) राजवंशों ने विभाजित कर लिया। फिर भी बौद्धधर्म की प्रगति में यह विभाजन व्यवधान नहीं बन सका। श्वेताश्व विहार अभी भी धर्म प्रचार का केन्द्र बना हुआ हुआ था। वेई काल में धर्मपाल, संघवर्मा, धर्मसत्य, पो-यङ् और धर्मभद्र प्रमुख अनुवादक थे। उनके सुखावतीव्यूह आदि अनुवादित ग्रन्थ मिलते हैं। ऊवंश में मू-चू नामक विद्वान (१७० ई०) ने बौद्ध दार्शनिक परम्परा प्रारम्भ की। कुछ उल्लेखनीय अनुवादक भी हुए जिनमें ची-चियेन् अधिक प्रसिद्ध

हुआ। ची-क्येन् (२२३–२५३ ई०) ने १२७ ग्रन्थों का अनुवादन किया। अवदानशतक, आलंबीसूत्र, ब्रह्मजालसूत्र, वसुसूत्र उनमें प्रमुख हैं। विघ्न (२२४ ई०) और लिङ-येन् ने धम्मपद आदि का अनुवाद किया। खाङ् सेङ्-ह्वो के संयुक्तावदान आदि १४ ग्रन्थ अनुवादित हैं। कहा जाता है, इसी समय किसी बौद्ध भिक्षु ने चाय का आविष्कार किया। चीनी मिट्टी के बर्तन और चीनांशुक पहले से ही प्रसिद्ध थे।

चतुर्थ शताब्दी में उत्तरी चीन पर हूणों का अधिकार हो गया। ये हूण मंगोलों से सम्बद्ध जबार थे। उस समय बौद्धधर्म की प्रतिद्वन्द्विता में ताओ-वाद खड़ा हुआ था। फिर भी वह बौद्धधर्म का प्रचार नहीं रोक सका। चतुर्थ शताब्दी के उत्तरार्ध में बौद्धधर्म कोरिया पहुंच गया। चीनी लिपि से भी वे परिचित हो गये। लगभग १५० वर्ष बाद कोरिया से ही बौद्धधर्म जापान गया। कोरिया में ताओ-आन के शिष्य हुइ-युवन को सुखावती, पुण्डरीक अथवा अमिताभ सम्प्रदाय (३१४–३८५ ई०) का प्रतिष्ठापक माना जाता है। यही कुमारजीव (३४४–४१३ ई०) के शिष्य चू-ताओ-सेङ् (३६७–४३४ ई०) भिक्षु ने ध्यान सम्प्रदाय (जापानी जेन) की स्थापना की। उसी समय बौद्ध सम्प्रदाय में चिकित्सा के द्वारा जनसेवा करना भी श्रेयस्कर माना जाने लगा। भिक्षु धर्मरक्ष, जीवक, यू-चा, यू-फ़ा-का-काई आदि चिकित्सक उल्लेखनीय हैं।

चीन में २८४ ई० - ४५० ई० के बीच बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद बहुत अधिक हुआ। पश्चिमी छिन्वंश (२१५–३१६ ई०) के राज्यकाल में इन अनुवादकों में ३६ भाषाओं के ज्ञाता धर्मरक्ष (२८४–३१३ ई०) प्रमुख हैं। कहा जाता है, उन्होंने २११ ग्रन्थों का अनुवाद किया था। प्रज्ञापारमिता, दशभूमिकसूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर जैसे ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। धर्मरक्ष ने अवलोकितेश्वर के नाम पर अवलोकित सम्प्रदाय की भी स्थापना की थी। अन-फा-किङ् तथा चू-षी: हिङ् भी कुशल अनुवादक थे। पूर्वी छिनवंश (३१७–४२० ई०) में प्राय: सभी राजा बौद्धधर्मावलम्बी थे। इस समय धर्मरत्न ने ११० संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया जिनमें अधिकांश सूत्रपिटक के ग्रन्थ सम्मिलित थे। मिलिन्द प्रश्न का भी रूपान्तरण इसी समय हुआ। कुमारबोधि, धर्मनन्दि, संघदेव और संघभूति भी प्रधान अनुवादक रहे हैं जिन्होंने सूत्रपिटक और सर्वास्तिवादी अभिधर्मपिटक के अनुवाद प्रस्तुत किये। अनुवाद कार्य पूरा करने के लिए सम्राट् फू-की-येन ने कठोर संघर्ष के बाद भी कूचावासी भिक्षु कुमारजीव को लाने का उपक्रम किया। किन्तु याङ्-चान द्वारा बीच में ही हत्या किये जाने के कारण कुमारजीव को प्राक्तन छिनवंश (३५ –६४ ई०) के संस्थापक याङ्-चान् के पास रुकना पड़ा। यह याङ्-चान् सर्वमान्य

बौद्ध सम्राट् था। उसके युग में बौद्धधर्म और साहित्य का बहुत प्रचार हुआ। कुमारजीव और कुमारजीव के गुरु बुद्धयश ने उसी के काल मे अनुवाद कार्य का सम्पादन किया। बुद्धयश कश्मीरी ब्राह्मण थे। हीनयान और महायान ग्रन्थों के गंभीर विद्वान थे। दीर्घागम आदि ग्रन्थों का उन्होंने अनुवाद किया। पांचवीं शताब्दी में विनय ग्रन्थों का अनुवाद प्रारम्भ हुआ। बुद्धभद्र और फा-हि-यान् ने महासांघिक विनय का अनुवाद किया। पुण्यतर ने सर्वास्तिवादी विनय, कुमारजीव ने महायानी विनय, और बुद्धयश ने धर्मगुप्तीय ने विनय का अनुवाद किया।

कुमारजीव (३३२–४१३ ई०) के पिता कुमारायन भारतीय भिक्षु थे। उन्होंने कूचा की राजकुमारी जीवा से विवाह कर लिया। कुमारजीव के होने पर उसकी माँ उसे उच्च शिक्षा देने के लिए कश्मीर ले आई। कुमारजीव ने लगभग बीस वर्ष की अवस्था तक अध्ययन किया और फिर माँ के साथ कूचा वापिस हो गये। कुमारजीव ने तीस वर्ष तक महायान का प्रचार किया। उनकी कीर्ति चीन तक पहुँची। बाद मे चीनी सम्राट् उन्हें चीन ले गये। कुमारजीव का संस्कृत, तुखारी, और चीनी भाषा पर असाधारण अधिकार था। उन्होंने अन्य भिक्षुओं को सहयोग देकर १०६ ग्रन्थों का अनुवाद किया। काशगर में कुमारजीव का परिचय भिक्षु सूर्यसोम से हुआ। उनके ही कारण कुमारजीव महायानी बन गये। कुमारजीव ने नागार्जुन-आर्यदेव के माध्यमिक शून्यवाद का अनुकरण-अभ्यास किया था। इसलिए प्रज्ञापारमिता से सम्बद्ध ग्रन्थों (पञ्चविंशति-साहस्रिका, दशसाहस्रिका, वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता, प्रज्ञापारमिताहृदय, प्रज्ञापारमितासूत्र) का अनुवाद किया। इन माध्यमिक ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने नागार्जुन की माध्यमिककारिका और उस पर आर्यदेव की टीका तथा आर्यदेव के शतशास्त्र का भी अनुवाद किया। हरिवर्मा का सत्यसिद्धिशास्त्र तथा कुछ अन्य ग्रन्थों—विमलकीर्ति निर्देश, सद्धर्मपुण्डरीक, सुखावतीव्यूह आदि का भी अनुवाद कुमारजीव ने किया। इस प्रकार कुमारजीव का सारा जीवन भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में ही व्यतीत हुआ।

उत्तरी चीन में ४२०-५८९ ई० के बीच में अनेक अनुवादक हुए। तोपा वंश (३८६-५३५ ई०) के राजाओं ने पाँच गुफायें बनवाईं जिनमें बुद्ध मूर्तियाँ उकेरी गईं। सबसे बड़ी बुद्ध मूर्ति ७० फीट ऊंची है। तोपा काल में छह विद्वानों ने अनुवाद का काम किया—धर्म रुचि, रत्नमति, बोधरुचि, बुद्धशान्त, बोधिधर्म और की-क्या-ये। इनमें अधिकांश भारतीय भिक्षु थे। धर्म रुचि के तीन ग्रन्थ मिलते हैं। रत्न रुचि ने योगाचार दर्शन के महायानोत्तर तन्त्र का भी अनुवाद किया। बोधि रुचि ने ३९ ग्रन्थों का अनुवाद किया जिनमें

त्रा, दशभूमिक मयशीर्ष, लंकावतार, धर्मसंगीति प्रमुख हैं। बुद्धशान्त
न समपरिग्रहशास्त्र आदि ६ ग्रन्थों का अनुवाद किया। बोधिधर्म ध्यान
के संस्थापक के को-क्या-ये के पांच अनुवादित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं
युक्त-रत्नपिटक और महायान परम्पर प्रमुख हैं। महायान परम्परामें बुद्ध
ने भिक्षुसंघों के प्रधान आचार्यों की परम्परा इस प्रकार दी हुई है—

महाकाश्यप, २. आनन्द, ३. शाणवास, ४. उपगुप्त (ई० पू० २५०),
, ६. मेचक, ७ वसुमित्र, ८. बुद्धनंदी. ९. बुद्धमित्र, १०. पार्श्व
णंयश, १२ अश्वघोष (प्रथम शती ई०), १३. वीर, १४. नागार्जुन
दी ई०), १५ कानदेव (आर्यदेव), १६. राहुल, १७. संघनन्दी,
यश, १९. कुमारलात, २०. जयंत, २१. वसुबन्धु, २२. मो-नो-लो,
-ले-हो, २४. सिंह, २५. ब-सि-या-सि-ता, २६. पू-लो-मो-मि-तो, २७ प्रज्ञा-
. बोधिधर्म, २९. हुई के (४८६-५९३ ई०) ३० सेङ-चम, ३१. ताऊ-
२. हुङ्-जिन (६०५-७५), और हुई-नेङ् (६३१-७१३)। इनमें
बाद के ९ नाम चीन परम्परा के स्थविरों के हैं।

री वेई (लोयाङ्) (३८६-५३५ ई०) के राज्यकाल में वाराणसी
गौतम प्रज्ञारुचि ने २३ ग्रन्थों का अनुवाद किया, जिनमे सद्धर्म स्मृति
, मध्यन्तानुगम और एकश्लोकशास्त्र प्रमुख ग्रन्थ है। यह युग बौद्ध
लिए स्वर्णयुग कहा गया है। लियाङ् सम्राट ऊ (५०२-५४९ ई०) ने
र्म के प्रचार मे जो योगदान दिया, उसे दृष्टिपथ में रखते हुए उसको
कहना अतिरञ्जित नहीं होगा। ४३४ ई० में चीनी महिलाओं को संघ में
बनने का अवसर मिला। इस समय की कला भी प्रगति पर थी। उस
शिला पेशावर और मथुरा की कला का प्रभाव दिखाई देता है। संगीत
गौद्धराग समन्वित था। इसी समय आत्म बलिदान और तीर्थ यात्रायें
भी प्रारम्भ हुआ। धी-चे-मोङ् (४०४-५३), धी-फा-शेङ्, बुद्धवर्मा,
आदि प्रसिद्ध आचार्य और अनुवादक भी इसी काल में हुए। बुद्ध
सुवर्णप्रभाससूत्र, आदि ग्रन्थों के उन्होंने अनुवाद किये।

क्षिणी चीन में ल्यू-सुङ् के राज्यकाल ४२०-६९ ई०) में बौद्ध धर्म
ला-फूला। भारत की अनेक तीर्थ यात्रायें की गईं। बुद्ध जीव, गुणवर्मा
, संघभद्र, उपशून्य, परमार्थ आदि अनेक आचार्यों ने बौद्ध ग्रन्थों का
भाषा में अनुवाद किया। दक्षिणी चीन का सम्राट् युवान् भी (५५२-
०) स्वयं विद्वान था। उसका स्वयं का बहुत बड़ा ग्रन्थालय था। पर
पश्चात् उसके ग्रन्थालय को उसके शत्रुओं ने भस्म कर दिया। लगभग

ढेड़ लाख पुस्तकें अग्नि में होम कर दी गईं। यही कारण है कि अनेक ग्रन्थों का मात्र उल्लेख मिलता है। इसी प्रदेश में उज्जैनवासी परमार्थ (४९८-५६९ ई०) ने अपना साहित्यिक योगदान किया। उन्होंने लगभग ७० ग्रन्थों को अनुदित किया। सप्तदशभूमिशास्त्र, और स्वर्णप्रभाससूत्र उन ग्रन्थों में अधिक लोकप्रिय हुए। परमार्थ ने भूततथता और आलयविज्ञान का भी यहां प्रचार किया, उसका आधार था महायानश्रद्धोत्पाद नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ।

पूर्वी वेई वंश के बाद ५३० ई. में उत्तरी ची वंश की स्थापना हुई। इसके प्रथम सम्राट् वेन-सुवेन् (५५०-५८ ई०) ने ताववादियों के प्रतिपक्ष में बौद्धों का पक्ष ग्रहण किया। इसी समय भारतीय भिक्षु नरेन्द्र यश (५१८-८९ ई०) यहां आये और उन्होंने सात ग्रन्थों का अनुवाद किया। ५७७ ई० में बौद्धधर्म पर पुनः उत्पात किया गया। लगभग १०० वर्ष बाद के यु-वान् ने उत्तरी च्यू (५५७-८१ ई०) के नाम से एक राजवंश की स्थापना की। इस राज्यकाल में ज्ञानभद्र, जिनयश, जिनगुप्त और यशोगुप्त नामक भारतीय भिक्षुओं ने बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार किया।

सुई वंश (५८१-६१८ ई०) ने चीन को पुनः एकसूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया और बौद्धकला साहित्य को नष्टभ्रष्ट होने से बचाया। इस वंश के काल में गौतम धर्मज्ञान, विनीतरुचि, नरेन्द्रयश, जिनगुप्त बोधिज्ञान, धर्मगुप्त, फि-चिङ्, ची-ई और पाउ-कोई विद्वानों ने अनुवाद के माध्यम से बौद्ध साहित्य और संस्कृति को आगे बढ़ाया।

थाङ् वंश (६१८-९०७ ई०) को चीन का गुप्तकाल कहा जा सकता है। इस वंश ने तुर्कों पर विजय प्राप्त की तथा तिब्बत और भारत से सम्बन्ध स्थापित किया। यहीं से बौद्धधर्म पर ८४२-८४५ ई० में अत्याचार प्रारम्भ हुआ ली-श्री मिन् लाइ-चुङ् के काल में भिक्षु-भिक्षुणियों पर प्रतिबन्ध लगाये गये। नवीन विहार, मूर्तियों और ग्रन्थों का निर्माण एक अपराध माना गया। इसके बावजूद बौद्धधर्म लोकप्रिय होने से नहीं बचाया जा सका। ह्वान्-च्वांग ६२९-६४५ ई० तथा ईत्सिंग ६७१-९० ई० इन अत्याचारों को देखकर भारत की यात्रा पर आये। लौटकर उन्होंने भी बौद्धधर्म का प्रचार किया। भारतीय ज्योतिष और चिकित्साशास्त्र ने इसमें और भी सहयोग दिया। इस वंश के राज्य-काल में प्रभाकर मित्र, अतिगुप्त, ज्ञानभद्र, दिवाकर, बुद्धपाल, बोधिरुचि, अमोघवज्र, अजितसेन आदि भारतीय अनुवादकों ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। ह्वां-च्वांग ने योगाचार, अभिधर्म, प्रज्ञापारमिता और सर्वास्तिवादी अभिधर्म का अनुवाद किया। योगाचार, विज्ञानवाद की चीन में स्थापना भी उन्होंने की। ईत्सिंग ने भारत में विनय का संग्रह किया। उन्होंने मूल सर्वास्तिवादी पिटक

चीनी अनुवाद भी किया। मातृचेट के अध्यर्धशतक के भी अनुवादक के रूप, उनका नाम है। ह्वां-च्वांग और ईत्सिंग के बीच (६४५-७१ ई०) ६०बाम भिक्षुओं ने भारत की यात्रा की। शुभकर सिंह (७१६ ई०), पो० श्रीमित्र, ०७-१२ ई०), वज्रबोधि (६००-७३२ ई०), अमोघवज्र (६९८-७३२ ई०), दि भिक्षुओं ने अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया। ८६८ ई० में सर्वप्रथम मुद्रण कार्य प्रारम्भ हुआ। वज्रच्छेदिका को सबसे पहले छापा गया। चीन का बहुत बड़ा योगदान था। थाङ् वंश का पतन हो रहा था। साथ ही द्धधर्म के विहार, स्तूप, मन्दिर आदि भी विनष्ट किये जा रहे थे। पर चीन ही हाङ्-चाऊ के राजाओं ने त्रिपिटक के कुछ भाग पत्थरों पर उत्कीर्ण कराये र विहार, स्तूप, मन्दिर आदि भी बनवाये।

सुङ् काल (९६०—१२१९ ई०) में बौद्धधर्म और कन्फूसी दर्शनों का न्वित रूप उभरने लगा। इस काल में ३१ विद्वान भारत से चीन पहुँचे र संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया। धर्मदेव ९७३—१००१ ई०) नालन्दा विहार के स्नातक थे। इस समय तक वज्रयान विकास हो चुका था। धर्मदेव इसलिए धारणियों और मन्त्रों के अधिपति । उन्होने ११८ ग्रन्थों का अनुवाद किया। ति-यान्-सि चइ (९८० ई०) मीर के भिक्षु थे। उन्होंने मञ्जुश्रीमूलतन्त्र आदि १८ ग्रन्थों का अनुवाद या। दानपाल ने छोटे-बड़े १११ ग्रन्थों का अनुवाद किया। धर्मरक्ष १००४ ई०) विहार के भिक्षु थे। उन्होंने बोधिसत्त्वपिटक, अचिन्त्यगुह्यनिर्देश, धिचर्याविस्तार (महायानसंगीत बोधिसत्व विद्या), और प्रज्ञप्तिवाद का अनुवाद या। वेइ-चिङ और सूर्ययश ने क्रमशः माध्यमिककारिका पर स्थिरमति की का तथा अश्वघोष के कुछ ग्रन्थों का अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त ज्ञानश्री, १०५३ ई०) सुवर्णधारी (११५३ ई०) और मैत्रेयभद्र ने भी अनेक ग्रन्थों के नुवाद किये। मुसलिम आक्रमणों के कारण बौद्धधर्म की स्थिति भारत में तोषप्रद नहीं थी।

मंगोल (१२६०—१३६८ ई०) वासियों ने कठोर संघर्ष के उपरान्त अपने ज्य की स्थापना कर पाई। उन्हें खितन, तंगुत और जुर्चेन राज्यों से अधिक हा लेना पड़ा। हूणवंशज मंगोलियों ने ख्मोस खान आदि घुमन्तू कबीलों के हयोग से चीन पर अधिकार किया। मंगोलों के ऊपर १३ वीं शताब्दी तक द्धधर्म का प्रभाव नहीं था। तिब्बती फ्सस-पा के कारण सामन्तवादियों में द्धधर्म का प्रचार हुआ। बौद्धभिक्षु चु-आन्-चाङ् (१३२८—९८ ई०) ने १३५६ ई० में मंगोल राज्य को समाप्त कर नानकिङ पर अधिकार किया और ङ्-वंश (१३६८—१६४४ ई०) का शासन स्थापित किया। पर बौद्धधर्म

उपेक्षित-सा ही रहा। मिङ् वंश के बाद मंचू वंश (१६४४–१९११ ई०) ने चीन पर शासन किया। बाद में मंचू चीनी बन गये। बौद्धधर्म की स्थिति इस काल में साधारणतः अच्छी रही है।

कोरिया में बौद्धधर्म

३७२ ई० में बौद्धधर्म चीन से कोरिया पहुँचा। वहाँ चीनी संकेत लिपि का ही प्रचार अधिक है। अतः अनुवाद की समस्या उतनी अधिक नहीं थी। कोरिया के जन जीवन में बौद्धधर्म का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। प्रारम्भ से ही वहाँ बौद्ध विहारों और मन्दिरों का निर्माण होने लगा। पर काष्ठ का उपयोग अधिक होने के कारण उनका विनाश भी अपेक्षाकृत जल्दी हुआ। इसके बावजूद फू-सून विहार और सुखावती मन्दिर जैसे प्राचीन बौद्ध स्थल मिल जाते हैं। कोरिया तीन राज्यों में विभक्त है—सिला (६६८–९१८ ई०), कोरये (९१८–१३९२ ई०), और जोजेन (१३९२–१९१० ई०)। कोरिया में १२ वीं शताब्दी के बाद बौद्धधर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया परन्तु १९१० ई० में जापान द्वारा पराजित किये जाने पर पुनः बौद्धधर्म पनपने लगा।

जापान

कोरिया और जापान का सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत पुराना है। हानवंश (२०८ ई० पू०–२२० ई०) के काल में दोनों देश इन्हीं सम्बन्धों से निकट आये थे। जापान में एन्यू, मलय और यमातो जातियाँ प्रमुख हैं। दक्षिण कोरिया के कुदारा राज्य ने ५३८ ई० में यमातो राजा के पास कुछ बौद्धग्रन्थ, बुद्ध मूर्तियाँ तथा एक पत्र भेजा। यमातो के निकटवर्ती सोगावंश ने उसका विरोध किया फिर भी बौद्धधर्म का प्रभाव बढ़ चला। इसके पूर्व जापान मे ५२२ ई० में सिबातचिता नामक एक चीनी बौद्ध पूर्वी तट से जापान आ पहुँचा था। उसने भी बौद्धसंस्कृति और बौद्धकला का प्रचार किया। जापान के राजा सुशुन और उनकी पत्नी बौद्धधर्म से प्रभावित थे। सोगावंश का विरोध तीव्रतर हो रहा था। शायद उसी का फल था कि सुशुन का वध कर दिया गया और उसके पुत्र शोतोकु को राज्य न देकर उसे उपराजा बना दिया गया। ५९२ ई० में शोतोकु ने युद्धकर राज्य वापिस ले लिया। और बौद्धधर्म को राजधर्म घोषित कर दिया। शोतोकु माध्यमिक दर्शन का अध्येता था। उसने बौद्धधर्म के अध्ययन–अध्यापन के लिए एक ओर जहाँ छात्रों को कोरिया और जापान भेजा वहीं दूसरी ओर यह व्यवस्था जापान में भी करा दी। फलतः बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय हो गया। ६०४ ई० में उन्होंने बौद्धधर्म से आप्लावित

संविधान भी बनाया जो आज भी एक गौरव वस्तु मानी जाती है। राजकुमार शोतोकू ने सद्धर्मपुण्डरीक, विमलकीर्तिनिर्देश, और मालादेवी सिंहनाद पर व्याख्यान भी लिखे हैं। ६२१ ई० में शोतोकू का देहावसान हो गया। वह जापान में सर्वाधिक लोकप्रिय राजा हुआ। देश के विकास में उसने सर्वस्व लगा दिया। शोतोकू ने ५८७ ई० में जापान मे हार्यो जी का मन्दिर बनवाया। यह प्राचीनतम मन्दिर काष्ठ शिल्प से समलंकृत है। यही वह स्थान है जहाँ से जापान ने सभ्यता, कला, विज्ञान और धर्म की शिक्षा ग्रहण की।

शोतोकू के बाद सम्राट् शोमु (७२४-४९ ई०) दूसरे बौद्धधर्मावलम्बी राजा थे। उन्होंने अपनी राजधानी नारा में संगठित की। यहाँ सम्राट् ने ७५२ ई० में विश्व की प्राचीनतम और उच्चतम पीतल की बुद्ध मूर्ति दाईबुत्सु (महाबुद्ध) को प्रतिष्ठित किया। उसके अतिरिक्त अनेक और भी बौद्धविहार और मन्दिर हैं जिनका निर्माण यथासमय बौद्ध सम्राट् कराते रहे हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, जापान को अनुवाद की समस्या का समाधान नहीं खोजना पड़ा। फिर भी अग्रिम अध्ययन के लिए दो-शो (६२९-७०० ई०) जैसे कुछ विद्वान चीन पहुँचे। वहाँ उन्होंने ह्वेन-सांग से शिक्षा प्राप्त की। ७३६ में भारद्वाजगोत्रीय बोधिसेन जापान गये। ८ वी शताब्दी तक जापान मे बौद्धधर्म पूरी तरह से फैल गया। फलस्वरूप जापान में लगभग ११ सम्प्रदाय खड़े हो गये—होस्सो (३२९-७००), केगोन (७४२ ई०), रित्सु (७५४ ई०), तेन्दई (७८८ ई०), जेन् (११४०-१२१५ ई०) जोदो (११७४-६१११ ई०), शिन्-शू (११७३-१२४२ ई०), निचिरेन (१२२२-८९ ई०), और जिशू (१२३९-६२ ई०)। उनमे प्रमुख सम्प्रदायों का वर्णन इस प्रकार है—

१. केगोन सम्प्रदाय—इसकी स्थापना तू-फा-शुन ने की थी। यह सम्प्रदाय योगाचार का एक अङ्ग है। अवतंसक (केगोन) सूत्र इस सम्प्रदाय का मूलग्रन्थ है। इसका मुख्य सिद्धान्त है—एकचित्तान्तर्गतधर्मलोक: अर्थात् एक ही चित्त के परिणाम स्वरूप यह समूचा विश्व खड़ा हुआ है। इसी चित्त का नाम धर्मकाय है।

२. तेन्दई सम्प्रदाय—इस मत के संस्थापक हैं—देंक्यो। इसका मूल ग्रन्थ है सद्धर्मपुण्डरीक। कालक्रम के अनुसार इस सम्प्रदाय ने बुद्ध की शिक्षाओं को पाँच भागों में विभक्त किया है—अवतंसक सूत्र, आगमसूत्र, वैपुल्य सूत्र, प्रज्ञापारमितासूत्र, और सद्धर्मपुण्डरीक तथा महानिर्वाणसूत्र। व्यावहारिक वर्गीकरण चार प्रकार का है—आकस्मिक, क्रमिक, गुह्य, और अनिर्वचनीय। तथा सिद्धान्तानुसारी वर्गीकरण भी चार प्रकार का है—त्रिपिटक, सामान्यशिक्षा,

चिजिहृषिता और पूर्णविला। इसके सम्प्रदाय के अनुसार व्यवहार और परमार्थ सत्य परस्पर पूरक हैं। माध्यमिक सम्प्रदाय की ओर तेन्दई सम्प्रदाय का झुकाव अधिक है।

३. शिंगोन सम्प्रदाय—यह सम्प्रदाय बौद्धधर्म के मन्त्र सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। इसके संस्थापक कू-कइ अथवा को-बो-था-इ-सी (७७४–८३५) प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने महावैरोचनसूत्र, वज्रशेखरसूत्र आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर मन्त्र सम्प्रदाय का अनुकरण किया। ८०४ ई. में वे अध्ययनार्थ चीन गये और ८०६ ई. में वापिस आ गये। ८२२ ई. में उन्होंने 'रहस्यनिधि-कुञ्चिका' नामक ग्रन्थ भी लिखा। म-ायान के प्रधान देवता बुद्ध वैरोचन का चित्रण जापान और तिब्बत में कलाकारों ने भरसक किया है।

४. जेन सम्प्रदाय—इसे ध्यान सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इसके संस्थापक येइ-साइ (११४१–१२१५ ई.) थे। इस सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ है—लंकावतारसूत्र। इस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने को महाकाश्यप के अनुयायी मानते हैं। ध्यान और आत्मसंयम को ये प्रधानता देते हैं। जापान का मध्यवर्ती पर्वत फ्यूजीयोमा इस सम्प्रदाय का तीर्थस्थल है। बोधिसत्व मञ्जुश्री और उनकी शक्ति अचला की पूजा इस सम्प्रदाय में जाती है। चाय इस सम्प्रदाय का धार्मिक पेय है।

५. जोदो सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रधान तीन आचार्य हैं—कूय शोनिन (९०२–९७२ ई.) होनेन शोनिन (११३३–१२१२ ई.) और शिन-रान् (११७७–१२६२ ई.)। जोदो सम्प्रदाय मुख्यत: भक्ति पर आधारित है। उसकी दृष्टि से आत्मसमर्पण कर अमिताभ की प्रार्थना करने से ही उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है। इस सम्प्रदाय के मूल दो ग्रन्थ हुए हैं—सुखावतीव्यूहसूत्र और अमितायुर्ध्यानसूत्र।

६. निचिरेन सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के संस्थापक हैं—निचिरेन-शोनिन (१२२२–१२८२ ई.)। सद्धर्मपुण्डरीक इसका आधार ग्रन्थ है। इसके अनुसार बुद्ध सर्वव्यापक हैं। तेन्दई सम्प्रदाय का इसे व्यावहारिक प्रयोग माना जा सकता है।

तिब्बत में बौद्धधर्म

तिब्बत में जन्मा स्रोङ्-गचन्-स्गम्-पो (६१५–६५० ई.) सप्तम शताब्दी का विश्वविजेता माना जा सकता है। उसने आसाम से कश्मीर और चीन के कुछ भागों पर अधिकार कर लिया था। फलस्वरूप चीन के राजा त्सिसुङ् त्सुन्तसान ने अपनी सुपुत्री कोङ्जो और नेपाल के राजा अंशुवर्मन् ने अपनी

कुमारी भ्राकुन को उपहार के रूप में विजेता राजा स्रोङ्-गचन को भेंट दीं। दोनों राजकुमारियाँ बौद्ध थीं। सम्राट् भी बौद्ध हो गया। इसके बाद स्रोङ्-गचन ने ल्हासा को अपनी राजधानी बनाया और ६४० ई. में जो-खङ् तथा रमोछी मन्दिरों का निर्माण किया। ये बौद्ध मन्दिर आज भी अपना इतिहास कह रहे हैं। इस युग में भोट भाषा को लिपिबद्ध करने के योग्य भी बनाया गया। स्रोङ्-गचन् ने स्वयं इसका अध्ययन किया। भाषा और लिपि को परिष्कृत करने का श्रेय थोन्मी को है। स्रोङ्-गचन् के प्रपौत्र खि-ल्दे-ग्चुग-ब्र्तन (७०४-५४ ई.) ने भी भोट भाषा और साहित्य का वर्धन किया। भोट भाषा में बौद्ध ग्रन्थों का अक्षरशः अनुवाद किया गया। भारतीय ग्रन्थ जो लुप्त हो गये हैं उनका अनुवाद विशुद्ध अवस्था में तिब्बती भाषा मे मिलता है।

८०२ ई. में खि-स्रोङ्-ल्दे-बृचन् (७५५-९७ ई.) राजसिंहासन पर बैठा। उसने बौद्धधर्म की स्थिति मे सुधार लाने की दृष्टि से नालन्दा पीठस्थविर के आचार्य शान्तरक्षित को निमन्त्रित किया। शान्तरक्षित ने वहाँ पहुँचकर विविध विषयों पर उपदेश दिये। राजा ने विशाल बिहार और मठ बनवाये। बाद में शान्तरक्षित ने वहाँ ज्ञानेन्द्र, शीलेन्द्ररक्षित, वैरोचनरक्षित आदि सात तिब्बतियों को बौद्ध भिक्षु बनाया। शान्तरक्षित के बाद तिब्बत मे कुछ धार्मिक मतभेद पैदा हो गये जिसका समाधान करने के लिए आचार्य कमलशील वहाँ पहुँचे। इसी काल मे आचार्य विमलमित्र, बुद्धगुह्य, शान्तिगर्भ और विशुद्धसिंह ने कुछ तिब्बती विद्वानों के सहयोग से बौद्धग्रन्थों का भोट भाषा में अनुवाद किया।

खि-स्रोङ् के बाद उसका पुत्र मु-नि-बृचन-पो (७८०-९७ ई.) और खि-ल्दे-बृचन्-पो (८०४-१६ ई.) ने राज्य किया। खि-ल्दे के काल में संस्कृत ग्रन्थों का विशुद्ध अनुवाद प्रारम्भ हो गया। नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, चन्द्रकीर्ति विनीतदेव, शान्तरक्षित, कमलशील आदि जैसे गम्भीर दार्शनिक आचार्यों के ग्रन्थ भी इसी समय अनुदित हुए। अनुवादकों मे जिनमित्र, धर्मताशील, ज्ञानसेन प्रमुख हैं। इसके बाद के राजाओं के राज्यकाल में बौद्धधर्म और साहित्य की कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी।

११ वीं शताब्दी तक आते-आते बौद्धधर्म तिब्बत में विकृत हो गया। यह देख आचार्य ज्ञानप्रभ ने कुछ भिक्षुओं को कश्मीर भेजा। कश्मीर से वापिस आने पर रिन्-छेन् बसङ्-पो ने श्रद्धाकर वर्मा, पद्मगुप्त, बुद्धश्रीशान्त बुद्धपाल आदि की सहायता से हस्तवालप्रकरण (आर्यदेव), अभिसमयालंकारालोक

(हरिभद्र), अष्टांगहृदयसंहिता (नागार्जुन), चतुर्विपर्ययकथा (मातृचेट), सप्तगुणपरिवर्णनकथा (वसुबन्धु) आदि ग्रन्थों के अनुवाद किये। इसी शताब्दी (१०४२ ई.) में विक्रमशिला के आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान तिब्बत आमन्त्रित किये गये। वहाँ उन्होंने बौद्धधर्म को सुव्यवस्थित किया, बोधिपथप्रदीप, आदि अनेक ग्रन्थ लिखे और कालचक्र, मध्यमकरत्नप्रदीप आदि ग्रन्थों की टीकायें एवं अनुवाद भी किये। दीपंकर के बाद सोमनाथ (१०२७ ई.), गयाधर (१०७४ ई.), स्मृति ज्ञानकीर्ति (१२०४ ई.) शान्तिप्रभ, ङोग्-लो-च-व और प-छब्-पा (१०५५ ई.) ने बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद कर भोट भाषा और साहित्य को समृद्ध कर दिया। प-छब्-पा ने चतुःशतकशास्त्र (आर्यदेव) माध्यमिकावतारभाष्य (चन्द्रकीर्ति), अभिधर्मकोशटीका, आदि ग्रन्थों का सफलतापूर्वक अनुवाद किया। इसके बाद शाक्यश्रीभद्र (११२६–१२२५ ई.), संघराज (१२५१–८० ई.) आदि अनेक आचार्य हुए जिन्होंने साहित्य क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

१३ वीं शताब्दी के अन्त तक बौद्धधर्म भारत से लुप्त-सा हो गया। इसी समय तिब्बत में रिन्-छेन्-ग्रुब् (१२९०–१३६४ ई०) ने उपलब्ध ग्रन्थों का क्रमानुसार संग्रह किया। इस संग्रह को दो भागों में विभाजित किया गया। ब्क-ग्युर (कन्जुर) अर्थात् बुद्धवचन और ब्स्तन्-ग्युर् (तन्जुर) अर्थात् बुद्धवचन से भिन्न दर्शन, काव्य, ज्योतिष तथा अनुवाद आदि ग्रन्थ। रिन्-छेन्-ग्रुब् (बुस्तोन्) के बाद चोङ्-ख-प (१३५७–१४१९ ई०), सुखस्-ग्रुप् (१३८५–१४३८ ई०), वनरत्न (१३८४–१४६८ ई०), धर्मपालभद्र (१५२७ जन्म), लामा तारानाथ (१३७५ ई० जन्म) आदि विद्वानों ने बौद्धधर्म की बहुत सेवा की। परन्तु इनका समय शान्ति का समय नहीं था। तिब्बत अब विरोध और संघर्ष का स्थल बन चुका था।

तिब्बती समाज में सुकर्-म-वक्-सि के देहावसान (१२८२ ई०) के बाद अवतारवाद की प्रथा चल पड़ी। अब दलाई लामा (र्ग्यल्-व-रिन्-पो-छे) तथा टशी लामा (पण्-छेन्-रिन्-पो-छे) के चुनावों में इसी अवतारवाद को अपनाया जाने लगा। ये पद पैतृक सम्पत्ति जैसी हो गई। कुछ दलाईलामा मंगोल जाति के थे। इसलिए अपने धर्मप्रचार मे उन्होंने मङ्गोलियों से बहुत सहायता मिली। अनेक युद्ध भी इसके लिए हुए।

इस प्रकार तिब्बत देश की संस्कृति, साहित्य और कला भारतीय संस्कृति, साहित्य और कला पर आधारित रही है। यदि भारतीय साहित्य तिब्बत में सुरक्षित न होता तो हमारे बहुत से ग्रन्थ अनुपलब्ध बने रहते।

मंगोलिया में बौद्धधर्म

मङ्गोलिया को हूणों की जन्मभूमि के रूप में इतिहासकार स्मरण करते हैं। मङ्गोलियों के बीच बौद्धधर्म तरिम-उपत्यका के निवासियों द्वारा ई. पू. प्रथम शताब्दी में पहुंचा दिया गया था। इसके बाद तुर्कों, अवारों, उइगरों आदि जातियों में भी बौद्धधर्म ने प्रवेश किया। मङ्गोल (१२६०–१३६८ ई.) वासियों ने बड़े संघर्ष के बाद अपने राज्य की स्थापना कर पायी। उन्हें खितन (९०७–११२१), तंगुत और जुर्चेन (किन्) (१११५–१२१४ ई.) से कठोर संघर्ष करना पड़ा। इन तीनों राज्यों मे बौद्धधर्म की स्थिति अच्छी थी। मङ्गोल का पुराना नाम तातार था। वे हूणों के वंशज थे। उन्होंने खिगीस-खान आदि घुमन्तू कबीलों के सहयोग से चीन को अनेक बार पराजित किया। मङ्गोलों के ऊपर तेरहवीं शती तक बौद्धधर्म का प्रभाव नहीं था। तावबादियों से उनके वाद-विवाद हुए और उनमें वे सफल सिद्ध हुए। फलतः कुछ तावबादी बौद्ध बन गये और २३७ विहार बौद्धों को वापिस कर दिये गये। १२६० ई. में शास्त्रार्थकर्ता फग्स-पा को कुबिले ने राजगुरु बनाया। भारत की अपेक्षा अब तिब्बत ने बौद्धधर्म के प्रचार का बीड़ा उठाया। फग्स-पा ने मङ्गोल भाषा के लिए एक लिपि तैयार की। इसी काल में अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया गया, पर वे तिब्बती अनुवादों से ही अनुवादित हैं।

१३३८ में चीन से मङ्गोल शासन समाप्त हो गया, पर बौद्धधर्म वहाँ का राष्ट्रधर्म बना रहा। बाद मे मङ्गोल में भी बौद्धधर्म को राष्ट्रधर्म के रूप में स्वीकार कर लिया गया। बौद्धभिक्षु यु-आन-चाङ्ग (१३२८–९८ ई.) ने १३५६ ई. में मङ्गोल राज्य को समाप्त कर नानकिङ्ग पर अधिकार किया और मिङ् वंश का शासन स्थापित किया। चोङ्ग-खा-पा सुमतिकीर्ति (१३५७–१४१४ ई.) और उसके शिष्यों द्वारा स्थापित तिब्बती महाविद्यालयों में मङ्गोलिया के छात्र अध्ययन करने आने लगे। फलतः बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार बढ़ने लगा। तृतीय और चतुर्थ दलाईलामा मङ्गोलिया के ही थे। पंचम दलाईलामा के समय मङ्गोलियन सेना ने बौद्ध भिक्षुओं पर हुए अत्याचार को समाप्त कर दिया था। इससे स्पष्ट है कि मङ्गोलिया में बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय रहा है।

कन्जोर और तनजोर के लगभग ३०८ ग्रन्थ थे। उनमें कनजोर के १०३ ग्रन्थों का अनुवाद १२१३ ई. में कागान्-लेग-दम्-ऊ-नुकुतू (१६०३–३४ ई) के शासन काल में हुआ। और तनजोर के २३५ ग्रन्थो का अनुवाद चियेन

शुङ्ग (१७३६–६५ ई.) ने कराया। यह अनुवाद चन्-ख्या-रोल-पइ-दो-जें और क्लो-बजङ-बस्तन-पइ-निमा नामक विद्वानों के सान्निध्य में सम्पन्न हुआ। उन्होंने एक तिब्बती-मङ्गोल कोश तथा व्याकरण भी तैयार की। यह कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण था।

नेपाल में बौद्धधर्म

नेपाल बौद्धधर्म का सबसे अधिक पवित्र तीर्थ स्थल कहा जा सकता है। भगवान् बुद्ध का जन्म वहीं के लुम्बनी कपिलवस्तु नामक ग्राम में हुआ था। बोधिप्राप्ति के बाद भी वे एक बार लुम्बिनी वापिस गये थे, जहाँ उनका पुत्र राहुल बुद्धधर्म में दीक्षित हुआ था। अशोक ने नेपाल की राजनीतिक स्थिति को शान्त कर लुम्बनी की यात्रा भी की थी। इस यात्रा की स्मृति के स्वरूप वहाँ एक शिलालेख भी उत्कीर्ण कराया था। इस प्रकार नेपाल भगवान् बुद्ध के प्रारम्भिक काल से ही बौद्धधर्म का स्थान बना हुआ है।

नेपाल के बौद्धधर्म के इतिहास में राजा अंशुवर्मन (७ वीं शती) का विशेष स्थान है। वह कट्टर बौद्ध शासक था। उसने तिब्बत के राजा स्रोङ्-बत्सन-सृगम-पो से अपनी पुत्री का विवाह सम्बन्ध किया था। शीलमञ्जु पण्डित उसी के राज्याश्रय में थे जिन्होंने संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया कराया है। शान्तरक्षित के समय यह सम्बन्ध और भी दृढतर हुआ। मुसलमानों के आक्रमणों से बिहार-बंगाल के बौद्ध भिक्षुओं को नेपाल में ही शरण मिल सकी थी। उन भिक्षुओं के साथ अनेक ग्रन्थ भी थे, जो नेपाल और तिब्बत में आज भी सुरक्षित हैं।

लगभग १२ वीं शती के बाद वहाँ हिन्दूधर्म का प्रभाव बढ़ने लगा। फलतः जातिभेद का विरोध वहाँ कम हो गया। आजकल वहाँ बौद्धधर्म के चार सम्प्रदाय प्रमुख रूप में हैं—स्वाभाविक, ईश्वरिक, कार्मिक और यात्रिक। नेपाल भारत और तिब्बत के बीच एक अजस्र कड़ी रही है, जिससे दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध जोड़े गये हैं। आज भी नेपाल में बौद्धधर्म अच्छी स्थिति में है।

इस प्रकार बौद्धधर्म प्रारम्भ से ही भारतेतर देशों के लिए भी आध्यात्मिक प्रेरणा और शान्ति का सन्देशवाहक रहा है। उसने आध्यात्मिक क्रान्ति ही नहीं, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक क्रान्ति भी की है। इस दृष्टि से विदेशों में बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

बौद्ध कला

कला जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति है। आध्यात्मिक और सांस्कृतिक साधना का जीवन्त क्षेत्र है जो प्रतीकात्मक पद्धति पर अवलम्बित है। बौद्ध कला के साधकों ने भी स्वान्त: सुखाय उसी सुरम्य प्राङ्गण को उद्योतित किया है। स्तूप, चैत्य, चंक्र, गुहा आदि सभी उपकरणों में भावनायें अंकित हुई हैं। यहीं कला और धर्म तथा जीवन और साधना का समन्वय होता है। बौद्धाचार्यों ने इस समन्वित रूप को भलीभांति सुरक्षित रखा है।

पालि त्रिपिटक में यत्र तत्र कला की सामग्री बिखरी पड़ी है। दीघ निकाय में शिल्पियों की एक लम्बी सूची दी गई है। ब्रह्मजालसुत्त विद्याओं के प्रकरण में वास्तु विद्या का उल्लेख है। विनयपिटक के सेनासनक्खन्धक में बिहार के निर्माण की प्रक्रिया दी गई है। सम्भव है, यह प्रक्रिया उत्तरकालीन रही हो। मूलत: बौद्ध भिक्षुओं के लिए अरण्य, वृक्ष, पर्वत, कन्दरा, गिरिगुहा, श्मशान, वनप्रस्थ और अभ्याकाश (प्राङ्गण) में रहने का विधान था। परन्तु बाद में भगवान् बुद्ध ने बिहार, अड्ढ योग, प्रासाद, हर्म्य तथा गुहा को निवास स्थान के लिए चुना। इसी प्रसंग में बिहार आदि बनाने की प्रक्रिया भी दी गई है। जातक और दिव्यावदान में भी एतत्सम्बन्धी सामग्री प्रचुरमात्रा में मिलती है।

बौद्धकला का प्रारम्भ भगवान् बुद्ध के धातु-विभाजन से हुआ लगता है। ये धातुएँ में तीन प्रकार की हैं—शारीरिक, औद्देशिक और पारिभोगिक। शारीरिक धातुयें वे हैं जिनका सीधा सम्बन्ध भगवान् बुद्ध के अंगोपांगों से है। महापरिनिब्बान सुत्त के अनुसार बुद्ध के परिनिर्वृत हो जाने पर उनके दग्ध शव में से अवशिष्ट धातुओं का विभाजन कुसीनगर के मल्ल, राजगृह के अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवि, कपिलवस्तु के शाक्य अल्लकप्प के बुलि, पावा के मल्ल, रामगाम के कोलिय, और वेठदीपक ब्राह्मण, इन आठ लोगों के बीच हो गया और उन्होंने क्रमश: कुशीनगर, राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, पावा रामग्राम और वेठद्वीप में उन धातुओं पर स्तूप बनवाये। इसी प्रकार बुद्ध की दन्त धातु का भी उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त अर्हतों द्वारा प्रयुक्त वस्त्र, पात्र, वृक्ष आदि की भी पूजा का विधान हुआ है।

इन धातुओं को पृथ्वी के भीतर किसी बर्तन आदि में रखकर ऊपर से मिट्टी का सुन्दर कलात्मक ढेर लगा दिया जाता था। स्मारक का यह प्राथमिक रूप रहा होगा। उसके संरक्षण के लिए वेदिका का निर्माण, सौन्दर्य वर्धन के लिए हर्मिका और छत्र का विधान शनै: शनै: विकास के रूप में होता रहा होगा। चैत्य भी लगभग इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहां स्तूप आदि में

किसी धातु विशेष का निधान आवश्यक नहीं। उसके बिना भी अर्चना के प्रतीकात्मक रूप में स्तूप बना दिया जाता था।

शैशुनाग-नन्द-युग (छठी शती ई० पू० से चौथी शती ई० पू०)—प्राक् मौर्य काल की कला में पिपरहवा बौद्ध स्तूप और उसमें प्राप्त धातु गर्भ मञ्जूषा उल्लेखनीय है। पिपरहवा नेपाल की सीमा पर बस्ती जिले में कपिलवस्तु से ११ मील दूर पर स्थित है। सम्भवत: यह प्राचीनतम स्तूप है। इसे शाक्य के सम्बन्धियों ने बनवाया था (इयं सलिल निधने बुधस भगवते सकियानं)। यह स्तूप ईंटों से निर्मित अण्डाकार का था। इसकी ऊँचाई २१½ फुट और आधमूल की चौड़ाई ११६' है। स्तूप के गर्भ में प्राप्त मञ्जूषा में बुद्ध की शरीर-धातु के अतिरिक्त शताधिक कलात्मक वस्तुयें उपलब्ध हुई हैं।

मौर्यकाल (३२५–१८४ ई० पू०)—३२३ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य के सिंहासनारूढ होने पर भारत की राजनीतिक स्थिति दृढतर हो गई। उसके बाद उसके पुत्र बिन्दुसार (२९८-२७२ ई० पू०) और पौत्र अशोक (२७२-२३२ ई० पू०) ने राज्य में और भी शान्ति स्थापित की। अशोक का तो आध्यात्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों का समन्वय अनुकरणीय रहा है। कला के क्षेत्र में भी अशोक की यही विशेषता रही है। उसने स्तम्भों और स्तूपों का कलात्मक सृजन कराया था। बुद्ध के जन्मस्थान की यात्रा के स्मरणार्थ पाटलिपुत्र, लौरि-यानन्दन गढ, लौरिया अरराज, बखिरा और लुम्बिनी में स्तम्भ बनवाये। इसी प्रकार सारनाथ और बोधगया में भी स्तम्भों का निर्माण कराया। ये स्तम्भ एक ही पत्थर से बनाये गये हैं। ऊपर लगाये गये पशु शीर्षक अधिक आकर्षक हैं। उसकी कला की यह मौलिकता है। कुछ विद्वानों ने उसकी कला पर ईरानी कला का प्रभाव बताया है। यह सही भी हो, पर उसकी मौलिकता पर आघात नहीं किया जा सकता।

अशोक के स्तम्भों की विशेषता है—एकात्मकता और ऊपर पशुओं की आकृतियाँ। सारनाथ में उपलब्ध वेदिका एक ही पत्थर की बनी हुई है। वह धर्मराजिक स्तूप की हर्मिका का एक अंश थी। चमकदार पालिश इसकी विशेषता है। अभी तक अशोक के १४ स्तम्भ मिले हैं। उनमें सारनाथ, साँची, कौशाम्बी, लुम्बिनी और लौरिया अरराज के स्तम्भ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन स्तम्भों के साधारणत: तीन भाग हैं—मूल भाग कमल के आकार का है, मध्यभाग की पट्टिका पर हंस, अश्व आदि उकेरे गये हैं और शिरोभाग में सिंह, गज आदि की मूर्ति बनायी गई है। सारनाथ का स्तम्भ इस दृष्टि से उदाहरणीय है। इसके नीचे का भाग पद्माकार है। मध्यभाग की वर्तुल

पट्टिका के बीच धर्मचक्र और अन्तराल में चार महाआजानेय पशु अंकित हैं तथा शीर्ष भाग में चार सिंह पीठ सटाये खड़े हुए हैं। उनके ऊपर एक धर्मचक्र भी स्तुत्य है जिसका आध्यात्मिक महत्त्व है। यह प्रतीकात्मक है। इसे कालचक्र अथवा भवचक्र का सूचक समझा जाना चाहिए। साँची का भी सिंह स्तम्भ सारनाथ से मिलता-जुलता है। सिंह, गज आदि बुद्ध के प्रतीक है। पद्म विशुद्धि का प्रतीक है। कला की दृष्टि से अशोक के ये स्तम्भ आज भी अभूतपूर्व हैं। कहा जाता है कि अशोक ने ८४ हजार स्तूप बनवाये थे।

शुंग काल (१८४-७२ ई० पू०)—शुंग काल पुष्यमित्र के राज्याभिषेक से प्रारम्भ होता है। पुष्यमित्र कट्टर बौद्ध विरोधी माना गया है पर उसके युग में बौद्ध कला का विनाश नहीं हो पाया। सच तो यह है कि उसके विरोध के बावजूद बौद्धकला का उत्थान ही हुआ है। भरहुत और सांची के स्तूप इस के निदर्शन हैं। पाषाण का अधिकाधिक प्रयोग, उसमें विविध नक्काशी और अलंकरण, मूर्ति शिल्प में लालित्य, केश विन्यास, दिव्य सौन्दर्य, इस युग की कला की विशेषतायें हैं। शुंग काल में स्तूप, बिहार, स्तम्भ, चैत्य, देवमन्दिर और चतुःशालवेदिका युक्त तोरण का विशेष निर्माण हुआ है।

भारहुत स्तूप—स्तूप और चैत्य प्रायः समानार्थक हैं। स्तूप की संचित मिट्टी को ईंटों से आच्छादित कर दिया जाता था और उसपर चूने से लेप कर दिया जाता था भारहुत (नागोद) स्तूप का तो थोड़ा-सा ही भाग शेष रहा है पर सांची का स्तूप प्रायः वैसा का वैसा ही है। इस पर निर्मित शिलापट्ट शुंग काल की देन है। इसके बाद वेदिका और अलंकृत तोरण भी निर्मित होने लगे। तोरण द्वार चारों दिशाओं में चार होते थे। भरहुत स्तूप का व्यास ६७ फुट ८½ इंच था। कनिंघम को फूसका थोड़ा-सा उसका भाग हाथ लग पाया। स्तूप पक्की ईंटों से बना था इसकी नीव भी मजबूत थी। इसमें बज्रलेप युक्त प्रदक्षिणा पथ भी था। तोरण द्वार मगर मच्छ भी आकृतियों से सुशोभित थे। प्रत्येक तोरण द्वार दो बड़े स्तम्भों से निर्मित था। यह ज्ञातव्य है कि भारहुत मे बुद्ध की मूर्ति उपलब्ध नहीं हुई। उसके स्थान पर स्तूप, धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, त्रिरत्न, उष्णीस, चूड़ा, चरणपादुका आदि प्रतीक अवश्य मिले हैं। भारहुत शिल्प में अनेक जातक कथाओं का अंकन हुआ है, इस स्तूप का मूलतः निर्माण अशोक के काल में हुआ था पर शुंग काल में उसमें ईंट के स्थान पर पत्थर की वेदिका और तोरणों का निर्माण कर दिया गया था।

सांची स्तूप—सांची स्तूप विदिशा से लगभग ५½ मील दूर स्थित है। प्रारम्भ से ही अशोक और विदिशा का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। सांची के स्तूप

को महाचैत्यगिरि कहा गया है। इसके आसपास लगभग ६१ स्तूप हैं—८ सोनरी में, ५ सतधारा में, ६ अंधेर में, ३७ भोजपुर में और ८ सांची में। इनमें सांची के सर्वाधिक महत्व पूर्ण स्तूप हैं—सं० १—२—और ३। ये स्तूप अशोक काल में ईंटों से बनाये गये थे पर शुंग काल में ये शिलाच्छादित कर दिये गये। तोरण द्वार और अलंकृत वेदिका का निर्माण भी इसी काल में हुआ। आगे चलकर वासिष्ठपुत्र सातकर्णी ने इसे आगे बढ़ाया और गुप्त काल में फिर इसका विशेष विकास हुआ। अशोक कालीन स्तूप के व्यास को भी दुगुना कर दिया गया अत: इसे महास्तूप कहा जाने लगा। तोरण द्वारों में एक वैशिष्ट्य है जो विदिशा के दन्तकारों का स्मरण कराता है। स्तूप नं० ३ मे सारिपुत्त और महामौद्गल्यायन की अस्थियाँ रखी गई हैं। महास्तूप मे भगवान् बुद्ध की और नं० २ में अन्य प्रमुख प्रचारकों की अस्थियां नियोजित की गई हैं। स्तूपों के अतिरिक्त अशोक स्तम्भ और चैत्यगृह भी मिले हुए हैं।

बोधगया में अशोक ने भगवान् बुद्ध द्वारा महाबोधि प्राप्ति के उपलक्ष्य में महाबोधि संघाराम बनाया। उसके समक्ष चार अर्धस्तम्भ थे और पीछे बोधिवृक्ष या पीपल का ऊंचा तना था। धर्मचक्र और त्रिरत्न के चिन्ह भी स्तम्भों पर मिलते हैं। सपक्ष सिंह, अश्व, हस्ती, मृग आदि का अंकन बोधगया की विशेषता है। इस बोधगया मन्दिर का अनेक बार विकास हुआ है।

शुंग काल की कला का दर्शन भुवनेश्वर से ५ मील दूर खण्डगिरि और उदयगिरि की सुरम्य पर्वत शृङ्खलाओं मे उत्कीर्ण हीनयानी गुफाओं में भी होता है। अशोक ने बिहार की बराबर पर्वत श्रेणी में गुफायें उत्कीर्ण कराने की परम्परा को स्थापित किया था जिसे उसके पौत्र दशरथ ने भी अनुकृत किया था। इसी समय रैवतक पर्वत, शूर्पारक, भाजा, कार्ले, कन्हेरी जैसी गुफाओं का उत्कीर्णन भी मिलता है। यहाँ विशाल चैत्य मन्दिर और विहार भी बनाये गये थे। ये चैत्य मन्दिर आयताकार थे, चतुरावलि हर्मिका और वेदिका तथा प्रदक्षिणापथ से अलकृत थे। सामने लगे उत्तुंग कीर्तिस्तम्भ भी मिलते हैं। चैत्यगृहों की भित्तियां वेदिकाओं से अलंकृत थीं। कला की यह शैली ३ री शती ई० पू० से होकर ८ वीं शती तक मगध से कलिंग तक और सौराष्ट्र से दक्षिण में महाबलीपुरम तक लोकप्रिय हुई है। यहां कुछ हीनयानी गुफायें हैं जिनका निर्माण ३ री शती ई० पू० से २ री शती ई० तक हुआ और कुछ महायानी गुफायें हैं जिनका निर्माण ५वीं शती ई. से १०वीं शती तक हुआ। इनमें दो रूप मिलते हैं चैत्यगृह और विहार हीनयानी चैत्यागृह भाजा, कोण्डाने, पीतल खोरा, अजन्ता (गुहा सं० ९—१०), नासिक और कार्ले। चैत्यगृहों में मण्डप, प्रदक्षिणापथ, स्तम्भ, गर्भगृह, और स्तूप रहा करते थे।

ार में एक मण्डप (आंगन), तीन या चार ओर चौकोर गर्भ शालायें (कमरे), ने प्रवेश द्वार और उसके सामने स्तम्भों पर बना हुआ मुखमण्डप (बरामदा) ा था। इन विहारों में बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। ये चैत्यगृह और र पहले काष्ठ के बना करते थे पर इस काल में पाषाण के बनने लगे ारों का कौशल यहां दर्शनीय है।

भारत के पश्चिमी भाग में बने चैत्यगृहों और विहारों में भाजा, अजन्ता ा स्थल भी महत्वपूर्ण हैं। भाजा उनमे सम्भवतः प्राचीनतम रहा होगा। विहार, चैत्यगृह और स्तूप बनाये गये थे। विहारों में बनी प्रत्येक कोठरी क्षु को सोने के लिए पत्थर की चौकी बनी हुई है। रथिकाओं में सुन्दर- ट मूर्तियां उकेरी गई हैं। भाजा का चैत्यगृह ५५ फुट लम्बा और २६ फुट ा है। प्रदक्षिणापथ और स्तूप वेदिका से अलंकृत हैं। यहां मूर्ति तो नहीं । पर त्रिरत्न, नन्दिपद, श्रीवत्स आदि मांगलिक चिन्ह अवश्य प्राप्त होते हैं। ा में १४ स्तूप भी मिले हैं।

कार्ले से १० मील दूर पर कोण्डाने का चैत्यगृह और विहार है जो काष्ठ ' का अनुकरणमात्र है। पीतलखोरा (औरंगाबाद के समीप) के चैत्यगृह की ासा है—स्तूप के गर्भ मे स्फटिक की मञ्जूषायें और एक सोपान मार्ग। ्ता के चैत्यगृह और विहार हीनयानी और महायानी, दोनों हैं। इसका ण द्वितीय शती ई० पू० से सप्तम शती ई० तक होता रहा है। यहां २९ ें हैं। इनमें अनेक प्रकार के रमणीय चित्रों का भी अंकन हुआ है। नासिक ७ गुफायें हैं। यहां जो चैत्यगृह है वह प्रारम्भिक गुहा के निर्माण के बाद ोगा। इस चैत्यगृह में काष्ठ शिल्प का प्रयोग बिलकुल नहीं किया गया। ार (पूना से ४८ मील दूर), कार्ले (बम्बई से ७८ मील दूर) और ि (बम्बई से १६ मील दूर) की गुफायें चैत्यगृह और स्तम्भ की शैली में य समान हैं। कला की यहां जीवन्त साधना हुई है।

पवनी (भण्डारा जिला, महाराष्ट्र) ग्राम में (१९६९–७० ई.) के उत्खनन ुङ्गकाल के दो विशाल स्तूपों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। ये अवशेष ाथ टेकड़ी और सुलेमान टेकड़ी के अधोभाग से निकाले गये हैं। इन दो में एक का तो आकार-व्यास सांची के प्रमुख स्तूप से भी अधिक है। ये शुङ्ग-सातवाहन काल के हैं। मूलतः इनका निर्माण मौर्यकाल में हुआ ्या शुङ्ग-सातवाहन काल में इसके रूप-विन्यास में कुछ परिवर्तन किये । भरहुत की भांति इसके स्तूप की वेदिका और तोरण के स्तम्भ भी बौद्धधर्म ्बद्ध उकेरे गये शिल्प से अलंकृत थे। इनके कुछ अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं।

कुषाणकाल—कुषाणकाल में मथुरा कला का सर्वमान्य केन्द्र था। यहाँ के कुषाण राजा कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव ने अपने संरक्षण में कला का उत्कर्ष किया। मथुरा के कारीगरों ने भरहुत और साँची की कला को और आगे बढ़ाया। बाह्य आकृति और भावों के उभार में समन्वयात्मक वृत्ति उनकी विशेषता थी। प्राकृतिक चित्रणों को भी इसमें समुचित स्थान दिया गया है। बौद्धों के यहाँ दो स्तूप मिले हैं—एक कचहरी के पास हुविष्क का बनवाया हुआ है और दूसरा भूतेश्वर टीले की भूमि पर निर्मित है। ये स्तूप प्रायः ध्वस्त हो गये हैं फिर भी अवशेष उपलब्ध होने से उन्हें ई. पू. प्रथम शती के आसपास का माना जा सकता है। कुषाणकाल के शिल्पियों ने वेदिका के अलंकरण पर विशेष ध्यान दिया है। स्तम्भों पर नये-नये दृश्य और शालभञ्जिकायें भी उकेरी गई हैं।

बुद्धमूर्ति बनाने का श्रेय कुषाणकालीन मथुरा को है। सम्भव है गन्धार का भी उसमें योगदान रहा हो। अभी तक बुद्ध की पूजा मात्र प्रतीकों पर आधारित थी। इस समय तक भक्ति आन्दोलन काफी विकसित हो चुका था। प्रतीक पूजा मथुराकला मे दिखाई देती है। पर उसके साथ ही बौद्धेतर सम्प्रदायों से प्रभावित होकर बौद्धधर्म में भी बुद्ध मूर्ति की पूजा होना प्रारम्भ हो गयी। बुद्ध और बोधिसत्व की अनेक सुन्दर मूर्तियाँ मथुरा में उपलब्ध हुई हैं। कनिष्क के काल में मुद्राओं पर भी बुद्ध मूर्ति का अंकन होने लगा था। सारनाथ की बोधिसत्व की मूर्ति कनिष्क के राज्यकाल के तृतीय वर्ष में बनी हुई है। उसका निर्माण परखम यक्ष के रूप पर आधारित है। बोधिसत्व की दूसरी मूर्ति कौशाम्बी में प्राप्त हुई है जो कनिष्क के राज्यकाल के द्वितीयवर्ष की है। वासिष्क, हुविष्क और वासुदेव ने भी अनेक मूर्तियों का निर्माण कराया था। महायानी आचार्यों की प्रेरणा कनिष्क के लिए बुद्ध मूर्ति के निर्माण में मूल कारण रही। उत्तरकाल में धीरे-धीरे प्रतीक परम्परा समाप्त होती गई और मात्र मूर्ति बनायी जाने लगी। ३२ महापुरुष लक्षणों से उसे अनुरञ्जित किया गया। प्रथम शती ई. की यह विशेषता रही है। कुषाणकालीन बुद्ध मूर्तियों में कुछ खड़ी हुई हैं और कुछ बैठी हुई हैं। आजानबाहु, उष्णीस, चक्रचिन्हित हस्तपाद, नासाग्रदृष्टि, लम्बकर्ण आदि जैसी विशेषताओं से बुद्ध मूर्ति अलंकृत की जाने लगी। मस्तक के पीछे प्रभा—मण्डल भी रहा करता था। मथुरा और गन्धार में निर्मित बुद्धमूर्तियों की संरचना में सम्भवतः सर्वास्तिवादी आचार्यों का विशेष योगदान रहा होगा।

गन्धारकला—तक्षशिला और पुष्कलावती का क्षेत्र गन्धार अथवा गान्धार प्रदेश माना जाता था। इसके प्रमुख सात केन्द्र थे—तक्षशिला, पुष्कलावती,

नगरहार, स्वातघाटी या उड्डीयान, कापिशी, बामियाँ और बाह्लीक अथवा बैक्ट्रिया। इन केन्द्रों में यूनानी शिल्प को बौद्ध आदर्शों में प्रतिबिम्बित किया गया। इस कला की उत्पत्ति का समय ई. पू. प्रथम शती अथवा ई. प्रथम शती है। तक्षशिला के समीपवर्ती सिरसुख, मोहरा मोराडू, पिप्पल, और जौलियाँ में बौद्ध बिहार औरस्तूप मिले हैं। यहाँ अनेक बुद्ध बोधिसत्व की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार प्रतिमाशास्त्र की दृष्टि से गन्धार कला की ये विशेषतायें हैं—बुद्ध के जीवन की घटनायें, बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ, जातक कथायें, यूनानी देव-देवी और गाथाओं के दृश्य, भारतीय देवता और देवियाँ वास्तु, सम्बन्धी विदेशी विन्यास, भारतीय अलंकरण, एवं यूनानी, ईरानी, और भारतीय अभिप्राय एवं अलंकरण।[1] इन विशेषताओं से समलंकृत बुद्ध की मूर्ति में सजीवता और शाश्वतता झलकती है। यहाँ के शिल्पियों ने मथुरा और मध्यप्रदेश की कला से अनेक अभिप्राय लिये जो बौद्धधर्म की दृष्टि से अनुरूप थे।

आन्ध्र-सातवाहनयुग—सातवाहनों को पुराणों में 'आन्ध्रभृत्य' कहा गया है। इनका साम्राज्य आन्ध्र में लगभग २०० ई. पू. से २०० ई. तक रहा है। उसके बाद यहाँ इक्ष्वाकु राजाओं का आधिपत्य हुआ, जिनके सान्निध्य में नागार्जुनीकोण्डा जैसे स्तूपों का निर्माण हुआ है। अशोक के प्रताप से आन्ध्र प्रदेश में बौद्धधर्म ने लगभग द्वितीय शती ई. पू. मे पदार्पण किया। तबसे आन्ध्र बौद्धधर्म का केन्द्र बना रहा। विभिन्न निकाय वहाँ पुष्पित-फलित हुए हैं। उदाहरणार्थ अमरावती में चैत्यक निकाय, नागार्जुनकोण्डा और अल्लूरु मे पूर्वशैलीय निकाय, पेड्डवेगी और घण्टशाल में अपरशैलीय निकाय। राजगिरी और सिद्धार्थक निकायों का भी अस्तित्व यहाँ रहा है। बौद्ध स्तूपों का निर्माण इन सभी निकायों की प्रेरणा से हुआ है।

अशोक की कला का प्रभाव यहाँ के स्तूपों आदि मे स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस दृष्टि से गुटपल्ले और संकाराम के स्तूप उदाहरणीय हैं। गुपटपल्ले का स्तूप तृतीय शती ई. पू. के मध्य में और संकाराम का स्तूप द्वितीय शती ई. पू. में बनाया गया है। यहाँ कंलगुहा की शैली का आधार लिया गया है। यहीं चैत्यगृह भी मिले हैं। बिहारों के मण्डप, भिक्षुनिवास के रूप में गर्भशालायें, मुखमण्डप में द्वार और वातायन आदि सारी उसी शैली में बनाये गये हैं। अधिक सम्भावना यह है कि ये आरम्भिक काल के होंगे। काष्ठशिल्प की अनुकृति भी यहाँ मिलती है। गुण्टपल्ले का शिला निर्मित

---

1. भारतीय कला, पृ. ३३५.

चैत्यगृह गुडामा, घुजार और कोण्डीविटे के चैत्यों से समानता लिए यहाँ दो सुन्दर स्तूप भी मिले हुए हैं जिनमें साँची का अनुकरण किया है। संकाराम मे भी चैत्य, विहार और स्तूप मिले हैं। ये सभी में ईंटों से बने हुए हैं। इसी प्रकार गोली (गुण्टूर जिला), भ घण्टशाल और जगय्यपेट के महास्तूप भी आकार मे बहुत बड़े हैं निर्माण प्राय: द्वितीय शती ई. पू. से लेकर पञ्चम शती ई. (पल्लव रा तक होता रहा है। इनमें प्रदक्षिणापथ और महावेदिकायें भी बनायी गयी

आन्ध्र-सातवाहन युग की कला में अमरावती स्तूप का विशेष स्थ इसका नाम महाचेतिय था जिसका निर्माण चैत्यक निकाय की प्रेरणा था। इस स्तूप का निर्माण धान्यकटक मे हुआ था। इसके शिला शताधिक दानलेख उट्टंकित हैं, जिनसे वहाँ की जनता की भावनाओं लगता है। स्तूपों के साथ ही प्रदक्षिणापथ, महावेदिकायें, तोरणद्वार, आदि भी बनाये गये हैं जिनपर बोधिवृक्ष, धर्मचक्र जैसे प्रतीक चिन्ह मिलते हैं। यहाँ उपलब्ध मूर्तियों की संख्या भी कम नहीं है। स्तू मूर्तियों की कला में अमरावती की कला का इतिहास झलकता है। ५ वीं शताब्दी तक यहाँ विकास होता हुआ दिखाई देता है। प्रारम्भि में बुद्ध के प्रतीक मात्र मिलते हैं। द्वितीय काल में प्रतीक के साथ और दृश्यों का भी विन्यास हुआ है। तृतीय काल में यहाँ का वास शिल्प और अधिक विकसित हो गया था। इस समय अमरावती निखार और अधिक आ गया। चतुर्थ काल में विविध आभूषण और गुप्तकाल में प्राप्त आभूषणों और अलंकरणों का स्मरण कराते हैं।

नागार्जुनीकोंड (गुण्टूर जिला) का महास्तूप अमरावती से ६० मील दूर है। यहाँ अनेक विहार, स्तूप, धातुमञ्जूषायें, और मूर्ति मिले हैं। इनके खम्भों पर जो लेख प्राप्त हुए हैं उनसे इक्ष्वाकुवंशीय का इतिहास ज्ञात होता है। नागार्जुनीकोण्ड में महीशासक और बहुश्रुतीय शाखा का प्रभाव अधिक था। यहाँ का महाचेतिय स्त पूजा के लिए निर्मित किया गया था। मूलत: यह स्तूप अपरशैलीय उत्तरकाल में इसे महीशासक के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। मूर्ति शिल्प भी समृद्ध है। नागार्जुनीकोण्डा की कला में सूक्ष्म भावों और मुद्राओं के विभिन्न विन्यास बनाने की विशेषतायें निहित हैं।

गुप्तकाल—गुप्तकाल भारतीयकला, विशेषत: बौद्धकला, की दृष्टि से कहा जाता है। मथुरा, और सारनाथ गुप्तकालीन कला के प्रसिद्ध है। इस युग की कांस्य मूर्तियाँ के समान ही शोभन है। गुप्तकाल की

में प्रभाचक्र, सावर्त केश, कुड्मलाकार नयन और शान्त मुखाकृति विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इन मूर्तियों में चीवर का अंकन दो तरह से हुआ है। कुछ मूर्तियों में चीवर का विधान प्रान्तनिर्देश से होता था और कुछ में महीन रेखाओं के माध्यम से उसे उकेरा जाता था। सारनाथ और मथुरा की मूर्तियाँ इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं। अजन्ता की कला भी गुप्तकला की विशेषतायें संजोये हुए है। यहाँ भी बुद्ध और बोधिसत्त्व के जीवन चित्रों का आलेखन हुआ है। एलोरा का भी इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। ये स्थान गुप्तकालीन चित्रकला की दृष्टि से उदाहरणीय हैं।

गुप्तकाल के बाद बौद्धधर्म की स्थिति भारत में बहुत डाँवाडोल हो गयी थी। जन साधारण पर उसका प्रभाव समाप्त हो चुका था। इस स्थिति में साहित्य और कला के क्षेत्र में बौद्धधर्म का विशिष्ट योगदान पीछे पड़ गया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि बौद्ध कला अपने क्षेत्र से बिलकुल बाहर हो गई। तथ्य तो यह है कि उसने अपना पग भारत को छोड़कर विदेशों की संस्कृति को आत्मसात करने के क्षेत्र में आगे बढ़ा दिया। सम्भव है, इसी प्रभाव ने बौद्धकला को भारत में भी किसी तरह जीवित रखा। गुप्त काल की कांसे की बनी बुद्ध मूर्तियाँ पाषाण की मूर्तियों से कम कला पूर्ण नहीं थीं। बिहार (सुलतान गंज) में प्राप्त बुद्ध मूर्ति (पाचवीं शती) ऐसी ही है। आठवीं ई. तक धातु मूर्तियों का निर्माण अच्छी तरह होने लगा था। पालवंश (९–१२ वीं शती तक) की धातु मूर्तियाँ आध्यात्मिक सौन्दर्य की दृष्टि से महत्व पूर्ण हैं। ये मूर्तियाँ नालन्दा और कुर्किहारा से उपलब्ध हुई हैं। बौद्ध कांस्य मूर्तियाँ दक्षिण में विशेष रूप से तंजोर जिले में, प्राप्त हुईं। उनका समय लगभग ९ वीं शताब्दी से १५ वीं शताब्दी तक माना जा सकता है।

बौद्ध कला भारतीय कला का अंग न होकर विश्वकला का अंग बन गई थी। लंका, बर्मा, थाइलेण्ड, नेपाल, तिब्बत, चीन, आदि देशों में बौद्ध कला का पर्याप्त विकास हुआ है। अशोक का सम्बन्ध विदेशी राजाओं से रहा ही है। उसके स्तम्भों पर पारसी प्रभाव कदाचित् रहा भी, फिर भी भारतीय कला ने भी अन्य कला को प्रभावित किया ही है। यही कारण है कि मथुरा के क्षत्रपों के समय में और कुषाण काल में देशी-विदेशी कलाओं का संमिश्रण होने लगा था। गन्धार कला का जन्म इसी संमिश्रण से हुआ है। अफगानिस्तान (बेगराम) में प्राप्त मूर्तियाँ भी इसी तरह हैं। ग्रीक-रोमन का प्रभाव गन्धार कला पर अवश्य पड़ा है। जिसका प्रमाण बुद्ध की आदमकद मानवीय प्राचीन मूर्तियाँ हैं। अपोलो ग्रीक देवता के शारीरिक सौन्दर्य ने बुद्ध के शारीरिक सौन्दर्य को आकर्षित किया है। बामियान (अफगानिस्तान) की दो बुद्ध मूर्तियाँ गन्धार कला की दृष्टि से

महत्वपूर्ण हैं। अफगानिस्तान (फोन्दु किस्तान) में ही उत्तर कालीन गन्धार कला की बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ मिलती हैं।

नेपाल और तिब्बत की बौद्धकला पर पालवंशी बौद्धकला का प्रभाव है। वहां ध्यानी, मानुषी, भैषज्य, मैत्रेय, आदि बुद्ध और बोधिसत्वों के साथ ही तारा, लोकपाल, मारीचि आदि देवी देवताओं का अंकन हुआ है। नेपाल में मूर्तियों के अतिरिक्त स्वम्भूनाथ और बोधिनाथ के स्तूप विशेष आकर्षक रहे हैं। चीनी-तुर्किस्तान में भी बौद्ध कला का अच्छा प्रभाव रहा है।

जावा की बौद्धकला में आठवीं से १०० सवीं शती तक पाल और चोल वंश का प्रभाव रहा है। चण्डी मेन्दुत मंदिर बुद्ध बोधिसत्वों से परिवृत है। बोरोबुदूर का स्तूप भी अत्यन्त आकर्षक है। सिंगसारी (जावा) में प्राप्त १२-१३ वीं शती की प्रज्ञापारमिता की मूर्ति तो विश्व प्रसिद्ध है।

श्रीलंका में बौद्धकला की दृष्टि से अनुराधपुर, पोलोन्नरुआ, और सिगिरिय विशेष महत्वपूर्ण हैं। अनुराधपुर की ध्यानावस्थित मूर्ति तो बहुत प्राचीन है। वैसे ११-१२ वीं शती की कला अधिक मिलती है। स्तूप और दगोबा भी अनेक हैं। बर्मा की कला में दसवीं शती का पैगन का गवये नदौन स्तूप उदाहरणीय हैं। यहां सारनाथ और नागार्जुनीकोण्डा का अधिक प्रभाव दिखता है।

बौद्धकला का विकास उन स्थानों पर अधिक रहा है जिनका विशेष सम्बन्ध बौद्धधर्म से रहा है। ऐसे स्थानों में मुख्य स्थान उत्तरी भारत में लुम्बिनी, सारनाथ, बोधगया, कुशी नगर (परिनिर्वाण भूमि), श्रावस्ती (सहेतमहेत), संकाश्य (संकिसा, फर्रुखाबाद), राजगृह, वैशाली, सांची, तक्षशिला, कौशाम्बी और नालन्दा हैं, पश्चिमी भारत में गिरनार, धांक (जूनागढ़), सिद्धसर (जूनागढ़), तलाजा (भावनगर), सान्हा (भावनगर), वलभी (भावनगर), काम्पिल्य (गुजरात, नवसारी), भज, कोण्डाणे, पितल खोरा, अजन्ता, बेदसा, नासिक, जुन्नर, कार्ले, कान्हेरी, गोआ, और कर्नाटक हैं, दक्षिण भारत में पवनी, (भण्डारा, महाराष्ट्र), अमरावती, नागार्जुनीकोण्डा (गुन्टूर), भट्टिप्रोलु, जगय्यपेटा, गुंसिवाड़ा, घण्टिशाल (कृष्णा जिला), नागपट्टन (मद्रास), श्री मूलवासम्, और काञ्ची। इन सभी स्थानों का सम्बन्ध बौद्धसंस्कृति के साथ घनिष्ठतम रहा है। इसलिए यहां पर बौद्ध कला का विकास हुआ है।

इस प्रकार बौद्धकला ने अपनी मातृभूमि से बाहर जाकर विशेष विकास किया है। विदेशी कला से वह प्रभावित तो हुई ही है पर उसका भी विदेशी कला पर प्रभाव कम नहीं रहा। इस दृष्टि से भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्र में बौद्धकला का अत्यन्त गौरव पूर्ण स्थान है।

●

परिवर्त ११

बौद्ध संस्कृति का योगदान और उसके पतन के कारण

१. बौद्ध संस्कृति का योगदान

बौद्ध संस्कृति के उक्त विवेचन से आदर्शवत् स्पष्ट है कि वह अपने उत्पत्ति काल से ही जनसाधारण को आध्यात्मिक और सामाजिक चेतना को जागृत करने का विविध आयास करती रही है जिसमें उसे सफलता भी उपलब्ध हुई है। इस दृष्टि से उसका विभिन्न क्षेत्रों में प्रशस्त योगदान द्रष्टव्य है। हम यहाँ उसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

वैदिक क्रियाकाण्ड का विरोध—बुद्ध से बहुत पूर्व भारत में वैदिक संस्कृति का प्रचार-प्रसार था। छठी शती मे तो उसकी चरम परिणति मानी जा सकती है। उस समय वैदिक यज्ञ और तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड इतनी अधिक मात्रा में प्रचलित हो गये थे कि किसी का अन्य क्षेत्रों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं था। एक वर्ग विशेष इसी कर्मकाण्ड की कष्टदायी शृङ्खलाओं में समाज को भीषण रूप से जकड़ता जा रहा था। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में याज्ञिक कर्म इतना अधिक जटिल नहीं था पर सोमयाग के विकसित रूप ने बाद में उसे कठोर और रहस्यवादी बना दिया। यहाँ तक कि मानवता का बचा खुचा रूप भी पशुमेध और नरमेध जैसे निर्दयी यज्ञों की खूनी बलिवेदी पर चढ़ा दिया गया।

महाकरुणाशील म० बुद्ध ने इस सामाजिक और आध्यात्मिक भ्रष्टाचार को निकट से देखा। वास्तविक स्थिति से परिचित हो जाने पर उन्होंने इस दानवता का घनघोर विरोध किया। विरोध करने का ढंग भी उनका अनोखा था। उन्होंने प्रचलित सारी धार्मिक परिभाषाओं को मोड़ दिया।[1] यज्ञ, दान और धर्म तथा

---

१. सुत्तनिपात आदि ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं।

ब्राह्मण जैसे शब्दों का अर्थ बदला जाने लगा। उदाहरणतः संयमित जीवन ही सबसे बड़ा यज्ञ है और सत्य में अन्तर्दर्शन को उपलब्ध करना सबसे बड़ा पुण्य है। राग, द्वेष, और मोह से विमुक्त पुरुष ही सही दान का पात्र है।[1] इस दृष्टि से वैदिक क्रियाकाण्ड निरर्थक हैं। उससे आत्मशान्ति की प्राप्ति संभव नहीं। कर्मकाण्डिकों ने उसकी मूल भावना को स्वार्थ की आग में भस्म कर दिया। अतएव उससे दूर रहना ही श्रेयस्कर है। महावीर से भी पूर्व पार्श्वनाथ आदि जैन तीर्थङ्करों ने इस बात को बुद्ध से भी पहले प्रचारित किया था। छठी शती ई० पूर्व तक आते आते कुछ कारणोंवश वह विरोध दब-सा गया। बुद्ध और महावीर ने पुनः अपने ढंग से उस वैदिक क्रियाकाण्ड का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया।

२ जातिवाद का विरोध—वैदिक संस्कृति का मूल आधार जातिवाद है। उसकी व्यवस्था में ब्राह्मण सम्प्रदाय को ही सारी आध्यात्मिक उपासना और मोक्षप्राप्ति की रजिस्ट्री कर दी गई है। समाज को जिन चार वर्गों (ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मे विभाजित किया गया, उस विभाजनमे ब्रह्मा का सही एकमात्र उत्तराधिकारी ब्राह्मण ही हैं। शेष वर्ग उसका अनुचर माना गया है। मनुस्मृति ने तो इसी सिद्धान्त के आधार पर समाज के उपेक्षित तथा कथित शूद्र वर्ग को और भी कठोर धक्का दे दिया। यही कारण था कि डा० अम्बेडकर ने मनुस्मृति को जलाकर अपना विरोध व्यक्त किया था।

महावीर आदि जैन तीर्थङ्करों के समान बुद्ध ने भी इस कठोर जातिवाद का तीव्रतम विरोध किया और अपने धर्म के प्राङ्गण को सभी वर्गों के लिए उन्मुक्त आकाश सा खोल दिया। मानवता की इस भूख को उन्होंने अपने चिन्तन से परितुष्ट किया। फलतः उनकी दृष्टि में किसी वर्ग विशेष मे मात्र उत्पत्ति ही उसकी श्रेष्ठता का आधार नहीं है बल्कि उसकी श्रेष्ठता का आधार उसके विचार और कर्म हैं। इसलिए उन्होंने कहा है—कम्मदायादो सत्त। तदनुसार सत्कर्म करने वाला तथाकथित शूद्र वर्ग भी वन्दनीय है और दुष्कर्म करने वाला ब्राह्मण वर्ग त्याज्य और निकृष्ट है। ये विचार उस समय बड़े क्रान्तिकारी थे। समाज को उनकी आवश्यकता थी। बौद्धधर्म को लोकप्रिय होने का एक यह भी कारण है।

३ मध्यम मार्ग—बुद्ध काल में एक ओर जहां यज्ञवाद का प्रचार था वहीं दूसरी ओर भौतिकवाद भी कम नहीं था। अत्तकिलमथानुयोग और कामसुख-

---

१. दीघनिकाय, कूटदन्तसुत्त।

निकायानुयोग इसके निदर्शन हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से ये दोनों सिद्धान्त अधूरे थे। भ० बुद्ध ने उस चेतना को समझा और कहा कि ये दोनों अतियां निरर्थक हैं। हमें बीच के मार्ग को अपनाना चाहिए। शरीर को न अधिक दुःख पहुंचाना और न अधिक विषय भोगों में रमण करना इस प्रकार का मध्यम-मार्ग अधिक अनुकूल है। आचार के क्षेत्र में जन्मे इस मध्यम मार्ग ने कालान्तर में विचार क्षेत्र में भी अपना प्रभाव दिखाया।

४ ईश्वरवाद का विरोध—वैदिक संस्कृति के अनुसार जगत् का कर्ता, धर्ता और हर्ता कोई ईश्वर विशेष है। सुख दुःख देने का कार्य भी उसी के कर्मों पर है। उसकी इच्छा विशेष हमारी सद्गति और असद्गति के कारण है। जगत् का वह नियन्ता है। जैन-तीर्थंकरों के पदचिन्हों पर बुद्ध ने भी इस मत का विरोध किया। उन्होंने कहा कि इस प्रकार का ईश्वर अकल्पित और अन्धवेणी के समान है। ईश्वर जैसा व्यक्तित्व कोई नहीं है। तीर्थंकर, बुद्ध और महापुरुष जो भी हैं, वे हमारी उच्चकोटि के ही विविध रूप हैं। बुद्ध ने ईश्वर के स्थान पर कर्म को स्थान दिया और आत्मशक्ति जाग्रत करने का बीड़ा उठाया। वैदिक ईश्वर में पक्षपात और नैष्कर्मण्य देखा जाता है। अतः यह ईश्वरवाद व्यर्थ है। बुद्ध ने यह स्थान कर्म और प्रतीत्यसमुत्पाद को दिया। यह हम पहले लिख चुके हैं। इस दृष्टि से बुद्ध शासन में प्रसाद, कृपा, पूजा और अर्चना का मूलतः कोई स्थान विशेष नहीं है। उनका स्थान सम्यक्प्रयत्न और सम्यक्-ज्ञान ने ले लिया।

५ अनात्मवाद—आत्मा और ईश्वर ये दो ऐसे विषय हैं जिनके सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही वाद-विवाद होता आ रहा है। बुद्ध ने इसीलिए कुछ ऐसे प्रश्नों का उत्तर न देना ही श्रेयस्कर समझा। यह ठीक भी था, किसी सीमा तक। अन्यथा बुद्ध शाश्वतवाद अथवा उच्छेदवाद की ओर झुक गये होते। ऐसे प्रश्नों को उन्होंने अव्याकृत कोटि में रख दिया। आत्मवाद भी लगभग ऐसा ही प्रश्न था। उन्होंने उसे मोड़कर पदार्थ में अनात्म भाव जाग्रत करने का उपदेश दिया। थोड़े समय बाद ही यही सिद्धान्त प्रकारान्तर से अनात्मवाद अथवा निरात्मवाद की संज्ञा से व्यवहृत होने लगा। राग, द्वेष, मोह दूर करने का यह उत्तम साधन सिद्ध हुआ।

६ साहित्य सृजन—बौद्धों ने प्रारम्भ से ही साहित्य सृजन की ओर ध्यान रखा है। पालि और संस्कृत में बौद्ध साहित्य किसी अन्य साहित्य से कम नहीं है। बुद्धघोष, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, नागार्जुन,

आर्यदेव, और शान्तरक्षित जैसे धुरन्धर विद्वान बौद्ध जगत् में ही हुए हैं। इन विद्वानों के दर्शन और चिन्तन ने अन्य दर्शनों को काफी प्रभावित किया है। न्याय आदि के क्षेत्र में बौद्ध आचार्यों का विशिष्ट योगदान रहा है।

७ जनभाषा का उपयोग—बुद्ध और महावीर ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने अपने समय में जनभाषा का उपयोग किया था। बुद्ध ने बिहार और उसके आसपास प्रचलित मागधी, जिसे बाद में पालि कहा जाने लगा, बोली में अपना उपदेश दिया। कालान्तर में इसी का प्रयोग अशोक ने अपने शिलालेखों में किया। बौद्ध धर्म का जैसे-जैसे प्रचार होता गया, पालि की लोकप्रियता उतनी ही बढ़ती गई। दूसरी ओर संस्कृत एक वर्ग विशेष की भाषा थी। उसका रूप जन साधारण तक नहीं आ पाया था। इस दृष्टि से आधुनिक भाषा विज्ञान का क्षेत्र संस्कृत की अपेक्षा पालि-प्राकृत में अधिक है।

८ बौद्ध कला—इतिहास की तरह कला का क्षेत्र भी बौद्ध धर्म से अपरिचित नहीं था। कला के प्रसंग में जैसा पहले लिखा जा चुका है, स्तूप, गुफायें, मूर्तिशिल्प, चित्रकला, सभी क्षेत्रों में बौद्धकला का एक विशिष्ट योगदान रहा है। यूनान और रोम के प्रभाव से एक नयी शैली का जन्म हुआ, जिसे गान्धार कला कहा गया है। उत्तरकालीन कलाएं इस कला से अधिक प्रभावित रही हैं।

२ ह्रास के कारण

बौद्ध संस्कृति ने भारतीय संस्कृति के प्रांगण को अपने कर्मठ योगदान से हरा भरा किया है। उसका यह कार्य लगभग १० वीं शताब्दी तक चलता रहा। बाद में भारत भूमि से उसका ह्रास और पतन होने लगा। इस ह्रास और पतन के अनेक कारण इतिहास में खोजे जा सकते हैं। उनमें प्रमुख इस प्रकार हैं—

१ ब्राह्मण विरोध—बौद्ध धर्म का आविर्भाव ही बहुत कुछ वैदिक संस्कृति के विरोध की पृष्ठभूमि में हुआ था। जिसका प्रतिकार कालान्तर में पुष्यमित्र ने बौद्ध श्रमणों और मन्दिरों का विनाश करके किया। हर्ष के (१०८९-११०१ ई०) समय भी बौद्ध धर्म की अपूरणीय क्षति हुई है। उस समय बड़े-बड़े बौद्ध मन्दिर नष्ट भ्रष्ट कर दिये गये और उनकी सम्पत्ति लूट ली गई। कुमारिल और शंकराचार्य जैसे मनीषियों ने दार्शनिक क्षेत्र में बौद्धदर्शन का खण्डन करना आरम्भ कर दिया। माध्यमिक और योगाचार के मायावाद सिद्धान्त को शंकराचार्य ने अपनाकर न्याय-वैशेषिक जैसे वस्तुवादी दर्शनों के विरोध में उसका

मील मिलन, जिसके कारण वे 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहे जाने लगे। पर इसका
 यह अवश्य हुआ कि बौद्ध दर्शन की लोकप्रियता कम होने लगी। आचार्य
वि भी उसके खण्डन में तत्पर रहे।

२ देशद्रोह—सप्तम अष्टम शताब्दी में बौद्धधर्म की स्थिति सिन्ध में अच्छी
। यहाँ बौद्ध श्रमणों की संख्या भी अच्छी थी। परन्तु अरबों के आक्रमणों
समय ये बौद्ध श्रमण कायर और देशद्रोही सिद्ध हुए। इसी प्रकार सेन वंश के
य भी म्लेच्छों ने कुछ बौद्ध भिक्षुओं की सहायता से ही मगध पर
जय भी प्राप्त की थी तथा विहारों को नष्ट-भ्रष्ट किया था। फलतः
आचार्य यहां से तिब्बत, नेपाल आदि देशों में भाग गये और मगध और
ाल में बौद्ध धर्म समाप्तप्राय हो गया। इसी प्रकार और भी अनेक
ाहरण इतिहास में मिलते हैं, जहां बौद्ध श्रमणों ने विदेशी आक्रमणकारियों
 सहायता देकर अपने देशद्रोह का परिचय दिया था।

३ भ्रष्टाचार—बौद्ध धर्म के ह्रास का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण है बौद्ध
भिक्षुओं का पतित आचार। तान्त्रिक साधना के आ जाने से इस शिथिलाचार
 बढ़ने का और भी प्रबल सम्बल मिला। ह्वान्-च्वांग ने भी इस भ्रष्टाचार
 उल्लेख किया है। जो उसने सिन्धवासी बौद्ध भिक्षुओं मे देखा था।
श्मीर के बौद्ध विहार भी इस भ्रष्टाचार में अग्रणी थे। कल्हण ने सपत्नीक
ौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख किया है और क्षेमेन्द्र ने अनेक स्थल पर इसी प्रकार
न पर व्यंगात्मक प्रहार किये हैं। राष्ट्रपालपरिपृच्छा, और सूत्रकृतांग टीका
 भी इसी प्रकार अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ बौद्ध श्रमणों की विषयासक्ति पर कटाक्ष किये गये हैं। आचारहीनता के कारण ज्ञान का क्षेत्र भी
न्य हो गया। पतन में यह भी एक बड़ा कारण था।

४ मुस्लिम आक्रमण—बौद्ध धर्म के ह्रास में मुस्लिम आक्रमण भी प्रधान
कारणों मे अन्यतम है। अरबों ने यद्यपि समय समय पर बौद्ध धर्म के प्रति सहिष्णुता का भी प्रदर्शन किया है, परन्तु वह स्थायी नहीं रहा। सिन्ध में
च का भाई 'चन्दर' सम्भवतः बौद्ध श्रमण था। उसके पुत्र की ७०२ ई०
 मुहम्मद बिन कासिम ने हत्याकर राज्य हथया लिया। बौद्धधर्म पर भी इसका
असर होना स्वाभाविक था। लगभग ११ वी शती में अल्बेरूनी को उत्तर-पश्चिम
भारत में बौद्धधर्म लुप्तप्राय स्थिति में मिला। कश्मीर में भी बौद्धधर्म के
विनाश मे मुस्लिम सम्प्रदाय ही प्रधान कारण रहा है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक कारण बौद्धधर्म के पतन में गिनाये जाते हैं। बौद्ध-गृहस्थों का विशेष स्थान न होना, राजकीय उपेक्षा, ब्राह्मण और जैन धर्म की लोकप्रियता, बौद्ध संस्कृति के तत्वों का वैदिक संस्कृति द्वारा आत्मसात किया जाना आदि। ये सभी कारण समवेत रूप में एकत्रित होकर बौद्ध धर्म के पतन में कारण हुए हैं।

आधुनिक स्थिति

यह प्रसन्नता की बात है कि इस बीसवीं शताब्दी के षष्ठ दशक में बौद्धधर्म भारत में पुन: अपनी जीवन्त स्थिति में आने का प्रयत्न कर रहा है। स्व० बाबा डा० डॉ० अम्बेडकर १९५६ ई० में नागपुर (दीक्षाभूमि) में लाखों व्यक्तियों के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए थे। इसमें अधिकांश जनता तथाकथित शूद्र वर्ग की थी। डॉ० अम्बेडकर की दूरदर्शिता, प्रकाण्ड पाण्डित्य, राष्ट्रप्रेम, और समाज सेवा उनके चुम्बकीय व्यक्तित्व में भरी हुई थी। यही कारण है कि आज भी उनके अनुयायी उन्हें ईश्वर जैसा मानकर अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं। भारत में बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या में सर्वाधिक संख्या इन्हीं की है।

श्री लंका, बर्मा, थाइलेन्ड, कोरिया, जापान, मंगोलिया, चीन, तिब्बत, नेपाल, रूस आदि देशों में भी बौद्ध धर्म काफी लोकप्रिय है। इस दृष्टि से उसे राजनीतिक परिवेश भी मिल गया है। भारत सरकार भी बौद्ध धर्म की ओर विशेषत: राजनीतिक सम्बन्धों की दृष्टि से विशेष ध्यान दिये हुए है। अत: सम्भव है, बौद्धधर्म अपनी मातृभूमि में पुन: अपना प्राचीन महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर ले और विश्वशान्ति को प्रस्थापित करने में अपना महत्वपूर्ण योग दान दे।

शब्द-सूची